[आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी का उपहार-ग्रन्थ]

वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक-आधार

(SCIENTIFIC BASIS OF VEDIC THOUGHT)

लेखक

अखिल-भारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता

विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

(भूतपूर्व) संसद्-सदस्य तथा उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की "प्रकाशकों के सहयोग से हिन्दी में लोकप्रिय पुस्तकों के लेखन अनुवाद और प्रकाशन की योजना" के अन्तर्गत प्रकाशित। प्रथम संस्करण में इस पुस्तक की २२०० मुद्रित प्रतियों में से एक तिहाई प्रतियाँ भारत सरकार द्वारा खरीदी गई हैं।

प्रस्तावना

हिन्दी भाषा में विभिन्न प्रकार का ज्ञानवर्धक साहित्य उपलब्ध कराने के लिए भारत सरकार द्वारा पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं।

शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय के तत्वावधान में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में प्रकाशकों के सहयोग से हिन्दी में पुस्तकों के लेखन, अनुवाद और प्रकाशन की योजना, सन् 1961 से चल रही है। अद्यतन ज्ञान-विज्ञान का जन सामान्य में प्रचार-प्रसार, राष्ट्रीय एकता, धर्म निरपेक्षता तथा मानवता का उद्-बोधन और हिन्दीतर भाषाओं के साहित्य को रोचक तथा लोकप्रिय हिन्दी भाषा में सुलभ कराना इस योजना का मुख्य उद्देश्य है। इन पुस्तकों में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली का प्रयोग किया जाता है और योजना में स्वीकृत पुस्तकों को अधिक-से-अधिक पाठकों को सुलभ कराने के विचार से विक्रय मूल्य कम रखा जाता है।

प्रोफ़ेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा रचित प्रस्तुत पुस्तक "वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार" लेखक की मौलिक रचना है। वैदिक वाङ्मय ने समस्त विश्व के मनीषियों को प्रभावित किया है। वैदिक ऋचाओं में मानव-हृदय की दिव्य अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्ति हुई है। वैदिक विचारधारा के सम्बन्ध में लेखक ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आशा है पाठक इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

हरवंशलाल शर्मा
(अध्यक्ष)

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
नई दिल्ली
दिसम्बर, 1975

प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ग्रन्थ का विमोचन
करती हुई।

ग्रन्थ का विमोचन करते हुए

प्रधान मन्त्री ने कहा :

आज का युग संघर्ष का युग है। इस युग में भौतिक तथा आध्यात्मिक विचारों का भी टकराव हो रहा है। ग्रन्थकर्त्ता ने ठीक ही कहा है कि धर्म तथा विज्ञान के संघर्ष में हमें धर्म के लिये वैज्ञानिक आधार खोजना होगा। विज्ञान का सच्चा अर्थ है सत्य की खोज, मनुष्य की आन्तरिक आँखें खुलें, हृदय खुले, और यही उद्देश्य धर्म का है। इस दृष्टि से देखने पर ही वस्तु-स्थिति समझ में आ सकती है क्योंकि कोई वस्तु अपने-आप में बुरी नहीं है। वस्तु का अच्छा अथवा बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। एक छुरी किसी सर्जन के हाथ में कल्याणकारी है तो वही अन्य अवसर पर हत्या का साधन बन सकती है। विज्ञान का युद्ध के लिये प्रयोग संहारकारी है, परन्तु इसी विज्ञान का काम मानव को कितनी ही बीमारियों से बचाना भी है। जो लोग धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वास को भी धर्म के समान मान्यता देते हैं उन्हें सोचना होगा कि अन्ध-विश्वास धर्म नहीं है। अभी प्रो० सत्यव्रत जी ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान एक लंगड़े के समान है, धर्म एक अन्धे के समान है। बिना विज्ञान के धर्म अधूरा है, बिना धर्म के विज्ञान अधूरा है। इन दोनों को साथ मिलकर चलना होगा—इस कथन में गहरी सचाई है। आज के युग में धर्म की वही मान्यताएँ टिक सकती हैं जिन्हें वैज्ञानिक-दृष्टि से पुष्ट किया जा सके। धर्म के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं। उन सिद्धान्तों को नींव में रखकर जीवन का निर्माण करना होगा। धर्म की इन मान्यताओं में जो विज्ञानसम्मत हैं इतना बल है कि वे जीवन को सशक्त बना सकती हैं। वेदों में, उपनिषदों तथा गीता में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे हमारे वैदिक-साहित्य की अमर-निधि हैं, हमारे जीवन के लिये प्रेरणा-सूत्र हैं, इस निधि को हम किसी तरह गँवा नहीं सकते। वेदों की विचारधारा त्रिकाल सत्य है, इनमें दर्शाये गये बुनियादी आदर्श हर परिस्थिति तथा हर काल में अपनाने योग्य हैं।

भूमिका

मैक्स मूलर ने अपनी पुस्तक 'इंडिया: व्हट कैन इट टीच अस' में एक स्थान पर लिखा है : "अगर मैं विश्व भर में से उस देश को ढूंढने के लिये चारों दिशाओं में आंखें उठा कर देखूं जिस पर प्रकृति-देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथों लुटा कर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ़ उठेगी। अगर मुझ से पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौन-सा वह स्थल है जहां मानव के मानस ने अपने अन्तराल में निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्भावों को पूर्ण-रूप से विकसित किया है, गहराई में उतर कर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उन में से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है जिस को जान कर प्लेटो तथा कांट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्य-चकित रह जाएँ, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ़ उठेगी। और, अगर मैं अपने से पूछूं कि हम—युरोप के वासी—जो अबतक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रेसर करे, व्यापक बनाये, विश्वजनीन बनाये, सही अर्थों में मानवीय बनाये, जिस से हमारे इस पार्थिव-जीवन को ही नहीं, हमारी सनातन आत्मा को प्रेरणा मिले, जो फिर मेरी अंगुली भारत की तरफ़ उठेगी।"*

---

*"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semetic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India."

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहॉर का कथन था कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्यक-भंडार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिये इतना हितकर तथा ऊँचा उठाने वाला नहीं है जितना उपनिषदों का अध्ययन। इनके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, इनके ही अध्ययन से मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति प्राप्त होगी।* शोपनहॉर के इन शब्दों का उल्लेख करते हुए मैक्स मूलर ने लिखा है कि अगर शोपनहॉर की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो, तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन में व्यस्त अपने दीर्घ-जीवन के अनुभव के आधार पर मैं इन शब्दों का सहर्ष अनुमोदन करता हूँ।†

मैक क्रिडल ने सिकन्दर के आक्रमणों पर लिखी अपनी पुस्तक में मैगस्थनीज़ के 'इंडिका'-ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिये निकला तब उसके गुरु अरस्तु ने उसे आदेश दिया कि वहाँ से लौटते हुए दो तोहफ़े लेते आना—एक था गीता तथा दूसरा, वहाँ का कोई एक दार्शनिक सन्त। सिकन्दर जब लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नाम के अपने प्रतिनिधि को किसी सन्त को ढूंढकर साथ ले चलने के लिये भेजा। एक सन्त तो साथ चल पड़ा, दूसरे ने जिसका नाम 'डैंडीमीज़' लिखा है साथ चलने से इन्कार कर दिया। 'डैंडीमीज़'-शब्द दंडी-स्वामी का ग्रीक-रूप जान पड़ता है क्योंकि नाम के साथ 'ईज़' लगाना ग्रीक पद्धति था। दंडी-स्वामी को सिकन्दर के दूत ने कहा कि आप चलेंगे तो जुपिटर का पुत्र सिकन्दर आपको मालोमाल कर देगा। दंडी-स्वामी ने हँस कर उत्तर दिया—हमारे रहने के लिये यह शस्य-श्यामला भारत की धरती, पहनने के लिये ये वल्कल-वस्त्र, पीने के लिये कल-कल रव करती गंगा की शीतल धार, खाने के लिये एक पाव आटा बहुत है—हम आत्म-धन के धनी हैं, आत्म-धन जो धनों का धन है, उस धन की दृष्टि से दरिद्र तुम्हारा सिकन्दर हमें क्या दे सकता है?

औरंगज़ेब का भाई दारा उपनिषदों पर इतना लट्टू था कि काशी से कुछ पंडितों को बुलाकर लगातार छः महीने तक उनकी व्याख्या सुनता रहा। 1656 में उसने इनका फ़ारसी में अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पैरों ने पढ़ा, और उसे पढ़ कर उसे प्राच्य शास्त्रों को पढ़ने की

---

*"In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life, it'll be the solace of my death."—*Schopenhaur*.

†"If these words of Schopenhaur required any endorsement I shall willingly give it as the result of my own experience during a long life devoted to the study of many philosophies and many religions."—*Max Muller*.

रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी अनुवाद के आधार पर ही एन्क्वेटिल ड्यू पैरों ने 1801 ईस्वी में इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा द्वारा मुस्लिम एवं एन्क्वेटिल द्वारा ईसाई-जगत् में उपनिषदों की विचारधारा का इतना जबर्दस्त सिक्का जमा कि पूर्व तथा पश्चिम में इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ा जाने लगा।

अस्तु, दारा शिकोह, मैक्स मूलर तथा शोपनहॉर ने जिस भारतीय-विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की थी उनका स्रोत वेद हैं, उपनिषद् हैं, दर्शन हैं। इन्हीं की वाणी को हमने वैदिक-विचारधारा कहा है। वैदिक-विचारधारा का सार क्या है? इस का सार यह है कि व्यक्ति भौतिक-दृष्टि से कितना ही उन्नत हो जाय, चांद पर जा उतरे, कितना ही समृद्ध हो जाय, धन-कुबेर हो जाय, यह विश्व भी भौतिक-दृष्टि से कितनी ही उन्नति कर ले, संसार में सम्पत्ति का इतना ढेर लग जाय कि बांटे न बंटे, परन्तु अगर व्यक्ति आध्यात्मिक-दृष्टि से दरिद्र रहा, विश्व आध्यात्मिकता से शून्य रहा, तो इस पृथ्वी का मानव और सम्पूर्ण विश्व कहने को उन्नत तथा समृद्ध होता हुआ भी दरिद्र-का-दरिद्र ही रहेगा। आध्यात्मिक-दृष्टि का यह अर्थ नहीं है कि संसार को हम मिथ्या कहें, धन-सम्पत्ति को बेकार कहें। इसका इतना ही अर्थ है कि मानव में शरीर यथार्थ है, परन्तु शरीर के साथ शरीरेतर आत्मा भी यथार्थ है, चराचर-जगत् में यह भौतिक-जगत् यथार्थ है, परन्तु इस पांचभौतिक-जगत् के साथ इसमें जीवन का संचार करने वाला जगदितर परमात्मा भी यथार्थ है। शरीर से चलकर शरीर तक ही रुक जाना, इस सृष्टि से प्रारम्भ कर इस सृष्टि में ही अटक जाना—यह दृष्टि अयथार्थ है। और, जब हम-सब इसमें ही अटक जाते हैं तब यह कहने की जरूरत पड़ जाती है कि जो दीख रहा है, जिसमें प्राणी उलझ जाता है, वह यथार्थ होता हुआ भी अयथार्थ है, सत्य होता हुआ भी मिथ्या है, इसलिये अयथार्थ और मिथ्या है क्योंकि हम इसमें प्राण डालने वाली सत्ता को भूल कर इसी को यथार्थ मान बैठते हैं।

वैदिक-दृष्टिकोण एक कदम और भी आगे बढ़ता है। वह दृष्टिकोण यह है कि मानव का यह शरीर उस अशरीरी का साधन है जो किसी लक्ष्य की तरफ़ बढ़ता हुआ इसमें वास करता है, यह दृश्य-जगत् किसी अदृश्य चेतन-शक्ति के प्रयोजन को निबाह रहा है। अगर अपने में इस देह को, और विश्व में इस पंचभूतात्मक-जगत् को ही आदि और अन्त मान लिया जाय, जीवन का लक्ष्य खाने-पीने, मौज-बहार के सिवाय दूसरा कुछ न माना जाय, तो इसका अवश्यं-भावी परिणाम चोरी-डाका, लूट-खसोट, मार-काट, कत्ल, अनाचार-दुराचार के सिवाय क्या रह जाता है। क्या आप कहते हैं—'मानव का कल्याण', 'समाज

विषय-सूची

[प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में एक रंगीन डिज़ाइन के साथ उस अध्याय का संक्षिप्त सार दिया गया है]

भौतिकवादी का कहना है कि यह समझना कि इस भौतिक-शरीर के भीतर मन जैसा कोई अभौतिक-तत्त्व है, ग़लत धारण है। मनुष्य के विचार तथा व्यवहार का अन्तिम स्रोत शरीर है, मस्तिष्क है, 'तन्त्रिका-तन्त्र' है—ऐसा तत्त्व है जो भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र के नियमों से बंधा हुआ है, ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो इन विज्ञानों के प्रभाव से मुक्त हो। मन की शरीर से पृथक् सत्ता मानने से तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि शरीर में ऐसा भी कोई तत्त्व है जो भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र के नियमों से स्वतन्त्र है—इस बात को भौतिकवादी मानने को तैयार नहीं।

भौतिकवादी दृष्टि-कोण से मनुष्य अथवा विश्व की रचना में कोई मानसिक-तत्त्व दिखलाई नहीं देता। मनुष्य का विकास विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार अमीवा से हुआ है, यह विकास धीरे-धीरे, होते-होते प्रकृति ने अपने-आप, अपने स्वभाव से कर दिया है। इसी प्रकार विश्व का विकास भी प्राकृतिक-शक्तियों द्वारा, उनके स्वभाव से अपने-आप हो गया है। भू-विज्ञान तथा ज्योतिष्-शास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि सृष्टि को विकसित होते-होते करोड़ों, अरबों वर्ष हो गये हैं। इतने दीर्घ-काल में अगर अमीवा तथा नेब्युला में धीरे-धीरे परिवर्तन होते-होते अमीवा से मनुष्य तथा नेब्युला से सूर्य-पृथिवी-चन्द्र, ग्रह-उपग्रह बन गये, तो अचम्भे की कोई बात नहीं।

यह भौतिकवादी विचारधारा है जिसके अनुसार 'विचार' (Thoughts), 'संवेग' (Emotions), 'मूल-प्रवृत्तियाँ' (Instincts), 'इच्छा-शक्ति' (Will)—इन सबको 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के सिद्धान्त से समझाया जा सकता है, इनको समझने के लिये मन, आत्मा, चेतना जैसी किसी अभौतिक-सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं—यह भौतिकवादी दृष्टि-कोण है।

प्रथम अध्याय

मन

(MIND)

भौतिकवादी दृष्टिकोण

I

क्या मन की शरीर से पृथक् सत्ता है ?

1. समस्या का रूप

मन तथा शरीर आपस में एक-दूसरे के साथ इस प्रकार बंधे हुए हैं कि यह निर्णय कर सकना कठिन है कि अन्तिम तथा यथार्थ सत्ता शरीर की है या मन की है। शरीर तो दीखता है, मन नहीं दीखता, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। कहीं ऐसा तो नहीं कि शरीर की ही वास्तविक सत्ता है, मन केवल शरीर की ही उपज है, शरीर का ही परिणाम है। भौतिकवादी मन को नहीं मानते, उनका कहना है कि वह वस्तु जिसे हम मन कहते हैं, शरीर की ही किन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। उदाहरणार्थ, अन्धाधुन्ध शराब पी लेने के बाद आदमी को एक की जगह दो दिखलाई देने लगते हैं, एल-एस-डी० लेने के बाद व्यक्ति अनुभव करने लगता है कि वह आसमान में उड़ रहा है, जिगर खराब होने के बाद रोगी के जीवन में निराशा का अन्धकार छा जाता है। इन सबसे सिद्ध होता है कि जिस वस्तु को हम मन या विचार कहते हैं वह भौतिक परिस्थिति का ही परिणाम है।

परन्तु मनोवैज्ञानिक इससे उल्टी बात कहता है। वह कहता है कि मन का शरीर पर प्रभाव होता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी को यकायक खबर दी जाय कि उसे लाटरी में एक लाख मिल गया है, तो उसका हार्ट फ़ेल हो सकता है, अगर किसी पर किसी प्रकार का भय छा जाय, तो उसका मस्तिष्क विकृत हो सकता है, क्रोध में तो हर-किसी का चेहरा लाल हो जाता है, व्यक्ति के

रुधिर की गति तीव्र हो जाती है। अगर मन की शरीर से पृथक् सत्ता न होती, शरीर ही सब-कुछ होता, तो एक मानसिक-विचार से शरीर पर इतना भारी प्रभाव कैसे पड़ जाता ?

इसमें सन्देह नहीं कि हमें अपने भीतर दो सत्ताएँ पृथक् दीखती हैं—एक शरीर की सत्ता है, दूसरी मन की सत्ता है, दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् ही नहीं, उल्टी भी हैं। शरीर में सभी भौतिक गुण मौजूद हैं—यह दीखता है, इसका रंग-रूप है, परिमाण है, बोझ है, यह जगह घेरता है; मन में कोई भौतिक गुण मौजूद नहीं—न यह दीखता है, न इसका रंग-रूप है, न परिमाण है, न बोझ है, न यह जगह घेरता है; इनमें से शरीर भौतिक है, मन अभौतिक है।

प्रश्न यह है कि भौतिक का तो भौतिक पर प्रभाव हो सकता है, अभौतिक का भौतिक पर प्रभाव कैसे हो सकता है ? भौतिक-वस्तु पर भौतिक-वस्तु से प्रहार किया जा सकता है, भौतिक पर अभौतिक से कैसे प्रहार किया जा सकता है ? मैं चाहूँ तो किसी के शरीर पर डंडे से चोट कर सकता हूँ, अशरीरी से शरीरी पर चोट कैसे कर सकता हूँ ? परन्तु अगर शरीर तथा मन का एक-दूसरे पर प्रभाव दीख पड़ता है, तो क्या यह संगत नहीं होगा कि मन को शरीर का ही एक सूक्ष्म रूप मान लिया जाय, मन को शरीर से भिन्न न समझा जाय, मन की शरीर से पृथक्-सत्ता से सर्वथा इन्कार कर दिया जाय। इस स्थल पर फिर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या मन की शरीर से पृथक्-सत्ता से इन्कार कर देने से, उसे भौतिक-शरीर की तरह भौतिक ही मान लेने से हमारा काम चल जाता है ?

2. भौतिकवादी मन की शरीर से पृथक्-सत्ता से इन्कार करता है

विचार करने के लिए मनोविज्ञान के दो रूप मान लीजिये—एक है 'शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान' (Physiological psychology), दूसरा है 'अध्यात्म-वादी मनोविज्ञान (Spiritual psychology)। जो मनोवैज्ञानिक मन की शरीर से पृथक्-सत्ता नहीं मानते, वे मोटे तौर पर 'मनोविज्ञान' (Psychology) को 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' (Physiology) का ही एक रूप समझते हैं। उनका कहना है कि मन की पृथक्-सत्ता मानने की कोई जरूरत नहीं, शरीर ही से उन सब समस्याओं का हल हो जाता है जिन्हें मानसिक कहते हैं। वह कैसे ?

(क) **'तन्त्रिका-तंत्र' (Nervous system) से समस्या का हल हो जाता है**—भौतिकवादियों का कहना है कि शरीर एक स्व-चालित-यन्त्र (Automatic machine) के समान है। जैसे हम स्टेशनों पर रखी तोलने की मशीन में १० पैसे का एक सिक्का डालते हैं, उस पर खड़ा होते ही मशीन में से स्वतः

भार-सूचक छपा हुआ टिकट बाहर निकल आता है, 'खांचा मशीन' (Slot machine) में वस्तु का यथार्थ-मूल्य डाल देने पर भीतर से दियासलाई की डिबिया या अन्य इच्छित-वस्तु बाहर निकल आती है, इन मशीनों के भीतर 'मन' नाम की कोई वस्तु बैठी हुई नहीं है, वैसे ही किसी विशेष परिस्थिति के उपस्थित होने पर शरीर स्वयं प्रतिक्रिया करता है। यह प्रतिक्रिया स्व-चालित-शरीर की स्वयं-क्रिया है, इसे करने के लिए किसी 'मन' जैसी वस्तु के मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे खांचा-मशीन की रचना इस प्रकार हुई है कि उसमें पैसा डाल दिया जाय, तो वस्तु बाहर आ जाती है, वैसे ही मनुष्य-शरीर की रचना इस प्रकार हुई है कि 'उद्दीपक' (Stimulus) के उपस्थित होने पर 'अनुक्रिया' (Response) अपने-आप हो जाती है। मनुष्य का सारा व्यवहार 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के रूप में अपने-आप चल रहा है, इसे चलाने के लिए 'मन' की आवश्यकता नहीं है। 'उद्दीपन-अनुक्रिया' का संचालन 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous system) से होता है। वह कैसे ?

कल्पना कीजिये कि हमारी अँगुली में एक काँटा चुभ गया। अँगुली का वह हिस्सा जिसमें काँटा चुभा, वहाँ—और शरीर के सब स्थानों में—'तंत्रिकाएँ' (Nerves) मौजूद हैं। तंत्रिकाओं का सम्बन्ध मस्तिष्क तक पहुँचता है। बाहर के ज्ञान को भीतर मस्तिष्क तक ले जाने वाली तंत्रिकाएँ 'संवेदन-तंत्रिकाएँ' (Sensory nerves) कहलाती हैं। मस्तिष्क के केन्द्र में संवेदन-तंत्रिकाओं द्वारा यह संदेश कि अँगुली में काँटा चुभा है ये तन्त्रिकाएँ पहुँचा देती हैं। वहाँ से स्वतः यह संदेश कि हाथ को हटा लो और काँटे को निकाल दो हाथ तक पहुँच जाता है। इस सन्देश को हाथ तक ले जाने वाली तंत्रिकाएँ 'प्रेरक-तंत्रिकाएँ' (Motor nerves) कहलाती हैं। इस सन्देश के हाथ तक पहुँचते ही हम अँगुली में से काँटा निकाल देते हैं। यह सारी प्रक्रिया मस्तिष्क द्वारा अपने-आप हो जाती है। 'मन' तो दीखता नहीं, वह कहीं मिलता नहीं, मस्तिष्क तो दीखता है, उसमें संवेदन-वाहक तथा प्रेरणा-वाहक तन्त्र दिखलाई पड़ते हैं, उन्हीं से यह सब काम होता है, इसलिए मस्तिष्क ही वह स्थल है जहाँ से शरीर की क्रिया-प्रक्रिया का स्वयं संचालन होता है। भौतिकवादी का कहना है कि मन को माने बिना मस्तिष्क से ही शरीर की क्रियाओं की समस्या का समाधान हो जाता है।

(ख) **मस्तिष्क से भिन्न मन को माना जाय तो शंका बनी रहती है कि अभौतिक भौतिक पर कैसे प्रभाव डाल सकता है**—ऊपर हमने जो-कुछ लिखा वह अध्यात्मवादी की इस शंका का कि मन को माने बिना शरीर का संचालन कैसे हो सकता है भौतिकवादी-समाधान है। भौतिकवादी का कथन है कि शरीर स्व-चालित-यन्त्र है, मन को मानने की ज़रूरत ही क्या है ? भौतिकवादी का यह भी कहना है कि शरीर से भिन्न मन को मानने से एक बड़ी भारी शंका उठ

दिया जाय, या क्या दिया जाय। मनुष्य के भीतर ऐसी बात नहीं है। अगर हमारी अँगुली में किसी ने काँटा चुभो दिया है, तो जरूरी नहीं कि हम मशीन की तरह हाथ को हटा ही लें। काँटा चुभने पर संवेदन-तंत्र दर्द की अनुभूति को मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुँचा देते हैं, मस्तिष्क मशीन हो तो तत्काल हाथ काँटे से हट जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होना निश्चित नहीं है। मनुष्य चाहे तो हाथ हटा ले, चाहे तो न भी हटाये। मैं एक वृक्ष पर बैठा हुआ हूँ। इतने में कारणवश नीचे गिरने लगता हूँ। गिरने से पहले वृक्ष की टहनी पकड़ लेता हूँ। जिस हाथ से टहनी पकड़ी है उससे दूसरे हाथ पर एक ततैया जोर-से डंक मारने आ बैठता है। मनुष्य अगर मशीन होता तो मैं झट-से ततैये को उड़ाने के लिए टहनी को छोड़ कर उस हाथ से ततैये को उड़ा देता। परन्तु मैं ऐसा नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि अगर मैंने टहनी छोड़ी तो नीचे गिर कर मेरी हड्डी-पसली चूर-चूर हो जायगी। मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर यह कौन बैठा है जो इस चुनाव—Choice—को करता है? मशीन में चुनाव नहीं होता, मशीन स्वयं नहीं सोचती। मशीन ने सोचना शुरू किया तो वह भौतिक से अभौतिक हो गई। अभौतिक को तो भौतिकवादी मानता ही नहीं, जहाँ उसने मशीन में सोचने की बात मानी वहीं वह भौतिकवादी से अभौतिकवादी—अध्यात्मवादी—हो गया। ऐसा मानना पड़ता है कि मस्तिष्क में जब 'संवेदन-तंत्र' (Sensory nerves) किसी केन्द्र पर बाह्य-संवेदन (Sensation) लेकर पहुँचते हैं, वहाँ कोई अभौतिक दफ़्तर है, कोई अभौतिक-तत्त्व है, जो मस्तिष्क जैसा भौतिक नहीं है, मस्तिष्क से अलग है; ये संवेदन-वाहक-तन्त्र अपने संवेदन को उस अभौतिक-तत्त्व के सुपुर्द कर देते हैं और वह अभौतिक-दफ़्तर, वह अभौतिक-तत्त्व निर्णय करता है कि संवेदन-तन्त्रों से लाये गये इस संवेदन की क्या सही-सही अनुक्रिया होनी चाहिए। यह निश्चय करके वह तत्त्व अपना निर्णय 'प्रेरक-तंत्रों' (Motor nerves) के सुपुर्द कर देता है, और उस तत्त्व—'अभौतिक-तत्त्व'—के आदेशानुसार क्रिया की अनुक्रिया होती है। मस्तिष्क में एक स्थल मानना पड़ता है जहाँ पर मस्तिष्क अपना काम किसी अभौतिक-तत्त्व के हाथ में छोड़ देता है, और उस अभौतिक-तत्त्व से निर्णय पाकर फिर उसी निर्णय के अनुसार काम करने लगता है। यह अभौतिक-तत्त्व ही मन है।

मस्तिष्क ('तंत्रिका-तंत्र')—Nervous system—को मन या चेतना का आश्रय-स्थल तो माना जा सकता है, मस्तिष्क को ही मन नहीं माना जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि मस्तिष्क (तंत्रिका-तंत्र) पर ही मन या चेतना का आश्रय है, मस्तिष्क (तंत्रिका-तंत्र) न हो, तो मन या चेतना नहीं रहती, परन्तु यह बात ऐसी ही है जैसे खूँटी हो तो उस पर कोट टांगा जा सकता है, खूँटी गिर जाय तो कोट भी गिर जाता है। परन्तु खूँटी के उखड़ जाने से कोट के भी गिर

जाने का यह अर्थ नहीं है कि कोट खूंटी है या खूंटी कोट है। हमें यह समझ लेना होगा कि नदी का पाट और नदी की धारा दोनों अलग-अलग हैं। नदी का पाट टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता लिये हो तो नदी की धारा भी टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चलेगी, परन्तु इससे नदी और नदी का पाट एक नहीं हो जायेंगे। ठीक इसी तरह मन—चेतना—विचार—ये सब पृथक् वस्तु हैं, मस्तिष्क—तंत्रिका-तंत्र—Nervous system—पृथक् वस्तु हैं। क्योंकि मन—चेतना आदि—मस्तिष्क—तंत्रिका-तंत्र—Nervous system—पर आश्रित हैं इसलिये यह कह देना कि मस्तिष्क की ही यथार्थ सत्ता है, मन या चेतना की कोई सत्ता नहीं है—गलत है क्योंकि मस्तिष्क तो मन रूपी कोट को टाँगने की खूंटी है, मन रूपी नदी की धारा का पाट है जिस पर चेतना की धारा बहती है।

(ख) मन की शरीर से भिन्न सत्ता मानने पर भौतिकवादी को यह भी आपत्ति थी कि अगर मन को शरीर से भिन्न माना जाय, तो अभौतिक का भौतिक पर प्रभाव मानना पड़ता है जो युक्ति-संगत नहीं है। शरीर भौतिक है, उसका नाप-तोल है, वह जगह घेरता है, दीखता है, छुआ जाता है। ऐसी वस्तु पर भौतिक-तत्त्व का तो प्रभाव हो सकता है, अभौतिक का प्रभाव कैसे हो सकता है? जो मन को मानते हैं, वे उसे अभौतिक भी मानते हैं, भौतिक मानें तो वह शरीर का ही एक रूप हो जाता है, भौतिक-मन तो भौतिकवाद ही हो जाता है। शरीर का नाप-तोल है, मन का नाप-तोल नहीं, शरीर जगह घेरता है, मन जगह नहीं घेरता, शरीर दीखता है, मन नहीं दीखता, शरीर छुआ जा सकता है, मन नहीं छुआ जा सकता। ऐसी हालत में मन शरीर पर कैसे प्रभाव डाल सकता है? भौतिकवादी का कहना है कि शरीर से भिन्न मन की पृथक् सत्ता न मान कर अगर यह माना जाय कि मस्तिष्क ही सब-कुछ करता है, तो इस प्रकार की कोई शंका खड़ी नहीं होती।

अध्यात्मवादी का कहना है कि क्या हम देखते नहीं कि प्रेम, द्वेष, इच्छा, आकांक्षा, विचार, आशा-निराशा, उत्साह—ये सब जो अदृश्य, अभौतिक-तत्त्व हैं, जिनका नाप-तोल नहीं, जो दीखते नहीं, छुए नहीं जा सकते—इन अभौतिक-तत्त्वों का मनुष्य के शरीर पर, उसकी हर प्रकार की गति-विधि पर अमिट प्रभाव है। कैसा ही स्वस्थ शरीर क्यों न हो, एक ही अदृश्य विचार मनुष्य को एकदम पागल बना सकता है, उम्र-भर का बना-बनाया स्वास्थ्य धरा-का-धरा रह जाता है। देश-भक्ति जैसे अदृश्य भाव से प्रेरित होकर नवयुवक हँसता-खेलता फाँसी की रस्सी पर झूल जाता है, प्रेम के भंग हो जाने से निराश होकर एक नवोढ़ा जग-सुन्दरी विष का प्याला पीकर देह-त्याग कर देती है। शरीर पर इन अदृश्य, अभौतिक-तत्त्वों का प्रभाव कैसे होता है—यह रहस्य की बात तो हो सकती है, परन्तु इन घटनाओं की यथार्थता में सन्देह नहीं हो सकता।

अध्यात्मवादी का कहना है कि यह अलग, अभौतिक-तत्त्व ही मन है जो शरीर के यंत्र में बैठा इसकी गति-विधि का नियन्त्रण करता है।

हमने देखा कि शरीर तथा मन एक-दूसरे से इस तरह बंधे हुए हैं कि एक की दूसरे के बिना सत्ता समझ में नहीं आती। यही कारण है कि भौतिकवादी शरीर को ही सब-कुछ सिद्ध करना चाहते हैं, मन को विचार-कोटि में से बिल्कुल निकाल देना चाहते हैं, मन को माने बिना शरीर सब-कुछ स्वयं कर सकता है—यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, उनके कथनानुसार शरीर में मस्तिष्क—Brain—ही ऐसा यन्त्र है जिससे यह हमारा अंग-प्रत्यंग स्वयं चल रहा है, जो स्व-चालित हो, उसे चलाने के लिए दूसरे किसी—मन—आदि की क्या ज़रूरत है?

हम आगे यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि मन की शरीर से पृथक्-सत्ता न मानते हुए शरीर को स्व-चालित-यंत्र मान कर जो शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं उनका भौतिकवादी क्या समाधान करते हैं।

II

क्या 'मन' शरीर का ही एक रूप है?

भौतिकवाद ने कई ऐसे वादों की कल्पना की है जिनके आधार पर मनुष्य की चेतना तथा मनुष्य के व्यवहार को 'मन' की शरीर से पृथक्-सत्ता माने बग़ैर काम चल सके। 'मन' का अर्थ क्या है? 'मन' एक ऐसा तत्त्व है जो भौतिक नहीं है, जो भौतिक न होने के कारण शरीर का हिस्सा नहीं है क्योंकि शरीर तो भौतिक है, जिस पर भौतिकी तथा रसायनशास्त्र के नियम लागू नहीं होते। भौतिकवादी शरीर के भीतर इस प्रकार की किसी पृथक्-सत्ता को मानने के लिये तैयार नहीं। उनका कहना यह है कि मनुष्य में यथार्थ और वास्तविक-सत्ता शरीर की ही है। इस कथन का यही अर्थ है कि मनुष्य के विचार तथा व्यवहार का अन्तिम स्रोत शरीर है, मस्तिष्क है—वह तत्त्व है जो भौतिकी तथा रसायनशास्त्र (Physics and Chemistry) के नियमों से बँधा हुआ है, ऐसा कोई तत्त्व नहीं जो इन विज्ञानों के प्रभाव से मुक्त हो, जैसा कि मन की पृथक्-सत्ता मानने से स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, भौतिकवादियों का कथन है कि (क) या तो 'मन' की कोई सत्ता ही नहीं, (ख) या अगर मन की सत्ता है तो मन में जो-कुछ होता है, वह पहले शरीर में होता है, शरीर में जो-कुछ होता है उसकी अनुभूति मन में होती है, उसका प्रतिबिम्ब मन में पड़ता है, मन शरीर का संचालन नहीं करता, शरीर में जो-कुछ होता है उसका अनुभव मन को होता है, मन सिर्फ़ शरीर में होने वाले क्रिया-कलाप को नोट कर लेता

जाने का यह अर्थ नहीं है कि कोट खूंटी है या खूंटी कोट है। हमें यह समझ लेना होगा कि नदी का पाट और नदी की धारा दोनों अलग-अलग हैं। नदी का पाट टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता लिये हो तो नदी की धारा भी टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चलेगी, परन्तु इससे नदी और नदी का पाट एक नहीं हो जायेंगे। ठीक इसी तरह मन—चेतना—विचार—ये सब पृथक् वस्तु हैं, मस्तिष्क—तंत्रिका-तंत्र—Nervous system—पृथक् वस्तु हैं। क्योंकि मन—चेतना आदि—मस्तिष्क—तंत्रिका-तंत्र—Nervous system—पर आश्रित हैं इसलिये यह कह देना कि मस्तिष्क की ही यथार्थ सत्ता है, मन या चेतना की कोई सत्ता नहीं है—ग़लत है क्योंकि मस्तिष्क तो मन रूपी कोट को टाँगने की खूंटी है, मन रूपी नदी की धारा का पाट है जिस पर चेतना की धारा बहती है।

(ख) मन की शरीर से भिन्न सत्ता मानने पर भौतिकवादी को यह भी आपत्ति थी कि अगर मन को शरीर से भिन्न माना जाय, तो अभौतिक का भौतिक पर प्रभाव मानना पड़ता है जो युक्ति-संगत नहीं है। शरीर भौतिक है, उसका नाप-तोल है, वह जगह घेरता है, दीखता है, छुआ जाता है। ऐसी वस्तु पर भौतिक-तत्त्व का तो प्रभाव हो सकता है, अभौतिक का प्रभाव कैसे हो सकता है? जो मन को मानते हैं, वे उसे अभौतिक भी मानते हैं, भौतिक मानें तो वह शरीर का ही एक रूप हो जाता है, भौतिक-मन तो भौतिकवाद ही हो जाता है। शरीर का नाप-तोल है, मन का नाप-तोल नहीं, शरीर जगह घेरता है, मन जगह नहीं घेरता, शरीर दीखता है, मन नहीं दीखता, शरीर छुआ जा सकता है, मन नहीं छुआ जा सकता। ऐसी हालत में मन शरीर पर कैसे प्रभाव डाल सकता है? भौतिकवादी का कहना है कि शरीर से भिन्न मन की पृथक् सत्ता न मान कर अगर यह माना जाय कि मस्तिष्क ही सब-कुछ करता है, तो इस प्रकार की कोई शंका खड़ी नहीं होती।

अध्यात्मवादी का कहना है कि क्या हम देखते नहीं कि प्रेम, द्वेष, इच्छा, आकांक्षा, विचार, आशा-निराशा, उत्साह—ये सब जो अदृश्य, अभौतिक-तत्त्व हैं, जिनका नाप-तोल नहीं, जो दीखते नहीं, छुए नहीं जा सकते—इन अभौतिक-तत्त्वों का मनुष्य के शरीर पर, उसकी हर प्रकार की गति-विधि पर अमिट प्रभाव है। कैसा ही स्वस्थ शरीर क्यों न हो, एक ही अदृश्य विचार मनुष्य को एकदम पागल बना सकता है, उम्र-भर का बना-बनाया स्वास्थ्य धरा-का-धरा रह जाता है। देश-भक्ति जैसे अदृश्य भाव से प्रेरित होकर नवयुवक हँसता-खेलता फाँसी की रस्सी पर झूल जाता है, प्रेम के भंग हो जाने से निराश होकर एक नवोढ़ा जग-सुन्दरी विष का प्याला पीकर देह-त्याग कर देती है। शरीर पर इन अदृश्य, अभौतिक-तत्त्वों का प्रभाव कैसे होता है—यह रहस्य की बात तो हो सकती है, परन्तु इन घटनाओं की यथार्थता में सन्देह नहीं हो सकता।

है, उसका संचालन नहीं करता। यह तब, अगर 'मन' को माना जाय, और भौतिकवादियों का तो कथन है कि उनका काम 'मन' को माने बग़ैर ही चल जाता है, वे 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous system) से ही जो प्राप्तव्य है उन सब बातों का हल कर सकते हैं जिन्हें हल करने के लिए अध्यात्मवादी मन की, जो प्रत्यक्ष नहीं, कल्पना करते हैं। इस दृष्टि से अगर मन को माना ही जाय तो वह साक्षी-मात्र है, द्रष्टा-मात्र है, कर्ता नहीं है ; कर्ता शरीर है, कर्ता जो शरीर है उसमें जो-कुछ हो रहा है वह मन में या आत्मा प्रतिबिम्बित होता है। सांख्य-दर्शन में भी आत्मा को अकर्ता माना गया है। गीता का कथन है, **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता, 3-27)—अर्थात्, हमारे भीतर जो-कुछ हो रहा है वह यंत्रवत् हो रहा है—ठीक वह बात जो भौतिकवादी कहते हैं—परन्तु भौतिकवादी मन को नहीं मानते, सांख्य तथा गीता मन को मानते हैं—परन्तु मन को मानते हुए उसे 'साक्षी, चेता, केवलः, निर्गुणः'—ऐसा मानते हैं। सांख्य तथा गीता की दृष्टि भौतिकवाद के साथ-साथ अध्यात्मवाद को साथ लेकर चलती है, पाश्चात्य-भौतिकवाद निरा भौतिकवाद है।

हाँ, हम कह रहे थे कि भौतिकवादी मन को शरीर से पृथक् नहीं मानते। तो वे क्या मानते हैं ? उनका कहना है कि मन की शरीर से पृथक् कोई सत्ता नहीं है, मन शरीर का ही एक रूप है, दूसरे शब्दों में हमारा मस्तिष्क ही मन है। प्रश्न यह रह जाता है कि अगर मन शरीर का ही एक रूप है, मस्तिष्क ही मन है, तो उन बातों का क्या हल है, जो मन को मानने से ही समझ में पड़ती हैं ? उदाहरणार्थ, हमारे भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष, आशा-निराशा, उत्साह, आकांक्षाएँ सब अभौतिक, अदृश्य मानसिक-तत्व हैं, मन की पृथक् सत्ता माने बग़ैर देह से, मस्तिष्क से—जो भौतिक पदार्थ हैं—इन अभौतिक-तत्वों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

कि प्राणी अपने जीवन को बनाये रखने के लिए परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, अगर परिवर्तित नहीं हो सकता, तो नष्ट हो जाता है। शरीर सुरक्षित रहना चाहता है, परिस्थिति बदली तो यह भी उसी के अनुसार बदल जाता है। उदाहरणार्थ, बर्फानी ठण्डे मुल्कों में प्राणी के शरीर पर घने बाल उत्पन्न हो जाते हैं ताकि सर्दी से शरीर की रक्षा कर सकें, अँधेरे में शिकार करने वाले प्राणियों की आँखों के सेल इस प्रकार काम करने लगते हैं कि अन्धकार में अपने शिकार को देख सकें, रेगिस्तान में चलने वाले ऊँट के पाँव के तले इस प्रकार गद्देदार हो गये हैं कि उनकी टाँगें रेतीले मैदानों में अन्दर न धँस जाएँ। ये सब उदाहरण सिद्ध करते हैं कि जब बाहर की परिस्थिति में परिवर्तन आ जाता है तब प्राणी के शरीर में परिवर्तन अपने-आप आ जाता है, यह परिवर्तन 'स्व-चालित' (Automatic) है, इस परिवर्तन की तह में चाहे वह बाहर की सृष्टि में हो रहा हो, चाहे प्राणी के शरीर में हो रहा हो, कोई पूर्व-परिलक्षित उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है, बाहर की भौतिक परिस्थिति के प्रभाव से प्राणी बदलता ही रहता है। जितना परिवर्तन हो रहा है उसका स्रोत कोई मन नहीं है, भौतिक परिस्थिति ही सब प्रकार के परिवर्तन का कारण है।

विकासवादी डार्विन तथा लैमार्क का कथन था कि प्राणी-शरीर का विकास 'अमीबा' (Amoeba) से हुआ है। 'अमीबा' वह जीवधारी प्राणी है जो सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से ही देखा जा सकता है। इसके आँख, नाक, कान, पेट आदि भिन्न-भिन्न अंगों का निर्माण नहीं हुआ होता। उसी अंग से यह हर काम ले लेता है, हर घड़ी परिवर्तित होता रहता है। सृष्टि में जीवन की यात्रा इस 'अमीबा' से शुरू हुई है और आज विकसित होते-होते करोड़ों प्राणी उत्पन्न हो गये हैं, यहाँ तक कि मनुष्य का प्रारम्भ भी 'अमीबा' से ही हुआ है। ज्यों-ज्यों बाहर का भौतिक-जगत् बदलता गया, उसमें परिवर्तन आता गया, त्यों-त्यों यह प्राणी भी अपने को भौतिक-जगत् की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार इस प्रकार बदलता गया और नष्ट नहीं हुआ। इसी 'परिवर्तन' (Variation) के परिणामस्वरूप आज सृष्टि में असंख्य-प्राणी दीख पड़ते हैं। यह सब परिवर्तन अपने-आप स्व-चालित यन्त्र की तरह होता रहता है। इस बात में आश्चर्य होता है कि कहाँ 'अमीबा' और कहाँ 'मनुष्य', परन्तु जब हम इस बात को ध्यान में रखें कि सृष्टि के प्रारम्भ तथा विस्तार के विषय में 'भू-विज्ञान' (Geology) तथा 'ज्योतिष्-शास्त्र' (Astronomy) ने अद्भुत विचार उत्पन्न कर दिये हैं, तब आश्चर्य की बात भी कुछ नहीं रहती। 'भू-विज्ञान' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृष्टि का प्रारम्भ इतने पहले हुआ कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, इसी प्रकार 'ज्योतिष्-शास्त्र' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृष्टि का इतना विस्तार है कि उसकी भी हम कल्पना नहीं कर सकते। हमारी यह

असल में मन प्रकृति का ही एक सूक्ष्म परिवर्तित रूप है। अचेतन से चेतन, निर्जीव से सजीव हो जाना, भौतिक से मानसिक का जन्म हो जाना कितना ही अटपटा लगता हो, परन्तु भौतिकवादी को जो मन को अभौतिक मानने के लिए तैयार नहीं, जो मन को पांच महाभूतों का ही परिणाम मानता है, जो मन को मस्तिष्क ही मानता है, उसे यह मानना ही पड़ता है कि अचेतन से चेतन, निर्जीव से सजीव का विकास हुआ, भले ही इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिल सकता कि जब सृष्टि में प्राणी प्रकट नहीं हुआ था, जीवन किसी रूप में था ही नहीं, तब पहला-पहला प्राणी 'सजीव' उत्पन्न कैसे हुआ। जीवनवान्-जनन (Biogenesis) का उत्पन्न होना तो समझ आ जाता है, परन्तु अजीववान्-जनन (Abiogenesis) कैसे हुआ—यह समझ सकना मुश्किल है, फिर भी भौतिक-वादी का यही कथन है कि निर्जीव प्रकृति के असंख्य हेर-फेर से अचानक एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिससे निर्जीव प्रकृति में 'आत्म-चेतना' (Self-consciousness) उत्पन्न हो गई। भौतिकवादी का कथन है कि इस 'आत्म-चेतना' को ही 'मन' कहा जाता है, जो प्रकृति या शरीर से कोई भिन्न तत्त्व नहीं है, प्रकृति या शरीर का ही परिवर्तित सूक्ष्म रूप है।

2. 'विचार' (Thought) के सम्बन्ध में भौतिकवादी सिद्धान्त

भौतिकवादी का कथन है कि मन में जो-कुछ घटित होता है वह मन में घटित नहीं होता, मस्तिष्क में घटित होता है। जो-कुछ मस्तिष्क में घटित हो रहा होता है उसे हम मन में घटित होना कह देते हैं। दूसरे शब्दों में, अगर मन है तो उसमें कुछ नहीं होता, जो-कुछ होता है वह पहले मस्तिष्क में होता है, वही मन में प्रतिबिम्बित होता है। जैसे दर्पण में कुछ नहीं होता, जो-कुछ होता है दर्पण के बाहर होता है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में दीखता है, दर्पण में कुछ भी न होते हुए प्रतीत ऐसा होता है कि सब-कुछ दर्पण में हो रहा है। भौतिकवादी ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि वे मन जैसे किसी तत्त्व को मानते ही नहीं, परन्तु क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि मन है, इसलिए वे यह कहने को बाधित हो जाते हैं कि यद्यपि मन की कोई सत्ता नहीं, मस्तिष्क की ही सत्ता है, तथापि अगर मन जैसा कोई तत्त्व है, तो वह दर्पण की तरह अन्यथा-सिद्ध है। इस दृष्टि से जिन घटनाओं को हम मानसिक कहते हैं वे यथार्थ में भौतिक ही होती हैं, अथवा पहले भौतिक-घटना होती है, उसके बाद उसका मन पर प्रभाव पड़ता है—भौतिक पहले, मानसिक पीछे, भौतिक कारण, मानसिक कार्य—ऐसा समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि ठण्डी हवा लगने से मेरे सिर में दर्द हो गया जिससे मेरा मन अत्यन्त बह-सा गया, आज भूख नहीं लगी इसलिए घबराहट होने लगी, रिमझिम बरसात की बूंदें टपकने लगीं

में दिल धड़कने लगता है, सांस तेज़ चलने लगता है, मनुष्य अपने बचाव के लिये अनुकूल क्रिया करने लगता है, भागने लगता है, यह नैसर्गिक-प्रतिक्रिया (Instinctive reaction) है, इसमें मन के लिये गुंजाइश नहीं, यह शेर को सामने देख कर शरीर का अपने-आप 'अनुकूलन' (Adapation) है, ठीक ऐसे जैसे घुटने के ऊपर के हिस्से पर हाथ से चोट देने पर घुटना उछल पड़ता है। भौतिक-वादी-विचारधारा के अनुसार शेर को सामने देख कर हम नैसर्गिक तौर पर अपने को बचाने के लिये भागने लगते हैं, और ज्यों-ज्यों भागते हैं त्यों-त्यों डर बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में, हम डर के कारण नहीं भागते, अपने को शेर से बचाने के लिये हम भागते हैं—भागने की इस शारीरिक-गति के कारण जो अनुभूति होती है उस मानसिक-अनुभूति का नाम भय है। जेम्स का कहना है कि क्योंकि हमारे आँसू निकलते हैं इसलिये हम दुःखी होते हैं, दुःखी होते हैं इसलिये आँसू निकलते हैं—यह बात नहीं है। अगर हम न दौड़ें तो डर न लगे, अगर हम आँसू न बहायें तो दुःख न हो। 'विचार' तथा 'संवेग' के विषय में यह भौतिकवादी दृष्टिकोण है। इस विचार को पुष्ट करने के लिये फ्रांस के भौतिकवादी मनोवैज्ञानिक श्री जिआर्ट ने मुर्गियों पर उनकी 'मूल-प्रवृत्तियों' (Instincts) के विषय में यह जानने के लिये प्रयोग किये कि 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) का आधार मन है या 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus-response) का भौतिक-नियम है।

4. 'मूल-प्रवृत्ति' (Instincts) के सम्बन्ध में जिआर्ट के प्रयोग

मन की सत्ता से इन्कार करने की बात को पुष्ट करने के लिये सबसे अच्छा दृष्टान्त मूल-प्रवृत्ति का है। मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तुओं में मूल-प्रवृत्ति (Instinct) पायी जाती है। 'मूल-प्रवृत्ति' क्या है? किसी प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आने पर प्राणी तत्काल प्रतिक्रिया करता है, इस प्रति-क्रिया का कारण मूल-प्रवृत्ति है, नैसर्गिक-शक्ति है, इसे सहज-शक्ति भी कह सकते हैं। मूल-प्रवृत्ति (Instinct) पर जो प्रयोग तथा अन्वेषण किये गये हैं उनसे सिद्ध होता है कि मूल-प्रवृत्ति वह शक्ति है जिसमें विशेष प्रकार की परिस्थिति उपस्थित होने पर प्राणी मशीन की तरह सहज-क्रिया करने लगता है, मानो वह स्व-चालित-यंत्र (Automaton) हो। जानवर के बच्चे को पैदा होते ही नदी में डाल दिया जाय, तो वह तैरने लगता है, उसे लाठी दिखलाई जाय तो वह जान बचाने के लिए भागने लगता है, उसके मुँह में माता का स्तन दे दिया जाय तो वह उसे चुसकने लगता है। ये सब प्रतिक्रियाएँ सीखी तो नहीं जातीं, परिस्थिति के उपस्थित होने पर अपने-आप हो जाती हैं। फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक जिआर्ट ने मुर्गियों पर परीक्षण किए। उन परीक्षणों से सिद्ध हुआ कि उनमें मातृत्व का प्रेम मन के किसी गुण के कारण नहीं, स्थानिक सूजन (Local inflammation)

के कारण होता है। मुर्गी अण्डों को इसलिए नहीं सेती क्योंकि उसके मन में अपने चूजों के लिए प्रेम होता है, परन्तु वह अण्डों पर इसलिए बैठी रहती है क्योंकि इससे उसे अण्डों पर बैठने से जो सेंक मिलता है उससे आराम पड़ता है। सूजन में सेंक से चैन पड़ ही जाती है। श्री जिआर्ड का कहना है कि अगर ठीक जगह सिर्री लगा कर मुर्गी को सूजन की तरह बेचैन कर दिया जाय, तो वह मुर्गी दूसरी मुर्गियों के अण्डों को जा कर सेने लगती है। इसका यही अर्थ हुआ कि अण्डों को सेना मन के किसी गुण के कारण नहीं, अपितु एक विशेष प्रकार की परिस्थिति उपस्थित होने पर तत्काल तदनुकूल प्रतिक्रिया कर देना है जो एक स्व-चालित-यंत्र की भांति है। दूसरे शब्दों में, यदि मुर्गी में मातृत्व का 'संवेग' (Emotion) दीख पड़ता है, तो यद्यपि उसे 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) कहा जाता है, तो भी वास्तव में पहले उसके शरीर में कुछ गड़बड़ होती है, उसी शारीरिक बेचैनी के अनुभव को हम मन का अनुभव कह देते हैं; मन पहले नहीं, शारीरिक-बेचैनी पहले है, उस बेचैनी का शारीरिक-अनुभव मन कहा जाता है।

5. 'इच्छा-शक्ति'—'कर्तृत्व-शक्ति'—(Will) के सम्बन्ध में मस्तिष्क पर किये गये बिजली की करेन्ट के प्रयोग

हमने देखा कि 'विचार' (Thought), 'संवेग' (Emotion) तथा 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) के विषय में भौतिकवादी की क्या विचारधारा है। विचार, संवेग, मूल-प्रवृत्ति ही को तो हम मन के लक्षण कहते हैं। भौतिकवादी का कहना है कि ये सब मन के लक्षण न होकर शरीर में हो रही प्रतिक्रियाएँ हैं, 'उद्दीपन अनुक्रिया' (Stimulus-response) के दृष्टांत हैं।

प्रश्न होता है कि उक्त लक्षणों को भले ही मानसिक-लक्षण मानने के स्थान में शारीरिक-लक्षण मान लिया जाय, परन्तु 'इच्छा', 'कर्तृत्व'—Will—के मानसिक लक्षण को शारीरिक-लक्षण कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञान को भौतिकवादी आधार देने में मनुष्य के भीतर वर्तमान 'इच्छा-शक्ति'-'कर्तृत्व-शक्ति' (Will) सबसे बड़ी बाधा है। यह हमारे भीतर मौजूद एक ऐसी मानसिक या 'आध्यात्मिक-शक्ति' (Spiritual faculty) है जिससे हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि मन की शरीर से पृथक् सत्ता है, इसी पृथक्-सत्ता के कारण हम शरीर पर प्रभुत्व अनुभव करते हैं, यह नहीं कि जो शरीर में हो रहा होता है वही सब-कुछ है, परन्तु अनुभव से सिद्ध है कि मन स्वतन्त्र-रूप में शरीर का संचालन करता है। उदाहरणार्थ, जब हम बैठे-बैठे अपनी मर्जी से हाथ को सिर से ऊपर उठाते हैं, तब हम किसी भौतिक-परिस्थिति की प्रतिक्रिया नहीं कर रहे होते जैसा 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के भौतिक-सिद्धान्त के आधार

पर मन को निर्वासित करने के लिए कहा जाता है, तब हम यंत्र की तरह स्व-चालित नहीं हो रहे होते, परन्तु तब हम शरीर से स्वतन्त्र होकर, अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार क्रिया कर रहे होते हैं, एक तरह से हमारे भीतर शरीर से स्वतन्त्र कोई शक्ति है, जो शरीर को हाथ ऊँचा उठा लेने का आदेश दे रही होती है। क्योंकि यह शक्ति शरीर को आदेश दे रही होती है इसलिए यह स्वयं-सिद्ध है कि यह शक्ति जिसे हम मन कहते हैं, शरीर से स्वतन्त्र है, शरीर से अतिरिक्त है। अध्यात्मवादी का भौतिकवादी से यह स्वभाविक प्रश्न है कि अगर प्रत्येक मानसिक-क्रिया का कारण मन न होकर शरीर है, तो इस भौतिकवादी विचार से हमारे भीतर मौजूद 'स्वतन्त्र-कर्तृत्व-शक्ति', 'स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति', 'स्वतन्त्र-संकल्प-शक्ति' (Freedom of Will) का क्या हल है? 'कर्तृत्व-शक्ति' का अर्थ ही यह है कि शरीर से अतिरिक्त मन जैसी कोई पृथक्-सत्ता है, जो स्वतन्त्र रूप में, अपने अधिकार से काम करती है।

इसका उत्तर भौतिकवादी यह देते हैं कि मस्तिष्क में एक ऐसा स्थल या स्तर है जहाँ बाहर से 'संवेदन' (Sensation) जाता है, जाकर वहाँ से 'प्रेरणा' (Motion) होती है। मस्तिष्क के जिस स्तर मे 'संवेदन-तन्त्र' (Sensory nerve) 'प्रेरणा-तन्त्र' (Motor nerve) के रास्ते पर चल पड़ते हैं, उसी स्तर के क्रिया-शील होने के कारण हम अनुभव करते हैं कि हम स्वयं क्रिया कर रहे हैं, वास्तव में वह क्रिया मानसिक न होकर शारीरिक होती है, इसलिए शारीरिक होती है क्योंकि उस क्रिया में मन काम नहीं कर रहा होता, सिर्फ़ ज्ञान-तन्त्रों का अपना काम चल रहा होता है। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि अगर मस्तिष्क के उस स्तर को बिजली की करेंट से छुआया जाय, तो शरीर में जो प्रतिक्रिया होती है उसमें व्यक्ति अनुभव करता है कि उस क्रिया को वह स्वयं कर रहा है, स्वतन्त्र रूप में कर रहा है। वह क्रिया 'प्रतिवर्त-क्रिया' (Reflex action) नहीं होती, जिसे अपने-आप हो रही क्रिया कहा जा सके, उस क्रिया को करने वाले को ऐसा अनुभव होता है कि वह 'ऐच्छिक-क्रिया' (Voluntary action) कर रहा है; यन्त्र की तरह क्रिया नहीं कर रहा परन्तु अपनी इच्छा से क्रिया कर रहा है यद्यपि वास्तव मे वह क्रिया बिजली की करेंट लगाने के कारण हो रही होती है। भौतिकवादियों का कथन है कि जब बिजली की करेंट को मस्तिष्क के केन्द्र में छुआ देने मे व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि वह उस क्रिया को अपनी 'इच्छा-शक्ति' (Will) के कारण कर रहा है यद्यपि उसमें किसी प्रकार की 'इच्छा-शक्ति' नहीं होती, तब हम यह क्यों न मानें कि जहाँ-जहाँ हमें 'इच्छा' या 'कर्तृत्व' दीखता है, वहाँ-वहाँ हम स्वतन्त्र रूप मे मन द्वारा कोई क्रिया नहीं कर रहे होते, परन्तु उस इच्छा या कर्तृत्व के अनुभव का आधार भी मस्तिष्क में बिजली की करेंट की तरह कोई भौतिक कारण ही होता है।

6. चेतना (Consciousness)

जैसे 'इच्छा-शक्ति'—अर्थात्, 'कर्तृत्व-शक्ति' (Will) का होना भौतिकवादी विचारधारा के सम्मुख एक बड़ी बाधा प्रतीत होती है जिसका जैसा-तैसा भौतिकवादी समाधान हमने ऊपर दिया, वैसे ही 'चेतना-शक्ति' (Consciousness) का होना भौतिकवादी विचारधारा के मार्ग में उससे भी बड़ी बाधा है। हमारे सम्पूर्ण मानसिक-जीवन का स्रोत, उसका केन्द्र चेतना-शक्ति है। अपने जीवन के विषय में अगर कोई वस्तु ऐसी है जिसके विषय में हम अत्यन्त निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वह है, तो वह है हमारी अपनी 'चेतना'। मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर जड़ है; मैं चेतन हूँ; यह शरीर मेरा है; मैं अनुभव करता हूँ जब कि अचेतन-पदार्थ अनुभव नहीं करता। 'अनुभव' करना क्या है? एक सत्ता उसकी है जो अनुभव करता है, एक सत्ता उसकी है जिसे अनुभव किया जाता है; एक 'कर्ता' (Subject) है, दूसरा 'कर्म' (Object) है। यह चेतन, यह अनुभव करने वाला, यह कर्ता—इस हर-किसी के अनुभव में आने वाली सत्ता से कैसे इन्कार किया जा सकता है? अमीर हो, ग़रीब हो, सुपढ़ हो, कुपढ़ हो, स्त्री हो, पुरुष हो—कौन ऐसा मानव है जिसे अपने शरीर से पृथक् अपने 'मैं' की प्रतीति न होती हो? वह शरीर को 'मेरा' न कहता हो? वह कौन है जो इसे 'मेरा' कहता है? इसका भौतिकवादी क्या समाधान दे सकते हैं?

भौतिकवादियों का कथन है कि जैसे ऊपर हम अन्य मानसिक घटनाओं (Mental phenomena) का—विचार, संवेग, मूल-प्रवृत्ति आदि का—भौतिकवादी-विचारधारा से समाधान कर आये हैं, वैसे चेतना-शक्ति का भी भौतिकवादी समाधान किया जा सकता है। यह समाधान अत्यन्त विलक्षण है। विलियम जेम्स तथा अन्य भौतिकवादी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि 'चेतना' नाम की कोई पृथक्-सत्ता है ही नहीं, फिर उसका समाधान क्या किया जाय? जो-कुछ है वह 'मानसिक-सत्ता' है—'विचार' (Thought), 'संवेग' (Emotion), 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct)—यही-कुछ है, जिसे हम 'चेतना' का नाम दे देते हैं, असल में मन के अतिरिक्त चेतना जैसी किसी पृथक्-सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। जिसे हम 'मानसिक' कहते हैं वह भी मानसिक नहीं है, शारीरिक ही है—भौतिकवादियों की इस विचारधारा के अनुसार न चेतना है, न मन है, न विचार है, न संवेग है, न मूल-प्रवृत्ति है, न कर्तृत्व है—जो-कुछ है वह भौतिक-तत्त्वों का आपस में ही चल रहा एक खेल है, सब-कुछ स्व-चालित है, स्व-चालित इस शरीर रूपी यन्त्र में विचार, उद्वेग, मूल-प्रवृत्ति, इच्छा, कर्तृत्व आदि जो-कुछ दीखता है वह भौतिक-तत्त्वों का ही परिणाम है, मन जैसी शरीर से स्वतन्त्र किसी शक्ति का परिणाम नहीं है।

7. आत्मा (Self or Soul)

भौतिकवादियों का कहना है कि जिसे हम 'चेतना' (Consciousness) कहते हैं वह किसका गुण है, किसकी शक्ति है ? 'चेतना' (Consciousness) की स्वयं तो कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, यह तो एक 'गुण' (Quality) है। यह किसका गुण है ? चेतना 'आत्मा' (Self—Soul) का गुण है—ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह आत्मा जिसमें चेतना निवास करती है, जिसका चेतना-शक्ति एक गुण कहा जाता है—यह 'स्व'—यह 'आत्म-तत्त्व'—यह 'स्वयं'—क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? भौतिकवादियों का कहना है कि आत्मा की स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है, इसका किसी को पता नहीं है, इसका किसी को ज्ञान नहीं है, यह केवल एक काल्पनिक-तत्त्व है जिसे कुछ विचारकों ने मान रखा है, कल्पित कर रखा है। 'आत्मा' की कितनी ही गहरी खोज की जाय, हमारे हाथ कुछ नहीं पड़ता; अगर कुछ हाथ पड़ता है तो सिर्फ़ यह प्रश्न कि क्या हमारे भीतर कुछ है जो 'विचार' (Thinking) करता है, जिसमें 'संवेग' (Emotion) उठता है, जो 'इच्छा' (Willing) करता है, और साथ ही यह उलझन भी बनी रहती है कि क्या ये विचार, ये संवेग, ये इच्छाएँ, ये क्रियाएँ स्वतन्त्र रूप से, अलग-अलग हो रही हैं, या इन सबको एक सूत्र में पिरोने वाले की इनसे अलग, कोई पृथक्-सत्ता भी है, वह स्वयं भी है या नहीं है, ऐसा 'स्वयं' जो शरीर के भीतर चल रहे विचारों, संवेगों, इच्छाओं एवं क्रियाओं का स्रोत हो। जब हमारे भीतर ही इस प्रकार की दुविधा या उलझन चल रही हो, और वह भी तथाकथित आत्मा कहे जाने वाले तत्त्व में चल रही हो, तो क्या उस तत्व की स्वतन्त्र रूप में—आत्मा के रूप में—कोई सत्ता मानी जा सकती है ? इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ये तत्व—विचार, संवेग, इच्छाएँ, क्रियाएँ—किसी एक ही उद्गम-स्थान से उठ रही हैं, इनका एक ही स्रोत है, इनके आधार में कोई एक ही सत्ता है जो इन सबको एक सूत्र में पिरो रही है। दूसरे शब्दों में, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह तत्व हमारे भीतर चल रहे विचारों, संवेगों, इच्छाओं तथा क्रियाओं से कोई भिन्न, इनसे स्वतन्त्र तत्त्व है। भौतिकवादियों के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा जैसी कोई सत्ता है ही नहीं, सिर्फ़ जो प्रकट हो रहा है, विचार हैं, संवेग हैं, इच्छाएँ हैं, क्रियाएँ हैं, बस यही-कुछ है, इनके अतिरिक्त 'स्व' की, 'आत्मा' की कोई सत्ता नहीं है। हमारा सामना विचारों से होता है, संवेगों से होता है, इच्छाओं से होता है, क्रियाओं से होता है, परन्तु वह सत्ता जो विचार करती है, जिसमें संवेग आते-जाते हैं, जो इच्छाएँ करती है, क्रियाएँ करती है, उसका हमसे कभी सामना नहीं होता क्योंकि वह है ही नहीं। ठीक यही बात 'चेतना' (Consciousness) के विषय में ही कही जा सकती है। हम जानते हैं

कि हमारे भीतर विचार आते हैं, भावनाएँ आती हैं, इच्छाएँ आती हैं, हम क्रियाएँ करते हैं, परन्तु वह सत्ता जिसे 'चेतना' कहा जाता है, जो भावनाएँ करती है, इच्छाएँ करती है, क्रियाएँ करती है, जो इन सबका स्रोत है, उस 'चेतना' का तो हमसे कभी सामना नहीं होता। अगर 'चेतना' जैसी कोई सत्ता हो, तो जब हम विचार न कर रहे हों, हमारे भीतर कोई भावनाएँ न हों, कोई क्रिया न हो, तब भी उस चेतना की प्रतीति, उसका अनुभव होना चाहिए। 'चेतना' अपने को विचारों, इच्छाओं, भावनाओं तथा क्रियाओं में ही तो प्रकट करती है, परन्तु जब इनमें से कोई वस्तु भी न हो, तब 'चेतना' की प्रतीति, उसका अनुभव क्यों नहीं होता ? भौतिकवादियों का कहना है कि तब 'चेतना' का अनुभव इसलिए नहीं होता क्योंकि 'चेतना' या 'आत्मा' का अस्तित्व 'विचारों' आदि के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, और विचारों के विषय में भौतिकवादी समाधान, जैसे पहले कहा जा चुका है, दिया ही जा सकता है। हम जो-कुछ सोचते या करते हैं, वह सब-कुछ 'मन', 'आत्मा' या 'चेतना' जैसी वस्तु बीच में लाए बग़ैर हो सकता है। जो लोग मनोविज्ञान पर इस उग्र भौतिकवादी-दृष्टिकोण से विचार करते हैं उन्हें 'व्यवहार-वादी' (Behaviourists) कहा जाता है।

8. व्यवहारवाद (Behaviourism)

व्यवहारवादियों का कहना है कि हमारे मन में क्या हो रहा है इसे जानने के साधनों पर विचार किया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि 'मन'—जैसी कोई वस्तु नहीं है। मन में जो-कुछ हो रहा कहा जाता है, उसे जानने के दो साधन हैं : एक है—'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection), दूसरा है 'प्रेक्षण' (Observation)। हम दोनों पर व्यवहारवादी दृष्टिकोण से विचार करेंगे—

(क) **अपना, अर्थात् मन का 'अन्तर्निरीक्षण'** (Introspection of the mind)—अन्तर्निरीक्षण का अर्थ है अपने भीतर चल रहे व्यापार को देखना, परन्तु अपने भीतर जो-कुछ चल रहा होता है वह यथार्थ से कितना अनिश्चित, दूर तथा ग़लत होता है यह तब स्पष्ट हो जायगा जब 10-20 व्यक्तियों को एक ही घटना का वर्णन करने के लिए कहा जाय। जब हम किसी घटना को देखते हैं तब मन के भीतर उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब घटना को देखने वाले हर व्यक्ति का एक-दूसरे से अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ, गोटिनजेन शहर में मनोविज्ञान की एक कांग्रेस हुई थी जिसमें उपस्थित वैज्ञानिकों के सम्मुख एक घटना का आयोजन किया गया। एकाएक एक विदूषक सभा-स्थल में आ धमका, उसके ठीक पीछे एक नीग्रो दौड़ता आया, दोनों में गुत्थमगुत्थी हुई, इतने में गोली के छूटने की आवाज़ हुई और दोनों घटना-स्थल से रफ़ूचक्कर हो गये। कुल घटना को 20 सैकेंड से कम समय लगा। उपस्थित-व्यक्तियों को

इस घटना का लिखित वर्णन देने के लिए कहा गया। जितने वर्णन आए, उनमें से सिर्फ़ एक व्यक्ति के वर्णन में मुख्य-घटना के विषय में 20 प्रतिशत से कम ग़लतियाँ थीं, 14 के वर्णन में 20 से 40 प्रतिशत ग़लतियाँ थीं, 13 के वर्णन में 50 प्रतिशत से ज़्यादा ग़लतियाँ थीं। 24 के वर्णन में 10 प्रतिशत बातें सिर्फ़ मनगढ़न्त थीं। संक्षेप में, 10 के वर्णन बिलकुल झूठे थे जैसे किस्से-कहानियाँ होती हैं, 24 के वर्णनों में आधा झूठ था, सिर्फ़ 6 के वर्णन घटना के कुछ-कुछ नज़दीक आते थे। इस प्रयोग से स्पष्ट है कि एक ही घटना का 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा लिया गया मानसिक-चित्र अविश्वसनीय होता है क्योंकि एक ही घटना का सबका निरीक्षण एक-दूसरे से भिन्न पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम किसी घटना को देखते हैं तब उस घटना के अतिरिक्त जो घटना का हिस्सा नहीं है उसे भी कल्पित कर लेते हैं, और यथार्थ-घटना को नहीं देख पाते, जो चाहते हैं उसे देखने लगते हैं। यह बात तो तब है जब हम किसी बाह्य घटना को देख रहे होते हैं, परन्तु जब हमने 'मन' को ही देखना हो तब तो यह अनिश्चितता और बढ़ जाती है। मन को देखना है, और मन द्वारा ही देखना है—कितना कठिन काम है। जब हम बाह्य-वस्तु को मन द्वारा देख रहे होते हैं, तब अनेक ग़लत बातें बीच में आ पड़ती हैं, जब हम मन द्वारा मन को ही देख रहे हों, तब तो कहना ही क्या है। तब मन में अनिश्चित, अविद्यमान, ग़लत बातों का आ जाना, ऐसी बातों का आ जाना जो मौजूद नहीं हैं परन्तु जिनको मन चाहता है, क्या बड़ी बात है ? तब तो जितना हम अन्तर्निरीक्षण द्वारा मन पर विचार करेंगे उतना ही मन का वही स्वरूप दीखने लगेगा जो हमने अबतक अपने भीतर बना रखा है। इन सब कारणों से भौतिकवादी मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मन के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'अन्तर्निरीक्षण' किसी प्रकार सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। 'अन्तर्निरीक्षण' से हम मन की यथार्थ-सत्ता को नहीं समझ सकेंगे, जो-कुछ धारणा हमने मन के विषय में बनाई होगी वही हमें दीखने लगेगी, अन्तर्निरीक्षण से मन के यथार्थ-रूप का पता नहीं चल सकेगा।

(ख) प्रेक्षण (Observation)—व्यवहारवादियों का कथन है कि 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा हम किसी तथ्य पर नहीं पहुँच सकते। मन की सत्ता का मुख्य आधार 'अन्तर्निरीक्षण' ही है, अपने भीतर झाँकने से ही तो हम कहते हैं कि शरीर के अतिरिक्त मन की सत्ता है, परन्तु जब 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा हम किसी तथ्य पर पहुँच ही नहीं सकते, तब मन की सत्ता सिद्ध करने के लिए इस आधार को लेना बेकार है। तो फिर किसी तथ्य तक पहुँचने का क्या आधार है ? व्यवहारवादियों का कहना है कि ऐसा आधार सिर्फ़ 'प्रेक्षण' है। हमारा निरीक्षण क्या कहता है ? हम 'मन' को नहीं देख सकते, 'चेतना' को नहीं देख सकते, अपने में अगर कोई चीज़ देख सकते हैं तो वह है अपना व्यवहार, अपना क्रिया-कलाप।

हम जो-कुछ करते हैं उसी को हम देख सकते हैं। जब हम 'चेतना' को, 'मन' को देख ही नहीं सकते, सिर्फ़ अपने व्यवहार, अपने क्रिया-कलाप को ही देख सकते हैं, तब 'चेतना' या 'मन' के काल्पनिक-तत्त्व के साथ टक्कर मारने की जगह यही उत्तम है कि हम अपने 'व्यवहार', अपने 'क्रिया-कलाप' का ही अध्ययन करें। ऐसी हालत में मनोविज्ञान को 'मन' जैसी अज्ञेय तथा काल्पनिक वस्तु की उलझन में पड़ने के स्थान में 'व्यवहार' जैसी ज्ञेय तथा वास्तविक-सत्ता के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए।

इस स्थापना को आधार बना कर 'व्यवहारवादी' (Behaviourist) अपने शास्त्र का प्रारम्भ करता है। वह कहता है कि प्रत्येक प्राणी का वह व्यवहार जो हमें दृष्टिगोचर होता है 'उद्दीपन' (Stimulus) तथा 'अनुक्रिया' (Response) का ही परिणाम है। एक खास प्रकार का उद्दीपक हमारे सामने आता है, उसकी अनुक्रिया हो जाती है जो हमारे व्यवहार में हमें दीखती है। इस दिशा में व्यवहार-वादियों ने अनेक परीक्षण किये हैं जिनमें से मुख्य परीक्षण को 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned-response) का परीक्षण कहा जाता है। 'अनुकूलित-अनुक्रिया' का परीक्षण क्या है ?

(I) **अनुकूलित-अनुक्रिया का प्रयोग** (Experiment of Conditioned response)—रूस के मनोवैज्ञानिक पवलव ने कुत्ते पर कुछ प्रयोग किए। उन प्रयोगों के अनुसार पहले कुत्ते को एक सुरक्षित स्थान पर रख दिया गया जहाँ वाहर का कोई विक्षेप नहीं पहुँच सकता था। उसके सामने भोजन लाया जाता था जिसे देख कर स्वाभाविक तौर पर उसके मुख में लार आने लगती थी। दूसरे शब्दों में, भोजन एक 'उद्दीपक' (Stimulus) था, उसे देख कर मुँह में लार आ जाना 'अनुक्रिया' (Response) थी। इस अवस्था को 'अननुकूलित उद्दीपक' (Unconditioned stimulus) की 'अननुकूलित अनुक्रिया' (Unconditioned response) कहा जाता है—Unconditioned response to an unconditioned stimulus.

इसके वाद प्रयोग की दूसरी स्थिति आती है। इस वार कुत्ते के सामने जव-जव भोजन लाया जाता है, तव-तव एक घण्टी भी वजाई जाती है, हर वार जव भोजन आता है साथ ही घण्टी वजती है।

अव प्रयोग की तीसरी स्थिति आती है। इस स्थिति में भोजन तो नहीं लाया जाता, सिर्फ़ घण्टी वजाई जाती है। आश्चर्य की वात यह है कि पहले तो भोजन को देख कर कुत्ते के मुँह में लार आती थी, अव विना भोजन को देखे, सिर्फ़ घण्टी को सुनने से ही उसके मुँह में लार आने लगती है।

इसका अर्थ क्या हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि पहले तो लार आने में 'उद्दीपक' का काम भोजन करता था, अव लार आने के लिए एक नया 'उद्दीपक'

घण्टी का वजना उत्पन्न हो गया। यह नया 'उद्दीपक' कैसे उत्पन्न हुआ ? यह ऐसे उत्पन्न हो गया कि जब-जब भोजन आता था, घण्टी वजती थी। घण्टी का वजना भोजन के साथ जुड़ गया, सम्बद्ध हो गया, और इस प्रकार सम्बद्ध होने से भोजन के साथ लार आने का जो जोड़ था वह जोड़ घण्टी के साथ भी जुड़ गया, दोनों का अनुकूलन हो गया। दूसरे शब्दों में, भोजन तथा घण्टी का 'उद्दीपक' के रूप में एक-साथ सम्बन्ध जुड़ा, लार का सम्बन्ध जो भोजन के साथ था वह घण्टी के साथ भी हो गया। इसे 'अनुकूलित उद्दीपक' (Conditioned stimulus) की 'अनुकूलित अनुक्रिया' (Conditioned response) कहा जाता है—Conditioned response to a conditioned stimulus.

जैसे भोजन के साथ घंटी को जोड़ दिया गया वैसे किसी अन्य उद्दीपक को भी जोड़ा जा सकता है, शर्त इतनी ही है कि यह काम भोजन और उद्दीपक का अनेक वार, वार-वार सम्बन्ध होते रहना चाहिए।

भोजन के साथ किसी सुखद उत्तेजक की तरह किसी दुःखद उत्तेजक को भी वार-वार दोहराने से वह भी भोजन के साथ 'सम्बद्ध' हो सकता है। उदाहरणार्थ, अगर भोजन के साथ-साथ कुत्ते को हर वार सूई से चुभोया जायगा, तो भी सूई चुभने का भोजन के साथ सम्बन्ध हो जायगा, और कालान्तर में सिर्फ़ सूई चुभोने पर भी कुत्ते के मुंह में वैसे ही लार आने लगेगी जैसे भोजन को सामने लाने पर आती थी।

इस परीक्षण से भौतिकवादी क्या सिद्ध करना चाहता है ? वह कहता है कि अगर मन जैसी कोई हस्ती हो, तब भोजन को सामने देख कर कुत्ते के मुँह में लार आ जाना तो समझ में आ सकता है, परन्तु घण्टी की आवाज़ सुन कर या सुई चुभने पर लार आ जाना समझ नहीं आ सकता। तो फिर घण्टी की आवाज़ सुन कर भौतिकवादी दृष्टिकोण से कुत्ते के मुंह में लार क्यों आ जाती है ? उसका कहना है कि जब 'संवेदन-तन्त्र' (Sensory nerves) भोजन के 'दृश्य-संवेदन' (Visual sensation) को मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुँचाते हैं तब घण्टी वजने के 'श्रव्य-संवेदन' (Auditory sensation) भी उसी केन्द्र पर इन तन्त्रों द्वारा पहुंचते हैं, और जब उस केन्द्र से 'प्रेरक-तन्त्र' (Motor nerves) उद्दीपन की अनुक्रिया (Response to the stimulus) को वाहर लाते हैं, तब देखने तथा सुनने के एक-साथ जुड़े हुए संवेदन इन तन्त्रों के द्वारा साथ-साथ वाहर आते हैं। क्योंकि दोनों संवेदन इन तन्त्रों द्वारा साथ-साथ वाहर आते हैं इसलिए दोनों संवेदनों को साथ-साथ वाहर लाने वाला तन्त्र कुछ समय के लिए दोनों प्रकार के संवेदनों के लिए क्रियाशील हो जाता है, और चाहे इकला भोजन सामने लाया जाय, चाहे भोजन के विना इकली घण्टी वजाई जाय, कुत्ते के मुंह में लार आने लगती है। भौतिकवादी का कहना है कि

'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) के इस परीक्षण से स्पष्ट है कि 'उद्दीपक' (Stimulus) के प्रति 'अनुक्रिया' (Response) का कारण मन न होकर 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) ही है।

भौतिकवादियों का कथन है कि जो-कुछ कुत्ते के विषय में कहा जा सकता है वह मनुष्य के विषय में भी कहा जा सकता है। कुत्ते का तन्त्रिका-तन्त्र तो बहुत साधारण-सा है, इसलिए हर कुत्ते पर और हर आयु के कुत्ते पर ऐसे प्रयोग किये जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य का तन्त्रिका-तन्त्र साधारण नहीं है, विषम है, इसलिए हर मनुष्य पर और हर आयु के मनुष्य पर 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) के प्रयोग नहीं किये जा सकते। ये प्रयोग छोटे बच्चों पर ही किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, व्यवहारवाद के जन्मदाता श्री वाटसन ने 1912-14 में छोटे बच्चों पर इस प्रकार के कुछ प्रयोग किये। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जैसे कुत्ते के मुंह में स्वाभाविक तौर पर भोजन सामने होने पर लार आती है, वैसे दो प्रकार के ही ऐसे 'उद्दीपक' हैं जिनसे स्वाभाविक तौर पर बच्चों में डर उत्पन्न होता है। वे हैं—जोर की आवाज़, तथा यकायक बिना सहारे छूट जाना। फिर भी 3 वर्ष का बच्चा इन स्वाभाविक दो स्थितियों के अलावा भी अन्य अनेक स्थितियों में भय खाता है। उदाहरणार्थ, वह अँधेरे से, किसी जानवर से, या किसी यान्त्रिक खिलौने से डरने लगता है। वाटसन का कथन है कि ये सब डर 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) के परिणाम हैं। उदाहरणार्थ, अन्धेरे से बच्चा इसलिए डरने लगा होगा क्योंकि किसी समय अँधेरे के साथ कुत्ता ज़ोर-से भौंक पड़ा होगा, या अँधेरे से चलता हुआ वह बेसहारे गिर पड़ा होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चा अँधेरे से नहीं डरा, जब वह अँधेरे में था तब कुत्ते की ज़ोर की आवाज़ सुनी या कभी ठोकर खाकर गिर पड़ा, इन कारणों से वह डरा, परन्तु यह सब-कुछ क्योंकि अँधेरे के साथ सम्बद्ध था, उसके साथ जुड़ा हुआ था, इसलिए वह अँधेरे से भी डरने लगा। बच्चों पर किये गए इन प्रयोगों से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य में भी अनुक्रिया का कारण मन न होकर 'तन्त्रिका-तन्त्र' ही है।

भौतिकवादियों का कथन है कि 'अननुकूलित-उद्दीपक' (Unconditioned-stimulus) के साथ दूसरा उद्दीपक सम्बद्ध कर देने, जोड़ देने से 'अनुकूलित-अनुक्रिया' (Conditioned response) हो जाती है—यह भौतिकवादी-सिद्धांत समाज के नव-निर्माण में भी बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ, शत्रु से द्वेष करना स्वाभाविक-प्रतिक्रिया है, परन्तु अगर मित्र तथा शत्रु को साथ-साथ रखा जाय, तो मित्र के प्रति प्रेम की प्रतिक्रिया के बार-बार दोहराये जाने का परिणाम यह हो सकता है कि शत्रु के प्रति भी द्वेष के स्थान पर प्रेम की भावना का उदय होने लगे। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण 'संवेगात्मक-जीवन'

(Emotional life) बदला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भौतिकवादियों के कथनानुसार प्रेम-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, मोह, भय आदि मानसिक-संवेग, मानसिक-भावनाएँ मन का परिणाम नहीं, तन्त्रिका-तन्त्र का परिणाम हैं, हम चाहें तो 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के तन्त्रों को भौतिक-दृष्टि से प्रभावित करके घृणा की जगह प्रेम, द्वेष की जगह मैत्री को जन्म दे सकते हैं, और ऐसा करने में मन जैसे किसी तत्त्व की स्थापना करने की आवश्यकता नहीं होगी।

(II) उक्त प्रयोग के परिणामस्वरूप 'मन' या 'चेतना' को मानने की आवश्यकता नहीं है—'व्यवहारवादी' (Behaviourists) लोग भौतिकवादी-मनोवैज्ञानिक हैं। इनका कहना है कि 'मन' या 'चेतना' को माने बगैर 'व्यवहारवाद' के उक्त प्रयोगों से उन सब बातों का समाधान हो जाता है जिनके लिए 'मन' या 'चेतना' (Mind or Consciousness) को माना जाता है। उक्त प्रयोगों से स्पष्ट है कि जिस बात का आधार हम 'मन' को कहते हैं, वह सब यन्त्रवत् चल रहा है, 'कारण-कार्य' के नियम से बँधा हुआ है। आग होगी तो सेक होगा, बर्फ़ होगी तो ठण्ड होगी, उद्दीपक होगा तो अनुक्रिया होगी—इसमें 'मन' या 'चेतना' को बीच में ला खड़ा करने की क्या जरूरत है? व्यवहारवादी कहता है कि अगर 'मन' है, तो भी इस बात की जरूरत नहीं कि मन को पता हो कि क्या उद्दीपक है, और क्या अनुक्रिया है; उसके जाने बगैर यह 'उद्दीपन-अनुक्रिया' (Stimulus response) का यन्त्र चल रहा है, साथ ही अगर मन चाहे कि 'उद्दीपन-अनुक्रिया' का यह यन्त्र न चले, तो भी वह इसे रोक नहीं सकता। 'मन' या 'चेतना' अगर है, तो सिर्फ़, जैसा सांख्यकार का मत है, साक्षी-भाव से, द्रष्टा-भाव से बैठी है, जो-कुछ हो रहा है उसे देख भर ही रही है, काम उसके बगैर ही हो रहा है। जब उसके बगैर ही सब-कुछ हो सकता है, तब उसके मानने की भी क्या जरूरत है?

हम जो-कुछ करते हैं उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। या तो हमारे वे काम हैं जिनका हमें ज्ञान है—इन्हें 'ज्ञान-कर्म' कहा जा सकता है, या वे काम हैं जिनका हमें ज्ञान नहीं—इन्हें 'अज्ञात-कर्म' कहा जा सकता है। हम सिनेमा देख रहे हैं, हमें ज्ञान है कि हम देख रहे हैं; हमारा हृदय गति कर रहा है, हमें ज्ञान नहीं कि हृदय गति कर रहा है, यह गति अपने-आप हो रही है। इन दोनों में क्या फ़र्क है? इन दोनों में फ़र्क यह है कि 'ज्ञान-कर्म' में हमें ऐसा लगता है कि यह सब-कुछ अपने-आप, यन्त्रवत् नहीं हो रहा, हम कर रहे हैं; 'अज्ञात-कर्म' में सब-कुछ अपने-आप, यन्त्रवत् होता प्रतीत होता है। क्योंकि 'ज्ञात-कर्म' में ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म अलग है, उसे करने वाले हम अलग हैं, हम कर्म को कर रहे हैं, इसलिए हम मान लेते हैं कि कर्म करने वाला—मन—कर्म से अलग है। हम कहने लगते हैं कि कर्ता अलग है, कर्म अलग है, ज्ञाता अलग है,

शरीर अलग है। परन्तु व्यवहारवाद के प्रवर्तक प्रो० वाटसन का कथन है कि 'अज्ञात-कर्म' में जैसे 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) यन्त्रवत् काम कर रहा होता है, वैसे 'ज्ञात-कर्म' में भी हमारा तन्त्रिका-तन्त्र अपने-आप, यन्त्रवत् चल रहा होता है। यह कहना कि 'ज्ञात-कर्म' में शरीर यन्त्रवत् काम नहीं कर रहा होता, हम कर्त्ता होते हैं, ज्ञाता होते हैं, शरीर से अलग होते हैं, गलत है। उदाहरणार्थ, विचार क्या है ? हम समझते हैं कि 'विचार' के समय हम शरीर से भिन्न होते हैं, 'ज्ञात-कर्म' के क्षेत्र में होते हैं, ज्ञाता होते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। 'विचार' भी 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) का ही एक रूप है। जैसे बोलते हुए गले के तन्त्र अपने-आप हिलते, गति करते अनुभव होते हैं, वैसे विचार करते हुए भी उन तन्त्रों में अदृश्य-गति हो रही होती है जो 'अज्ञात-कर्म' की तरह यंत्रवत् हो रही होती है, इस दृष्टि से 'विचार' जिसके आधार पर हम अपने को कर्त्ता-कर्म, द्रष्टा-दृश्य इन दो भागों में बांट लेते हैं अपने-आप में स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, यह तन्त्रिका-तन्त्र का ही अदृश्य रूप है। तन्त्रिका-तन्त्र का यन्त्रवत् संचालन हो रहा है; वही 'हृदय' की गति में हो रहा है, वही 'विचार' करते हुए होता है। 'विचार' एक प्रकार का बोलना है, विचार करते हुए 'तन्त्रिका-तन्त्र' की वही यान्त्रिक-क्रिया होती है जो बोलते हुए होती है। प्रो० वाटसन का कथन है कि 'मन' या 'चेतना' जैसा हमारे भीतर शरीर से भिन्न न कोई कर्त्ता है, न कोई ज्ञाता है, हमारे 'ज्ञात-कर्म' भी 'अज्ञात-कर्म' की तरह 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) द्वारा यन्त्रवत् चल रहे हैं, इसलिए 'मन' या 'चेतना' को मानने की कोई जरूरत नहीं प्रतीत होती।

ऊपर हमने जो कहा उससे क्या सिद्ध होता है ? इससे इतना ही सिद्ध होता है कि हमारी सब क्रियाएँ 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) द्वारा चलती हैं, इन क्रियाओं का आधार 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus response) का सिद्धान्त है, 'उद्दीपक' सामने होगा तो उसकी 'अनुक्रिया' अपने-आप यन्त्रवत् होगी। परन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि 'मन' या 'चेतना' का अस्तित्व नहीं है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, परन्तु क्या इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जब क्रिया की प्रतिक्रिया होती है तब चेतना वहाँ साथ नहीं होती ? 'क्रिया-प्रतिक्रिया' तथा 'चेतना' दोनों साथ-साथ क्या नहीं रह सकतीं ? क्या 'क्रिया-प्रतिक्रिया' और 'चेतना' ये दोनों एक ही वस्तु के दो नाम हैं ? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। मशीन में जैसी 'क्रिया-प्रतिक्रिया' होती है, वैसी 'क्रिया-प्रतिक्रिया' प्राणी में, चेतन में नहीं होती, भले ही उसमें जो प्रतिक्रिया होती है उसे व्यवहारवादी दृष्टिकोण से यान्त्रिक ही कह दिया जाय। तो फिर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि शरीर या तन्त्रिका-तन्त्र से भिन्न हमारे भीतर किसी 'चेतन' की, 'मन' की स्वतन्त्र सत्ता

द्वितीय अध्याय

मन

(MIND)

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

'मन'—'चेतना'—'आत्मा' की शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है

अध्यात्मवादी लोग, जो जीवन के भौतिकवादी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते, उनका कहना है कि जीवित-प्राणी सिर्फ़ यह भौतिक-शरीर ही नहीं है, जीवन की इस शरीर से अतिरिक्त, इससे भिन्न सत्ता है, जीवन एक शक्ति है, एक निरन्तर धारा है, इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, इसे सिर्फ़ भौतिक-वस्तु नहीं कहा जा सकता। जीवन की यह शक्ति जो शरीर से भिन्न है, जो मस्तिष्क से, तन्त्रिका-तन्त्र से भिन्न है, मनुष्य में जिस स्तर पर प्रकट होती है उसे 'मन' कहते हैं, 'चेतना' कहते हैं, 'आत्मा' कहते हैं। इस 'मन', 'चेतना', 'आत्मा' का काम शरीर में हो रहे क्रिया-कलाप को सिर्फ़ दर्ज कर लेना, द्रष्टा बन कर उसे सिर्फ़ देखभर लेना नहीं है, यह 'मन', 'चेतना', 'आत्मा' अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र-रूप में काम करता है, घटनाओं को घटित करता, उनका नियन्त्रण करता है। अध्यात्मवादियों की दृष्टि में जिस काम को हम मन का काम कहते हैं, उसे 'मस्तिष्क' या तन्त्रिका-तन्त्र का काम कह कर समस्या का हल नहीं किया जा सकता, उनकी दृष्टि में यह कहना भ्रम-मूलक है कि मन केवल मस्तिष्क के केन्द्र पर पड़े उद्दीपकों की अनुक्रिया (Response to stimulus) है। अध्यात्मवादी ऐसा क्यों कहते हैं इसी को इस प्रकरण में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा।

(क) किसी लक्ष्य का होना (सोद्देश्यता) : **Purposefulness**—हम पहले लिख आये हैं कि विकासवाद के नाम पर भौतिकवादी कहते हैं कि सृष्टि में कोई 'प्रयोजन' नहीं काम कर रहा। असल में, विकासवाद का गहन अध्ययन

जाती है। इसका अभिप्राय सिर्फ यही हो सकता है कि प्राणी का जो उद्देश्य है, ध्येय है, लक्ष्य है, उसमें अगर ऐसी भयंकर बाधा आ पड़े, तो उसे भी उसके भीतर बैठी कोई शक्ति दूर कर देती है। उद्दीपक सामने होने पर उसके अनुकूल अनुक्रिया (Response to stimulus) का भौतिक-सिद्धान्त इन उदाहरणों का कोई समाधान नहीं करता। ऐसे दृष्टान्तों को देख कर यही कहा जा सकता है कि प्राणी के भीतर कोई जीवित-चेतन-शक्ति है, कोई 'सर्जनात्मक-आवेग' (Creative impulse) है जो अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपने मार्ग की बाधाओं को दूर करता रहता है। हम यह नहीं कहते कि जीवित-प्राणी का शरीर मशीन या यन्त्र की तरह काम नहीं करता। प्राणी का शरीर एक खास प्रकार के 'उद्दीपक' (Stimulus) के सामने होने पर एक निश्चित प्रकार की अनुक्रिया (Response) करता है, इस बात को हम स्वीकार करते हैं, परन्तु हमारा कहना इतना ही है कि प्राणी की प्रतिक्रिया में यह भी देखा जाता है कि निश्चित-प्रतिक्रिया करने के स्थान में, मशीन की तरह यान्त्रिक-क्रिया करने के स्थान में वह ऐसी क्रिया भी करता है जो निश्चित नहीं होती, यान्त्रिक नहीं होती, मशीन की तरह नहीं होती, जिसमें 'उद्देश्य'—Purpose—निहित रहता है, जो किसी मतलब को सामने रख कर की जाती है। उद्देश्य या मतलब को सामने रख कर क्रिया करना सिद्ध करता है कि प्राणी के भीतर 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के अलावा कोई चेतन-सत्ता भी है जो किसी निश्चित-उद्देश्य के अनुसार शरीर का संचालन करती है। दूसरे शब्दों में, प्राणी एक यंत्र ही नहीं है, इस यन्त्र में कोई चेतन-सत्ता भी बैठी है, जिसका कोई अपना उद्देश्य या लक्ष्य होता है, जिस लक्ष्य को पूरा करने के लिए प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियां करता है। जिस बात को हमने विकासवादी परिभाषा में 'सोद्देश्यता' (Purposefulness) कहा है, उसी को कपिल ऋषि ने सांख्य-दर्शन में **'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः'** कहा है। सांख्यकार ने इसी को 'अत्यन्त पुरुषार्थ' कहा है। 'कैवल्य' का अर्थ है 'मोक्ष'। प्रत्येक चेतन की प्रवृत्ति मोक्ष के लिए—दुःखों से छूट जाने के लिए है। सांख्यकार का कहना है कि सुख-दुःख आदि द्वन्द्व प्रकृति के गुण हैं। प्रकृति के साथ सम्पर्क में आने से प्रकृति के ये गुण आत्मा में भासित होते हैं, ठीक ऐसे जैसे स्फटिक मणि के सामने जपा-कुसुम रख देने से फूल का रंग मणि में न होने पर भी उसमें भासने लगता है, जैसे शान्त जल में चन्द्र का बिम्ब प्रतिभासित होने लगता है। दुःख से छूटने का उपाय प्रकृति से अलग हो जाना, केवल हो जाना है—यही 'कैवल्य' का अर्थ है। सारी सृष्टि दुःख से छूटने के लिए प्रयत्नशील है। यह प्रयत्नशीलता सार्थक है, किसी प्रयोजन से है, किसी उद्देश्य से है। दुःख से छूटने का उद्देश्य लेकर जड़ वस्तु क्रियाशील नहीं हो सकती, चेतन ही क्रियाशील हो सकता है। इस दृष्टि से

शरीर को यंत्र मानने पर समझ में नहीं आ सकती, यह तभी हो सकता है जब कल्पना करने वाली, भविष्य की अपेक्षा तथा प्रतीक्षा करने वाली कोई चेतन-सत्ता हो। इसी प्रकार जो घटनाएँ घट चुकी हैं, जिनका अस्तित्व भूत-काल में था परन्तु जो अब वर्तमान-काल में नहीं रहीं, उनका भी हम पर प्रभाव होता है। वह प्रभाव भी तभी समझ में आ सकता है जब 'मन' जैसी कोई चेतन-सत्ता मानी जाय, अन्यथा जिस घटना का इस समय अस्तित्व नहीं रहा वह हमें कैसे प्रभावित कर सकती है? भविष्य में होने वाली तथा भूत की विगत घटनाएँ वर्तमान में हम पर लगातार प्रभाव डालती रहती हैं। उदाहरणार्थ, अगर मैं बद्रीनाथ हो आया हूँ, तुम नहीं हो आए, तो बद्रीनाथ का नाम लेते ही मैं भी वह शब्द सुनता हूँ, तुम भी वही शब्द सुनते हो, दोनों के लिए 'उद्दीपक' (Stimulus) एक ही है, परन्तु हम दोनों की 'अनुक्रिया' (Response) भिन्न-भिन्न होती है। इसका कारण यही हो सकता है कि बद्रीनाथ का नाम सुन कर तुम्हारे भीतर वह सब-कुछ नही जाग उठता जो मेरे भीतर जाग उठता है, हम दोनों के बाहर हमें प्रभावित करने वाली वस्तु एक ही है, परन्तु हम दोनों के भीतर ऐसी वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं जो हम पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालती हैं। इसे 'स्मृति' (Memory) कहा जा सकता है। यह जड़ शरीर का धर्म नहीं हो सकती, किसी चेतन का ही गुण हो सकती है। वही चेतन-सत्ता मन है, चेतन है, या आत्मा है।

मनोवैज्ञानिकों के सम्मुख यह विकट प्रश्न है कि 'स्मृति' का आधार क्या है? जब मैं किसी बात को याद करता हूँ, तो वह घटना तो भूत-काल में हुई होती है, भूत-काल में हो चुकने के कारण वर्तमान-काल में उसका अस्तित्व नहीं रहता, परन्तु जिस घटना का वर्तमान-काल में अस्तित्व है ही नहीं, वह उस पर—हमारे मस्तिष्क पर—कैसे प्रभाव डाल सकती है जो वर्तमान-काल में मौजूद है? दूसरे शब्दों में, शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक या व्यवहारवादी (Physiological Psychologist or Behaviourist) के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि 'ज्ञात अथवा अज्ञात स्मृति' का, जो हो रही घटना के रूप में इस समय मौजूद नहीं है, मन या चेतन-सत्ता को माने बग़ैर हमारे जीवन पर कैसे प्रभाव पड़ सकता है? ज्ञात-स्मृति का दृष्टान्त तो हम बद्रीनाथ के उदाहरण से दे आए हैं, 'अज्ञात-स्मृति' का उदाहरण हमारी आदतें हैं। मैं लिख रहा हूँ, लिखते हुए कलम को मैं एक खास तरह से पकड़ता हूँ, एक खास ढंग से अक्षरों को लिखता हूँ, यह सब-कुछ अज्ञात-स्मृति का परिणाम है, बन गई आदतों का परिणाम है। मोटे शब्दों में, प्रश्न यह है कि 'स्मृति' (Memory) भले ही वह ज्ञात हो या अज्ञात हो, क्या शरीर का, मस्तिष्क का, 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous system) का गुण है, या मन का, चेतन-सत्ता का गुण है। और गहरे में जाकर

प्रश्न का रूप यह है कि 'स्मृति' जो एक विगत-घटना है, जो इस समय वर्तमान में मौजूद नहीं है, उसका मन या चेतन-सत्ता को माने बग़ैर हम पर प्रभाव कैसे पड़ सकता है ? इस सिलसिले में हमें देखना होगा कि भौतिकवादी अथवा व्यवहारवादी लोग 'स्मृति' के सम्बन्ध में क्या भौतिकवादी समाधान देते हैं ।

स्मृति (विगत) के सम्बन्ध में भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

(1) **'स्मृति' (विगत) का भौतिकवादी समाधान**—भौतिकवाद अथवा व्यवहारवाद का कथन है कि 'स्मृति' (विगत) के लिये 'चेतन-सत्ता' को मानना ज़रूरी नहीं है । भौतिकवादी का कहना है कि जिसे हम 'याद करना' कहते हैं वह किसी 'विगत-घटना' (Past occurrence) का स्मरण नहीं है जिसके लिए 'चेतन-सत्ता' को मानना पड़े, वह तो केवल मस्तिष्क के तन्त्रों (Nerves) पर पड़े संस्कारों का, जो अप्रकट थे, प्रकट हो जाना है । मान लीजिये कि आपका 'तन्त्रिका-तन्त्र' बिल्कुल शान्त अवस्था में है । अब उस पर किसी 'उद्दीपक' (Stimulus) का—बद्रीनाथ के मन्दिर के दर्शन का—संस्कार पड़ता है । इस संस्कार के पड़ चुकने के बाद 'तन्त्रिका-तन्त्र' की पहले जैसी हालत नहीं रह सकती । पहली शान्त अवस्था को अगर 'क' कहा जाय, तो बद्रीनाथ के मन्दिर के दर्शन के बाद की तन्त्रिका-तन्त्र की अवस्था को 'ख' कहा जायगा । इसका यह अर्थ हुआ कि तन्त्रिका-तन्त्र पर बाह्य, भौतिक-संस्कार पड़ जाने पर 'तंत्रिका-तन्त्र' की वह अवस्था नहीं रहती जो पहले थी । अब इस 'तंत्रिका-तंत्र' पर अगर कोई 'उद्दीपक' (Stimulus) पड़ेगा, तो नये भौतिक-संस्कारों के पड़ चुकने के कारण बदले हुए 'तन्त्रिका-तन्त्र' द्वारा 'अनुक्रिया' (Response) होगी; यह बदला हुआ 'तन्त्रिका-तन्त्र' विगत-घटना नहीं है, भूत-काल नहीं है, वर्तमान-काल है, इस समय है, इस हालत में है, और जिसे हम याद करना या 'स्मृति' कहते हैं वह विगत-घटना का स्मरण नहीं है, वर्तमान-काल में तन्त्रिका-तन्त्र की जो अवस्था हो गई है उसका प्रत्यक्षीकरण है । 'स्मृति' में चेतन की सत्ता को मानने की तो तभी ज़रूरत थी अगर 'स्मृति' कोई विगत-घटना होती, भूत-काल की घटना होती, ऐसी घटना होती जो भौतिक रूप में वर्तमान-काल में हमारे सम्मुख न होती, जिसका आधार भौतिक न होता, जिसके लिए हमें पूछना पड़ता कि किस भौतिक, स्थूल माध्यम के द्वारा भूत-काल से यह वर्तमान-काल में हमारे ज्ञान में सरक आई । परन्तु अगर 'स्मृति' को भूत-काल की घटना ही न समझा जाय, इसे सिर्फ़ मस्तिष्क के 'तन्त्रिका-तन्त्र' के तत्त्व का भौतिक परिवर्तनमात्र समझा जाय, तो चेतना को मानने की क्या ज़रूरत रह जाती है ?

हर घटना जिसे हम 'स्मृति' कहते हैं, भूत-काल की घटना कहते हैं, मस्तिष्क पर घटना की छाप पड़ जाने के कारण, भूत-काल की नहीं रहती। उदाहरणार्थ, गीली मिट्टी पर हम किसी चीज की छाप लगा देते हैं, उस पर ठप्पा मार देते हैं, यह छाप, यह ठप्पा, उस गीली मिट्टी पर उसके सूख जाने पर बना रहता है। श्री सेमन का जिन्होंने 'स्मृति' के सम्बन्ध में उक्त भौतिकवादी समाधान दिया, कहना है कि जो भी घटना होती है वह 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर छप जाती है, उसका 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर ठप्पा लग जाता है, इसे वे 'संस्कारांकन' (Engram) का नाम देते हैं। 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर इस 'संस्कारांकन' के कारण याद करते हुए हमें पिछली घटना को मन या किसी चेतन-शक्ति द्वारा सोचना नहीं पड़ता, परन्तु वर्तमान-काल में ही 'तन्त्रिका-तन्त्र' पर पड़े हुए 'संस्कारांकन' (Engram) को हम देख रहे होते हैं, फिर मन जैसी चेतन-शक्ति को मानने की क्या जरूरत है। 'स्मृति' में मन पीछे को नहीं दौड़ रहा होता, हमें मस्तिष्क पर पड़े हुए अंकित 'संस्कार' ही वर्तमान में दीख रहे होते हैं।

(II) 'स्मृति' (विगत) के सम्बन्ध में भौतिकवादी समाधान पर अध्यात्मवादी-आपत्ति—अध्यात्मवादी का कहना है कि भौतिकवादी या व्यवहारवादी के उक्त समाधान का यह अर्थ हुआ कि जिसे हम याद करना कहते हैं वह भूत-काल में 'तंत्रिका-तंत्र' पर पड़ी हुई छाप को, ठप्पे को, 'संस्कारांकन' (Engram) को वर्तमान-काल में प्रत्यक्ष देखना है। अगर यह बात ठीक है, तो 'स्मृति' में और 'प्रत्यक्ष' में कोई भेद न रहा। भौतिकवाद में 'स्मृति' क्या है ? स्मृति 'तंत्रिका-तंत्र' पर पड़े हुए 'संस्कारांकन' हैं जिन्हें हम वर्तमान में देख रहे हैं। 'प्रत्यक्ष' क्या है ? प्रत्यक्ष वह है जिसे हम वर्तमान में देख रहे हैं। तो फिर 'स्मृति' 'प्रत्यक्ष' का केवल दूसरा नाम रह जाता है। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि 'स्मृति' और 'प्रत्यक्ष' में कोई भेद नहीं है ? अगर इन दोनों में भेद नहीं है तो इन दोनों के अनुभव में कोई भेद नहीं होना चाहिए। क्या इन दोनों के अनुभव में कोई भेद नहीं है ? साल भर हुआ जब मैं पेड़ पर से गिर पड़ा था। हड्डी-पसली टूट गई थी। मैं कराहने लगा था। आज साल भर बाद मैं उस घटना को याद करता हूँ। अगर 'स्मृति' केवल 'तंत्रिका-तंत्र' पर पड़ी छाप, संस्कारांकन का प्रतक्षीकरण है, तो आज भी उस घटना को याद करके मुझे उसी तरह कराहने लगना चाहिए जैसे मैं उस दिन कराह रहा था जब उक्त घटना घटित हुई थी। परन्तु ऐसा होता तो नहीं। जब घटना घटित हुई थी तब मैं पीड़ा से परेशान था, चिल्ला रहा था, आज उस घटना को याद करके मैं बड़ी दिलचस्पी से, हँस-हँस कर, मजा लेकर उसे सुना रहा हूँ। इससे स्पष्ट है कि 'स्मृति' तंत्रिका-तंत्र पर पड़ी हुई छाप या संस्कारांकन का नाम ही नहीं है, स्मृति चेतना की एक शक्ति है जो तंत्रिका-तंत्र पर पड़ी हुई छाप, उस पर पड़े हुए संस्कारांकनों के

बावजूद भूत-काल की विगत घटना को स्मरण करती है। किस तरह स्मरण करती है—यह शंका हो सकती है, हम कह सकते हैं कि हम नहीं जानते वह किस तरह स्मरण करती है, परन्तु इतना अवश्य है कि तंत्रिका-तंत्र पर पड़े संस्कारांकन का प्रत्यक्षीकरण ही स्मृति नहीं है। जब हम स्मरण कर रहे होते हैं तब एक ऐसी घटना को अपने सामने ला रहे होते हैं जो वर्तमान-काल में मौजूद नहीं है, और जो मौजूद नहीं है उसे कोई ऐसी शक्ति ही ज्ञान की सीमा में ला सकती है जो 'तंत्रिका-तंत्र' से भिन्न है। जो हम में तब भी थी जब वह घटना हो रही थी, जो हम में अब भी है जब हम उक्त घटना को याद कर रहे हैं, जो स्वयं इन दोनों कालों में उक्त घटना से भिन्न है, घटना की द्रष्टा है। इसी शक्ति को 'मन'-'चेतना'-'आत्मा' आदि नामों से कहा जाता है।

'अनागत' (भविष्यत्)—अर्थात्, 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा'—के सम्बन्ध में भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

(1) 'अनागत'(भविष्यत्)—अर्थात्, 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा'—(Foreseeing and Expectation)—के सम्बन्ध में भौतिकवादी समाधान—जैसे 'विगत' घटनाओं के सम्बन्ध में जो 'स्मृति' के साथ जुड़ी हुई हैं भौतिकवादी—व्यवहार-वादी—यह समाधान देते हैं कि उनके सिद्धान्त के अनुसार स्मृति का भूत-काल से सम्बन्ध नहीं है, वह 'तंत्रिका-तंत्र' के वर्तमान 'संस्कारांकन' (Engrams) का ही परिणाम है, उसके लिए 'चेतना' की मौजूदगी आवश्यक नहीं है, वैसे ही 'अनागत' (भविष्य की)—घटनाओं के सम्बन्ध में भी जिनकी कभी-कभी हमें जानकारी हो जाती है वे भौतिकवादी समाधान ही देते हैं। 'अनागत' घटनाओं का क्या अर्थ है? हम एक गाना सुन रहे हैं। गायक ने अभी दो पद ही गाये हैं कि अगले पद, जो अभी नहीं गाये गये—जो अनागत हैं—जो अभी गाने में आए नहीं—उन्हें हम अपने-आप बोलने लगते हैं। सुन कर बोल देना दूसरी बात है, परन्तु अभी तो हमने उन्हें सुना ही नहीं, गाने के कुछ ही शब्द सुने हैं, अगले, बिना सुने शब्द हमारे ज्ञान में कैसे आ जाते हैं? भौतिकवादी इसका उत्तर यही देते हैं कि जैसे 'स्मृति' में 'तंत्रिका-तंत्र' पर छाप पड़ी हुई होती है, तंत्रों पर ठप्पा या संस्कारांकन (Engrams) पड़ चुका होता है, वैसे ही इस गाने को हमने पहले कई बार सुना होगा, इसलिए जब भी इस गाने के कुछ शब्द सुनाई पड़ते हैं, तो तंत्रों पर पड़े पुराने संस्कार जाग उठते हैं और जो गाना अभी अनागत है, आया ही नहीं, उसकी हमें 'पूर्व-दृष्टि' (Foresight) हो जाती है, उसके आने की हम 'अपेक्षा' (Expectation) करने लगते हैं। यह 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा' मन के या चेतना के कारण नहीं होती, 'तंत्रिका-तंत्र' पर कभी पड़ी छाप के कारण होती है। जहाँ हमने गाने के कुछ शब्द सुने, वहीं गाने के अगले शब्द जो हम पहले

कभी सुन चुके होते हैं, जिनकी तंत्रिका-तंत्र पर छाप पड़ चुकी होती है, वे जाग उठते हैं। यह ठीक ऐसे होता है जैसे ताले में अनेक चाबियों में से सिर्फ़ एक चाबी लगती है, वैसे मस्तिष्क पर पड़े संस्कारों को जगाने के लिए उस गीत की सिर्फ़ गुनगुनाहट एक ऐसी चाबी है जो उन भौतिक-संस्कारों का ताला खोल देती है। भौतिकवादियों का कहना है कि इस प्रकार अनागत के ज्ञान के लिए मन या चेतन की आवश्यकता नहीं है, तंत्रिका-तंत्र पर पड़े 'संस्कारांकन' (Engrams) से ही इस समस्या का समाधान हो जाता है। दूसरे शब्दों में, 'स्मृति' (विगत—भूत) के सम्बन्ध में भौतिकवादियों का जो कथन था उनका वही कथन 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' (अनागत—भविष्यत्)—Foreseeing and Expectation)—के विषय में है।

(II) 'अनागत' (भविष्यत्) के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी-आपत्ति—अध्यात्मवादी का कहना है कि यह तो ठीक है कि जो घटनाएँ पहले हो चुकी हैं उनसे बँधी हुई अगर कुछ घटनाएँ आगे को—भविष्यत्—में होने वाली हों, अभी वे अनागत हों, तो तंत्रिका-तंत्र पर पहले से पड़ी हुई छाप—Engrams—संस्कारांकन—के कारण उनकी 'पूर्व-दृष्टि' (Foresight) या उनकी 'अपेक्षा' (Expectation) हो सकती है, परन्तु ऐसी बातों की 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' तंत्रिका-तंत्र द्वारा नहीं हो सकती जो बिल्कुल नई हों, जिनका भूत-काल से कोई सम्बन्ध न हो, जिनकी मस्तिष्क के तंत्रों पर किसी प्रकार के छाप की सम्भावना न हो। हमारे जीवन में 'पूर्व-दृष्टि' तथा 'अपेक्षा' की अनेक घटनाएँ घटती हैं, अभी उन घटनाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता परन्तु हमारे भीतर वे भासने लगती हैं। क्योंकि वे घटनाएँ पहले हो चुकी नहीं होतीं इसलिए तंत्रिका-तंत्र के 'संस्कारांकन' (Engrams) के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें सुलझाया नहीं जा सकता, वे भविष्य में होने वाली होती हैं, उन घटनाओं का भौतिकवादी अथवा व्यवहारवादी के पास क्या उत्तर है? ऐसी हालत में, कोई अदृश्य, अभौतिक चेतन-सत्ता मानने के लिए विवश होना पड़ेगा जो बिना तंत्रिका-तंत्र के माध्यम का इस्तेमाल किए हमारी 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' का कारण है। यही सत्ता मन या चेतन है जो अनागत को भी जान लेती है, ऐसा ज्ञान जो तंत्रिका-तंत्र या मस्तिष्क द्वारा नहीं हो सकता।

(घ) **मानसिक-संवेग** (Emotions)—अब तक हमने देखा कि जीवन में 'सोद्देश्यता'—(Purposefulness)—अर्थात्, किसी लक्ष्य का होना; विगत-घटना अर्थात्, 'स्मृति'—(Memory)—का जीवन पर प्रभाव; अनागत-घटना के विषय में हम में 'पूर्व-दृष्टि' या 'अपेक्षा' का होना—(Foresight or Expectation)—ये तीनों मन या चेतना का अस्तित्व मान लेने के लिए पर्याप्त युक्तियाँ हैं। मनुष्य में ये तीनों गुण पाए जाते हैं। अगर मनुष्य सिर्फ़ तंत्रिका-तंत्र है, सिर्फ़

एक यंत्र है, तब इन गुणों का होना सम्भव नहीं है। हमने यह भी देखा कि इन गुणों के सम्बन्ध में भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण क्या है, और यह भी देखा कि भौतिकवादी दृष्टिकोण अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के सामने नहीं टिक सकता। अब हमें यह देखना है कि हमारे भीतर जो 'संवेग' (Emotions) दीखते हैं, वे क्या भौतिकवाद या व्यवहारवाद के कथनानुसार सिर्फ़ यान्त्रिक-प्रतिक्रियाएँ हैं या इन संवेगों का होना भी सिद्ध करता है कि मनुष्य एक यन्त्र नहीं है, सिर्फ़ तंत्रिका-तंत्र द्वारा संचालित एक मशीन नहीं है, ये संवेग भी मन अथवा चेतना के अस्तित्व के परिचायक हैं।

(I) **संवेगों** (Emotions) **के विषय में भौतिकवादी-दृष्टिकोण**—हम मानसिक-संवेगों के प्रकरण में देख आए हैं कि जेम्स तथा लैंग के सिद्धान्त के अनुसार 'संवेग' मन का गुण नहीं है, तंत्रिका-तंत्र का गुण है। 'संवेग' क्या है? भौतिकवाद के कथनानुसार 'संवेग' केवल शरीर में हो रहे परिवर्तनों की अनुभूति का नाम है। उनका कहना है कि जब हमें 'भय' लगता है तब वास्तव में 'भय' मन से उत्पन्न नहीं होता, शरीर में ही कुछ परिवर्तन होने लगते हैं, उन परिवर्तनों को ही 'भय' कह देते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे सामने शेर आया। शेर को देख कर शरीर में यकायक एक प्रतिक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप हम अपने को बचाने के लिए भागने लगते हैं। शरीर में ये सब परिवर्तन ही 'भय' कहलाते हैं। जितना हम भागते हैं उतना ही भय बढ़ता जाता है, रुक कर खड़े हो जायें तो भय भी जाता रहता है। भौतिकवादियों का यह भी कहना है कि जिसे हम 'भय' कहते हैं वह तब होता है जब गुर्दे के पास की 'अधिवृक्क-ग्रन्थियों' (Adrenal glands) में से उनका स्राव निकलने लगता है। इस स्राव के निकलने पर शरीर में जो परिवर्तन आ जाते हैं वे ही भय का कारण हैं, मन भय का कारण नहीं है। संक्षेप में, भौतिकवादी-दृष्टिकोण से भय का आधार मन नहीं, शरीर है।

(II) **संवेगों** (Emotions) **के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी-आपत्ति**—'संवेगों' के विषय में भौतिकवादियों का जो कथन है वह वहाँ तक ठीक है जहाँ तक हमारे सामने कोई 'उद्दीपक' (Stimulus) हो, परन्तु जब हमारे सामने कोई 'उद्दीपक' न हो, तब 'संवेग' क्यों उत्पन्न हो जाता है? 'उद्दीपक' (Stimulus) हो तो उसकी 'अनुक्रिया' (Response) हो सकती है, शेर सामने हो तो गुर्दे की अधिवृक्क-ग्रन्थियों में से स्राव निकल सकता है, इस स्राव की अनुभूति को 'भय' का नाम दिया जा सकता है, परन्तु अगर 'उद्दीपक' ही सामने न हो, उसका वर्तमान में कोई अस्तित्व ही न हो, तब उसकी 'अनुक्रिया' तो नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, मुझे पार्लियामेंट के 500 सदस्यों के सामने व्याख्यान देना है। अभी व्याख्यान देने में एक दिन बाकी है, परन्तु उस समय की सोच में ही

मुझे घबराहट होने लगती है। यह घबराहट क्यों होती है? व्याख्यान देने का समय तो अभी आया नहीं, पार्लियामेंट के सदस्य अभी सभा-स्थल में जुटे नहीं, उनकी उपस्थिति का प्रत्यक्ष-प्रभाव मुझ पर हुआ नहीं, फिर यह घबराहट कैसे? इसका यही समाधान हो सकता है कि घटना की मौजूदगी के बिना हम में जो घबराहट आदि 'संवेग' उत्पन्न हो रहे हैं, इन संवेगों के कारण शरीर में पसीना भी आने लगा है, इस सबका स्रोत शरीर नहीं, मन है, चेतना है। इसका यह अर्थ हुआ कि शरीर में हो रहे परिवर्तनों का मन पर प्रतिबिम्ब मात्र नहीं पड़ता, मन संवेगों द्वारा शरीर में परिवर्तन उत्पन्न करता है। यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है, अगर हमें 500 पार्लियामेण्ट के सदस्यों के सामने व्याख्यान देने के स्थान में 500 विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देना हो। तब हमारे भीतर घबराहट के स्थान में उल्लास का भाव उदय होता है। दोनों अवस्थाओं में घटना वर्तमान में नहीं हो रही, भविष्य में होने वाली है, दोनों अवस्थाओं में श्रोताओं की संख्या 500 है, परन्तु दोनों घटनाओं को सोचने पर मन पर प्रभाव एक-दूसरे से उल्टा होता है। पहले तो घटना सम्मुख न होने पर इसकी प्रतिक्रिया ही नहीं होनी चाहिए, किसी तरह हो भी जाय, तो एक-सी होनी चाहिए, दोनों में भेद नहीं होना चाहिए। इसके अलावा एक और आपत्ति भी खड़ी होती है। अगर भविष्य की सभा 500 श्रोताओं के स्थान में 499 श्रोताओं की हो तो उसकी प्रतिक्रिया भिन्न होनी चाहिए, अगर संख्या 498 हो तो उसकी प्रतिक्रिया और भिन्न होनी चाहिए क्योंकि 'उद्दीपक' के बदल जाने पर 'अनुक्रिया' का बदल जाना जरूरी है, परन्तु ऐसा होता नहीं। इससे स्पष्ट है कि संवेग का कारण शरीर न होकर मन है, चेतना है।

भौतिकवादियों का कथन है कि 'भय' आदि 'संवेग' (Emotions) शरीर की ग्रन्थियों के स्राव का परिणाम होते हैं, संवेगों का आधार मन या चेतना नहीं है। कल्पना कीजिए कि मैं डर रहा हूँ, और भौतिकवादी के अनुसार इस डर का कारण गुर्दे के पास की अधिवृक्क-ग्रन्थियों का स्राव (Secretion of adrenal glands) है। परन्तु इस स्राव की तो कुछ मात्रा होगी। कल्पना कीजिए कि जब मैं डर रहा हूँ तब स्राव की जो मात्रा है उसे 'क' का नाम दे दिया गया। जितना 'क' मात्रा के स्राव से मुझे डर लग रहा है अगर उस से दुगुना डर लगे तो स्राव की मात्रा दुगुनी अर्थात् '2 क' हो जानी चाहिए, अगर उससे आधा डर लगे तो स्राव की मात्रा आधी, अर्थात् $\frac{1}{2}$ 'क' हो जानी चाहिए। परन्तु डर की मात्रा तो घटती-बढ़ती रहती है, बहुत ज्यादा डर, उससे कम डर, उससे कम डर—इस प्रकार डर की मात्रा में ही अनन्त भेद हो सकते हैं। तो क्या डर की हर-एक मात्रा के लिए एक-एक ग्रन्थि है। डर अनन्त हो सकते हैं, ग्रन्थियाँ शरीर का अंग होने के कारण सान्त रहेंगी, अनन्त नहीं हो सकतीं। डर

की जितनी मात्राओं के लिए शरीर में ग्रन्थियाँ मौजूद है उन मात्राओं से डर की जो अधिक मात्रा है उसका कारण कौन-सी ग्रन्थियाँ है ? इसके अतिरिक्त डर की 'मात्रा' (Quantity) ही अनन्त नहीं, डर का 'गुण' (Quality) भी अनन्त है। कभी डर से घृणा पैदा हो जाती है, कभी घबराहट, कभी आतंक, कभी हैरानी, कभी जी बैठना—नाना प्रकार से डर अपने को प्रकट करता है। हर प्रकार के डर के गुण के लिए अलग-अलग ग्रन्थि माननी पड़ेगी जो असम्भव है क्योंकि डर की मात्रा और डर के गुण या प्रकार अनन्त हैं, ग्रन्थियाँ इस सीमित शरीर में रहने के कारण सान्त हैं। उक्त कारणों से 'संवेग' को शरीर की ग्रन्थियों के स्राव का परिणाम नहीं कहा जा सकता, संवेगों के लिए मन जैसी चेतन-सत्ता का मानना आवश्यक है।

(ङ) **अर्थ-बोध** (Comprehension of Meaning)—मन या चेतन-सत्ता के होने का एक प्रबल प्रमाण यह है कि हम किसी बात का अर्थ, उसका मतलब समझ जाते हैं। उदाहरणार्थ, अगर एक काग़ज पर कुछ वाक्य लिख दिये जाएँ तो भौतिक-दृष्टि से वे सफ़ेद कागज़ पर पड़े काले-काले कुछ निशान ही तो हैं। अगर यह समझा जाय कि ये काले निशान आँख के लिए 'भौतिक-उद्दीपक' (Physical stimuli) हैं, तो इनसे क्या मतलब सिद्ध होता है ? मतलब की बात तो यह है कि इन निशानों का अर्थ क्या है। कल्पना कीजिये कि आपको एक पत्र आया कि आपको लाटरी में दस लाख रुपया मिला है। इस पत्र पर जो काले-काले अक्षर लिखे हैं, अगर आप उनका अर्थ नहीं समझते तो उसका आप पर कोई प्रभाव नहीं होता। प्रभाव पत्र पर लिखे अक्षरों का नहीं, अक्षरों में निहित अर्थ का है। इस अर्थ का इतना प्रभाव हो सकता है कि आपको रात भी काटनी मुश्किल हो जाय। यह स्पष्ट है कि पत्र पर लिखे इन निशानों में जो अर्थ निहित है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, तन्त्रिका-तन्त्र का विषय नहीं है, 'अक्षर' तो इन्द्रियों के विषय हैं, उनका 'अर्थ' नहीं, क्योंकि अर्थ तो अतीन्द्रिय है। हमारी आँख के सामने तो काग़ज़ पर लिखे अक्षर आते हैं, उन अक्षरों को देख कर 'अर्थ-बोध' होना मन के बिना कैसे हो सकता है ?

एक और उदाहरण लीजिए। मैंने हिन्दी में एक पुस्तक लिखी। उसमें आत्मा की सिद्धि के विषय में अनेक युक्तियों का उल्लेख किया। उस पुस्तक को कमल नाम के व्यक्ति ने पढ़ा और मैंने जो युक्तियाँ दी थीं उन्हें वह समझ गया। इन्हीं दिनों विमल ने उस पुस्तक का गुजराती में अनुवाद किया जिसे नूतन ने पढ़ा और जो-कुछ गुजराती में लिखा था उसे समझ लिया। कुछ दिनों बाद मैंने उसी विषय पर बम्बई में व्याख्यान दिया जिसे चेतन ने सुना और मेरी युक्तियों की यथार्थता से प्रभावित हुआ। क्योंकि कमल, विमल, नूतन और चेतन—ये चारों मेरी युक्तियों को समझ गए, इसका अर्थ यह हुआ कि मेरे विचारों का इन

चारों ने एक-समान अर्थ लिया, अगर ऐसा न होता तो वे यह न कहते कि उन्हें मेरी युक्तियां समझ में आ गई हैं। यह सब-कुछ होते हुए भी—अर्थ-बोध तो चारों का एक-सा है—परन्तु इन चारों के लिए 'भौतिक-उद्दीपक' (Physical stimulus) भिन्न-भिन्न था। कमल के सामने मेरी पुस्तक थी जिस पर काले-काले हिन्दी अक्षरों के निशान थे, विमल तथा नूतन के सामने भी जो पुस्तक थी उस पर हिन्दी अक्षरों के स्थान में गुजराती अक्षरों के निशान थे, चेतन के सामने अक्षरों के निशान नहीं थे, उसने कानों से व्याख्यान के शब्द सुने थे। 'भौतिक-उद्दीपक' सब के भिन्न-भिन्न थे, परन्तु 'अनुक्रिया' चारों की एक-सी थी। होना तो यह चाहिए था कि क्योंकि सबके उद्दीपक भिन्न-भिन्न थे, इसीलिए सबकी अनुक्रिया भी भिन्न-भिन्न होती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। ऐसा क्यों नहीं हुआ? इसलिए ऐसा नहीं हुआ क्योंकि इन चारों के भीतर कोई ऐसी शक्ति थी जो भौतिक-दृष्टि से इन भिन्न-भिन्न घटनाओं के बीच में निहित अभिन्न-अर्थ को पकड़ लेने में समर्थ थी। अर्थ-बोध की इसी शक्ति को चेतना कहा जाता है।

इस सिलसिले में मैग्डूगल (1871-1938) ने भी एक उदाहरण दिया है। वह कहता है कि मानो एक आदमी को एक तार आया—'तुम्हारा पुत्र मर गया।' इस दृष्टान्त में आंखों के सामने जो 'उद्दीपक' (Stimulus) उपस्थित हुआ वह क्या था? एक गुलाबी कागज पर लिखे कुछ काले-काले निशान जिन्हें हम अक्षर कहते हैं। इस 'उद्दीपक' की 'अनुक्रिया' (Response) क्या होती है? हो सकता है कि इन निशानों को देख कर वह बेहोश हो जाय, बेहोशी से निकलने के बाद हो सकता है कि इन काले-काले निशानों का असर उसके सारे जीवन पर पड़ जाय, उसका बचा सम्पूर्ण ही जीवन बदल जाय। क्या उस व्यक्ति के जीवन में यह-सब परिवर्तन सिर्फ़ गुलाबी काग़ज़ पर पड़े उन काले निशानों के कारण हुआ है? अगर यही बात है, तो किसी दूसरे व्यक्ति को जिसका उस लड़के से कोई सम्बन्ध नहीं है उस तार को दिखा कर देखो। वह तार को पढ़ता है, उस पर कोई असर नहीं होता। 'उद्दीपक' वही है, 'अनुक्रिया' भिन्न-भिन्न है। अगर उसी व्यक्ति को जिस पर उक्त तार का घातक प्रभाव हुआ उसका मित्र यह तार दे देता—'मेरा पुत्र मर गया', तो उस तार का इस व्यक्ति पर सिर्फ़ इतना प्रभाव होता कि वह अपने मित्र को समवेदना का पत्र लिख देता। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जब तक 'उद्दीपक' (Stimulus) और 'अनुक्रिया' (Response) के बीच, माध्यम के रूप में पड़ी किसी चेतन-शक्ति को हम न मानें, तब तक एक ही उद्दीपक के प्रति भिन्न-भिन्न अनुक्रियाएँ समझ में नहीं आ सकतीं। इन दृष्टान्तों में हमें काले-काले निशानों के पीछे बैठे अर्थ का बोध होता है जो किसी जड़ वस्तु का नहीं, चेतन का ही काम हो सकता है।

(घ) मन की संश्लेषण की शक्ति (Synthesizing Power of the Mind)—एक-समान 'उद्दीपक' के हमारे सामने उपस्थित होने पर जो भिन्न-भिन्न 'अनुक्रिया' होती है, वह इस बात का प्रमाण है कि हमारे भीतर 'तंत्रिका-तन्त्र' के अलावा कोई चेतन-शक्ति है जो अर्थ-बोध के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुक्रिया करती है। इसी तरह जब हम भिन्न-भिन्न स्वर सुनते हैं, या भिन्न-भिन्न रंग देखते हैं, तब उन भिन्न-भिन्न स्वरों या भिन्न-भिन्न रंगों को सुन या देख कर उनका संश्लेषण करने की शक्ति भी सिद्ध करती है कि हमारे भीतर शरीर से भिन्न कोई चेतन शक्ति है।

उदाहरणार्थ, पहले हम 'स्वर' को लेते हैं। हम जो शब्द उच्चारण करते हैं उन्हें 'स्वर' कहा जाता है। 'स्वर' क्या है ? 'स्वर' वायु-मण्डल में छोड़ी गई कुछ लहरें हैं। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तब उससे वायु-मंडल में एक लहर उत्पन्न होती है। इस प्रकार की अनेक लहरें मिल कर संगीत को उत्पन्न करती हैं। परन्तु संगीत स्वर की इन सब लहरों का जोड़ मात्र नहीं है, संगीत स्वर की इन सब लहरों के जोड़ से कुछ अधिक है, और तभी स्वर की एक-एक लहर में हमें जो आनन्द आता है, संगीत में उससे अधिक आनन्द आता है। यह अधिक आनन्द क्यों आता है ? यह अधिक आनन्द इसलिए आता है क्योंकि हम सब स्वर-लहरियों को संश्लिष्ट कर लेते हैं, स्वर को एक-एक के तौर पर, भिन्न-भिन्न के तौर पर अनुभव करने के स्थान में सम्पूर्ण स्वरों को समग्र रूप में अनुभव करते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब हम समग्र स्वरों को एक-साथ अनुभव कर स्वरों के जोड़ से आनन्द अनुभव करते हैं, वह भिन्न-भिन्न स्वरों से प्राप्त होने वाले आनन्द से बहुत अधिक होता है। हमारे भीतर कोई शक्ति है जो भिन्न-भिन्न स्वरों से प्राप्त होने वाले आनन्द को संश्लिष्ट करके एक ऐसा आनन्द उत्पन्न कर देती है जो स्वरों को भिन्न-भिन्न रूप में सुनने से प्राप्त नहीं होता। अगर इन्हीं स्वर-लहरियों का किसी दूसरे क्रम में उच्चारण किया जाय, तब यद्यपि स्वर वही रहेंगे, उद्दीपक वही रहेगा, परन्तु उसकी अनुक्रिया आनन्द देने के स्थान में झुँझलाहट पैदा कर देगी। क्या कारण है कि स्वर वही हैं, स्वर-लहरें वही हैं, परन्तु सिर्फ़ क्रम बदल देने से उसकी अनुक्रिया बदल जाती है ? इसका यही कारण हो सकता है कि हमारे भीतर जो चेतन-शक्ति है वह स्वरों को संश्लिष्ट करती रहती है, इस संश्लेषण से उसका आनन्द जो एक-एक स्वर में नहीं है, उस चेतन-शक्ति द्वारा संश्लिष्ट कर लेने पर अधिक कर लिया जाता है, या समाप्त कर दिया जाता है। अगर आनन्द भिन्न-भिन्न स्वर में है तो जब उस स्वर को बेतुका उच्चारण किया जाता है, तब स्वरों की संख्या के उतना ही रहने पर आनन्द जाता क्यों रहता है ? अगर $1+2+3$ का योग 6 है, तो $1+3+2$ या $2+1+3$ का योग

भी 6 ही होना चाहिए, परन्तु स्वरों के अदला-बदली में जहां पहले आनन्द आता था, वहां अब झुंझलाहट भी आ सकती है। अगर उद्दीपक वही-के-वही रहें, सिर्फ़ क्रम बदल जाए, तो उनका जोड़ तो एक-सा ही रहना चाहिए। संगीत में ऐसा इसलिए नहीं होता क्योंकि स्वरों की भिन्न-भिन्न लहरों का संश्लेषण करने वाली शक्ति अचेतन-मस्तिष्क न होकर चेतन-मन है।

जो बात हमने कान के विषय 'स्वर' के सम्बन्ध में कही, वही बात आंख के विषय 'रंग' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। चित्र-पट पर हम भिन्न-भिन्न रंग ब्रुश से पोत देते हैं। ये आंख के लिए एक 'उद्दीपक' (Stimulus) का काम करते हैं, परन्तु उसे चित्र-कला का नाम नहीं दिया जा सकता। जब उन्हीं रंगों को एक विशेष क्रम से रखते हैं तब उन रंगों को चित्र-कला कहा जाता है। क्या चित्र-कला एक-एक रंग में थी? एक-एक रंग को देख कर तो कोई उसे चित्र-कला नहीं कहता। अगर हमारा ज्ञान 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) ही है, तो अलग-अलग या एक तरतीब में आलिखित रंग तो वही हैं, परन्तु रंग की अलग-अलग रेखाएँ हमारे भीतर चित्र-कला का भाव उदय नहीं करतीं, एक विशेष-क्रम में आलिखित रंग हमारे भीतर चित्र-कला का भाव उदय करते हैं—ऐसा क्यों? रंगों के संश्लेषण से एक नवीन भाव का उत्पन्न हो जाना सिद्ध करता है कि हमारे भीतर कोई चेतन-सत्ता है जो क्रम-बद्ध रंगों को देख कर उनका संश्लेषण कर लेती है, और इस संश्लिष्ट-भाव को चित्र-कला का नाम दे देती है। यह शक्ति जो भिन्न-भिन्न स्वरों में विद्यमान आनन्द को, भिन्न-भिन्न रंगों में विद्यमान चित्र-कला को उनमें से खींच कर उन्हें संश्लिष्ट कर लेती है मन या चेतन-शक्ति कहलाती है। यह शक्ति संश्लेषण ही नहीं करती, परन्तु स्वरों तथा रंगों में जो भौतिक-तत्त्व है, जो हमें सुनाई देता या दीखता है, उससे कुछ अधिक उत्पन्न कर लेती है—भिन्न-भिन्न स्वरों में से खींच कर संगीत को, भिन्न-भिन्न रंगों में से खींच कर चित्र-कला को जन्म दे देती है। अन्यथा, भिन्न-भिन्न स्वर मिल कर स्वर मात्र रह जाते, उनमें से संगीत न उपजता, भिन्न-भिन्न रंग मिल कर रंग मात्र रह जाते, उनमें से चित्र-कला न उपजती।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि शरीर तथा मस्तिष्क—तन्त्रिका-तन्त्र—जो भौतिक-तत्त्व हैं, उनके अलावा जीवित-प्राणी के भीतर कोई अभौतिक-तत्त्व अवश्य है जिसे मन या चेतना कहा जाता है, यह अभौतिक-तत्त्व शरीर तथा मस्तिष्क से अलग होता हुआ भौतिक-शरीर तथा मस्तिष्क—तंत्रिका-तंत्र—का संचालन करता है, उस पर नियन्त्रण रखता है, इसका काम शरीर तथा मस्तिष्क को अपने उद्देश्य, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये ठीक उस तरह इस्तेमाल करना है, ठीक ऐसे जैसे ड्राइवर अपनी मोटर कार का संचालन करता

है। इस सबको न्याय-दर्शन में 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्' कह कर तथा सांख्य-कारिका (17) में निम्न युक्तियों से चेतन-सत्ता की सिद्धि की गई है :

चेतन-सत्ता के विषय में न्याय-दर्शन तथा सांख्य-दर्शन

(क) न्याय-दर्शन का सूत्र—इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःखानि आत्मनो लिंगम्। (न्याय-दर्शन, अध्याय 1, सूत्र 10)

(ख) सांख्य-कारिका—

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययात् अधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च ॥
(ईश्वरकृष्ण कृत सांख्य-कारिका, 7)

(क) **आत्मा की सिद्धि में न्याय-दर्शन की युक्ति**—न्याय-दर्शन का कहना है कि 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्'—हमारे भीतर 'ज्ञान' (Knowing) है; 'इच्छा-द्वेष', 'सुख-दुःख' (Feeling) है; 'प्रयत्न' (Willing—Action) है। जड़ में न तो ज्ञान हो सकता है, न इच्छा-द्वेष हो सकता है, न सुख-दुःख हो सकता है, न प्रयत्न हो सकता है। मनोविज्ञान भी अपने प्रारम्भ-काल से आजतक यही मानता चला आ रहा है कि हमारे भीतर तीन ऐसे व्यापार हैं जो हमें उलझाए हुए हैं, जिनके कारण हम परेशानी में पड़े हुए हैं कि जबतक प्राणी में ये तीन लक्षण मौजूद हैं तबतक हम चेतन प्राणी को जड़ मशीन कैसे मान सकते हैं? ये तीन भी अलग-अलग नहीं हैं। अनुभव बतलाता है कि तीनों लक्षण एक ही चेतना के अंग हैं। 'ज्ञान' में इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख तथा प्रयत्न बने रहते हैं, 'इच्छा-द्वेष—सुख-दुःख' में ज्ञान तथा प्रयत्न बने रहते हैं, 'प्रयत्न' में ज्ञान तथा इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख बने रहते हैं—सिर्फ़ मात्रा का भेद हो सकता है। मानसिक-व्यापार एक अभिन्न-प्रक्रिया का नाम है। 'ज्ञान' (Knowing) से इच्छा तथा प्रयत्न को जुदा नहीं किया जा सकता, 'इच्छा' (Feeling) से प्रयत्न तथा ज्ञान को जुदा नहीं किया जा सकता, 'प्रयत्न' (Willing) से इच्छा तथा ज्ञान को जुदा नहीं किया जा सकता। इन मानसिक-व्यापारों में सिर्फ़ किसी एक लक्षण की प्रधानता रहती है, उसी प्रधानता के कारण हम उस अनुभव को ज्ञान, इच्छा या प्रयत्न का नाम दे देते हैं। उदाहरणार्थ, रास्ते चलते हमें चोट लग गई, हम गिर पड़े, तमाशबीन इकट्ठे हो गये। उस समय हमें चोट लगने का 'ज्ञान' (Knowing) तो है ही, दर्द हो रहा है इसलिए 'दुःख' (Feeling) भी है, पाँव को ज़ोर से पकड़े बैठे हैं ताकि दर्द कम हो जाय इसलिए 'प्रयत्न' (Willing—Action) भी है, परन्तु दुःख (Feeling) की प्रधानता है। तमाशबीन लोग सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, दर्द

दूर करने के लिए कुछ करना भी चाहते हैं, परन्तु किसे चोट लगी, कैसे लगी, कहाँ लगी, इस प्रकार की कौतुक-पूर्ण जिज्ञासा की उनमें प्रधानता है इसलिए उनमें इच्छा तथा प्रयत्न के होते हुए भी 'ज्ञान' (Knowing) की प्रधानता है। अगर कोई चिकित्सक वहाँ आ पहुँचे तो एकदम इलाज शुरू कर देगा, यह नहीं कहा जा सकेगा कि उसमें ज्ञान या इच्छा नहीं है, उसमें 'प्रयत्न' (Willing) की प्रधानता है। तभी न्याय-दर्शन ने कहा कि ये तीनों मानसिक-व्यापार क्योंकि चेतनता के लक्षण हैं, जड़ता के नहीं, इसलिए जिस सत्ता में ये तीनों एक-साथ रहते हैं वही आत्मा है।

(ख) **आत्मा की सिद्धि में सांख्य-दर्शन की युक्तियां**—आत्मा की सिद्धि के लिए सांख्य-दर्शन ने पांच युक्तियाँ दी हैं जो बड़े महत्त्व की हैं। ये युक्तियाँ निम्न हैं—

(i) **संघात परार्थत्वात्**— जो जड़ वस्तु है, संघात से, जोड़ से, परमाणुओं के मिलने से बनी है, वह अपने लिए नहीं किसी दूसरे के लिए बनी होती है। मकान मकान के लिए नहीं होता, मेज-कुर्सी-फ़र्नीचर सामान आदि रखने के लिए होता है; सामान भी सामान के लिए नहीं होता, सामानवाले के लिए होता है; बिस्तर बिस्तर के सोने के लिए नहीं होता, बिस्तर पर सोनेवाले के लिए होता है; जड़ जड़ वस्तु के लिए नहीं होती, किसी चेतन के लिए होती है, जो उसका इस्तेमाल कर सके। इसलिए जड़ प्रकृति—यह संसार—किसी चेतन के इस्तेमाल करने के लिए है, वही चेतन आत्मा है।

(ii) **त्रिगुणादि विपर्ययात्**—सांख्य में प्रकृति को सत्व, रजस्, तमस्—इन तीन गुणों का माना गया है। प्रकृति में ये तीन गुण हैं—रजस् उत्पत्ति का प्रतिनिधि है, सत्व स्थिति का प्रतिनिधि है, तमस् प्रलय का प्रतिनिधि है। प्रकृति में तीन गुण हैं का अर्थ यह है कि प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय ये तीन गुण पाये जाते हैं। ये तीन गुण जड़ में होते हैं। संसार में जो भी वस्तु है उसका उल्टा भी अवश्य होता है, उल्टा—अर्थात् 'विपर्यय'। अगर प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय है, तो जिसमें ये तीन अवस्थाएँ नहीं हैं वह चेतन आत्मा भी है। आत्मा की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय नहीं होती; जो उत्पन्न होता है, बना रहता है, नष्ट हो जाता है—इन तीनों गुणों वाला जो है वह यह स्थूल शरीर है; ये तीनों गुण जिसमें विपर्यय को प्राप्त हो जाते हैं वही आत्मा है।

(iii) **अधिष्ठानात्**—आत्मा की सिद्धि में सांख्य ने तीसरी युक्ति यह दी है कि जितना संघातात्मक, त्रिगुणात्मक जगत् है उसका कोई अधिष्ठाता होना चाहिए जो उस जड़ में प्रवृत्ति का कारण हो। जड़ में अपने-आप प्रवृत्ति—क्रिया—नहीं हो सकती। रेलगाड़ी चलती है, तो उसका ड्राइवर होता है; अंतःकरण चतुष्टय से लेकर स्थूल पंचभूतों तक जितना जड़ शरीर है उसकी

प्रवृत्ति का कारण कोई चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए, वही चेतन अ
आत्मा है।

(iv) भोक्तृभावात्—भोग्य वस्तु की उपयोगिता इसी में है अगर
कोई भोक्ता हो। संसार सारा-का-सारा भोग्य है, यह स्वयं अपने को नहीं
सकता। इसका जो भोक्ता है वही चेतन 'आत्मा' है।

(v) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च—मनुष्य संसार में दुःखों से बचना चाह
उलझनों से छूट कर अलग हो जाना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि
प्रकृति की लपेट में, विषयों की आसक्ति में रमा रहता है, परन्तु यह जान
पर कि विषयों के भोग का अन्त दुःखमय है, वह समय आने पर, इन
विरक्त भी होकर अलग हो जाना चाहता है। जो प्रकृति के विषयों में खिंचता
खिंचने के बाद जो इनसे अलग होकर—केवल—हो जाना चाहता है, वह
है? अगर वह स्वयं प्रकृति नहीं है, तो प्रकृति से जो अलग है, वही आत्मा

इस अध्याय का मुख्य लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि शरीर एक स्व-चालि
यन्त्र नहीं है, शरीर का संचालन शरीर से ही नहीं हो रहा, शरीर के पीछे बैं
हुई, शरीर से पृथक् कोई अन्य चेतन-सत्ता है। भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद
दृष्टिकोण में यही मुख्य भेद है, इसी मुख्य भेद के कारण दोनों का जीवन
प्रति भी दृष्टिकोण अलग-अलग हो जाता है, जीवन में दोनों के रास्ते अलग
अलग हो जाते हैं। शरीर से पृथक् वह सत्ता क्या है, उसे 'मन' कहा जाय
'आत्मा' कहा जाय, 'चेतना' कहा जाय या मन अलग है, आत्मा अलग है, चेतन
अलग है, या मन सिर्फ़ सोचने-विचारने का नाम है, यथार्थ-सत्ता आत्मा की ही
है, चेतना की ही है, मन की स्वतन्त्र रूप में कोई सत्ता नहीं—इन सब अध्यात्म
से भी परे की बातों में हमने उलझने का प्रयास नहीं किया क्योंकि हमारी
स्थापना यह है कि वैदिक-विचारधारा का मुख्य-आधार जो जीवन को एक
निश्चित दिशा दे देता है यह विचार है कि शरीर दृश्य है, इसके भीतर कोई
द्रष्टा बैठा है, शरीर भोग्य है, इसके पीछे कोई भोक्ता बैठा है, शरीर साधन है,
इसके पीछे कोई इसका उपयोग करने वाला इसका—अधिष्ठाता—बैठा है।
'मन'-शब्द का प्रयोग हमने सिर्फ़ शरीर से पृथक् उस सत्ता के लिए किया है
जिसके लिए कोई 'चेतना', कोई 'आत्मा' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। अगले
अध्याय में हम इनके सम्बन्ध में कुछ शास्त्रीय-चर्चा करेंगे।
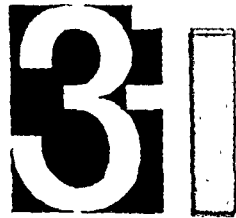
प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः । अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि । उभयमिन्द्रियम् । तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि । पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। (सांख्य कारिका, 22)

'आत्मा' के विषय में सांख्य का अभिमत यह है कि 'आत्मा' अपने उपकरणों को साथ लेकर संसार का उपभोग करता है । ये उपकरण 'प्रकृति' के विकार हैं । 'आत्मा' चेतन है, ये उपकरण जड़ हैं । जड़-सृष्टि का जब विकास प्रारम्भ होता है, तब विकास का प्रथम-चरण सृष्टि की महानता का है जिसे 'मात्रात्मक-विकास' (Quantitative evolution) कह सकते हैं । इसी को **'प्रकृतेर्महान्'**—यह कहा है । 'मात्रात्मक-विकास' के बाद 'गुणात्मक-विकास' (Qualitative evolution) का क्रम आता है । इसी को **'महतोऽहंकारः'**—यह कहा है । अहंकार का अर्थ है—अव्यक्तित्व से व्यक्तित्व का निर्माण । पहले व्यक्तित्व नहीं था, सिर्फ़ 'परिमाण' था, परिमाण के बाद 'गुण' आया, व्यक्तित्व आया । इसके बाद सृष्टि का क्रम शुरू हो गया—पहले 5 सूक्ष्म महाभूत हुए जिन्हें तन्मात्र कहा है, फिर सूक्ष्म से 5 स्थूल महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश उत्पन्न हुए । इसके अनन्तर 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हुईं । इस प्रकार 'आत्मा' के ये सब साधन उत्पन्न होकर वह उनका उपभोग करने लगा ।

इस प्रकरण में यह जान लेना आवश्यक है कि 'मन' को सांख्य में भौतिक माना है, अभौतिक नहीं। 'मन' अन्तःकरण है, और अन्तःकरण के विषय में शास्त्रों का कथन है कि अन्तःकरण चार हैं—चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि। जब 'महतोऽहंकारः' कहा, तब 'अहंकार' में इन चारों का सन्निवेश हो गया।

आत्मा अभौतिक है, शरीर भौतिक है—इन दोनों का मेल कैसे हो? इसी मेल का काम अन्तःकरण द्वारा होता है, जो भौतिक होता हुआ भी अभौतिकसम है। इसी अन्तःकरण तथा सूक्ष्म-भौतिक-तन्मात्रों के योग से आत्मा का सूक्ष्म-शरीर बनता है जो सम्पूर्ण जन्मों के संस्कारों का आश्रय-स्थल है। जैसे कटोरी में पड़े केसर को फेंक देने पर भी उसकी वास कटोरी में मौजूद रहती है, वैसे ही सब कर्म संस्कारों का रूप धारण कर लेते हैं, और वे संस्कार कटोरी में वास की तरह सूक्ष्म-शरीर में बने रहते हैं। इस सूक्ष्म-शरीर के सहारे ही आत्मा उसे उपकरण बना कर सृष्टि का उपभोग करता है। सूक्ष्म-शरीर जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहता है, जब कर्मों का भोग समाप्त होता है, तभी आत्मा का सूक्ष्म-शरीर से साथ छूटता है; आत्मा नहीं मरता, शरीर मरता है; शरीर का सूक्ष्म-रूप यह सूक्ष्म-शरीर आत्मा के साथ बना रहता है।

पाश्चात्य-दार्शनिक 'आत्मा' को न मान कर—'चेतना'—इस शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका कथन है कि 'आत्मा' तथा 'मन' का हमें पता नहीं चलता, 'चेतना' (Consciousness) का सब-किसी को अनुभव होता है, इसलिये पाश्चात्य-दर्शन में 'मन', 'आत्मा' आदि शब्दों का प्रयोग करने के स्थान में 'चेतना' शब्द का प्रयोग अधिक व्यावहारिक समझा जाता है। अगले अध्याय में हम इसी 'चेतना' पर विशेष चर्चा करेंगे।

मन, चेतना, आत्मा, परमात्मा—इनके शास्त्रीय-भेद को समझ लेना आवश्यक है। जैसा हमने कहा, सांख्य मन को भौतिक मानता है; चेतना, आत्मा, परमात्मा अभौतिक हैं, चेतन हैं। आत्मा, परमात्मा दोनों चेतन होते हुए भी आत्मा की चेतनता व्यक्तिनिष्ठ है, परमात्मा की चेतनता समष्टिनिष्ट है। प्रश्न यह रह जाता है कि चेतना का आत्मा तथा परमात्मा से क्या भेद है? 'चेतना' तथा 'आत्मा' में भेद यह है कि जहाँ-जहाँ चेतना—जीवन—Life—है, वहाँ-वहाँ आत्मा का होना आवश्यक नहीं है। घास-पात में जीवन है, उनमें आत्मा नहीं है। आत्मा वहीं है जहाँ कर्म-फल भोग हो। 'चेतना' तथा 'परमात्मा' में भेद यह है कि जब 'चेतना' सर्जन, पालन, संहार की क्रिया कर रही होती है तब उसी 'चेतना' को 'परमात्मा' कहा जाता है।

'चेतना' तथा 'आत्मा' के विषय में जिस भेद का हमने ज़िक्र किया वह कई समस्याओं को हल कर देता है, परन्तु फिर भी इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

इस अध्याय में इन्हीं तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय

चेतना, मन तथा आत्मा

(CONSCIOUSNESS MIND, AND SOUL)

भारतीय तथा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-विचारधारा

हमने पिछले प्रकरण में देखा कि मानव-शरीर को सिर्फ़ यन्त्र मान लेने से काम नहीं चलता। इस भौतिक-शरीर में कोई चेतन अभौतिक-तत्त्व है जो इसे चलाता है। इस चेतन अभौतिक-तत्त्व को भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं। कोई इसे सिर्फ़ 'चेतना' (Consciousness) कहता है, कोई इसे 'मन' (Mind) कहता है, कोई इसे 'आत्मा' (Soul or Spirit) कहता है। क्या ये सब एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न नाम हैं, या ये अलग-अलग सत्ताएँ हैं? जहाँ तक पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक-विचारधारा है, उसके अनुसार ये सब एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। यहाँ हम धर्म की बात नहीं कर रहे, मनोविज्ञान की बात कर रहे हैं। पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक-विचारधारा के अनुसार हमारे भौतिक-शरीर में जो अभौतिक-तत्त्व है उसे वे मन कहते हैं। शरीर का संचालन 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के द्वारा होता है, 'तन्त्रिका-तन्त्र' का संचालन तथा नियन्त्रण कुछ के अनुसार अपने-आप, कुछ के अनुसार मन (Mind) द्वारा होता है—भले ही हम उसे मन कहें, चेतना कहें या आत्मा कहें। वे इस शक्ति के लिए चेतना या मन—इन शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, अभिप्राय उनका शरीर से अतिरिक्त एक अलग चेतन-शक्ति से है। सभी पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते, कुछ 'शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक' (Physiological psychologists) हैं, जो चेतन-शक्ति को मानते ही नहीं, शरीर को सिर्फ़ एक यन्त्र मानते हैं जिसका संचालन स्व-चालित-यन्त्र की तरह 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) के कारण-कार्य के नियमानुसार ही रहा है—यह मानते हैं, कुछ अपने को 'व्यवहारवादी' (Behaviourists) कहते हैं जो शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान के ही पृष्ठ-पोषक हैं, कुछ 'आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक' (Spiritual psychologists) हैं जो तन्त्रिका-तन्त्र से अतिरिक्त चेतन या मन

की सत्ता को मानते हैं। हमने पिछले प्रकरण में इन दोनों की विचारधारा का उल्लेख किया। इससे पहले कि हम मन तथा उसकी शक्तियों के विषय में पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिकों की विचारधारा की आगे कुछ चर्चा करें, हम चेतना, मन, आत्मा आदि के विषय में भारतीय दार्शनिक-विचारधारा पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

1. चेतना, मन तथा आत्मा के सम्बन्ध में भारतीय-विचारधारा

भारतीय दार्शनिक-विचारधारा में चेतना, मन तथा आत्मा—ये तीनों शब्द पाये जाते हैं। 'चेतना' का प्रयोग तो 'मन' तथा 'आत्मा' दोनों के लिए होता है, परन्तु 'मन' तथा 'आत्मा'—इन दोनों शब्दों का अलग-अलग सत्ता के लिए प्रयोग होता है। वे 'मन' की अलग सत्ता मानते हैं, 'आत्मा' की अलग सत्ता मानते हैं।

'मन' तथा 'आत्मा' का क्या सम्बन्ध है—इसके लिए आचार्य कपिल के सांख्य-दर्शन से विशेष प्रकाश पड़ता है। सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

प्रकृतेर्महान् महतो ऽहंकारः। अहंकारात् पंचतन्मात्राणि। उभयमिन्द्रियम्।
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि। पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः॥

(सांख्य-कारिका, 22)

सृष्टि की उत्पत्ति 'प्रकृति' (भौतिक-द्रव्य)—Matter—से हुई है। 'प्रकृति' का अर्थ है—'साम्यावस्था प्रकृतिः'—पांच-भौतिक-जगत् की वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार का भेद न हो, जब सम-अवस्था हो, उसे 'प्रकृति' कहा गया है। इस समय हमारे सामने जो जगत् है उसमें हर वस्तु का दूसरी से भेद नज़र आता है, प्रत्येक वस्तु का अपना पृथक्त्व है, अपनी अलग-से सत्ता है, सम-अवस्था नहीं है, विषम अवस्था है। इस 'विषम-अवस्था' का नाम 'विकृति' है, सम-अवस्था का नाम 'प्रकृति' है। सृष्टि का विकास साम्यावस्था से विषमावस्था की तरफ़ हुआ है, इसी को पाश्चात्य-दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'First Principles' में 'साम्यावस्था से विषमावस्था' या 'सजातीयता से विजातीयता' (From homogeneity to heterogeneity) कहा है। प्रकृति जब साम्यावस्था में थी तब किसी पदार्थ की पृथक् सत्ता नहीं थी, इसी को वेद में '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**' कहा है, इसी को वर्तमान वैज्ञानिक 'Nebula' का नाम देते हैं। 'हिरण्य' भी ज्योतिर्मय है, 'नेब्युला' भी ज्योतिर्मय है। इस 'प्रकृति' (भौतिक-द्रव्य)—Matter—से जब सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ हुआ तब पहले-पहल 'महत्' प्रकट हुआ। 'महत्' का क्या अर्थ है? 'महत्' का अर्थ है—महान्, विशाल, बड़ा। प्रकृति के विकास में दो विचार ही तो पहले-पहल आ सकते थे—एक विचार

था 'मात्रात्मक' (Quantitative), दूसरा विचार था 'गुणात्मक' (Qualitative)। अर्थात्, पहला विचार था प्रकृति की विशालता का, इतनी विशाल, इतनी महान् कि इसका कुछ पारावार नहीं; दूसरा विचार था इतना-कुछ इसमें भरा है, इतना-कुछ इसमें भरा है कि उसका भी पारावार नहीं, ओर-छोर नहीं। इसीलिए कहा है कि प्रकृति जब विकासोन्मुख हुई तब पहले-पहल, 'महत्-तत्त्व' का भाव जागा। इस 'मात्रात्मक-विकास' (Quantitative evolution) के बाद 'गुणात्मक-विकास' (Qualitative evolution) हुआ। वह 'गुणात्मक-विकास' क्या था ? 'गुणात्मक-विकास' था प्रत्येक वस्तु का जो अबतक अदृश्य-रूप में थी, अव्यक्त-रूप में थी, बीज-रूप में थी, उसका दृश्य होने लगना, व्यक्त होने लगना, बीज में से फूट पड़ने लगना। इस व्यक्त होने को ही सांख्यकार ने 'अहंकार' का नाम दिया है। 'अहंकार' का अर्थ है—'व्यक्तित्व'—वस्तु की पृथक् रूप से सत्ता। यह पृथक् रूप से सत्ता जड़ की भी हो सकती है, चेतन की भी। जब तक सृष्टि 'प्रकृति' रूप में थी, अव्यक्त रूप में थी, तब तक जड़-चेतन में से किसी की व्यक्त-सत्ता नहीं थी, जब सृष्टि 'विकृति' रूप में आई, तब हर वस्तु का अपना-अपना पृथक् आकार प्रकट होने लगा, उसमें 'व्यष्टित्व'—'वैयक्तिकता'—(Individuality) आने लगा। इसी 'व्यष्टित्व'—वैयक्तिकता' को, 'अहंत्व' (I-ness) को सांख्य में 'अहंकार' का नाम दिया गया है। विकास की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने पर पहले 'महत्-तत्त्व' प्रकट हुआ, फिर 'अहंकार-तत्त्व' प्रकट हुआ—पहले 'मात्रा' (Quantity) प्रकट हुई, फिर 'गुण' (Quality) प्रकट हुआ—'मात्रात्मक से गुणात्मक विकास' (From Quantitative to Qualitative evolution) हुआ—इसी को सांख्य-कारिका में 'प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः' कहा है, जो वर्तमान पाश्चात्य-वैज्ञानिक मत से मिलता-जुलता है।

फिर 'अहंकार' के प्रकट होने के बाद क्या हुआ ? पहले प्रकृति में एक-तत्त्व था, सारी अनेकता एकता में विलीन हो चुकी थी, अब जब विकास प्रारम्भ हुआ तब एकता से अनेकता विकसित होने लगी। क्योंकि 'प्रकृति' भौतिक है इसलिए पाँच महाभूतों का विकास हुआ—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। परन्तु पंच-महाभूत भी तो व्यक्त होने से पहले अव्यक्त रूप में थे, इसलिए उनको अव्यक्त से व्यक्त होने की प्रक्रिया में उनका पहले-पहल जो रूप था उसे सांख्य ने 'पंचतन्मात्र' कहा है। 'तन्-मात्र' का अर्थ है—बस, 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा', 'अप्रकट-सा'; 'अव्यक्त-सा'। 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा' का अर्थ है—न बिल्कुल सूक्ष्म ही है, न बिल्कुल स्थूल ही है; न बिलकुल अप्रकट ही है, न बिल्कुल प्रकट ही है; न बिल्कुल अव्यक्त ही है, न बिल्कुल व्यक्त ही है। इसी को 'तन्-मात्र' कहा है सांख्यकार ने। जब प्रत्येक वस्तु का 'व्यष्टित्व'—'अहंकार'—विकसित होने लगा, तब यह पांचभौतिक-सृष्टि पहले पाँचों महाभूतों की सूक्ष्म-तन्मात्रों में प्रकट हुई—

पृथिवी-तन्मात्र, आपस्-तन्मात्र, तेजस्-तन्मात्र, वायु-तन्मात्र, आकाश-तन्मात्र—फिर स्थूल रूप में—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश के रूप में विकसित हुई। इस प्रकार पाँच तन्मात्रों, सूक्ष्म-भूतों तथा पाँच स्थूल भूतों का विकास हुआ। 'तन्मात्र'—शब्द के विषय में श्री उदयवीर शास्त्री अपने 'सांख्य सिद्धान्त-ग्रन्थ' के पृष्ठ 302 में लिखते हैं कि सांख्य के 'तन्मात्र'-शब्द का वही अर्थ है जो विज्ञान में एलीमेंट (Element) का अर्थ समझा जाता है। वे लिखते हैं कि 'तन्मात्र'—यह संज्ञा तत्त्व की उस अवस्था को स्पष्ट कर देती है जो तत्त्व केवल उतना ही है, या वही है, अर्थात् जिसमें अन्य किसी तत्त्व का सम्मिश्रण नहीं है। जैसे विज्ञान ने ये मूल भौतिक-तत्त्व कभी 102 बतलाये थे, फिर उनका विलीनीकरण होते-होते अब इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन रह गए, वैसे कभी सांख्य ने सृष्टि के मूल-तत्त्वों का विश्लेषण पंच-तन्मात्रों में किया था। ये पंच-तन्मात्र सांख्य-विज्ञान के एलीमेंट थे। सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए 'तन्मात्र'-शब्द का प्रयोग ही सिद्ध करता है कि सांख्यकार का अभिप्राय सृष्टि के निर्माण के आदि के भौतिक मूल-तत्त्वों (Elements) से है। यह विकास तो ब्रह्माण्ड की सृष्टि में हुआ; पिंड की—देह की—सृष्टि में भी अंगों का विभेदीकरण (Differentiation of Organs) हुआ, और 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ विकसित हुई। इनमें से आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा—ये 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; हाथ, पैर, वाणि, पायु, उपस्थ—ये 5 कर्मेन्द्रियाँ हैं; इनके अतिरिक्त 1 तत्त्व मन है। इस प्रकार प्रकृति, महत्, अहंकार, 5 तन्मात्र, 5 स्थूल भूत, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां तथा 1 मन—ये 24 तत्त्व हैं जिनका आधार प्रकृति है। इनको सांख्यकार ने 'करण' कहा है। करण का अर्थ है—साधन, औज़ार। ये साधन हैं—किसके? पुरुष के, आत्मा के। आत्मा को सांख्य में 'पुरुष' कहा है—'पुरुष' का अर्थ है—'पुरि शेते इति पुरुषः' (निरुक्त)—जो शरीर रूपी पुरी में, नगर में आकर शयन करता है, विश्राम करता है, वह पुरुष है। 'पुर'-शब्द तो भाषा में आम चलता है—नागपुर, फिरोजपुर—वही 'पुर'-शब्द पुरुष में है। इस प्रकार 24 साधनों को साथ लेकर यह 'पुरुष'—शरीर-रूपी पुरी में रहने वाला आत्मा—अपने को मिलाकर 25 की टोली के साथ इस संसार की यात्रा करता है।

हमने सृष्टि के विकास का सांख्य-सम्मत जो उल्लेख किया है उसका आशय उस प्रश्न का समाधान करना है जिसे हमने इस प्रकरण के शुरू-शुरू में उठाया है। हमारा प्रश्न यह था कि 'चेतन', 'मन' तथा 'आत्मा'—इन तीनों में क्या भेद है?

संक्षेप में, उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सांख्यकार के मत में 'मन' चेतन नहीं है, 'आत्मा' चेतन है; 'मन' प्रकृति के विकास का परिणाम है, प्राकृतिक है, भौतिक है; आत्मा प्रकृति के विकास का परिणाम नहीं है, अप्राकृतिक है,

अभौतिक है; 'मन' करण है, साधन है, औज़ार है, आत्मा इस करण का, साधन का इस्तेमाल करने वाला, इसका उपयोग करने वाला है। यह कहना कि 'मन' भौतिक है, अटपटा लगता है, परन्तु सांख्य की विचारधारा के अनुसार 'मन' भौतिक ही है, प्रकृति से ही इसका विकास हुआ है। उपनिषद् में भी कहा है—'अन्नमय हि सोम्य मनः'—हे सोम्य ! मन अन्न से बना है, अर्थात् मन भौतिक है। जैसे पाश्चात्य-विचारधारा के 'शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक' (Physiological psychologists) या 'व्यवहारवादी' (Behaviourists) हमारे सब व्यवहार का आधार 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) को मानते हैं जो भौतिक है, वैसे ही सांख्यकार भी हमारे सम्पूर्ण व्यवहार का संचालन एक भौतिक-तत्त्व को ही मानते हैं जिसे उन्होंने 'अहंकार' का नाम दिया है जिसकी एक परिणति 'मन' है। इस बात को स्पष्ट तौर पर तो सांख्य-दर्शन में नहीं कहा गया, परन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'मन' तन्त्रिका-तन्त्र का ही दूसरा नाम है। अगर मन प्रकृति से बना है, और हमारी सब क्रिया-प्रतिक्रिया उसी से चलती है, तो 'मन' तथा 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) में क्या भेद रहता है ? इस दृष्टि से विचार करें, तो सांख्य का मत, शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिकों का मत तथा व्यवहारवादियों का मत—ये तीनों एक धरातल पर उतर आते हैं, भेद इतना ही रह जाता है, और वही भेद महत्त्वपूर्ण है, कि सांख्यकार तो मन को भौतिक मानते हुए भी उसे करण मानते हैं, साधन मानते हैं 'आत्मा' का, शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक या व्यवहारवादी 'तंत्रिका-तन्त्र' पर ही अटक जाते हैं, 'तन्त्रिका-तन्त्र' का संचालन करने वाले, उसका नियन्त्रण करने वाले आत्मा को नहीं मानते। हम पिछले अध्याय में देख आये हैं कि शरीर की सब क्रिया-प्रक्रिया सिर्फ़ भौतिकवाद तक रुक जाने और चेतन-सत्ता को न मानने से समझ में नहीं आ सकती इसलिए सांख्यकार का मत शरीर-क्रियात्मक-मनोविज्ञान के सिद्धान्त के साथ मिलता हुआ भी उससे आगे निकल जाता है, वह भौतिकवादी होता हुआ भी अध्यात्मवादी है, उसमें भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय है।

2. मन का शास्त्रीय-स्वरूप

मन को भारतीय शास्त्रों में 'अन्तःकरण' कहा है। 'अन्तःकरण' का अर्थ है—भीतरी साधन, भीतरी उपकरण, भीतरी औज़ार। ऊपर हमने जिस सांख्यकार आचार्य कपिल मुनि का विचार दिया उसके अनुसार प्रकृति से विकसित 'अहंकार' से ही 10 भौतिक (Physical)—5 तन्मात्रों एवं 5 महाभूतों (पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश) तथा 11 मानसिक (Psychical)—1 मन, 5 ज्ञानेन्द्रियों एवं 5 कर्मेन्द्रियों का विकास हुआ। ये 21 तत्त्व 'अहंकार' की परिणति

है, इन्हीं में मन भी एक है, और यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'अहंकार' प्रकृति से विकसित हुआ है। क्योंकि 'मन' अहंकार से विकसित हुआ, अहंकार प्रकृति से विकसित हुआ, इसलिए 'मन' प्रकृति से ही विकसित हुआ—ऐसा समझना चाहिए। 'अहंकार' तथा 'मन' का क्या सम्बन्ध है—इस विषय में शास्त्रीय-विचारधारा निम्न है :—

प्रश्नोपनिषद् के 4र्थ प्रश्न की 8वीं कण्डिका में लिखा है—**'मनश्च मन्तव्यं, बुद्धिश्च बोद्धव्यं, अहंकारश्च अहंकर्तव्यं, चित्तं च चेतयितव्यम्'**। इस स्थल में उपनिषत्कार ने 4 अन्तःकरण गिनाये हैं। वेदान्त ग्रन्थों में भी 'अन्तःकरण चतुष्टय' का वर्णन मिलता है जिसका अर्थ है—4 भीतर के उपकरण, साधन। सब ग्रन्थों में 4 का वर्णन नहीं मिलता। सांख्य में 3 का, गौतम तथा कणाद में सिर्फ़ एक— मन का—वर्णन मिलता है, और अन्यों को इसी एक के भिन्न-भिन्न प्रकट-रूप समझा गया है, परन्तु इस सबके बावजूद प्रसिद्ध शास्त्रीय-विचार 'अन्तःकरण चतुष्टय'—4 अन्तःकरणों—का ही रहा है। इन चार का परस्पर सम्बन्ध क्या है ?

अगर अपने भीतर चल रही मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया (Psychological process) का हम विश्लेषण करें, तो उसे 4 भागों में बाँटा जा सकता है। पहला है—'चित्त' (Consciousness)। किसी भी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया में प्रथम अनुभूति चेतना की होना अवश्यंभावी है। जबतक हम चेतन नहीं होंगे, तबतक मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया चलेगी कैसे ? जैसे प्रकृति सर्वत्र मौजूद है, वैसे जहाँ-जहाँ प्रकृति है वहाँ-वहाँ उसका नियंत्रण करने वाली चेतन-शक्ति भी मौजूद रहती है। इसी चेतन-शक्ति को पातंजल योग-शास्त्र में 'चित्त' (Consciousness) कहा है। 'प्रकृति' सब जगह है इसलिए 'चित्त' भी सब जगह है। योग-भाष्य में 'चित्त' को विभु कहा है क्योंकि चेतन-शक्ति सब जगह मौजूद है। योग-दर्शन के 'चित्त' शब्द का अर्थ मन या बुद्धि नहीं है। सांख्य-दर्शन के अन्तःकरण चतुष्टय में जब 'चित्त' का उल्लेख आता है तब उस चेतना-शक्ति से अभिप्राय नहीं है जो सब जगह, हमारे भीतर, हमारे बाहर, चिति-शक्ति के रूप में वर्तमान है। सांख्य का 'चित्त' आत्मा की चिति-शक्ति का सूचक है। चेतना के बाद द्वितीय-अनुभूति है—'अहंकार' (Individuality) की। जब चेतना जगेगी तभी तो 'मैं' की, 'अहंत्व' की अनुभूति होगी। जब 'अहंत्व' का विकास हो गया, तब मन का काम चालू हो गया, संकल्प-विकल्प जारी हो गया। 'मन' (Mind) मानसिक-विकास की तीसरी मंजिल है। 'मन' का काम चिंतन करना है, संकल्प-विकल्प करना है, यह ठीक है या वह ठीक है—इस प्रकार के द्वन्द्वों को सामने लाकर उन पर विचार करना है, निश्चय करना नहीं है। इसके बाद मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया में चौथी अवस्था आती है, जब मन में उलझ रहे विकल्पों में से किसी एक का बुद्धि

(Intelligence) द्वारा निश्चय हो जाता है। यद्यपि अन्तःकरण चतुष्टय का वर्णन करते हुए प्रश्नोपनिषद् में क्रम मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त—इस प्रकार मिलता है, तो भी हमारी धारणा के अनुसार ये शब्द उपनिषद् में मनोवैज्ञानिक-क्रम से नहीं रखे गए। इनका क्रम होना चाहिए—चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि—क्योंकि हमारी भीतरी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया इसी क्रम से चलती है।

3. सूक्ष्म-शरीर, लिंग-शरीर, कारण-शरीर
(Causal or Astral Body)

हमने देखा कि 'मन' का निर्माण प्रकृति से हुआ है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार मूल-प्रकृति से लेकर पंचभूत-पर्यन्त जितने तत्त्व हैं सब जड़-प्रकृति के विकार हैं, इनमें चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि भी सम्मिलित हैं। परन्तु क्या चित्त, अहंकार, मन, बुद्धि इसी प्रकार स्थूल हैं जिस प्रकार पृथिवी, अप्, तेज, वायु आदि भौतिक-पदार्थ स्थूल हैं। ऐसी बात नहीं है। ये चारों तत्त्व प्राकृतिक, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने पर, भौतिक होते हुए भी अभौतिक हैं। जैसे पंच-तन्मात्र के विषय में हमने कहा है कि वे पाँचों भूतों के सूक्ष्म रूप हैं, इसी प्रकार चित्त, मन, अहंकार तथा बुद्धि भी प्रकृति की सन्तान होने पर भी सूक्ष्म हैं। एक तरफ़ अभौतिक-'आत्मा' है, दूसरी तरफ़ भौतिक-'शरीर' है। अभौतिक-आत्मा का भौतिक-शरीर से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इन दोनों में सम्बन्ध तो है ही। आत्मा शरीर से काम लेता है—यह हम देखते हैं। अभौतिक-आत्मा भौतिक-शरीर से काम कैसे लेता है? इस खाई को पाटने के लिए किसी ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है जो आत्मा की तरह अभौतिक भी हो, शरीर की तरह भौतिक भी हो—अर्थात्, 'अभौतिक-भौतिक' (Non-material material) हो। इस प्रकार के 'अभौतिक-भौतिक' शरीर की कल्पना शास्त्रकारों ने 'सूक्ष्म-शरीर' के रूप में की है। इस सूक्ष्म-शरीर को लिंग-शरीर, कारण-शरीर, आतिवाहिक-शरीर—इन भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया जाता है, मतलब सबका एक ही है। कई विचारक स्थूल-शरीर का कारण सूक्ष्म-शरीर (Astral body) को और सूक्ष्म-शरीर का कारण कारण-शरीर (Causal body) को मानते हैं। चित्त, अहंकार, मन, बुद्धि—इन चारों का शरीर सूक्ष्म-शरीर है, इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता, इस दृष्टि से अभौतिक है; परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म-प्रकृति के अंशों से बना है इस दृष्टि से भौतिक भी है। अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है, भौतिक होने के कारण वह शरीर की इन्द्रियों के निकट है, इसलिए वह आत्मा तथा शरीर के बीच सेतु का, माध्यम का, सम्पर्क-अधिकारी (Liaison officer) का काम करता है। चेतन-आत्मा के पास अगर कोई साधन न हो, तो वह अचेतन-जगत् के साथ कैसे

सम्बन्ध स्थापित करे। उसी सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए उसे चेतन-सम तथा अचेतन-सम सूक्ष्म-शरीर का सहारा लेना पड़ता है। कई आचार्य 'स्थूल-शरीर' तथा आत्मा के बीच माध्यम होने के कारण 'सूक्ष्म-शरीर' को 'अन्तराभव-देह' भी कहते हैं। अगर कारण-शरीर को पृथक् माना जाए तो सूक्ष्म-शरीर को भी कारण-शरीर का सहारा लेना पड़ता है; वैसे सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। जो विचारक सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर को अलग-अलग मानते हैं, वे सूक्ष्म-शरीर का भी कारण कारण-शरीर को मानते हैं, परन्तु इन दोनों में भेद यह बतलाते हैं कि सूक्ष्म-शरीर सबका भिन्न है, कारण-शरीर सबका एक ही है; सूक्ष्म-शरीर व्यक्ति-निष्ठ है, कारण-शरीर समष्टि-निष्ठ है। कारण-शरीर का अर्थ है—'प्रकृति' (Matter) जिससे संसार के सभी पदार्थों का निर्माण हुआ है; वह 'प्रकृति' इस सूक्ष्म-शरीर का भी कारण होने से उसे कारण-शरीर कह देते हैं।

कारण-शरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर की कल्पना करने के दो हेतु हैं। पहला हेतु तो यही है कि अचेतन-शरीर तथा चेतन-आत्मा के बीच सम्पर्क कैसे स्थापित हो सकता है। जबतक कि इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कोई अचेतन-सम तथा चेतन-सम सत्ता न हो, ऐसी सत्ता जिसमें इन दोनों के गुण मौजूद हों। दूसरा हेतु यह है कि वैदिक विचारधारा में 'कर्म' तथा 'पुनर्जन्म'—ये दो सिद्धान्त भी माने जाते हैं। कर्मों का फल मिलता है, किन्तु सब कर्मों का फल इस जन्म में मिलता नहीं दीखता—इसलिए तो पुनर्जन्म मानना पड़ता है, परन्तु अगर पुनर्जन्म है तो वे कर्म जिनका फल इस जन्म में नहीं मिला, वे आत्मा के साथ अगले जन्म में कैसे चले जाते हैं? कर्म तो मस्तिष्क पर संस्कार ही छोड़ते हैं, जब मृत्यु के उपरान्त इस शरीर को भस्म कर दिया तब कर्मों के संस्कारों का भौतिक-आधार जाता रहा, नष्ट हो गया, फिर वे कर्म अपना फल भोगने के लिए कैसे बने रहते हैं? यह दूसरा हेतु है जिस कारण शास्त्रों ने कारण शरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर की कल्पना की। 'कर्म' के सिद्धान्त का अवश्यं-भावी परिणाम पुनर्जन्म का सिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अवश्यम्भावी परिणाम कारण-शरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर का सिद्धान्त है। कारण अथवा सूक्ष्म-शरीर कर्मों का अधिष्ठान है, जिसमें संस्कार भौतिक रूप से संचित रहते हैं।

सूक्ष्म-शरीर क्या है? यह चित्त, अहंकार, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पंच-तन्मात्र तथा पंच महाभूत—इन सबके सूक्ष्म-तत्त्वों का संश्लिष्ट शरीर है। इनमें ये सब तत्त्व सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्म-रूप में समाविष्ट रहते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में जिन पांच कोशों का उल्लेख है—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश—इन सबका बीजमय रूप भी सूक्ष्म-शरीर अथवा कारण-शरीर में सन्निहित रहता है। इन पंचकोशों का विस्तार से

वर्णन हमने अपनी पुस्तक 'वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व' में किया है। सूक्ष्म-शरीर प्रकृति के तत्त्वों से ही निर्मित होता है इसलिए भौतिक है, जिन तत्त्वों से निर्मित होता है उन्हें भी तन्मात्र कहा जा सकता है, 'तन्मात्र' अर्थात् 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा' 'थोड़ा-सा', परन्तु यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसे अभौतिक भी कहा जा सकता है। इसके काम क्या हैं ? इसके दो काम हैं। पहला काम तो यह है कि यह इस जन्म के सब संस्कारों को सूक्ष्म-रूप में, बीज-रूप में अपने पर अंकित कर लेता है, दूसरा काम यह है कि आत्मा के साथ सदा बना रहता है—पिछले जन्म में, इस जन्म में, अगले जन्म में। जन्म-जन्मान्तर तक यह आत्मा के साथ रहता है, तबतक साथ रहता है जबतक आत्मा के सब संस्कार क्षीण नहीं हो जाते, और संस्कार क्षीण हो जाने पर सूक्ष्म-शरीर भी नष्ट हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों के जो संस्कार जमा होते रहते हैं, वे इसी सूक्ष्म-शरीर में जमा होते रहते हैं, संस्कार क्षीण हो गए, कर्मों का भोग निबट गया, तो सूक्ष्म-शरीर छूट गया, सूक्ष्म-शरीर छूट गया, तो आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से तबतक के लिए मुक्त हो गया जबतक नवीन-सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा को नया सूक्ष्म-शरीर नहीं मिल जाता। यह बात दूसरी है कि जिनका सूक्ष्म-शरीर छूट जाता है उनकी संख्या न के बराबर है।

4. सूक्ष्म-शरीर (कारण-शरीर) के दो काम

(क) **सूक्ष्म-शरीर में संस्कारों का संचित होना**—स्थूल-शरीर तो प्रत्यक्ष है, यह हमें दीखता है, परन्तु इस स्थूल-शरीर का निर्माण सूक्ष्म-शरीर से होता है। जैसे बीज में वृक्ष बैठा है, बीज के रोपने से वृक्ष उठ खड़ा होता है, वैसे सूक्ष्म-शरीर में स्थूल-शरीर के सब बीज मौजूद रहते हैं। हम जो कर्म करते हैं उन सबका फल प्रत्यक्ष रूप में इस जन्म में नहीं मिल जाता—कुछ का मिलता दीखता है, कुछ का मिलता नहीं दीखता। जिनका फल प्रत्यक्ष रूप में इस जन्म में मिलता नहीं दीखता उनका क्या होता है ? उनका संस्कार सूक्ष्म-शरीर पर अंकित हो जाता है, यही उन कर्मों का इस जन्म में बीज-रूप फल है, जो तत्काल नहीं फलता, कुछ देर बाद इस जन्म में या अगले जन्म में फल लाता है। यह समझना कि जिन कर्मों का फल मिलता नहीं दीखता, वे नष्ट हो जाते हैं, गलत धारणा है। वे सूक्ष्म-शरीर में तबतक जा बैठे रहते हैं जबतक वे इस जन्म में या अगले जन्म में फल नहीं लाते। क्योंकि सूक्ष्म-शरीर उन कर्मों को अपने में समेट बैठता है, सूक्ष्म-रूप में, बीज-रूप में समेट बैठता है ताकि समय आने पर उनका फल मिल जाय, इसलिए इसे कारण-शरीर भी कहते हैं।

यह पूछना कि एक-एक कर्म का फल क्यों नहीं मिलता कर्म के सिद्धान्त को न समझना है। जिन कर्मों का फल मिलता दीखता है उनके विषय में तो कोई

शरीर में उसका बैठा जाता है जबतक वह अंकुर के रूप में नहीं फूट पड़ता।

इस बात को एक और उदाहरण से भी समझा जा सकता है। हम एक कटोरी में केसर घोलते हैं। कुछ देर उसमें केसर पड़ा रहता है, फिर उसे फेंक देते हैं। अब केसर की बास उस कटोरी में बसी रहती है। यह बास सूक्ष्म-रूप में कटोरी में जा बैठी है, दीखती तो नहीं। इस बास को ही संस्कार कहते हैं। कर्मों की बास, उनके संस्कार सूक्ष्म-रूप से सूक्ष्म-शरीर में संचित होते रहते हैं। जैसे बर्फ भी पानी है, पानी भी पानी है, बर्फ ही पिघल कर पानी हो जाता है, वैसे सूक्ष्म-शरीर ही जन्म लेने के बाद मानो स्थूल-शरीर ही हो जाता है, और इस स्थूल-शरीर में संचित संस्कारों के अनुसार फल भोगता है, एक-एक संस्कार का गिन-गिन कर फल नहीं भोगता, परन्तु कर्मों के कारण—अच्छे या बुरे कर्मों के कारण—उसकी जो प्रवृत्ति बन चुकी है, उसका जो अभ्यास बन चुका है, उस पर जो संस्कार पड़ चुके हैं, उन सबका सम्पूर्ण-प्रभाव लेकर कर्म-फल भोगता है, ये कर्म जिनका घोल या मिश्रण बन कर उसके सूक्ष्म-शरीर में पड़ा है।

(ख) **सूक्ष्म-शरीर का जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहना**—सूक्ष्म-शरीर का दूसरा काम यह है कि यह इस जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक, जबतक वह कर्म के बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र नहीं हो जाता, आत्मा के साथ चिपटा रहता है। आत्मा तो अभौतिक है, उसका भौतिक-शरीर से सम्बन्ध कैसे हो? सम्बन्ध तो दीखता है क्योंकि आत्मा शरीर द्वारा काम करता ही है। यह सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर के माध्यम से होता है। जैसा हम पहले कह आए हैं, सूक्ष्म-शरीर भौतिक होता हुआ भी अत्यन्त-सूक्ष्म होने के कारण अभौतिक के सदृश ही है, यह शरीर के भी निकट है, आत्मा के भी निकट है, यह दोनों में मेल-मिलाप का साधन बन जाता है। विना सूक्ष्म-शरीर का सहारा लिए अभौतिक-आत्मा भौतिक-शरीर से काम नहीं ले सकता। तभी तो जब हम कोई काम करते हैं, तब पहले वह विचार के क्षेत्र में जन्म लेता है, 'विचार' तो भौतिक है। भौतिक-वादी दृष्टिकोण से विचार का उदय 'तंत्रिका-तंत्र' में होता है, जिस भारतीय-शास्त्र का हम उल्लेख कर रहे हैं उसके दृष्टिकोण से विचार का उदय सूक्ष्म-शरीर में होता है जो भौतिक है। आत्मा द्वारा जब सूक्ष्म-शरीर में विचार की लहर उत्पन्न होती है, तब स्थूल-शरीर क्रिया करता है।

इस दृष्टि से जन्म-मरण का क्या अर्थ है? जन्म आत्मा का नहीं होता, मरण भी आत्मा का नहीं होता। पाश्चात्य-भौतिकवादी तो भौतिकवादी हैं ही, हमारे भारतीय-आचार्य ऐसे अभौतिकवादी हैं कि वे विना भौतिकवाद का सहारा लिए आत्मा के जन्म-मरण को नहीं मानते। वे मानते हैं कि अभौतिक-आत्म के साथ भौतिक-सूक्ष्म-शरीर सदा बना रहता है। जन्म होता है, तो स्थूल-शरी का, मृत्यु होती है तो स्थूल-शरीर की। जब स्थूल-शरीर मरता है तब आत्म

तन्त्रिका-तन्त्र के पीछे कोई अभौतिक-शक्ति—आत्मा—न हो, तो काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ :

(i) **यन्त्र की अनुक्रिया निश्चित होती है**—जितने भी भौतिक-यन्त्र हैं उनमें क्रिया की अनुक्रिया निश्चित होती है, उनमें चुनाव का प्रश्न नहीं उठता। दीवार पर गेंद फेंकी जायगी तो लौट कर अवश्य आएगी, दीवार पर बैठ कर सोचने नहीं लगेगी कि लौटूं या न लौटूं। हमारी अनुक्रियाएँ यन्त्र की तरह निश्चित नहीं हैं, अनेक सम्भव अनुक्रियाओं में से कोई एक चुनी जाती है—यह चुनने वाला कौन है ?

(ii) **एक ही उद्दीपक होने पर यन्त्र की अनुक्रिया भिन्न-भिन्न नहीं होती**—अगर हमें मनोविज्ञान के 600 पण्डितों के सामने व्याख्यान देना हो तो घबराहट होती है, 500 विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देना हो तो उत्साह होता है; उद्दीपकों की संख्या दोनों हालात में 500 ही है, परन्तु अनुक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। अगर मनुष्य यन्त्रवत् काम करता हो, तो ऐसा नहीं हो सकता। हमारे भीतर कोई बैठा है जो एक ही उद्दीपक के सामने होते हुए अपनी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न अनुक्रिया करता है। यह भिन्न-भिन्न अनुक्रिया करने वाला कौन है ?

आत्मा के उपकरण, आत्मा के साधन, आत्मा के औज़ार घोषित किया है; चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि को जिन्हें हम मानसिक-तत्त्व कहते हैं, उन्हें भी भौतिक-तत्त्व ही माना है, और इन्हें भी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय आदि की तरह साधनमात्र माना है, इस खोज में वे पाश्चात्य-भौतिकवादी-मनोवैज्ञानिकों से किसी कदर पीछे नहीं हैं। जिस प्रकार पाश्चात्य-विचारक मस्तिष्क या तंत्रिका-तन्त्र को जो ज्ञान का एक भौतिक-साधन है, केन्द्र मान कर उसी से प्राणी के सम्पूर्ण-व्यवहार का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार सांख्यवादी अन्तःकरण चतुष्टय को, जो भौतिक-साधन है, केन्द्र मान कर प्राणी के सम्पूर्ण-व्यवहार का समाधान करते हैं। भेद एक है। पाश्चात्य-विचारक प्राणी को एक स्व-चालित-यन्त्र मानते हैं, 'उद्दीपक' (Stimulus) सामने आया और मस्तिष्क द्वारा अपने-आप 'अनुक्रिया' (Response) हो गई—ऐसा मानते हैं, 'उद्दीपक' की अनेक सम्भव-'अनुक्रियाओं' में से किसी एक अनुक्रिया को ही कौन चुनता है—इसका उत्तर नहीं दे पाते, इसलिये समाधान के बीच में ही अटक जाते हैं; सांख्यवादी 'उद्दीपक-अनुक्रिया' (Stimulus-response) की भौतिक-प्रक्रिया को तो स्वीकार करते हैं, मानसिक-प्रक्रिया को भौतिक ही मानते हैं, परन्तु इस भौतिक-प्रक्रिया के बीच में कोई अभौतिक-तत्त्व, कोई चेतन-तत्त्व अपना दफ़्तर लगाये बैठा है—यह भी साथ ही मानते हैं, उस अभौतिक-तत्त्व को वे 'आत्मा' कहते हैं।

(ग) **जपा-कुसुम स्फटिक-मणि न्याय**—जैसे भौतिकवादियों का कथन है कि 'बाह्य-संवेदनों' (Sensations) को हमारी इन्द्रियाँ 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के सामने ले आती हैं, वैसे सांख्यवादियों का कथन है कि बाह्य-विषयों को हमारी इन्द्रियाँ अन्तःकरण चतुष्टय या बुद्धि के सामने ले आती हैं। 'तन्त्रिका-तन्त्र' के सम्मुख ले आना या 'बुद्धि' के सामने ले आना एक ही बात है क्योंकि सांख्यवादियों के अनुसार 'तन्त्रिका-तन्त्र' की तरह 'बुद्धि' भी भौतिक-तत्त्व है। अब आगे क्या होता है? आगे जो होता है उसे स्पष्ट करने के लिए सांख्यवादी जपा-कुसुम तथा स्फटिक-मणि एवं स्वच्छ-जल में पड़ रहे चन्द्र के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त देते हैं। इस प्रक्रिया को श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'सांख्य सिद्धान्त' (पृ० 70) में बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

"जपा का फूल लाल रंग का होता है, इसे भाषा में गुडहल कहते हैं। यह अन्तःकरण-स्थानीय है। जैसे फूल अपने अन्दर लाल रंग को लेकर स्वच्छ-मणि के सम्मुख उपस्थित होता है, वैसे अन्तःकरण इन्द्रियों द्वारा बाह्य-विषयों को लेकर आत्मा के सम्मुख उपस्थित होता है। जपा का फूल जब स्वच्छ स्फटिक-मणि के सम्पर्क में आता है, तब स्फटिक-मणि जपा के सहयोग से लाल प्रतीत

होने लगती है । स्फटिक-मणि स्वच्छ-स्वभाव है । इस प्रकार बाह्य-विषयों को लेकर अन्तःकरण जब आत्मा के सम्पर्क में आता है, तब आत्मा अन्तःकरण के विषयों को अनुभव करता है । इस बात को प्रकट करने के लिए सांख्य में यह कहा गया है कि अन्तःकरण—'बुद्धि'—बाह्य-विषयों को लेकर आत्मा में प्रतिबिम्बित हो जाती है । आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध-स्वरूप चेतन है । जैसे स्वच्छ स्फटिक-मणि जपा-कुसुम के सम्पर्क अथवा सहयोग से लाल प्रतीत होती है, पर उसके अपने वास्तविक-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, तथा जैसे स्वच्छ-जल में चन्द्र के प्रतिबिम्बित होने पर जल के अपने वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण—'बुद्धि'—के सम्पर्क अथवा सहयोग से सुख-दुःख आदि का साक्षात् अनुभव करने पर आत्मा के अपने शुद्ध, चेतन-स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर या विकार नहीं आता ।"

आत्मा, शुद्ध, चैतन्य-रूप है, परन्तु वह अन्तःकरण द्वारा बाह्य-विषयों को अनुभव करता है । उदाहरणार्थ, अगर हमारा कोई पड़ोसी कैंसर से पीड़ित है, हम उसे देखने जाते हैं, उसके दुःख से दुःखी होते हैं, कभी-कभी रो भी पड़ते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसका कैंसर का रोग हमें हो गया, इसका इतना ही अर्थ है कि उसका कष्ट हममें प्रतिबिम्बित हो गया, इसी प्रकार अगर इन्द्रियों के विषयों को अपने भीतर समेट कर अन्तःकरण आत्मा के सम्मुख आता है, तो आत्मा अपने चैतन्य-गुण के कारण उन विषयों को ऐसे अनुभव करता है जैसे ये उसके अपने ही हों, वास्तव में वे उसके अपने नहीं होते, उसमें सिर्फ़ जपा-कुसुम के स्फटिक-मणि में प्रतिबिम्ब की तरह प्रतिबिम्बित हो रहे होते हैं, यद्यपि स्वरूप में वह उन विषयों से पृथक् होता है । जपा-कुसुम का प्रतिबिम्ब मणि में पड़ता है—'कुसुमवच्च मणिः'—मणि कुसुम के समान लाल प्रतीत होती है, परन्तु क्या मणि लाल हो जाती है ? मणि तो स्वच्छ बनी रहती है, स्वच्छपना ही उसका स्वरूप है । श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—"यह रक्तिमा का अनुभव तभी सम्भव है, जब मणि की स्वच्छता अपने-आप में अबाध बनी हो । इसी प्रकार साधनभूत अन्तःकरण के द्वारा अर्पित सुख-दुःखादि का अनुभव करने पर भी आत्मा के अपने विशुद्ध, चेतन-स्वरूप में किसी प्रकार की बाधा या विकृति नहीं आती । प्रत्युत्, यह अनुभव आत्मा के चेतन-स्वरूप के अस्तित्व का द्योतक है ।"

ऊपर हमने जो वर्णन किया उसका यही अर्थ है कि सांख्य-मत के अनुसार हमारे ज्ञान का आधार अन्तःकरण है, बाह्य-विषयों का ज्ञान 'अन्तःकरण' तक पहुँचता है । अन्तःकरण की वैसी ही भौतिक-सत्ता है जैसी भौतिक-सत्ता भौतिकवादियों के मत के अनुसार 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) की है । भौतिकवादियों के सामने यह प्रश्न था कि 'तन्त्रिका-तन्त्र' अगर यन्त्र-मात्र है,

छुटकारे के लिए आत्मा को उपकरण दिये गए हैं, साधन दिये गए हैं। अन्तः-करण चतुष्टय, पांचों ज्ञानेन्द्रियां, पांचों कर्मेन्द्रियां, पंच-तन्मात्र, पंच-महाभूत—इनसे बना सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर, ये सब उपकरण हैं, साधन हैं जिनसे आत्मा संसार के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। ये सब साधन ऐसे हैं जिनके दुरुपयोग से आत्मा बंधन में फंस भी सकता है, सदुपयोग से बन्धन से मुक्त भी हो सकता है। इन सब उपकरणों में से मुख्य उपकरण 'अन्तःकरण चतुष्टय' है—अन्तः-करण में भी मुख्य मन है जिसका दुरुपयोग आत्मा को दिनोंदिन 'भोग' के गढ़े में धकेल सकता है, जिसका सदुपयोग उसे 'अपवर्ग' के अपने मुक्त रूप में उठा ला सकता है। मन द्वारा ही आत्मा अन्य सभी उपकरणों का उपयोग करता है क्योंकि इन्द्रियादि सब उपकरण मन के अधीन ही काम करते हैं।

तो फिर, आत्म-दर्शन की असली समस्या मन की रह जाती है। हमारा अनुभव क्या बतलाता है ? हम अनुभव करते हैं—'हमारा शरीर', हम अनुभव करते हैं—'हमारे विचार'। अगर हम आंखें बन्द करके बैठ जायें, शरीर की तरफ़ ध्यान न दें, तो शरीर खो जाता है, परन्तु आंखें बन्द करके बैठ जाने पर भी मन के विचार बने रहते हैं। जब मैं कहता हूं—'मेरा शरीर', तो यह स्पष्ट है कि शरीर के पीछे कोई बैठा है जो शरीर को 'मेरा' कहता है। शरीर से जुदा होकर जब मैं कहता हूँ—'मेरा विचार' तब भी यह स्पष्ट है कि विचार के पीछे —'विचार', अर्थात् 'मन' के पीछे—कोई बैठा है जो 'विचार' या 'मन' को 'मेरा' कहता है। अगर मैं अपने को शरीर से जुदा करके देखूं तो मन रह जाता है, अगर मैं अपने को मन से जुदा करके देखूं तो कुछ तो है जो रह जाता है, नहीं तो मैं कैसे कहता हूं—'मेरा शरीर', 'मेरा मन', 'मेरा विचार' ? शरीर से जुदा हो जाने पर, मन से, विचार से जुदा हो जाने पर जो शेष रह जाता है, जिसकी मुझे अनुभूति बनी रहती है, वही आत्मा है। जब मैं एकान्त में बैठकर ध्यान करता हूं, तब मेरे सामने विचार आते-जाते रहते हैं। ये विचार मन द्वारा उत्पन्न होते हैं। अगर मैं एक-एक विचार को शान्त करता जाऊँ, जो विचार आए उसके साथ तादात्म्य स्थापित न करूँ, विचार जैसे आए वैसे चला जाय, मैं यह न अनुभव करूँ कि यह मेरा विचार है, तब विचार के शान्त हो जाने पर मेरे भीतर जो चेतना की अनुभूति बनी रह जाती है, वही आत्मा है, और वही आत्मा का दर्शन है। विचारों की प्रकृति ही यह है—वे आते हैं, चले जाते हैं, टिकते नहीं, टिकते भी हैं तो कुछ देर टिक कर फिर चले जाते हैं, उनके स्थान पर दूसरे विचार आ जाते हैं। जो आते-जाते इन विचारों को देखता है, इन्हें अनुभव करता है, वह स्वयं मन तो नहीं है क्योंकि मन ही तो ये विचार हैं। वह जो मन से अतिरिक्त है, मन को भी देखता है, अनुभव करता है, वही आत्मा है। आत्मा के दर्शन का अर्थ यह समझ लिया जाता है कि किसी उपकरण से,

कल्पना कीजिए कि आपकी एक-एक इन्द्रिय को आप से अलग कर दिया गया। हाथ काट दें तब भी बोध होता है कि आप हैं, आंख निकाल दी जाय तब भी बोध होता है कि आप हैं, जिह्वा काट दी जाय तब भी बोध होता है कि आप हैं। मेरा जगत् समाप्त हो जाता है परन्तु मैं वही-का-वही रहता हूँ। एक-एक अंग के कट जाने पर भी 'मैं' का बोध बना रहता है। यह 'मैं' का बोध किस इन्द्रिय से बना रहता है? इन्द्रियां तो एक-एक करके कटती चली गईं, परन्तु मैं बना रहा। यह 'मैं' ही आत्मा का बोध है। इसी भाव को छान्दोग्य (पंचम प्रपाठक, प्रथम खंड) में एक कथानक के रूप में कहा गया है। वहाँ लिखा है कि इन्द्रियों में विवाद छिड़ गया। आंख कहने लगी कि मैं आत्मा हूँ, कान, नाक कहने लगे, हम आत्मा हैं। सबको एक-एक करके एक साल की छुट्टी देते गए, परन्तु आंख के चले जाने पर जैसे अंधे जीते रहते हैं, कान के चले जाने पर जैसे बहरे जीते रहते हैं, नाक के चले जाने पर जैसे नकटे जीते रहते हैं, जिह्वा के कट जाने पर जैसे गूंगे जीते रहते हैं, वैसे 'मैं' का जीवन बना रहा। उपनिषत्कार ने कहा है कि जब सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, जीवन से अलग हो जाती हैं, तब जो बना रहता है, जिसकी अनुभूति हर-किसी को होती है, वही 'आत्मा' है, वही आत्मा का दर्शन है, वही आत्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन है। इसीलिए उपनिषद् ने कहा—'**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत् वाचो ह वाचम् स उ प्राणस्य प्राण: चक्षुषश्चक्षु:**' (केन, 2)—आँख उसे नहीं देखती वह आँख को देखता है, कान उसे नहीं सुनता, वह कान को सुनता है, जिसके बिना इन्द्रियाँ निर्जीव पड़ जाती हैं, वही आत्मा है।

6. मन तथा चेतना के विषय में पाश्चात्य-विचारधारा

(क) आत्मा, मन, चेतना, तंत्रिका-तंत्र, व्यवहार—इस क्रम से पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-विचार—पश्चिम में मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय अरस्तु (384-322 ई० पू०) को दिया जाता है। आज जो 'तंत्रिका-तंत्र' पर बल दिया जाता है अरस्तु को उस 'तंत्रिका-तंत्र' का ज्ञान तक नहीं था। प्लेटो तो मस्तिष्क को ज्ञान का केन्द्र मानता था, अरस्तु हृदय को ज्ञान का केन्द्र मानता था। अरस्तु के कथनानुसार ज्ञान हृदय से पैदा होता है। हृदय ज्ञान का केन्द्र था, परन्तु ज्ञान हृदय को होता हो, ऐसा वह नहीं मानता था। वह कहता था कि ज्ञान 'आत्मा' को होता है जिसका निवास हृदय में है। अरस्तु के अनुसार आत्मा में अनेक शक्तियाँ थीं, जिनमें से ज्ञान भी एक 'शक्ति' था। मनोविज्ञान का काम आत्मा में विद्यमान शक्तियों का अध्ययन था। ज्ञान, स्मृति, विचार, कल्पना आदि आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का अध्ययन करना मनोविज्ञान का मुख्य विषय था, इसलिए अरस्तु के प्रतिपादित मनोविज्ञान

को 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) कहा जाता है। पश्चिम में बहुत देर तक आत्मा की इन भिन्न-भिन्न शक्तियों का विकास शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता रहा। आत्मा तथा मन में कोई भेद नहीं किया जाता था, दोनों में से किसी भी शब्द का प्रयोग कर लिया जाता था। आत्मा अथवा मन अभौतिक-तत्त्व होने के कारण उनका निरूपण किसी भौतिक-साधन से नहीं हो सकता था, इसलिए आत्मा अथवा मन पर विचार करने का तरीका 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) का तरीका ही था। ईसा से 400 वर्ष पूर्व से 17 वीं शताब्दी तक युरोप में आत्मा अथवा मन को ही मनोविज्ञान का विषय समझा जाता रहा।

पाश्चात्य-दर्शन सदियों तक आत्मा अथवा मन की शरीर से पृथक् सत्ता मान कर चलता रहा। 17 वीं शताब्दी में यूरोप में गेलिलियो (1564-1642) तथा न्यूटन (1642-1727) के आविष्कारों से वैज्ञानिक-क्रान्ति हुई। इस समय अनेक यन्त्रों का आविष्कार हुआ। यंत्रों के आविष्कार तथा निर्माण का परिणाम यह हुआ कि सब विज्ञानों में यान्त्रिक-नियमों (Mechanical laws) की दृष्टि से विचार करना एक फ़ैशन-सा हो गया। मनोविज्ञान में भी इस प्रवृत्ति ने प्रवेश किया। अबतक मनोविज्ञान में 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) से काम लिया जाता था, अब टॉमस हॉब्स (1588-1679) ने मनोविज्ञान में भी भौतिक-विज्ञानों में प्रयोग तथा प्रेक्षण (Experiment & Observation) के जिन साधनों का उपयोग होता था उन्हीं का उपयोग करने की वकालत की। इसी समय एक दार्शनिक हुआ जिसका नाम डेकार्ट (1596-1650) था। उसने भी हॉब्स के विचारों को पुष्ट किया। डेकार्ट पशुओं पर प्रयोग करता था। वह कहता था कि पशुओं में सब काम यंत्र की तरह चलता है। पशु के शरीर में 'संवेदनों (Sensations) से ज्ञान जाता है। उस ज्ञान के पहुँचने पर मस्तिष्क से यंत्रवत् 'अभिप्रेरणा' (Motion) हो जाती है, उसमें आत्मा की कोई आवश्यकता नहीं होती, इसी तरह मनुष्य का शरीर भी यंत्रवत् चल रहा है। डेकार्ट के अनुसार जहाँ पशु एक प्रकार के यंत्र हैं, वहाँ मनुष्य भी यंत्र ही है। उसकी इस मीमांसा के आधार पर मनुष्य की क्रियाओं को भौतिक-विज्ञान के नियमों की दृष्टि से हल किया जाने लगा। हम किसी भी प्रकार की क्रिया क्यों करते हैं? बाह्य-विषय—'उद्दीपक' (Stimulus) का इन्द्रिय पर प्रभाव पड़ता है, यह प्रभाव जब दिमाग़ में पहुँचता है, तब वहाँ स्वयं एक 'अनुक्रिया' (Response) उत्पन्न हो जाती है, और हम काम कर डालते हैं। इस दृष्टि से शरीर उन्हीं भौतिक-नियमों के अनुसार काम कर रहा है जिनके अनुसार एक यंत्र काम करता है। हम बटन दबाते हैं, बिजली जग जाती है, हमें काँटा लगता है, हमारा हाथ

अनायास उधर दौड़ जाता है। इस प्रकार की अनायास-क्रिया को मनोविज्ञान की परिभाषा में 'प्रतिवर्त-क्रिया' (Reflex action) कहते हैं। 'प्रतिवर्त-क्रियाओं' के दृष्टान्तों के द्वारा डेकार्ट ने मानसिक-क्रिया को यांत्रिक अथवा भौतिक नियमों में ढालने का यत्न किया।

अभी तक हॉब्स तथा डेकार्ट ने आत्मा या मन की सत्ता से इन्कार नहीं किया था। डेकार्ट पशुओं में तो आत्मा नहीं मानता था, मनुष्य में मानता था। उसका कहना इतना ही था कि जिस प्रकार पशुओं में बिना आत्मा के यन्त्रवत् काम चलता है, उसी प्रकार मनुष्य में भी आत्मा से काम लेने के बिना यन्त्रवत् काम चल सकता है। हां, मनुष्य में आत्मा है, परन्तु उसका कोई विशेष काम नहीं है, वह सिर्फ़ 'चेतना' (Consciousness) के रूप में विद्यमान है। आत्मा अथवा मन का हमें पता भी क्या चलता है? आत्मा तथा मन आदि ऐसे शब्द हैं जिनका स्पष्ट अर्थ किसी को समझ में नहीं आता; 'चेतना' (Consciousness) शब्द ऐसा है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है, इसलिए उक्त मनोवैज्ञानिकों की विचारधारा के परिणामस्वरूप मनोविज्ञान का विषय 'आत्मा'—'मन' आदि न रह कर 'चेतना' (Consciousness) तथा 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous system) हो गया, और मनोविज्ञान के अध्ययन की पद्धति 'अन्तर्निरीक्षण' (Introspection) के स्थान में 'प्रेक्षण तथा प्रयोग' (Observation & Experiment) हो गया। प्रेक्षण तथा प्रयोग किसका? आत्मा हमें नहीं दीखता, मन हमें नहीं दीखता, चेतना हमें नहीं दीखती, हमें दीखता है अपना व्यवहार, हम जो-कुछ करते-धरते हैं वही तो दीखता है, इसलिए भौतिकवाद के मार्ग पर चलते-चलते मनोविज्ञान 'व्यवहारवाद' (Behaviourism) का रूप धारण कर गया। मानसिक-प्रक्रिया प्रकट रूप में हमारे बाह्य-व्यवहार में दीखती है, इसी पर प्रयोग करने के लिए 'मनोवैज्ञानिक-प्रयोगशालाएँ' (Psychological laboratories) खुलने लगीं जिनमें से सबसे पहले 1879 में वुन्डट ने मनोवैज्ञानिक-प्रयोगशाला की स्थापना की। उसके बाद 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा बीसवीं शताब्दी में इस प्रकार की प्रयोगशालाओं का तांता बंध गया।

पश्चिम में जिस भौतिकवाद ने जन्म लिया उसका परिणाम मनोविज्ञान पर यह हुआ कि मनुष्य को भी एक यन्त्र समझा जाने लगा, आत्मा तथा मन को निर्वासित कर उसकी जगह मस्तिष्क को ही हमारे सम्पूर्ण-व्यवहार का कारण कहा जाने लगा, परन्तु क्या इससे हमारी शंकाओं का समाधान हो जाता है जो हमने पिछले अध्याय में उठाई हैं?

(ख) आत्मा अथवा मन को निर्वासित कर देने पर शंकाएँ बनी रहती हैं— हम पिछले अध्याय में इस बात को स्पष्ट कर आए हैं कि भौतिक-शरीर या

यन्त्र में जिस काम के लिए जो केन्द्र बना है, उस केन्द्र के कट जाने पर वह काम रुक जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। कौन शक्ति मस्तिष्क में आसन जमाए बैठी है, जो एक साधन के हाथ से निकल जाने पर दूसरे साधन से वही काम लेने लगती है? यन्त्र का एक पुर्जा चला जाय, तो यन्त्र बेकार हो जाता है, यहां मस्तिष्क जैसी नाजुक मशीन का पुर्जा ही नहीं, मशीन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा कट जाता है, और मशीन के भीतर बैठा कोई उस हिस्से के बिना मशीन को चालू कर देता है। भौतिकवादी के सामने प्रश्न है कि यह कौन है?

7. व्यवहारवाद—यान्त्रिक-क्रिया, प्रतिवर्त-क्रिया, नैसर्गिक-क्रिया
(Behaviourism—Mechanical action, Reflex action, Instinctive action)

भौतिकवाद ने मन अथवा आत्मा को निर्वासित करके उनकी जगह 'व्यवहारवाद' को जन्म दिया। वे हमारे मानसिक-व्यवहार को समझाने के लिए कहते हैं कि क्रिया (Action) की प्रतिक्रिया (Reaction) तीन तरह की हो सकती है। एक प्रतिक्रिया तो यान्त्रिक (Mechanical) है, दूसरी प्रतिवर्त-क्रिया (Reflex) है, तीसरी नैसर्गिक-क्रिया (Instinctive) है। उदाहरणार्थ, हम बटन दबाते हैं, बिजली जग जाती है—यह 'यान्त्रिक-प्रतिक्रिया' है, यह प्रतिक्रिया बेजान वस्तुओं में, मशीन आदि में होती है; दूसरी प्रतिक्रिया जानदार प्राणियों में होती है और दो तरह की हो सकती है। एक को 'प्रतिवर्त-क्रिया' (Reflex) कहते हैं, दूसरी को 'नैसर्गिक-क्रिया' (Instinctive) कहते हैं। 'प्रतिवर्त-क्रिया' क्या है? हृदय गति कर रहा है, श्वास चल रहा है, आंतें भोजन पचा रही हैं, आँखें झपकती हैं, गुद-गुदाने से हम सिमिट जाते हैं, काँटा चुभने पर पाँव खींच लेते हैं—ये सब यन्त्र की क्रिया तो नहीं परन्तु प्राणी की यन्त्र के समान क्रियाएँ हैं, अपने-आप हो जाती हैं, इसलिए इन्हें 'प्रतिवर्त-क्रिया' कहा जाता है। जानदार प्राणियों में 'प्रतिवर्त-क्रिया' के अतिरिक्त 'नैसर्गिक-क्रिया' भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ, बच्चा पैदा होते ही माँ के स्तन से दूध चुसकने लगता है, उसे किसी चीज़ की ज़रूरत है तो रोता है, हिरन का बच्चा पानी में डालते ही तैरने लगता है—ये 'नैसर्गिक-क्रियाएँ' हैं। इस विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि—

(i) 'यान्त्रिक-क्रिया'—यन्त्र के समान (Mechanical) है,
(ii) 'प्रतिवर्त-क्रिया'—जीवन-रक्षा के लिए 'जैविक' (Biological) है,
(iii) 'नैसर्गिक-क्रिया'—मनोवैज्ञानिक (Psychological) है।

8. नैसर्गिक-शक्ति (Instinctive Power)

मनोविज्ञान में भौतिकवाद के प्रवेश का स्थूल रूप व्यवहारवाद है। व्यवहारवाद का अर्थ यह है कि मनुष्य में न मन है, न आत्मा है; प्राणी एक यन्त्र है। अगर प्राणी एक यन्त्र है, तो अध्यात्मवादी यह प्रश्न उठा कर देता है कि प्राणी की क्रियाओं को यन्त्रवत् कैसे समझाया जा सकता है? इसका उत्तर देते हुए व्यवहारवादी कहता है कि प्राणी में एक शक्ति पायी जाती है जिसे 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) कहते हैं। यह 'नैसर्गिक-शक्ति' सिद्ध करती है कि प्राणी का मानसिक-व्यापार एक यन्त्र की तरह, मशीन की तरह अपने-आप चलता है। आइए, देखें कि 'नैसर्गिक-शक्ति' के विषय में भौतिकवादी—व्यवहारवादी—तथा अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण क्या है :

(क) 'नैसर्गिक-शक्ति' के सम्बन्ध में भौतिकवादी विचार—मनोविज्ञान में भौतिकवादी-विचारधारा के प्रवेश का अवश्यम्भावी परिणाम प्राणी में 'नैसर्गिक-शक्ति' का मानना था। 'नैसर्गिक-शक्ति' का अभिप्राय यह था कि प्राणी लगभग यन्त्रवत् कार्य करता है, बिना सिखाए 'उद्दीपक' (Stimulus) के प्रति 'अनुक्रिया' (Response) करता है, उसमें सोचने की, जिसके कारण हम आत्मा या मन को मानते हैं, आवश्यकता नहीं पड़ती। सोचने या कई सम्भव-अनुक्रियाओं में से एक का चुनाव करने के लिए ही तो आत्मा या मन को माना जाता है। बच्चा पैदा होते ही माँ का स्तन चुसकने लगता है, हरिण का बच्चा पैदा होते ही पानी में डाल देने से तैरने लगता है—ये अनुक्रियाएँ इनकी स्वाभाविक हैं, बिना सिखाए ये अनुक्रियाएँ स्वयं होने लगती हैं, तन्त्रिका-तन्त्र स्व-चालित-यन्त्र की तरह इस प्रकार का व्यवहार करता है—यह भौतिकवादियों का कहना है।

भौतिकवादी से यह पूछा जा सकता है कि माना कि 'नैसर्गिक-शक्ति' में क्रिया स्वयं हो जाती है, प्राणी को सोचना नहीं पड़ता, यन्त्रवत् क्रिया कर डालता है, परन्तु यन्त्रवत् क्रिया करने में पहले तन्त्रिका-तन्त्र पर कोई संस्कार तो पड़े होने चाहिएँ, तन्त्रिका-तन्त्र पर कुछ संस्कारांकन (Engram) तो होना चाहिए जिसे रास्ता बना कर 'नैसर्गिक-शक्ति' स्व-चालित-यन्त्र की तरह काम करती है। प्राणी तो अभी पैदा हुआ, उसके तन्त्रिका-तन्त्र पर रास्ता बनाने वाले संस्कार कब पड़े जिससे इस जन्म में बिना सीखे वह उचित प्रतिक्रिया करता है? भौतिकवादी इस प्रश्न का उत्तर यह देता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में कोई समय रहा होगा जब ये 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' जिन्हें अब हमें सीखना नहीं पड़ता, प्रकट नहीं हुई थीं। प्राणी की आवश्यकताओं के अनुसार उसके सामने नई-नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई होंगी, उनके अनुसार उसने नया-नया व्यवहार किया होगा जो उसके तन्त्रिका-तन्त्र में अंकित हो गया होगा। तन्त्रिका-तन्त्र के ये

संगृहीत संस्कार प्रत्येक प्राणी अपनी संतति को 'आनुवंशिकता (Heredity) के नियमानुसार देता रहा होगा, होते-होते ये संस्कार वंशगत के तौर पर हर प्राणी को मिल गए होंगे। तन्त्रिका-तन्त्र के ये संस्कारांकन जो सन्तति-से-सन्तति में चले आ रहे हैं, 'नैसर्गिक-शक्ति' कहलाते हैं जिनको समझाने के लिए आत्मा या मन की आवश्यकता नहीं।

(ख) 'नैसर्गिक-शक्ति' के सम्बन्ध में मैग्डूगल के विचार—'नैसर्गिक-शक्ति' की तरफ़ मनोवैज्ञानिकों का ध्यान प्रबल रूप में आकर्षित करने का श्रेय विलियम मैग्डूगल (1871-1938) को है। अबतक मनोवैज्ञानिकों ने 'नैसर्गिक-शक्तियों' पर विशेष ध्यान नहीं दिया था, परन्तु ज्यों-ज्यों भौतिकवाद मनोविज्ञान में प्रवेश करता गया, त्यों-त्यों प्राणी में ऐसी शक्तियों की ढूंढ़ होती रही जिन्हें यान्त्रिक कहा जा सके। क्योंकि 'नैसर्गिक-क्रिया' यन्त्रवत् चलती है, उद्दीपक सामने आया और अनुक्रिया हो जाती है, इसलिए मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य 'नैसर्गिक-शक्तियों' पर विचार करना हो गया। मैग्डूगल ने 'नैसर्गिक-शक्ति' की व्याख्या करते हुए लिखा है—"नैसर्गिक-शक्ति प्राणी का ऐसा वंशानुगत या शरीरगत मानसिक स्वभाव है, जो किसी विशेष वस्तु के सामने उपस्थित होने पर उसे विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए वाधित कर देता है, या कम-से-कम उसके भीतर उस तरह का व्यवहार करने की प्रेरणा उत्पन्न कर देता है।" उदाहरणार्थ, हरिण के बच्चे को नदी में डाल दें, तो क्या होता है ? या तो उसे वंश-परम्परा से—मां-बाप से, उनके मां-बाप से— ऐसे संस्कार मिले हैं जिनके कारण वह डूबने के स्थान मे झट-से तैरने लगता है, या उसके तन्त्रिका-तन्त्र की रचना ही ऐसी है कि वह पानी में पड़ते ही तैरने लगता है। वह ऐसा करने के लिए वाधित होता है, विवश होता है। कम-से-कम उसके भीतर ऐसी प्रेरणा तो होती ही है, भले ही वह डूब जाय।

(ग) 'नैसर्गिक-शक्ति' के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी विचार—मैग्डूगल जब कहता है कि 'नैसर्गिक-शक्ति' में व्यवहार करने का आवेग (Impulse to action) अन्तर्निहित रहता है, तब 'नैसर्गिक-शक्ति' का भौतिक-आधार खत्म हो गया। भौतिक-पदार्थ भौतिक-पदार्थ को आवेग या प्रेरणा नहीं दे सकता। आवेग या प्रेरणा का स्रोत तो कोई अभौतिक-तत्त्व ही हो सकता है, क्योंकि जो भी भौतिक-तत्त्व आवेग या प्रेरणा दे रहा होगा उसी के विषय में शंका उठ खड़ी होगी कि उसे किसने आवेग या प्रेरणा दी ? अभौतिक आत्म-तत्त्व तो स्वयं चेतन है इसलिए अगर वह आवेग या प्रेरणा दे, तो कोई शंका नहीं रहती। यही अध्यात्मवादी दृष्टिकोण है।

इतना ही नहीं कि 'नैसर्गिक-शक्ति' का आधारभूत-तत्त्व उसमें निहित आवेग है, 'प्रेरणा' है, परन्तु मैग्डूगल ने जिन 14 मूल-नैसर्गिक-शक्तियों का प्रतिपादन

किया है उनमें से हर 'नैसर्गिक-शक्ति' के साथ उसे आवेग या प्रेरणा देने वाला एक संवेग (Emotion) बंधा हुआ है। इस 'संवेग' का काम नैसर्गिक-शक्ति में जीवन डाल देना है। 'संवेग' तो भौतिक-तत्त्व नहीं है। मशीन कभी-कभी न रोती है, न हँसती है, न डरती है, न घबराती है, न प्रेम करती है, न द्वेष करती है। मैग्डूगल ने जिन 14 मूल-नैसर्गिक-शक्तियों की तरफ मनोवैज्ञानिकों का ध्यान खींचा है, जिनके साथ उनका संवेग साथ-साथ बना रहता है, वे निम्न हैं :—

नैसर्गिक-शक्ति या 'मूल-प्रवृत्ति' [INSTINCTS]	उसके साथ सम्बद्ध 'संवेग' [EMOTIONS]
1. पलायन (Escape)	1. भय (Fear)
2. युयुत्सा (Combat)	2. क्रोध (Anger)
3. निवृत्ति (Repulsion)	3. विरुचि (Disgust)
4. पैतृक-भावना (Parental feeling)	4. दया (Tender feeling)
5. समवेदना—सहानुभूति (Appeal)	5. दुःख (Distress)
6. संभोग (Mating; sex)	6. काम (Lust)
7. जिज्ञासा (Curiosity)	7. आश्चर्य (Wonder)
8. अधीनता (Submission)	8. आत्महीनता (Negative self-feeling)
9. स्वाग्रह (Self assertion)	9. आत्माभिमान (Positive self-feeling)
10. यूथ-चारिता (Gregariousness)	10. एकाकीभाव (Loneliness)
11. खाद्यान्वेषण (Food-seeking)	11. तृप्ति (Gusto)
12. परिग्रहण (Acquisition)	12. स्वत्व (Ownership)
13. रचनात्मकता (Constructiveness)	13. कृति (Creativeness)
14. हास (Laughter)	14. आमोद (Amusement)

उक्त तालिका को देख कर स्पष्ट हो जायगा कि भय, क्रोध, विरुचि, दया, दुःख, काम, आश्चर्य, हीनता, अभिमान, एकाकीभाव, तृप्ति, स्वत्व, कृति, आमोद—ये 'संवेग' प्राणी की 'नैसर्गिक-शक्तियों' के साथ जुड़े हुए हैं, 'नैसर्गिक-शक्तियों' को प्रेरणा देने वाले अभौतिक भाव हैं। इसलिए जो 'शरीर-क्रियात्मक-मनोवैज्ञानिक' (Physiological Psychologists) नैसर्गिक-शक्तियों में यन्त्र को ढूँढ़ना चाहते हैं उन्हें यन्त्र के स्थान में यन्त्र का चलाने वाला 'आत्मा' ही हाथ लगता है जिसे न्याय-दर्शन ने **'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्'** कहा है। भौतिकवादी प्रो० मैग्डूगल तथा अध्यात्मवादी कपिल मुनि के दृष्टिकोण में इतना ही भेद है कि दोनों 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) को तो

मानते हैं, गणना भले ही उनकी अलग-अलग हो, परन्तु मैग्डूगल यह मानता है कि ये प्रतिक्रियाएँ अपने-आप हो रही हैं, बिना चेतन के हो रही हैं, वैदिक ऋषि का कहना यह है कि अगर इन प्रतिक्रियाओं में कोई जान डालने वाला, इन्हें प्रेरणा देने वाला नहीं है, तो ये अपने-आप कैसे हो सकती हैं? 'संवेग' (Emotion) का काम तो आवेग देना, प्रेरणा देना है, 'नैसर्गिक-शक्ति' में आवेग या प्रेरणा कौन डाल देता है? मेज-कुर्सी बैठी-बैठी नहीं हँसा करती, न रोया करती है—यह मनुष्य क्यों हँस पड़ता है, क्यों रो पड़ता है? हँसने और रोने वाला कोई यन्त्र नहीं, यन्त्र के भीतर बैठा कोई चेतन है।

9. मन तथा आत्मा में भेद

(क) पाश्चात्य-मनोविज्ञान—पाश्चात्य-मनोविज्ञान या तो मनुष्य को सिर्फ़ मशीन ही मानता है, इस मशीन का संचालन 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) के द्वारा हो रहा है—यह मानता है, या अगर यह कुछ आगे बढ़ता है, तो तन्त्रिका-तन्त्र का संचालन करने वाले 'मन' (Mind) तक पहुँच जाता है, इससे आगे वह कदम नहीं रखता। इसका परिणाम क्या है? पाश्चात्य-मनोविज्ञान के आधुनिकतम व्याख्याकार फ्रॉयड, एडलर तथा युंग समझे जाते हैं। उनकी गवेषणा का अन्तिम ध्येय मन की ग्रन्थियों को सुलझाना है। उनके मनोविज्ञान का क्षेत्र 'अपसामान्य-मनोविज्ञान' (Abnormal psychology) है। 'अपसामान्य-मनोविज्ञान' क्या है? उनका कहना है कि मनुष्य सिर्फ़ मन का ही एक खेल है। मानसिक उलझनों से मन में गाँठें पड़ जाती हैं, उन्हीं से मन अस्वस्थ हो जाता है, उन्हें निकाल देना, सुलझा देना, उसे स्वस्थ कर देना उनके मनोविज्ञान का काम है। मन को वे दो भागों में बाँटते हैं—'सामान्य-मन' (Normal mind) तथा 'अपसामान्य-मन' (Abnormal mind)। 'सामान्य' अथवा 'अपसामान्य' मन क्या है? उनके कथनानुसार सर्व-साधारण, आम लोग जिस तरह से सोचते-विचारते, रहते-सहते हैं, उस तरह से सोचना-विचारना, रहना-सहना 'सामान्य-मन' का सूचक है, उससे भिन्न तरह से व्यवहार करना 'अपसामान्य-मन' का सूचक है। सर्व-साधारण लोग समाज में मिलते-जुलते हैं, एक-दूसरे के सम्पर्क में आना पसन्द करते हैं—यह 'सामान्य-मन' का सूचक है; जो व्यक्ति समाज से दूर-दूर रहे, किसी से मिलना-जुलना पसन्द न करे—वह मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से 'अपसामान्य' है। ऐसे 'अपसामान्य' मन के व्यक्ति को मानसिक-उपचार द्वारा आम लोगों के व्यवहार के अनुकूल बना देना फ्रॉयड, एडलर तथा युंग के मनोविज्ञान का काम है। एक व्यक्ति किसी मानसिक-ग्रंथि के कारण अपने को हीन समझता है, दूसरों से छोटा, गया-बीता—यह 'अपसामान्य'-मन का सूचक है, साधारण तौर पर हर व्यक्ति ऐसा नहीं समझता;

का सहारा मन को न मिले, तो मन भटकता ही फिरेगा, उसे कहीं शान्ति तथा चैन न मिलेगा।

पाश्चात्य-मनोविज्ञान जब मानसिक स्वास्थ्य की बात कहता है, तब उसका क्या रूप है? अस्वस्थ-मन को स्वस्थ बनाने का क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि अस्वस्थ-मन के व्यक्ति को ऐसा बना दिया जाय जैसा साधारण-व्यक्तियों का मन होता है। परन्तु साधारण-व्यक्तियों का—सर्व-साधारण का—जैसा मन होता है, उसे क्या स्वस्थ कहा जा सकता है? हम सब लोग जो मानसिक-दृष्टि से स्वस्थ कहे जाते हैं, उनका क्या हाल है? वे पागल तो नहीं हैं, परन्तु उनका मन पागलपन के करीब-करीब ही होता है। कचहरियों में जाकर देखो, वहाँ चक्कर काट रहे एक-एक व्यक्ति के मन के भीतर डुबकी लगा कर देखो; बाजारों में फिर कर देखो, दुकानों पर बैठे दुकानदारों के अन्तस्तल में पैठ कर देखो। कोई पैसे के लिए व्याकुल है, कोई स्त्री के लिए व्याकुल है, कोई ईर्ष्या-द्वेष से व्याकुल है। हर-एक का मन चंचल है, अशान्त है, चिन्ताग्रस्त है, तनावपूर्ण है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान इस रोगी-मन का इलाज करना चाहता है, परन्तु भारतीय-विचारकों का तो कहना है कि मन का तो स्वभाव ही चंचलता, चिंता, तनाव, अशान्ति है। जब मन का स्वभाव ही ऐसा है, तब इसका इलाज कैसे हो सकता है?

परन्तु क्या मानव-जीवन चंचलता, चिंता, तनाव तथा अशान्ति का ही मूर्त्त रूप है? क्या हम नहीं देखते कि किसी-किसी मनुष्य में अगाध शान्ति तथा सन्तोष का समुद्र लहलहा रहा होता है; न भी हो तो भी क्या मनुष्य इन अवस्थाओं के लिए, शान्ति तथा सन्तोष के लिए व्याकुल नहीं रहता? जिस मन का स्वरूप ही चंचलता, चिंता तथा अशान्ति है, वह स्वयं इन्हें दूर करने की कैसे सोच सकता है? अशान्त तथा चंचल मन के पीछे, इससे परे तथा ऊपर जो सत्ता है, जो मन की चंचलता के बावजूद अशान्ति, चिंता तथा तनाव के बावजूद प्रसाद का सन्देश लेकर बैठी है, वह स्वयं मन नहीं हो सकती। वह जो सत्ता है, वही आत्मा है।

मन अँधेरा है, आत्मा प्रकाश है; मन अंधा है, आत्मा सुजाखा है; मन कहता है—मैं चंचलता को छोड़ नहीं सकता, मैं चिन्ता को छोड़ नहीं सकता, मैं व्याकुलता तथा तनाव को छोड़ नहीं सकता—मेरा रूप ही यह है; आत्मा कहता है—तू चंचल है, मैं अचंचल हूँ, तू चिन्तामय है, व्याकुलतामय है, तनाव-पूर्ण है, मैं चिन्ताहीन हूँ, प्रशान्त हूँ, प्रसादमय हूँ—मेरा रूप ही यह है। यही मन तथा आत्मा में भेद है। इसी भेद को सामने रख कर यम ने नचिकेता को कठ उपनिषद् (तृतीया वल्ली, तृतीय श्लोक) में कहा है—शरीर रूपी रथ का स्वामी आत्मा है, मन तो इन्द्रिय रूपी घोड़ों को इधर-उधर हाँकने का इशारा

देने वाली लगाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् (द्वितीय अध्याय, 5) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहा है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेयी आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन सर्वं विदितम्'**—हे मैत्रेयी! आत्मा का दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करके उसे जानने से ही जीवन की समस्या का हल हो सकता है।

(ग) मन तथा आत्मा अलग-अलग हैं—इस सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता—हमने देखा कि पाश्चात्य-मनोविज्ञान सिर्फ़ मन तक पहुंचता है, भारतीय-मनोविज्ञान का कथन है कि मन तो है ही, परन्तु मन के परे आत्मा है, हमें मन को पार कर जाना (Transcend) है। मन को पार कर जाने की सिर्फ़ सैद्धान्तिक-उपयोगिता ही नहीं, व्यावहारिक-उपयोगिता भी है। उसकी व्यावहारिक-उपयोगिता क्या है?

हमारा मन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों का घर है। हम काम के अभिभूत हो जाते हैं, क्रोध हमें पागल कर देता है, लोभ तथा मोह के कारण हम दुनियाँ में फँसे रहते हैं। यह सब मन का खेल है। हमें क्रोध आया, या कोई दूसरा मानसिक-संवेग उमड़ा। हम क्या करते हैं? हम या उसका दमन कर देते (Suppress) हैं, या क्रोध को पूरे वेग से अभिव्यक्त कर देते (Express) हैं, मार-पीट कर डालते हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि जब हम उसे दबा देते हैं, तब वह दबता नहीं, भीतर-ही-भीतर बाहर आने के लिए जोर मारता रहता है। अगर हमें अपने से किसी बड़े पर क्रोध आया, हम कुछ कर नहीं सकते, लाचार होकर उसे दबाना पड़ा, तो अपने से कमज़ोर के सामने आते ही वह दूने जोर से फूट पड़ता है। बाबू दफ़्तर में झिड़कियाँ खाकर वहाँ तो ग़म खा जाता है, घर आकर छोटी-छोटी बात पर बच्चों को पीटने लगता है। असल में, उस समय वह बच्चों को नहीं, बच्चों के बहाने अपने अफ़सर को, जिस पर उसे क्रोध आया था, पीट रहा होता है। मनोविज्ञान का कहना है कि संवेग दबता नहीं, प्रकट होने की राह देखता है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान हमें सिर्फ़ यहीं तक पहुंचाता है, सिर्फ़ यह कहता है कि मन को बेचैनी या तनाव से निकालने के लिए या तो मानसिक-विकार को दबाना नहीं चाहिए, या उसे प्रकट होने का कोई सभ्य, समाजानुमोदित तरीका निकाल लेना चाहिए।

भारतीय-मनोविज्ञान यह नहीं कहता। भारतीय-मनोविज्ञान का कहना है कि मानसिक-विकार से—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से—छूटने का जो तरीका पाश्चात्य-मनोविज्ञान के व्याख्याकार फ्रॉयड आदि बतलाते हैं वह सही तरीका नहीं है। वे इस तरीके का प्रतिपादन इसलिए करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि मनुष्य के भीतर सिर्फ़ मन की ही सत्ता है, मन के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है। मन क्योंकि विकारों का पुंज है इसलिए वह तभी हल्का हो

सकता है जब वह अपने भीतर के बोझ-रूप में पड़े हुए विकारों को बाहर निकाल फेंके। परन्तु भारतीय-मनोविज्ञान मन के अतिरिक्त आत्मा को मानता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार जो मन की उलझनें हैं, मन के बोझ हैं, उन्हें आत्मा अपना मानने लगता है। अगर आत्मा अपनी सत्ता को मन से जुदा अनुभव कर ले, तो वह बोझ बोझ नहीं रहता, अपने-आप गिर जाता है। उदाहरणार्थ, हमें क्रोध आया, भयंकर क्रोध। अगर हम समझें कि हम मन के अतिरिक्त कुछ नहीं, तब तो इस क्रोध से छूटने का वही रास्ता रह जाता है जो फ्रॉयड आदि मनोविश्लेषणवादी कहते हैं—या तो जिस पर क्रोध आया है उसका सिर फोड डालें या दूसरे किसी को अपने क्रोध का शिकार बनायें। परन्तु अगर मन के अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, मन सिर्फ़ आत्मा का नौकर है, तो सारा दृष्टिकोण बदल जाता है। उस अवस्था में आत्मा स्वतन्त्र होकर, द्रष्टा बन कर मन को देखता है, यह देखता है कि मेरा नौकर क्रोध में पागल हो रहा है, उसके पागलपन को देख कर मन का मालिक हँस देता है, आत्मा के द्रष्टा के रूप में हो जाने पर क्रोध अपने-आप रफ़ूचक्कर हो जाता है। जबतक आत्मा अपने को मन ही समझ रहा होता है तबतक मन का बोझ आत्मा का बोझ बना रहता है, तबतक उस बोझ को हल्का करने का वही तरीका रह जाता है जो फ्रॉयड ने बतलाया है, परन्तु जब मन तथा आत्मा का भेद स्पष्ट हुआ तब न क्रोध को दबाने (Suppress) की आवश्यकता रहती है, न क्रोध को प्रकट (Express) करने की आवश्यकता रहती है, तब आत्मा द्वारा मन के क्रोध को देख कर हँस जाना पड़ता है, तब क्रोध अपने-आप मिट जाता, लुप्त (Disappear) हो जाता है। इसे शास्त्रकारों ने **'ज्ञानाग्निना दग्धम्'**—ज्ञान की आग से भस्म—हो जाना कहा है। ज्योंही हम अपने द्रष्टा रूप में आ जाते हैं, त्योंही वह बोझ जो मन तथा आत्मा के अभेद के कारण हम पर लद गया था नीचे गिर जाता है। ऐसी अवस्था में जब क्रोध ही नहीं रहता तब न उसे दबाने की आवश्यकता रहती है, न उसे प्रकट करने की आवश्यकता रहती है। तब ऐसा लगता है मानो कोई दूसरा क्रोध कर रहा है, और जैसे दूसरे-किसी को आगबबूला होते देख कर हमें हँसी आती है, वैसे अपने मन को क्रोध करते देख कर मनुष्य हँसने लगता है। वैसे यह तो हर-किसी के अनुभव की बात है कि जब मनुष्य को क्रोध आये या वह किसी मानसिक-विकार के अभिभूत हो जाय, तब अगर वह क्रोध का विश्लेषण करने लग जाए, मनोविकार पर ऊहा-पोह करने लग जाय, तो न क्रोध टिकता है, न दूसरा कोई मनोविकार टिकता है, मानसिक-अवस्था ही बदल जाती है। क्यों बदल जाती है? इसलिए बदल जाती है क्योंकि तब हम क्रोध या मानसिक-विकार को अपने से अलग करके देखने लगते हैं। अपने से अलग करके देखने लगना ही मन तथा आत्मा के भेद

को समझने लगता है। मन तथा आत्मा को अलग-अलग समझ लेने के सिद्धान्त की यही व्यावहारिक उपयोगिता है कि इससे मनुष्य मानसिक-विकारों से ऊपर उठ जाता है।

मन तथा आत्मा के भेद को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जैसे शरीर को मन द्रष्टा बन कर देखता है, वैसे मन को आत्मा द्रष्टा बन कर देख सकता है। शरीर दृश्य है, मन द्रष्टा है; ठीक इसी तरह मन—संकल्प-विकल्प—दृश्य है, आत्मा द्रष्टा है। जैसे शरीर तथा मन में भेद है, वैसे मन तथा आत्मा में भेद है। इस स्थल पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। प्रश्न यह है कि हमने अनेक स्थानों पर लिखा है कि सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार मन प्रकृति का परिणाम है, प्रकृति का परिणाम होने के कारण यह भौतिक है, अगर मन भौतिक है, तो मन शरीर का द्रष्टा कैसे हो सकता है? अभौतिक तो भौतिक का द्रष्टा, भोक्ता हो सकता है, भौतिक भौतिक का द्रष्टा, भोक्ता कैसे हो सकता है? द्रष्टा और भोक्ता होने के लिए चेतनता चाहिए, जो वस्तु भौतिक है वह चेतन नहीं होती। इस प्रश्न का उत्तर भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से निम्न है :

(i) भौतिकवादी दृष्टिकोण से उत्तर—भौतिकवाद के दो पक्ष हैं। एक पक्ष तो मन अथवा आत्मा को मानता नहीं, सिर्फ़ 'तन्त्रिका-तन्त्र' (Nervous system) को मानता है। उनकी दृष्टि से इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है, उनकी दृष्टि से शरीर में द्रष्टा तथा दृश्य का भेद नहीं हो सकता, न वे आध्यात्मिक झमेले में पड़ते हैं। दूसरा भौतिकवादी पक्ष मन को मानता है, उसे भौतिक नहीं मानता। इस दृष्टि से जिस शंका का हमने ऊपर उल्लेख किया, वह शंका उठती ही नहीं क्योंकि अगर मन अभौतिक है, चेतन है, तो चेतन द्रष्टा हो सकता है, भले ही वह भौतिक-शरीर का द्रष्टा हो।

(ii) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से उत्तर—भौतिकवाद की तरह अध्यात्मवाद के भी दो पक्ष हैं। एक तो वैशेषिक, न्याय आदि दर्शनों का पक्ष है, दूसरा सांख्य-दर्शन का पक्ष है। वैशेषिक तथा न्याय मन को भौतिक नहीं मानते, अभौतिक मानते हैं। अगर मन अभौतिक है, तो वह चेतन है, चेतन है तो द्रष्टा, भोक्ता हो सकता है। सांख्य-दर्शन मन को प्रकृति का परिणाम मानता है; अगर वह प्रकृति के विकार का परिणाम है तो वह अभौतिक न रह कर भौतिक हो जाता है; भौतिक हो जाता है तो चेतन नहीं रहता; चेतन नहीं रहता तो वह न द्रष्टा बन सकता है, न भोक्ता बन सकता है; अगर मन द्रष्टा-भोक्ता नहीं बन सकता, तो जहाँ तक सांख्य का दृष्टिकोण है हमारी सारी फ़िलासफ़ी ढह जाती है।

परन्तु ऐसी बात नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि सांख्य की दृष्टि से मन भौतिक है, परन्तु क्या हम देखते नहीं कि भौतिक-शरीर संसार के भौतिक-विषयों के प्रति द्रष्टा है, भोक्ता है; शरीर 'कर्त्ता' (Subject) है, संसार के विषय 'कर्म' (Objects) हैं। जैसे आँख, कान भौतिक होते हुए दृश्य तथा श्रव्य विषयों के प्रति द्रष्टा-भोक्ता हैं, वैसे भौतिक-शरीर के प्रति भौतिक-मन द्रष्टा-भोक्ता है, भौतिक-मन के प्रति अभौतिक-आत्मा द्रष्टा-भोक्ता है। परन्तु, फिर प्रश्न जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह जाता है। मूल-प्रश्न तो यह है कि भौतिक भौतिक के प्रति द्रष्टा-भोक्ता कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर सांख्य की दृष्टि से यह है कि असली कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा तो आत्मा ही है, जो अभौतिक है, चेतन है, उसके सान्निध्य से मन में चेतना झलक आती है, इस चेतना की झलक से भौतिक तथा अचेतन मन अभौतिक तथा चेतन की तरह व्यवहार करने लगता है। सान्निध्य के कारण आत्मा की चेतनता मन में निक्षिप्त हो जाती है, मन की निक्षिप्त-चेतना शरीर में निक्षिप्त हो जाती है—शुद्ध अर्थों में आत्मा ही चेतन है, मन तथा शरीर अचेतन हैं।

कैमिस्ट्री में एक शब्द है—कैटेलिटिक एजेन्ट (Catalytic agent)। इसका अर्थ समझ लेने से स्पष्ट हो जायगा कि चेतन आत्मा के सान्निध्य से अचेतन मन तथा अचेतन शरीर चेतन की तरह कैसे व्यवहार करने लगते हैं। कैटेलिटिक-एजेन्ट वह तत्त्व है जो स्वयं तो नहीं बदलता, परन्तु अपने सान्निध्य से अन्य तत्त्वों में परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ, लोहे में जंग कैसे लग जाता है ? लोहा जब ऑक्सीजन के सम्पर्क में आता है तब जंग लग जाता है; लोहे पर जंग लगने में पानी कैटेलिस्ट (Catalyst) का काम करता है। मध्य-एशिया में मिस्र तथा इज़राइल को मिलाने में डॉ० किसिंजर 'कैटेलिटिक एजेन्ट' का काम करते रहे हैं। कल्पना कीजिये कि आपके दो मित्र हैं जो एक-दूसरे से अपरिचित हैं। आप उनका एक-दूसरे से परिचय करा कर छोड़ दें तो कुछ नहीं होता, उनमें मैत्री नहीं पैदा होती। उसके बाद आप उनके साथ शामिल हो जाएँ। आपके बीच में आ जाने से वे मित्र बन जाते हैं। दो वस्तुओं में अलग-अलग से जो गुण नहीं होते, तीसरी के सान्निध्य से उनमें वे गुण आ जाते हैं। ठीक इसी तरह न शरीर चेतन है, न मन चेतन है, आत्मा का सान्निध्य इन दोनों के प्रति कैटेलिस्ट (Catalyst) का काम करता है, और ये दोनों चेतन की तरह व्यवहार करने लगते हैं। इसी व्यवहार के कारण शरीर भी द्रष्टा-भोक्ता बन जाता है, मन भी दृष्टा-भोक्ता बन जाता है, आत्मा तो चेतन स्वरूप होने के कारण द्रष्टा-भोक्ता है ही। एक और उदाहरण लीजिए। चुम्बक लोहे को खींचता है, लोहा लोहे को नहीं खींचता। शुद्ध चुम्बक के सान्निध्य में लोहे के बाद लोहे की कतार रख दी जाय, तो सब लोहे चुम्बक का-सा व्यवहार करने

लगते हैं। यही वात भौतिक-शरीर तथा भौतिक-मन के अभौतिक एवं चेतन आत्मा के सान्निध्य में आने से हो जाती है, शरीर तथा मन अचेतन होते हुए भी द्रष्टा वन जाते हैं।

द्रष्टा-स्थिति को पाना हँसी-खेल नहीं है, अत्यन्त कठिन है, परन्तु इस स्थिति को पाकर ही मानसिक-समस्या का यथार्थ हल हो सकता है, इस स्थिति को पाकर ही मनुष्य निष्काम हो सकता है।

(क) क्या शरीर, मन तथा आत्मा का भेद अनुभव कर सकना सम्भव है—अगर शरीर तथा चेतना दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, तो यह सम्भव हो सकना चाहिए कि चेतना अपने को शरीर से अलग होकर साक्षी रूप से शरीर को देख सके; चेतना यह अनुभव कर सके कि यह रहा 'शरीर', और यह रहा 'चेतन-तत्त्व'। थोड़ा-सा भी विचार करने से प्रतीत होगा कि ऐसा सम्भव ही नहीं, ऐसा होना भी है। उदाहरणार्थ, मैं वच्चा था, फिर वालक हो गया, फिर युवा हो गया, फिर प्रौढ़ हो गया, फिर वृद्ध हो गया। मैं अपने भूत-काल के शरीर को स्मृति द्वारा देखता हूँ। मैं क्या देखता हूँ? मैं अपने वचपन के शरीर को, वालपन के, युवापन के, प्रौढ़पन के शरीर को स्मृति द्वारा देखता हूँ—वह 'मैं' —जो इस समय न वच्चा हूँ, न युवा हूँ। मैं इस समय अपने ही लिए 'साक्षी' वना हुआ हूँ, अपने ही लिए 'द्रष्टा' वना हुआ हूँ, अपने को अपने से भिन्न अनुभव कर रहा हूँ। जो वात भूत के विषय में कही जा सकती है वही भविष्यत् के विषय में कही जा सकती है। मैं जैसे स्मृति द्वारा, साक्षी और द्रष्टा वनकर, अव से पहले जो-कुछ 'मैं' था, उसे भी देख सकता हूँ, वैसे ही कल्पना द्वारा, आगे चल कर, भविष्य में, वीसियों वरस वाद जो-कुछ हो जाऊँगा, उसे देख सकता हूँ। इस प्रकार भविष्य में अपने को कल्पना द्वारा देखना चेतना का अपने को शरीर से भिन्न अनुभव करना है। यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है, ऐसा अनुभव करने के लिए व्यक्ति का दार्शनिक होना जरूरी नहीं है। जैसे भूत तथा भविष्यत् में आत्मा अपने को शरीर से भिन्न अनुभव करता है, वैसे ही वर्तमान में भी वह अपने को शरीर से भिन्न क्यों अनुभव नहीं कर सकता?

एक उदाहरण से यह वात और स्पष्ट हो जाएगी। नाटक में एक व्यक्ति शिवाजी का काम कर रहा है। वाहर से देखने पर वह शिवाजी वना हुआ है, परन्तु भीतर से वह जानता है कि वह शिवाजी नहीं है। काम तो सव वह शिवाजी के कर रहा है, फिर कैसे जानता है कि वह शिवाजी नहीं है? इसलिए जानता है क्योंकि शिवाजी के सव काम करता हुआ भी वह उन सव कामों से अपने को जुदा करके, 'साक्षी' वन कर, 'द्रष्टा' वन कर देख रहा है। नाटक का प्रत्येक पात्र इस वात को जानता है। जो इस वात जो अनुभव कर लेता है कि मनुष्य के भीतर भी एक नाटक खेला जा रहा है वह अपने चेतन-तत्त्व को शरीर

से पृथक् देख लेता है। तभी उपनिषद् ने चेतन-तत्त्व के विषय में कहा है—**'साक्षी, चेता, केवलो, निर्गुणश्च'**—शरीर के भीतर बैठा हुआ वह चेतन-तत्त्व 'साक्षी' (Witness) है—हमारे भीतर जो नाटक खेला जा रहा है उसे वह देख रहा है। आंग्ल कवि शेक्सपीयर ने इस भाव को बड़े उत्तम शब्दों में कहा है :

"All the world is a stage,
And all men and women merely players,
They have their exits and their entrances"
—(As You Like It, Act. ii, Sec. 7, 1)

—संसार एक नाटकशाला है जिसमें हम सब नाटक के पात्र हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने भी कुछ ऐसी-ही बात कही है—**'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया'**—हम सबको वह यन्त्र पर चढ़ी पुतलियों की तरह नचा रहा है। शेक्सपीयर तथा गीता के वाक्यों में इतना और जोड़ देने की गुंजाइश है कि संसार ही एक नाटकशाला नहीं, प्रत्येक मनुष्य का भीतरी-जीवन भी एक नाटकशाला है जिसमें बैठा चेतन-तत्त्व मन तथा शरीर के खेल को द्रष्टा बन कर देख रहा है।

10. 'मन', 'आत्मा', 'चेतना' तथा 'ईश्वर' में भेद

मन, आत्मा तथा चेतना—ये तीनों शब्द ऐसे हैं जो एक-दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि उनमें भेद कर सकना कठिन है। फिर भी इन तीनों को एक-दूसरे से भिन्न मान लेने से कुछ तथ्य ज्यादा सुलझ जाते हैं। जैसा हम पहले कह आए हैं, सांख्य की दृष्टि से मन भौतिक है, एक दृष्टि से 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous-system) ही मन है। मन भौतिक है, चेतना तथा आत्मा अभौतिक हैं—मन एक कोटि में और चेतना तथा आत्मा दूसरी कोटि में हैं। अब प्रश्न यह है कि चेतना तथा आत्मा में क्या समानता तथा क्या भेद है? 'चेतना' (Consciousness) तथा 'आत्मा' (Soul)—ये दोनों अभौतिक हैं—'मन' से, जो तंत्रिका-तंत्र का ही दूसरा नाम कहा जा सकता है, उससे भिन्न हैं, परन्तु अभौतिकता का गुण दोनों में समान होने के कारण, एक-दूसरे के समान हैं। 'चेतना' तथा 'आत्मा'—ये दोनों जहां अभौतिक हैं वहां चेतन भी हैं, इस कारण ये 'मन' से तो भिन्न हैं, परन्तु चेतनता के गुण के कारण जो दोनों में पाया जाता है, एक-दूसरे के समान हैं। ध्यान में लाने की बात यह है कि इन समानताओं के होते हुए भी 'चेतना' तथा 'आत्मा' एक-दूसरे से भिन्न हैं। 'चेतना' (Consciousness) सब जगह व्याप्त है, सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, यह व्यापक-सत्ता है, सीमित-सत्ता नहीं है, जहाँ-जहाँ जीवन है—जीवन, अर्थात् जहाँ-जहाँ वृद्धि और विकास है—घास में, पात में—उस हर जगह 'चेतना' है, 'चेतना' जो 'समष्टि' का गुण है; 'आत्मा'

—'प्रत्यय'—आते-जाते रहते हैं। मन एक 'खाली-पट्टी' (Tabula rasa) के समान है। ज्यों-ज्यों हम संसार के विषयों के सम्पर्क में आते हैं, त्यों-त्यों इस पट्टी पर 'प्रत्ययों' (Ideas) के संस्कार पड़ते जाते हैं। इन 'प्रत्ययों' का आपस में सम्बन्ध जुड़ जाता है। सम्बन्ध जुड़ने के अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य हैं—'आवृत्ति'—प्रत्यय का बारबार आना—(Frequency), 'आसन्नता'—(Recency), 'सजीवता'—(Vividness) आदि। आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं, प्रत्ययों का आपस में सम्बन्ध जुड़ जाना मात्र है। इन प्रत्ययों को ही 'चेतना' कहा जा सकता है। हमें आत्मा की अनुभूति नहीं होती, 'चेतना' की अनुभूति होती है, 'चेतना' आत्मा की तरह कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। अभी एक प्रत्यय आया, फिर दूसरा आ गया, इनको एक सूत्र में बाँधने वाला कोई तत्त्व नहीं है, ये सिर्फ़ एक-दूसरे से उक्त कारणों के कारण जुड़े रहते हैं, इनका आपस में 'कारण-कार्य' (Causation) का भी सम्बन्ध नहीं है। यह विचार जॉन लौक (1662-1704) तथा डेविड ह्यूम (1711-1776) ने दिया।

जॉन लौक तथा डेविड ह्यूम से बहुत पहले बौद्ध-धर्म में महात्मा बुद्ध (563-483 ई० पू०) ने भी आत्मा के विषय में इसी विचार का प्रतिपादन किया था। बौद्ध-धर्म में आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता, आत्मा के सम्बन्ध में बौद्धों का सिद्धान्त 'नैरात्म्यवाद' कहलाता है। उनका कहना है कि जैसे नदी की अनविच्छिन्न-धारा बहती चली जाती है, इस क्षण जो जल है अगले क्षण वह वह नहीं है, जैसे दीप-शिखा अनवरत प्रज्वलित हो रही है, इस क्षण जो शिखा है अगले क्षण वह वह नहीं है, वैसे ही चेतना का प्रवाह हमारे भीतर प्रवाहित हो रहा है। मिलिन्द पन्हो में आत्मा के विषय में नागार्जुन तथा यवन राजा मिलिन्द का वार्तालाप पाया जाता है। मिलिन्द ने नागार्जुन से पूछा—आत्मा क्या है ? उत्तर में नागार्जुन ने राजा से पूछा—रथ क्या है ? क्या दण्ड, क्या पहिए रथ हैं, क्या लगाम रथ है, क्या चाबुक रथ है ? राजा को कहना पड़ा कि न दण्ड रथ है, न पहिये रथ हैं, न लगाम, न चाबुक, इन सबके जोड़ का नाम रथ कह दिया जाता है। नागसेन ने कहा—यही बात 'आत्मा' के विषय में समझो। लौक तथा ह्यूम का कहना था कि आत्मा की स्वतंत्र सत्ता नहीं, विचार, प्रत्यय की ही सत्ता है, प्रत्यय चेतना का ही दूसरा नाम है, इसी तरह नागार्जुन का कथन है कि आत्मा की सत्ता नहीं, चेतना के भिन्न-भिन्न अंगों की सत्ता है। चेतना के भिन्न-भिन्न अंगों को बौद्ध-दर्शन में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—इन पाँच अवयवों में बाँटा गया है, इनका पारिभाषिक नाम 'स्कन्ध' है, इसलिए 'पंचस्कन्ध' को ही 'आत्मा' कह दिया जाता है, जैसे लौक तथा ह्यूम के कथनानुसार 'प्रत्ययों के साहचर्य' (Association of Ideas) को भ्रमवश हम आत्मा कह देते हैं।

बौद्धों के दार्शनिक-सिद्धान्तों में एक मुख्य सिद्धान्त 'संघातवाद' का है। अभी हमने जिन पंचस्कंधों का उल्लेख किया वह 'संघातवाद' का ही उदाहरण है। 'संघात'—अर्थात्, जोड़, पुंज। बौद्धों की दृष्टि में आत्मा की स्वतन्त्र रूप में कोई सत्ता नहीं है—पांच स्कन्धों के संघात को, पुंज को, जोड़ को ही आत्मा कह देते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है—'स्कन्धों के संघात' के पांच 'स्कन्ध' हैं—'रूप', 'वेदना', 'संज्ञा', 'संस्कार' तथा 'विज्ञान'।

'रूप' क्या है ? जो वस्तु दीखती हो, पकड़ में आती हो, भारी हो, जगह घेरती हो, वह रूप है। पृथिवी, अप्, तेज, वायु—ये रूपात्मक हैं, इनसे बना शरीर भी रूपात्मक है। पांच स्कन्धों का यह पहला स्कन्ध है। रूप-स्कन्ध के अलावा जो वस्तु दीखती नहीं, पकड़ में नहीं आती, जिसका भार नहीं, जो जगह नहीं घेरती, वह 'नाम' कहलाती है। वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये चार 'स्कन्ध' नाम में आ जाते हैं। बौद्धों का कहना है कि इस प्रकार रूप और नाम के संघात को आत्मा कह देते हैं—संक्षेप में, आत्मा की स्वतन्त्र तौर पर अपनी कोई सत्ता नहीं है।

'रूप' का उल्लेख हमने ऊपर किया। 'नाम' में वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—ये अरूपात्मक मानसिक-वृत्तियां आ जाती हैं, 'अरूपात्मक' इसलिए क्योंकि इनका 'रूप' नहीं है।

'वेदना' क्या है ? रूपात्मक वस्तु से किसी को सुख होता है, किसी को दुःख होता है, रूपात्मक वस्तु के प्रति इस प्रकार का अनुभव 'वेदना' कहलाती है। 'वेदना' का स्वयं कोई रूप नहीं है, इसलिए यह अरूपात्मक है।

'संज्ञा' क्या है ? रूपात्मक वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करने पर जो प्रतीति होती है वह 'संज्ञा' है। 'संज्ञा' का स्वयं कोई रूप नहीं है।

'संस्कार' क्या है ? वेदना या संज्ञा का स्मृति में अंकित हो जाना 'संस्कार' कहलाता है।

'विज्ञान' क्या है ? हमारे भीतर जो चैतन्य-गुण है, वह 'विज्ञान' है। वस्तु का सविकल्पक तथा सगुण प्रत्यक्ष 'संज्ञा' कहलाती है, निर्विकल्पक तथा निर्गुण प्रत्यक्ष 'विज्ञान' कहलाता है।

बौद्धों के संघातवाद के अनुसार आत्मा की स्वतन्त्र रूप में कोई सत्ता नहीं है, उक्त पांच स्कन्धों के जोड़ को ही आत्मा का नाम दे दिया जाता है, जोड़ने वाली कोई सत्ता—जैसे मनकों में सूत्र—ऐसी 'आत्मा' नाम की कोई सत्ता नहीं हैं—इसी को **'नैरात्म्यवाद'** कहते हैं।

बौद्ध-दार्शनिक 'स्कन्धों' के पुंज की और पाश्चात्य-दार्शनिक 'प्रत्ययों' के पुंज की पृथक्-पृथक् सत्ता मानते हैं, आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं समझते। ये 'प्रत्यय', ये 'स्कन्ध' ही चेतना के रूप हैं।

परन्तु क्या 'आत्मा' की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है ? क्या चेतना का ही नदी की धार की तरह, दीप-शिखा के ज्वलन की तरह, प्रत्ययों के सहचार की तरह प्रवाह बह रहा है, इनके जोड़ को, पुंज को ही भ्रमवश हम आत्मा का नाम दे देते हैं, या आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, और जिन्हें हम 'स्कन्ध' कहते हैं, 'प्रत्यय' कहते हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं, वे आत्मा के गुण हैं।

डेकार्ट (1596-1650) का हम पहले भी उल्लेख कर आए हैं। उसका कहना है कि मान भी लें कि आत्मा नहीं है, तो भी यह तो मानना पड़ता है कि मैं सन्देह करता हूँ कि आत्मा है या नहीं है। अगर यह मान लिया जाय कि मैं सन्देह करता हूँ, तो विवश होकर यह मानना पड़ेगा कि मैं विचार करता हूँ। जो विचार करेगा वही तो सन्देह कर सकेगा कि मैं हूँ या नहीं हूँ। अगर मैं विचार करता हूँ, तो यह निश्चित हो गया कि मैं हूँ—(I doubt, this is absolutely certain. Now, to doubt is to think. Hence, it is certain that I think. To think is to exist. Hence it is certain that I exist)—डेकार्ट की आत्मा-सिद्धि की इस युक्ति को—Cognito ergo sum—कहा जाता है—'मैं विचार करता हूँ, इसलिए मैं हूँ'।

चेतन-तत्त्व की सत्ता सिद्ध करते हुए जर्मन विचारक शोपनहॉर का कथन है कि चेतन-तत्त्व मौजूद है इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता, इतना ही कहा जा सकता है कि चेतन-तत्त्व जड़-प्रकृति का, दूसरे शब्दों में 'मन' (Mind) 'भौतिक-तत्त्व' (Matter) का ही परिणाम है। उसका कहना है कि हम 'मन' को जड़-प्रकृति का परिणाम कैसे मान सकते हैं जब प्रकृति का ज्ञान ही हमें मन के द्वारा होता है—'How can we explain mind as matter, when we know matter only through mind'—(देखो—The Story of Philosophy : Will Druant द्वारा लिखित, पृ० 337)।

आत्मा के विषय में शंकराचार्य की विचारधारा का उल्लेख करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' (पृ० 348) में लिखते हैं: "वर्तमान को इस समय मैं जानता हूँ, अतीत को मैंने जाना, अनागत को मैं जानूँगा—इस अनुभव परम्परा में ज्ञातव्य-वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का रूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है। शंकराचार्य ने अन्यत्र इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि **'मैं नहीं हूँ'**। यदि आत्मा न होता, तो सब किसी को अपने न रहने में विश्वास होता, परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं। अतः आत्मा की स्वतःसिद्धि माननी ही पड़ती है।"

'आत्मा'-शब्द का अर्थ ही यह है—'आत्मानं जानातीति आत्मा'—अर्थात्, जिसे अपने-आप की प्रतीति हो वह 'आत्मा' है। यह डेकार्ट के उक्त कहने के समान है कि क्योंकि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ। बृहदारण्यक (2 अध्याय, 14) में भी याज्ञवल्क्य ने आत्मा के लिए इसी युक्ति का उपयोग किया है। वहाँ लिखा है : **'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्'**—जो जान रहा है उसे किसी दूसरे से कैसे जाना जा सकता है, अर्थात्—'मैं जान रहा हूँ'—इतना ही क्या आत्मा के स्वतन्त्र-अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

बौद्धों, लौक तथा ह्यूम का यह कहना कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है, चेतना का प्रवाह हो रहा है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है—भ्रान्तिमूलक विचार है। 'मैं' का सूत्र चेतना के सब अनुभवों में मौजूद रहता है। बचपन में जो मैं था, युवावस्था में जो मैं था, वृद्धावस्था में जो मैं रहूँगा—ये सब 'मैं' अगर प्रत्यय-मात्र हैं, अगर नदी के जल के प्रवाह मात्र हैं, अगर दीप-शिखा की क्षण-क्षण बदल रही ज्वालामात्र हैं, तो बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था एक ही व्यक्ति की कैसे हो सकती है, इन सबमें 'मैं-पन' कैसे हो सकता है ? नदी के प्रवाह को एक बनाने वाला उसका धरातल है, दीप-शिखा को एक बनाने वाला दीया, तेल तथा बत्ती है। हमारे भिन्न-भिन्न प्रत्ययों को एक कौन बना देता है ? सात साल में शरीर के सब अंश बदल जाते हैं, हर साल नया शरीर बन जाता है, फिर इस शरीर में एकता की अनुभूति कैसे बनी रहती है। नदी तथा दीप-शिखा में हमें एकता का जो अनुभव होता है, वह मिथ्या हो सकता है, परन्तु हमें तो अपने भीतर ही शरीर के अणु-अणु के बदल जाने पर भी 'मैं वही हूँ' का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। यह ज्ञान बिना आत्मा के स्वतन्त्र-अस्तित्व को माने नहीं बन सकता। याज्ञवल्क्य, शंकराचार्य तथा डेकार्ट की आत्म-सिद्धि-विषयक इस युक्ति का आज तक भौतिकवादियों ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त ह्यूम ने तो 'कारण-कार्य के नियम' (Law of Causation) को भी मानने से इन्कार कर दिया है। उसका कहना है कि एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय आ जाता है, उनके सम्बन्ध को ही हम कारण-कार्य कह देते हैं, उनके मिलाने वाला, प्रत्ययों को जोड़ने वाला आत्मा जैसा कोई स्थिर कारण नहीं है। यह एक अत्यन्त क्लिष्ट-कल्पना है क्योंकि कारण-कार्य के नियम पर ही शंका कर देने से विज्ञान का सारा ढाँचा ही ढह जाता है।

सोऽयमात्मा चतुष्पात् (माण्डूक्योपनिषद्, 2)

'चेतना' पर इस अध्याय में कुछ गहरा विचार किया गया है। सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या 'चेतना'—'जीवन'—Life—'प्रकृति' (Matter) से उत्पन्न होती है, या जीवन जीवन से ही उत्पन्न हो सकता है ? इस सम्बन्ध में 'अजीवनात्-जनन' (Abiogenesis) तथा 'जीवनात्-जनन' (Biogenesis)—ये दो विचारधाराएँ हैं। भौतिकवादी कहते हैं कि प्रकृति से, स्वयं, अकस्मात् जीवन उत्पन्न हो जाता है, जैसे गोबर में से कीड़े रेंगने लगते हैं, परन्तु अध्यात्म-वादियों का कहना है कि जहाँ अजीवन से जीवन प्रकट होता प्रतीत होता है, वहाँ सूक्ष्म-रूप में—जर्म आदि के तौर पर—जीवन पहले से मौजूद होता है। भौतिकवादी 'चेतना' की उत्पत्ति मानते हैं, अध्यात्मवादी 'चेतना' को नित्य मानते हैं।

'चेतना' के सम्बन्ध में माण्डूक्योपनिषद् में विचार करते हुए उसकी चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—इसी का उद्धरण देते हुए हमने ऊपर '**सोऽयमात्मा चतुष्पात्**' लिखा है। पाश्चात्य-

मनोविज्ञान का आधार-स्तम्भ फ्रॉयड का मनोविश्लेषणवाद (Psycho-analysis) है। इस वाद की परिभाषा में उपनिषद् की जागृतावस्था को 'सचेतनावस्था' (Conscious state), स्वप्नावस्था को 'अवचेतनावस्था' (Sub-conscious state) तथा सुषुप्तावस्था को 'अचेतनावस्था' (Unconscious state) कहा जा सकता है। उपनिषद् की तुरीयावस्था का मनोविश्लेषणवाद में ज़िक्र नहीं है। मनोविश्लेषणवाद 'अचेतन' (Unconscious) तक जाकर जिसमें गन्द भरा रहता है, अटक जाता है, औपनिषदिक-विचार गन्द भरे मन से आगे निकल कर 'तुरीयावस्था' में जा पहुँचता है जिसमें जाकर विश्व-चेतना से सम्पर्क हो जाता है—विश्व-चेतना जिसे हमने समष्टि-चेतना कहा है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जहाँ पहुँच कर आत्मा का आनन्दमय के साथ सम्पर्क हो जाता है। इस सम्बन्ध में हमने निद्रा का आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक प्रयोगात्मक वर्णन किया है जिससे सिद्ध होता है कि स्वस्थ-निद्रा वह अवस्था है जिसमें आत्मा शरीर तथा संसार का साथ छोड़ कर सृष्टि के अन्तराल में छलछलाते आनन्द के समुद्र में गोते खाकर जब शरीर में लौटता है तब आनन्द-विभोर होता है, तभी सुषुप्ति से लौट कर वह कहता है—ऐसा आनन्द आया जैसा संसार के विषयों के उपभोग से कभी नहीं मिला।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय का वाणी के वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा स्तर के साथ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को बनाये रखने वाला सूत्र 'ओंकार' है। किस तरह 'ओंकार' का जाप वाणी के परा-स्तर में आने पर चेतना के तुरीय-स्तर को छूता है—इस सम्बन्ध में इस अध्याय में चर्चा है। चेतना की सुषुप्ति या तुरीय-अवस्था अनजाने सब की होती है, यह अनजानी अवस्था इस बात की सूचक है कि ध्यानपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक भी वही अवस्था लायी जा सकती है। उसी को 'समाधि' कहते हैं। यही यथार्थ अध्यात्मवाद है, अपने को ब्रह्म कह देना मात्र अध्यात्मवाद नहीं है।

इसी प्रकरण में फ्रॉयड के 'मनोविश्लेषणवाद' (Psycho-analysis) तथा एडलर के 'व्यष्टि-मनोविज्ञान' (Individual Psychology) की चर्चा करते हुए 'लिबिडो' (Libido) की 'काम' से, एडलर के 'स्वाग्रह' (Self-assertion) की 'अहंकार' से तुलना करते हुए 'पुत्रैषणा'-'वित्तैषणा'-'लोकैषणा' पर इस अध्याय में तुलनात्मक प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय

चेतना

(CONSCIOUSNESS)

पिछले तीन अध्यायों में हमने देखा कि 'मन' क्या है, 'आत्मा' क्या है, इन दोनों में भेद क्या है। 'मन' तथा 'आत्मा' के विषय में हमने जो-कुछ जाना, उससे आगे भी जानने लायक कुछ रह जाता है। संसार में दो तत्त्व तो साक्षात् दीखते हैं—जड़ तथा चेतन। जड़ 'प्रकृति' का नाम है, चेतन में 'आत्मा' तथा 'परमात्मा' आ जाते हैं। 'मन' को हमने सांख्य के दृष्टिकोण से प्रकृति की परिणति कहा है, 'तन्त्रिका-तन्त्र' का ही गुण कहा है। 'परमात्मा' पर तो अगले अध्याय में लिखेंगे, 'मन' तथा 'आत्मा' पर पहले लिख आये हैं। 'मन' तंत्रिका-तंत्र है, आधिभौतिक है, परन्तु 'आत्मा' सिर्फ़ 'तन्त्रिका-तन्त्र' नहीं, आधिभौतिक नहीं, आधिभौतिक से भिन्न आध्यात्मिक-सत्ता है। इस आध्यात्मिक-सत्त ाको हमने 'चेतना' नहीं कहा, 'आत्मा' कहा है। तो फिर, 'चेतना' क्या है? चेतना पर हम कुछ पिछले अध्याय में लिख आये हैं, कुछ विशेष यहाँ लिखेंगे।

1. चेतना क्या है—क्या चेतना प्रकृति से उत्पन्न होती है ?

संसार में हमें दो तत्त्व दीखते हैं—जड़ तथा चेतन। जितने प्राकृतिक-पदार्थ हैं, वे सब जड़ हैं; इन जड़-पदार्थों के अतिरिक्त हमें चेतना भी दिखलाई पड़ती है, जितने प्राणी हैं वे चेतन हैं। चेतना को हमने दो भागों में बाँट रखा है—आत्मा तथा परमात्मा। इस प्रकार इन तीन तत्त्वों पर ही सब विचारक घूमा करते हैं। भौतिकवादी चेतना को नहीं मानते, उनका कहना है कि जड़-प्रकृति की ही यथार्थ-सत्ता है, विकास की प्रक्रिया होते-होते जड़ से ही चेतना का विकास हो जाता है; इसके विपरीत अध्यात्मवादियों में से वेदान्ती जड़-प्रकृति को नहीं मानते, उनका कहना है कि चेतना ही जड़ रूप हो जाती है, भले ही वे उसे लीला कहें, माया कहें, भ्रम कहें। हम यहाँ क्योंकि चेतना की चर्चा कर रहे हैं, इसलिए इस प्रकरण में यह विचार करना आवश्यक है कि क्या जड़-प्रकृति से चेतन-सत्ता का विकास हुआ है, या चेतन की जड़-प्रकृति से पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता है, भले ही वह 'आत्मा' के रूप में हो, 'परमात्मा' के रूप में हो, या सिर्फ़ 'चेतना' के रूप में हो।

भौतिकवादी कहते हैं कि जड़-प्रकृति से ही चेतना उत्पन्न हो जाती है—इस विचार को अंग्रेज़ी में Abiogenesis—'अजीवनात्-जनन'—कहते हैं; अध्यात्मवादी कहते हैं कि चेतन से ही चेतन उत्पन्न हो सकता है, दीये से ही दीया जल सकता है, जड़ से जड़ तो बन सकता है, चेतन नहीं बन सकता—इस विचार को अंग्रेज़ी में Biogenesis—'जीवनात्-जनन'—कहते हैं—अर्थात्, Living matter can arise only from living matter.

अगर जड़ से चेतन उत्पन्न हो सकता है, तो अध्यात्मवादियों का सारा महल ढह जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसा हो भी सकता है ? तर्क यह कहता है कि यह बात युक्ति के सर्वथा विरुद्ध है। जड़ से चेतन तभी उत्पन्न हो सकता है अगर जड़ में चेतन पहले से मौजूद हो। बीज से वृक्ष पैदा होता है क्योंकि सूक्ष्म-रूप में वृक्ष बीज में पहले से मौजूद होता है। अगर चेतन, सूक्ष्म-रूप में, बीज-रूप में, जड़ में पहले से ही मौजूद है, तो जड़ जड़ नहीं रहा, चेतन हो गया; अगर मौजूद नहीं है, तो जड़ से चेतन किसी हालत में पैदा नहीं हो सकता। दर्शनशास्त्र का सिद्धान्त है—**'कारण-गुण पूर्वक: कार्य-गुणो दृष्ट:'** (वैशेषिक दर्शन, 1, 2, 24)—कार्य में जो गुण हों वे पहले से कारण में होना ज़रूरी है। जब कार्य-रूप जड़ में चेतना है ही नहीं, तब जड़-प्रकृति से चेतना पैदा कैसे हो सकती है ? कहा जा सकता है कि प्रयोगों के आधार पर देखा गया है कि जड़ वस्तु से चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे गोबर में कीड़े। यह दृष्टान्त भ्रान्तिमूलक है क्योंकि गोबर में या जहाँ-कहीं भी किसी जड़ वस्तु में चेतना प्रकट होती है वहाँ जर्म (Germs) पहले से मौजूद होते हैं। ये सब बातें तभी कही जाती हैं जब चेतना के प्रकट होने के सिद्धान्त को ठीक तौर से न समझा जाए। चेतना कब और कहाँ प्रकट होती है ? चेतना अपने को भौतिक-तत्त्व में तब और वहाँ प्रकट करती है जब और जहाँ उसके प्रकट होने के सब साधन मौजूद हों। स्त्री के गर्भाशय में ऐसी परिस्थिति मौजूद होती है कि वहाँ पुरुष के शुक्राणु अगर स्त्री के अंडाणु के साथ सम्पर्क में आएँ, तो जीवात्मा उचित परिस्थिति के कारण वहाँ प्रवेश कर जाता है, अगर यह ही परिस्थिति गर्भाशय के बाहर कहीं उपस्थित कर ली जाय, तो जीवात्मा वहाँ प्रवेश कर जायगा। आवश्यक शर्त उचित परिस्थिति है। परख-नली में बच्चों के उत्पन्न होने (Test-tube babies) की बात से कुछ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उत्पत्ति का सम्बन्ध गर्भाशय से नहीं, परिस्थिति से है। सब बातों की एक बात यह है कि अभी तक जड़ से किसी चेतन की उत्पत्ति नहीं हुई, चेतन से ही चेतन की उत्पत्ति—'जीवनात् जनन'—(Biogenesis) देखी जाती है, अगर कोई दृष्टान्त जड़ से चेतन की उत्पत्ति का कभी मिलेगा, तो भी वहाँ यही कहा जा सकेगा कि क्योंकि तुमने चेतन के प्रकट होने की परिस्थिति उत्पन्न कर दी, इसलिए वह वहाँ अनुकूल

परिस्थिति पाकर प्रकट हो गया, जड़ से उत्पन्न नहीं हुआ। जड़ को कितना ही सूक्ष्म करते जाएँ, परमाणुओं तक चले जाएँ, उसमें कहीं चेतना प्रकट नहीं होती। भौतिकी-विज्ञान (Physics) ने जड़ का विश्लेषण करते-करते यही तो पता लगाया है कि प्रत्येक जड़ वस्तु परमाणुओं से बनी है, परमाणु की रचना इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन—इन विद्युत्कणों से बनी है जो शक्ति-रूप न्यूक्लिअस के गिर्द सौर-मण्डल की तरह चक्कर काटते हैं। प्रत्येक भौतिक-वस्तु की रचना में ये ही तत्त्व हैं, इनकी संख्या में भेद से वस्तु का भेद हो जाता है। ये विद्युत्कण 'धनात्मक' (Positive) तथा 'ऋणात्मक' (Negative) कहलाते हैं; धनात्मक के गिर्द ऋणात्मक तीव्र वेग से चक्कर काटता है। 'प्रकृति' (Matter) सिर्फ़ धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत्कण हैं, ऊर्जामात्र (Energy) हैं। परन्तु 'प्रकृति'—'भौतिक-द्रव्य'—(Matter) के इस सम्पूर्ण विवेचन में वह बिन्दु कहीं नहीं मिला जहाँ कहा जा सके कि प्रकृति का विश्लेषण करते-करते यह रहा वह स्थल जहाँ प्रकृति में चेतना उपलब्ध हो गई। प्रकृति के विश्लेषण से वह ऊर्जा में तो विश्लिष्ट हो गई, परन्तु ऊर्जा चेतना में विश्लिष्ट नहीं हुई, जड़ तथा चेतन का भेद जो स्थूल रूप में मौजूद था, वह प्रकृति की सूक्ष्मतम अवस्था में जहाँ मैटर टूटता-टूटता 'ऊर्जा' (Energy) में बदल गया—वहाँ भी वह भेद वैसे-का-वैसा बना रहा क्योंकि एनर्जी भी तो मैटर का ही एक रूप है। ऐसी हालत में 'चेतना' की 'जड़' से स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ जाती है।

2. चेतना के विषय में शास्त्रीय-विचार

माण्डूक्य उपनिषद् में 'चेतना' की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। चेतना की 'जाग्रत-अवस्था' वह है जो हमें प्रत्यक्ष रूप में दिखलाई देती है। हम जागते हैं, उठते-बैठते हैं, बोलते-चालते, खाते-पीते हैं। यह जाग्रत-अवस्था है जिसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-परिभाषा में 'सचेतनावस्था' (Conscious state) कहा जा सकता है। चेतना की द्वितीय अवस्था वह है जिसे शास्त्रों में 'स्वप्नावस्था' या पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-परिभाषा में 'अव-चेतनावस्था' (Sub-conscious state) कहा जा सकता है। चेतना की तृतीय-अवस्था वह है जिसे शास्त्रों में 'सुषुप्ति-अवस्था' या पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-परिभाषा में 'अचेतनावस्था' (Un-conscious state) कहा जा सकता है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान में चेतना की चतुर्थ-अवस्था का कोई ज़िक्र नहीं है, परन्तु माण्डूक्य उपनिषद् में जहाँ चेतना की अवस्थाओं का उल्लेख है, चेतना की एक चतुर्थ-अवस्था का वर्णन आता है जिसे वहाँ चेतना की 'तुरीयावस्था' (Supra-conscious state or Transcendental state) का नाम दिया गया है।

पहले हम चेतना के सम्बन्ध में औपनिषदिक विचार पर प्रकाश डालेंगे, फिर चेतना के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-विचारधारा पर कुछ लिखेंगे।

'चेतना' पर अलग-से लिखने की आवश्यकता क्यों हुई—इसका विशेष कारण है। 'मन' पर लिखते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका एक अलग-से कोई स्वरूप है, उसकी भाव-वाचक सत्ता न होकर व्यक्तित्व-बोधक सत्ता है; आत्मा तथा परमात्मा पर लिखते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनका कोई स्थूल स्वरूप है, उनकी व्यक्तित्व के रूप में एक पृथक् सत्ता है। इसी सत्ता, इसी व्यक्तित्व के सामने आते ही अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं। 'चेतना' का व्यक्तित्व के रूप में कोई स्वरूप नहीं प्रतीत होता यद्यपि चेतना की अनुभूति हर-किसी को होती है। कोई मन को माने या न माने, आत्मा को माने या न माने, परमात्मा को माने या न माने, चेतना के विषय में तो किसी को सन्देह ही नहीं होता। यद्यपि चेतना पर लिखना मन, आत्मा, परमात्मा पर लिखने के ही समान है, फिर भी 'चेतना' एक ऐसा शब्द है जो आत्मा तथा परमात्मा पर घटित होता हुआ भी उन पर उठने वाली शंकाओं से बहुत-कुछ मुक्त है। पिंड तथा ब्रह्मांड की चेतना जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति रूपों में हर-किसी के अनुभव में आती है, इसलिए आत्मा-परमात्मा की परिभाषा में बोलने के स्थान में वैदिक-संस्कृति ने चेतना की परिभाषा में भी सृष्टि के भीतर छिपे गूढ़-रहस्य को प्रकट किया है। मन, आत्मा, परमात्मा के सम्बन्ध में हर-किसी के भिन्न-भिन्न विचार बने हुए पाये जाते हैं। मन कहें तो एक खास चित्र हमारे सामने उठ खड़ा होता है, आत्मा कहें तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई के सामने एक दूसरा ही चित्र आ जाता है, परमात्मा कहें तो भी सबकी दृष्टि भिन्न-भिन्न पायी जाती है, परन्तु चेतना कहें तो आध्यात्मिक-सत्ताओं के विषय में हमारी बनी-बनाई कल्पनाएँ छँट जाती हैं, और धर्म के भक्तों तथा विज्ञान के उपासकों—सबके सामने एक ऐसी आध्यात्मिक-सत्ता का भान होने लगता है जिससे न धर्म का पंडित, न विज्ञान का दावेदार इन्कार कर सकता है। इसीलिए माण्डूक्योपनिषद् ने इस चेतन-शक्ति को 'प्रज्ञा' का नाम दिया है। चेतना का चेतन रूप ही 'प्रज्ञा'—ज्ञान—कहलाता है। चेतना, अर्थात् ज्ञान—Consciousness—के सम्बन्ध में यहाँ कुछ शास्त्रीय-चर्चा की जा रही है।

3. चेतना का जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय रूप

(क) जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) में चेतना (Conscious state)—माण्डूक्योपनिषद् का कहना है कि पिंड में—शरीर में—जब 'चेतना' प्रकट होती है तब चेतना को जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) में कहा जा सकता है, इसी तरह जब चेतना ब्रह्मांड में—प्रकृति में—इस संसार में—प्रकट होती है, तब भी

चेतना को जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) में कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जब शरीर चलता-फिरता है, बोलता-चालता है, काम करता है, लड़ता-झगड़ता है, तब यह कहा जा सकता है कि चेतना जाग गई है क्योंकि बिना चेतन-तत्व के शरीर जड़ है, न चल सकता है, न फिर सकता है, न बोल सकता है, न कोई काम कर सकता है, न लड़-झगड़ सकता है। चेतना के शरीर से निकल जाने पर हम शरीर को जला डालते हैं। शव को इसीलिए जला डालते हैं क्योंकि उसमें चेतना नहीं रहती। इसी तरह जब संसार में सूर्य-चन्द्र-तारा अपनी-अपनी परिधि पर नियमपूर्वक घूमते हैं, समुद्र में किन्हीं निश्चित नियमों से ज्वार-भाटा आता है, पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है, इन नियमों में कोई अपवाद नहीं दीखता, तब कहना पड़ता है कि चेतना विश्व में जाग उठी है, जाग्रतावस्था (सचेतनावस्था) में आ बैठी है। हम शरीर को क्रियाशील देख कर उस क्रियाशीलता में चेतना का मानो प्रत्यक्ष-दर्शन करते हैं, इसी तरह विश्व को दिन-रात अपने निश्चित क्रम में चलते हुए देख कर इस क्रम में भी एक चेतना के दर्शन होते हैं। इस प्रकार से पिंड तथा ब्रह्माण्ड में इनकी क्रियाशीलता के माध्यम से चेतना जाग उठती है और उसका इस प्रकार जाग उठना चेतना-शक्ति का प्रत्यक्ष-दर्शन है। इसी को जाग्रतावस्था या पाश्चात्य-मनोविज्ञान की परिभाषा में सचेतनावस्था (Conscious state) कहा जा सकता है।

(ख) स्वप्नावस्था (अवचेतनावस्था) में चेतना (Sub-conscious state)—स्वप्नावस्था अव-चेतना की अवस्था है। इसमें चेतना शान्त तो हो जाती है, परन्तु बिल्कुल शान्त नहीं होती। यह जाग्रत तथा सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। आँख खुली नहीं होती, पर फिर भी बिना खुले देख रही होती है; कान सुन नहीं रहे होते, परन्तु बिना शब्द के सुने सुन रहे होते हैं; मनुष्य दौड़ नहीं रहा होता, परन्तु बिना दौड़े दौड़ रहा होता है। इस समय स्थूल-देह काम नहीं कर रहा होता, परन्तु सूक्ष्म-शरीर, कारण-शरीर जिसमें स्थूल-शरीर के सब अंग सूक्ष्म-रूप में मौजूद रहते हैं, काम कर रहा होता है। यह सूक्ष्म-देह जो आत्मा के साथ सदा बना रहता है स्वप्नावस्था (अवचेतनावस्था) में स्थूल-देह की इन्द्रियों के क्रियाशील होने के बिना काम करता है क्योंकि हमारी क्रिया का प्रवाह आत्मा से सूक्ष्म-देह और सूक्ष्म-देह से स्थूल-देह में होता है। पिंड में—शरीर में—जैसे स्वप्नावस्था (अवचेतनावस्था) होती है, चेतना धुंधली-सी हो जाती है, स्वप्न आते हैं इसलिए चेतना बनी भी रहती है नहीं भी बनी रहती, वैसे ही ब्रह्माण्ड में—प्रकृति में, इस संसार में—रात आ जाने पर सब जगह अंधेरा छा जाता है, वृक्ष-पशु-पक्षी सब शान्त हो जाते हैं, मनुष्य की तरह प्रकृति भी सिमिट जाती है मानो सृष्टि में भर रही चेतना अपने जाग्रत-रूप से हट कर स्वप्न-रूप (अवचेतन—Sub-conscious—रूप) में जा विराजती है। जैसे पिंड

तथा ब्रह्माण्ड में चेतना के जाग्रत-रूप का हमने वर्णन किया, वैसे ही पिंड तथा ब्रह्माण्ड में चेतना का स्वप्न-रूप हो जाता है जिसे पाश्चात्य-मनोविज्ञान की परिभाषा में अव-चेतन-रूप (Sub-consciousness) कहा जा सकता है। उपनिषद्कार ने सृष्टि की कार्य-रूपावस्था को, उस अवस्था को जिसमें सृष्टि अपने भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई देती है—सूर्य है, चन्द्र है, पृथिवी है, तारे हैं, सृष्टि स्पष्ट आँखों से सामने दीख पड़ती है—इसे चेतना का जाग्रत-रूप (सचेतन-रूप) कहा है, और सृष्टि की कारण-रूपावस्था को—उस अवस्था को जिसमें सृष्टि महत्, अहंकार, पंच-तन्मात्र के 'कारण-रूप में' विलीन हो जाती है—चेतना का स्वप्न-रूप (अवचेतन—Sub-conscious—रूप) कहा है। जैसे चेतना के जाग्रत-रूप में स्थूल-जगत् वर्तमान रहता है, वैसे चेतना के स्वप्न-रूप (अवचेतन-रूप) में स्थूल-जगत् का सिर्फ़ नकशा बन कर रह जाता है।

(ग) **सुषुप्तावस्था (अचेतनावस्था) में चेतना** (Unconscious state)—स्वप्नावस्था के बाद चेतना का तीसरा रूप है जिसे सुषुप्तावस्था कहते हैं। इसे पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिकों ने अचेतनावस्था (Unconscious state) कहा है। जब हम जागते हुए होते हैं तब हमारी इन्द्रियों का तथा चेतना का सीधा सम्बन्ध बना रहता है, इसलिए इन्द्रियाँ बाह्य-जगत् के साथ सम्पर्क आने पर बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करती रहती हैं; जब हम सो जाते हैं तब चेतना से इन्द्रियों का सम्पर्क तो छूट जाता है परन्तु सूक्ष्म-शरीर के द्वारा चेतना का काम चलता रहता है और चेतना बिना आँख के देखती, बिना कान के सुनती, बिना स्थूल-इन्द्रियों के सब काम करती है, तब स्वप्न आते हैं—यह चेतना-अचेतना के बीच की अवस्था है; जब हमें स्वप्न भी नहीं आते, हम अचेतन से पड़ जाते हैं, वह सुषुप्तावस्था है। सुषुप्तावस्था में क्या होता है? माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार सुषुप्तावस्था में सूक्ष्म-शरीर भी अपने को चेतना से उस समय के लिए अलग कर लेता है, शान्त हो जाता है, चेतना मात्र रह जाती है, बिना स्थूल-शरीर तथा बिना सूक्ष्म-शरीर के सम्पर्क के चेतना की जो अवस्था रह जाती है वही सुषुप्तावस्था है और वही चेतना का यथार्थ स्वरूप है। चेतना के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से अलग होने की प्रतीति सुषुप्तावस्था में हर-किसी को प्रतिदिन होती है, परन्तु हम इसी को भूले रहते हैं। जैसे स्वप्नावस्था में चेतना स्थूल-शरीर से अलग हो जाती है, परन्तु स्वरूप में जाने की तैयारी करने लगती है, सूक्ष्म-शरीर में सिमिट जाती है, वैसे सुषुप्तावस्था में वह सूक्ष्म-शरीर से अलग हो जाती है, अपने यथार्थ-रूप में आ जाती है। चेतना का अपना स्वरूप आनन्दमय है, सुख-दुःख शरीर के साथ बंधे हुए हैं, उपनिषत्कार तभी कहते हैं कि जब चेतना सुषुप्तावस्था में अपने स्वरूप में आ जाती है तब उसके बाद जाग उठने पर आदमी कहता है—बड़ा आनन्द आया—**'सुखमहं अस्वाप्सम्,**

नादर्शम्, नाश्रौषम्'—कैसे सुख से सोया, न देखता हुआ, न सुनता हुआ। ऐसा वह क्यों कहता है ? ऐसा इसलिए कहता है क्योंकि जब चेतना स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के बन्धन से छूट गई, तब उसे अपने स्वरूप में आ जाने पर जिस असीम आनन्द की अनुभूति हुई उसी को याद करके यह कहता है—आनन्द आया। वैसे आनन्द तो तब आना चाहिए जब इन्द्रियां जाग रही हों, काम कर रही हों, परन्तु यह कहता है कि जब इन्द्रियां बिल्कुल शान्त हो गई, काम ही नहीं कर रही थीं, उस अवस्था में जाने से आनन्द आया। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि चेतना का अपने को संसार तथा शरीर से अलग अनुभव कर लेना, अपने स्वरूप में आ जाना ही वास्तविक-आनन्द है। इसी आनन्दमय स्व-स्वरूप में जाने के लिए योगी लोग समाधि की प्रक्रिया करते हैं। समाधि तथा सुषुप्ति में क्या अन्तर है ? समाधि की अवस्था जानते हुए प्राप्त की जाती है, सुषुप्ति की अवस्था हर-किसी को संसार तथा इन्द्रियों के थक जाने पर अपने-आप हर रोज़ प्राप्त हो जाती है, समाधि जानते हुए सुषुप्ति को प्राप्त करना है, सुषुप्ति अनजाने समाधि लग जाना है।

जिस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में पिंड की चेतना स्थूल-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर से अपने को अलग कर स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है, इसी प्रकार जब ब्रह्माण्ड की चेतन-शक्ति कार्य-रूप (जाग्रत) तथा कारण-रूप (स्वप्न) विश्व के निर्माण में क्रियाशील नहीं हो रही होती, तब ब्रह्माण्ड की चेतना स्व-स्वरूप (सुषुप्ति) में प्रतिष्ठित होती है। ब्रह्माण्ड की चेतना के स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। उसके विषय में तो शास्त्रों का यह अभिमत है कि उसमें **'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'**—ज्ञान, बल, क्रिया तो विश्व-चेतना के स्वाभाविक गुण हैं—इन्हीं गुणों के कारण उसे चेतना कहा जाता है—परन्तु जिस प्रकार उसके विषय में हमारा ज्ञान इस विश्व की क्रियाशीलता के साथ बँधा हुआ है, उससे उसे अलग करके हम उसका अनुभव करने लगते हैं—यही ब्रह्माण्ड-चेतना का सुषुप्ति रूप है, और यही ब्रह्माण्ड-चेतना का तुरीय-रूप भी है।

(घ) **तुरीयावस्था में चेतना** (Transcendental or Supra-conscious state)—परन्तु, उक्त तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त पिंड चेतना का एक चौथा भी रूप है। जाग्रतावस्था में पिंड-चेतना स्थूल-शरीर की अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा संसार के विषयों में एकात्म—एक-जान—हो रही होती है; द्वितीयावस्था में जिसे हमने स्वप्नावस्था कहा, वह इन्द्रियों से कुछ-कुछ जुदा होने लगती है, अपने स्वरूप की तरफ़ चल पड़ती है, सूक्ष्म-शरीर तक पहुँच जाती है; तृतीयावस्था में जिसे हमने सुषुप्तावस्था कहा, वह सूक्ष्म-शरीर से भी अपने को जुदा अनुभव करने लगती है, चेतन-स्वरूप में आ जाती है जिसको

जाग उठने पर वह अनुभव करके कहती है—बड़ा आनन्द आया। ये तीनों अवस्थाएँ सभी लोग अनजाने हर-रोज़ सोने के माध्यम से अनुभव करते हैं। इन अनुभवों का यह परिणाम है कि हम अनजाने भी जान जाते हैं कि चेतना स्थूल-शरीर से अलग है, सूक्ष्म-शरीर से अलग है, इन सबसे अलग होकर इसका अपना स्व-स्वरूप है। परन्तु यह सब ज्ञान तो अनजाने में होता है, सोने के माध्यम से होता है। जब यह ज्ञान सोने के माध्यम से न होकर जानते-बूझते, जागते हुए हो, तब हमारी क्षुद्र-चेतना—यह छोटी-सी चेतना—जो इस देह रूपी पिंजरे में बन्द है, अपने-आपको लाँघ कर, अपने को उस विशाल-चेतना के, ब्रह्माण्ड-चेतना के सम्मुख उपस्थित पाती है जो इस विशाल, अनन्त-सृष्टि में जीवन का संचार कर रही है। एक तरफ़ यह अल्प-चेतना जिसने अपने को शरीर के बन्धनों से पृथक् अनुभव कर लिया, यह जान लिया कि वह आँख नहीं है, कान नहीं है, नाक नहीं है, जिह्वा नहीं है, त्वचा नहीं है, हाथ नहीं, पाँव नहीं—यह शरीर बिल्कुल नहीं, शरीर से अलग है; दूसरी तरफ़ वह विशाल, अनंत चेतना जो सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त है, सूर्य, चन्द्र, तारे, आसमान में, नदी-नाले-जंगल-पहाड़-समुद्र में—सृष्टि के कोने-कोने में मौजूद है—जब वह अल्प-चेतना उस महती-चेतना के सम्पर्क में आती है, तब पिंड-चेतना का तुरीय-रूप प्रकट हो जाता है, तब पिंड-चेतना अपने को असीम, विशाल ब्रह्माण्ड-चेतना के सान्निध्य में पाकर अपूर्व आनन्द में डूब जाती है। पहले वह संसार के क्षुद्र-विषयों में अपने को एक-जान अनुभव करती थी, अब इन विषयों से छूट जाने तथा अनन्त-चेतना के संसर्ग में आने पर उस चेतना के साथ अपने को एक-जान-सा अनुभव करने लगती है। अपने-आपको इस प्रकार लाँघ जाने का नाम ही 'ध्यान' है, ध्यान में यह क्षुद्र-चेतना तुरीयावस्था में पहुँच जाती है। पहले जिस सुषुप्तावस्था का वर्णन हमने किया वह 'अचेतन'-अवस्था (Unconscious state) कहलाती है, परन्तु सुषुप्ति की 'अचेतन-अवस्था' का यह अर्थ नहीं है कि चेतना अचेतन हो गई। चेतना चेतना कहला ही नहीं सकती अगर वह अचेतन हो जाय। सुषुप्ति की अचेतनावस्था का अर्थ यह है कि शरीर अचेतन हो गया, शरीर की ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों ने कार्य करना छोड़ दिया क्योंकि चेतना ने शरीर के साथ बना हुआ गठ-बन्धन शिथिल कर दिया। यह चेतना जो सदा जागरूक रहती है, वह शरीर के बन्धनों को लाँघ कर जब जाग्रतावस्था (Consciousness), स्वप्नावस्था (Sub-consciousness) तथा सुषुप्तावस्था (Unconsciousness) को परे छोड़ कर, शरीर के बन्धनों से छूट कर, इनके परे की तुरीयावस्था (Supra-conscious or Transcendental state) में पहुँच जाती है तब चेतना अपने यथार्थ-स्वरूप में आ जाती है। चेतना के इसी रूप को पा लेना भारतीय-शास्त्रों का लक्ष्य है।

4. निद्रा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक परीक्षण

'तुरीयावस्था' को समझने के लिए निद्रा के सम्बन्ध में किए गये प्रयोगों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, इसलिए हम यहां निद्रा के सम्बन्ध में किए गये प्रयोगों पर कुछ लिखेंगे।

निद्रा के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक अनुसंधान हुए हैं उनसे सिद्ध होता है कि हमारे भीतर शरीर से अतिरिक्त कोई ऐसी चेतन-सत्ता है जो तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) या मस्तिष्क (Brain) को लांघ कर, इनसे हट कर अपने ऐसे स्वरूप में चली जाती है जहां से वह आनन्द, उल्लास, उत्साह बटोर कर बाहर निकलती है। निद्रा में वह चेतन-सत्ता इस शरीर का और इस जगत् का साथ छोड़ देती है, उसके लिए शरीर मर जाता है, यह संसार मिट जाता है। वह शरीर को छोड़ कर और संसार को भुला कर जहां चली जाती है, वहां से जब लौटती है तब क्या होता है? तब उस चेतन-सत्ता का संपर्क पाकर यह थका-मांदा शरीर तरोताजा हो उठता है, यह चिन्ता से व्याकुल मन प्रफुल्ल दीखने लगता है। क्या कारण है कि चेतना जब शरीर तथा विचार को छोड़ देती है, इसे भुला देती है, नींद में—गहरी नींद में—चली जाती है, तभी उसके लौटने पर शरीर तथा मन में फुर्ती आती है, अगर इस शरीर को न छोड़े, नींद में न जाए, दिन-रात जागती रहे, इस शरीर के साथ चिपटी रहे, तब मनुष्य के लिए जीना मुश्किल हो जाता है? जो लोग उन्निद्र-रोग से पीड़ित होते हैं, वे क्या चाहते हैं? यही तो चाहते हैं कि किसी तरह शरीर को भुला दें, इस दुनिया को भुला दें। न भुला सकें तो शरीर टूट जाता है, दुनिया में कोई रस नहीं रहता। शरीर से अलहदा होकर, दुनिया को भुला कर चेतना जहाँ चली जाती है, वहाँ से लौटने पर वह आनन्द, उल्लास, उत्साह, प्रफुल्लता लाती है, वहाँ न जा सके, तो शरीर तथा मन दोनों बेचैन हो जाते हैं, कोई-कोई आत्मघात भी कर बैठते हैं। जब ऐसी बात है तब प्रश्न उठ जाता है कि वह क्या स्थिति है जहाँ से लौटने पर चेतना उत्साह का भण्डार लेकर लौटती है। इसके उत्तर दो ही हो सकते हैं: या तो शरीर तथा संसार के बंधनों से मुक्त होने पर क्योंकि चेतना अपने स्वरूप में आ जाती है, इसलिये इस स्वरूप की अनुभूति से उसमें आनन्द भर जाता है; या आनन्दों के आनन्द, आनन्द के अथाह समुद्र विश्व-चेतना के साथ उसका अनजाने संपर्क हो जाता है, उस आनन्द को लेकर वह लौटती है—इसलिये उसमें प्रफुल्लता भर जाती है। अन्यथा, निद्रा से उत्साह तथा प्रफुल्लता का होना कैसे समझा जा सकता है?

प्रश्न यह है कि क्या निद्रामात्र से मनुष्य में उत्साह तथा प्रफुल्लता आ सकती है? वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध होता है कि निद्रामात्र से आनन्द, उत्साह तथा प्रफुल्लता नहीं आ सकती।

अमरीका में निद्रा के सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किए गये हैं। नींद के समय क्या होता है—उसे मापने के लिए एक यन्त्र बना हुआ है जिसका नाम है 'इलेक्ट्रो-इन्सेफ़ेलो-ग्राफ़' (Electro-Encephalo-Graph या EEG)। सोते समय मस्तिष्क से जो विद्युत्-तरंगें निकलती हैं वे अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। उन तरंगों को यह यन्त्र पकड़ लेता है, और बड़ा करके दिखला देता है। इस यन्त्र के साथ एक पैंसिल लगी होती है जिसके नीचे एक ग्राफ़-पेपर होता है जो गति करता है। नींद हल्की है, गहरी है, स्वप्न आ रहे हैं, या भयंकर स्वप्न आ रहे हैं—यह सब-कुछ इस ग्राफ़-पेपर पर अंकित होता जाता है। अमरीका में अनेक विश्वविद्यालयों में नींद के स्वरूप को जानने के लिए अनेक प्रयोगशालाएँ बनी हुई हैं जिनमें सोने के लिए व्यक्तियों को बुलाया जाता है, और प्रयोगकर्ता स्वयं रातभर जागकर इन व्यक्तियों के अंगों में उक्त यन्त्र की तारों को जोड़ कर उनकी निद्रा का ग्राफ़-पेपर पर अंकन करता है। इन ग्राफ़-पेपरों के अध्ययन से निद्रा के चार-स्तरों का पता चला है जिनका वर्णन श्रीयुत् गे गेयर तथा डॉ॰ जूलियस सेगल ने अपनी पुस्तक 'How to Avoid Insomnia' में इस प्रकार दिया है—

(क) **निद्रा का पहला स्तर**—निद्रा के क्षेत्र में प्रवेश करते समय का यह पहला स्तर है। इस समय पैंसिल ग्राफ़-पेपर पर उन छोटी-छोटी तरंगों को अंकित करने लगती है जो निद्रालुता प्रारम्भ होते समय मस्तिष्क द्वारा प्रवाहित होने लगती हैं। निद्रा प्रारम्भ होते समय मस्तिष्क से विद्युत् की जो वोल्टेज चलने लगती है वह अत्यन्त निम्न-स्तर की होती है, इसलिए ग्राफ़-पेपर पर निशान छोटी-छोटी गहराई के पड़ने लगते है। उस समय मांस-पेशियाँ ढीली होने लगती हैं, नाड़ी की गति धीमी पड़ जाती है, परन्तु व्यक्ति अभी यह अनुभव नहीं करता कि वह सो गया है। अगर इस स्थिति में उसे उठा दिया जाय, तो वह यही कहेगा कि वह जग रहा था। अगर न उठाया जाय, तो कुछ ही मिनटों में वह निद्रा के दूसरे स्तर में चला जायगा।

(ख) **निद्रा का दूसरा स्तर**—इस स्तर में पहुँचते समय ग्राफ़-पेपर पर पड़ी रेखाओं से स्पष्ट होता है कि मस्तिष्क में क्रियाशीलता का संचार हो गया है, मस्तिष्क की विद्युत्-तरंगें (Brain waves) बड़ी तेजी से बड़ी होने लगती हैं, उनकी गहराई बढ़ जाती है। उस समय आँखों के साथ लगी तारों से ग्राफ़-पेपर पर जो रेखाएँ खिचती हैं उनसे पता चलता है कि सोने वाले की आँखों के डेले दायें-बायें चलने लगते हैं। निद्रा के दूसरे स्तर में आँखों की दायें-बायें जो तीव्र-गति (Rapid Eye Movement) होती है उसे निद्रा की परिभाषा में 'REM' कहते हैं। अगर इस समय व्यक्ति को जगा दिया जाय, तो हो सकता है कि वह कहे कि वह अभी जग ही रहा था, यह भी हो सकता है कि वह कहे कि वह ठीक-ठीक से कह नहीं सकता कि वह जग रहा था या सो रहा था। इस समय उठा देने पर अगर

फिर प्रगाढ़-निद्रा में 70-90 मिनट तक रह कर फिर ऊपरी-स्तर पर आने लगते हैं।

'स्वप्न' (Rem) से 'सुषुप्ति' (Delta) और 'सुपुप्ति' से 'स्वप्न' का चक्र बराबर चलता रहता है, और सारी रात में यह प्रक्रिया 3-4 बार होती है। प्रातःकाल के समय हम 'सुषुप्ति' (Delta sleep) में नहीं होते, 'स्वप्न' (Rem) में होते हैं। इस समय 'स्वप्न' (Rem sleep) का समय लम्बा होता है। इस सारे लम्बे समय में हम 'स्वप्न' (Rem sleep) में होने के कारण कई घंटों तक स्वप्न ले रहे होते हैं। 1950 में निद्रा के अनुसन्धानकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानवमात्र की निद्रा एक निश्चित 'आरोहावरोह'—चढ़ाव-उतार—पर चलती है, और एक ही आयु के सब स्वस्थ-व्यक्तियों की निद्रा का 'आरोहावरोह'—चढ़ाव-उतार—एक-सा होता है।

निद्रा के सम्बन्ध में जिस बात पर हम विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि स्वास्थ्य के लिए 'स्वप्न' (Rem sleep) तथा 'सुषुप्ति' (Delta sleep) दोनों आवश्यक हैं, आवश्यक ही नहीं, स्वस्थ-निद्रा में ये दोनों स्तर आते ही हैं, भले ही हम समझते हों कि हमें तो प्रगाढ़-निद्रा ही आती है, स्वप्न नहीं आते। स्वस्थ-निद्रा में स्वप्न आते हैं, परन्तु जागते ही हम तत्काल भूल जाते हैं।

'स्वप्नावस्था' (Rem sleep) तथा 'सुपुप्तावस्था' (Delta sleep) का स्वास्थ्य के साथ क्या सम्बन्ध है—इस पर वैज्ञानिकों ने कुछ परीक्षण किये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि निद्रा के दोनों स्तर स्वास्थ्य के लिये एक-समान महत्त्व के हैं। अगर किसी को 'स्वप्नावस्था' (Rem sleep) न लेने दी जाय, सिर्फ़ 'सुपुप्तावस्था' (Delta sleep) लेने दी जाय, तो उसके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा; और इसी तरह अगर किसी को 'सुपुप्तावस्था' न लेने दी जाय, सिर्फ़ स्वप्नावस्था लेने दी जाय, तो उसके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(i) **बिना स्वप्नावस्था के निद्रा** (Sleep without Rem)—निद्रा-विशेषज्ञों का कहना है कि जब ग्राफ़-पेपर पर 'स्वप्न-निद्रा' (Rem sleep) के चिह्न पड़ने लगें और प्रयोक्ता को पता चला कि व्यक्ति स्वप्न ले रहा है, तभी उसे जगा दिया गया ताकि वह स्वप्न न ले सके। परिणाम यह हुआ कि वह व्यक्ति चिड़चिड़ा तथा झगड़ालू—Irritable, Hostile—स्वभाव का हो गया। डॉ० डिमेन्ट का कहना है कि इसी कारण मानव के स्वास्थ्य के लिए स्वप्नावस्था की निद्रा (Rem sleep) की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी सिगमंड फ्रॉयड का कथन था कि स्वास्थ्य के लिये स्वप्न इसलिए आवश्यक हैं क्योंकि एक तरह से मानव की अपूर्ण-इच्छाएँ स्वप्नों द्वारा पूर्ण हो जाती हैं, वे इस प्रकार पूर्ण न हों तभी वह चिड़चिड़ाता है, झगड़ता है।

फिर प्रगाढ़-निद्रा में 70-90 मिनट तक रह कर फिर ऊपरी-स्तर पर आने लगते हैं।

'स्वप्न' (Rem) से 'सुषुप्ति' (Delta) और 'सुषुप्ति' से 'स्वप्न' का चक्र बराबर चलता रहता है, और सारी रात में यह प्रक्रिया 3-4 बार होती है। प्रातःकाल के समय हम 'सुषुप्ति' (Delta sleep) में नहीं होते, 'स्वप्न' (Rem) में होते हैं। इस समय 'स्वप्न' (Rem sleep) का समय लम्बा होता है। इस सारे लम्बे समय में हम 'स्वप्न' (Rem sleep) में होने के कारण कई घंटों तक स्वप्न ले रहे होते हैं। 1950 में निद्रा के अनुसन्धानकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानवमात्र की निद्रा एक निश्चित 'आरोहावरोह'—चढ़ाव-उतार—पर चलती है, और एक ही आयु के सब स्वस्थ-व्यक्तियों की निद्रा का 'आरोहावरोह'—चढ़ाव-उतार—एक-सा होता है।

निद्रा के सम्बन्ध में जिस बात पर हम विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि स्वास्थ्य के लिए 'स्वप्न' (Rem sleep) तथा 'सुषुप्ति' (Delta sleep) दोनों आवश्यक हैं, आवश्यक ही नहीं, स्वस्थ-निद्रा में ये दोनों स्तर आते ही हैं, भले ही हम समझते हों कि हमें तो प्रगाढ़-निद्रा ही आती है, स्वप्न नहीं आते। स्वस्थ-निद्रा में स्वप्न आते हैं, परन्तु जागते ही हम तत्काल भूल जाते हैं।

'स्वप्नावस्था' (Rem sleep) तथा 'सुषुप्तावस्था' (Delta sleep) का स्वास्थ्य के साथ क्या सम्बन्ध है—इस पर वैज्ञानिकों ने कुछ परीक्षण किये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि निद्रा के दोनों स्तर स्वास्थ्य के लिये एक-समान महत्त्व के हैं। अगर किसी को 'स्वप्नावस्था' (Rem sleep) न लेने दी जाय, सिर्फ़ 'सुषुप्तावस्था' (Delta sleep) लेने दी जाय, तो उसके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा; और इसी तरह अगर किसी को 'सुषुप्तावस्था' न लेने दी जाय, सिर्फ़ स्वप्नावस्था लेने दी जाय, तो उसके स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(i) **बिना स्वप्नावस्था के निद्रा** (Sleep without Rem)—निद्रा-विशेषज्ञों का कहना है कि जब ग्राफ़-पेपर पर 'स्वप्न-निद्रा' (Rem sleep) के चिह्न पड़ने लगें और प्रयोक्ता को पता चला कि व्यक्ति स्वप्न ले रहा है, तभी उसे जगा दिया गया ताकि वह स्वप्न न ले सके। परिणाम यह हुआ कि वह व्यक्ति चिड़चिड़ा तथा झगड़ालू—Irritable, Hostile—स्वभाव का हो गया। डॉ० डिमेन्ट का कहना है कि इसी कारण मानव के स्वास्थ्य के लिए स्वप्नावस्था की निद्रा (Rem sleep) की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी सिगमंड फ्रॉयड का कथन था कि स्वास्थ्य के लिये स्वप्न इसलिए आवश्यक हैं क्योंकि एक तरह से मानव की अपूर्ण-इच्छाएँ स्वप्नों द्वारा पूर्ण हो जाती हैं, वे इस प्रकार पूर्ण न हों तभी वह चिड़चिड़ाता है, झगड़ता है।

(ii) **बिना सुपुप्ति के निद्रा** (Sleep without Delta)—1960 में विल्से वी वेब ने फ्लोरिडा विश्वविद्यालय में ऐसे प्रयोग किये जिनमें सोनेवाले को 'सुपुप्तावस्था' (Delta sleep) में पहुँचते ही जगा दिया जाता रहा, सुपुप्तावस्था में जाने ही नहीं दिया गया, वह केवल स्वप्नावस्था में ही रहा। ऐसे व्यक्ति हीनोत्साह तथा मायूस—Apathetic, Depressed—स्वभाव के हो गये।

जिन व्यक्तियों को सिर्फ़ स्वप्नावस्था में रखा जाता है, सुपुप्तावस्था में नहीं आने दिया जाता, वे जब अपनी स्वाभाविक-निद्रा लेने लगते हैं तब पहले सुपुप्तावस्था की निद्रा की कमी को पूरा करते हैं; इसी प्रकार जिन व्यक्तियों को दवाई के ज़ोर पर सिर्फ़ सुपुप्तावस्था में रखा जाता है, उनमें स्वप्नावस्था नहीं आने दी जाती, वे भी जब अपनी स्वाभाविक-निद्रा लेने लगते हैं तब पहले स्वप्नावस्थां की निद्रा की कमी को पूरा करने लगते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए स्वप्न की निद्रा तथा सुपुप्ति की निद्रा—दोनों आवश्यक हैं।

निद्रा के सम्बन्ध में इस विस्तृत विवेचन का हमारे प्रकरण के साथ क्या सम्बन्ध है, और 'चेतना' के विषय को समझने के लिए इस विवेचन से क्या प्रकाश पड़ता है?

हमने देखा कि चेतना का स्वप्न में तथा सुपुप्ति में जाने का अगर मार्ग प्रयोक्ता के द्वारा अथवा औषधि के द्वारा तन्त्रिका-तन्त्र को सुन्न करके अवरुद्ध कर दिया जाय, तो जाग उठने पर व्यक्ति चिड़चिड़ा, झगड़ालू या मायूस हो जाता है, अवरुद्ध न किया जाय, उसे स्वप्न तथा सुपुप्ति में निर्बाध जाने दिया जाय, तो वह प्रसन्न तथा प्रफुल्ल उठता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि विधाता ने मानव के मस्तिष्क की रचना ही ऐसी बनाई है जिसका सहारा लेकर ही चेतना गतिशील होती है, और जिससे प्रतिदिन अपने-आप स्वाभाविक-निद्रा के माध्यम से शरीर तथा संसार से चेतना का नाता टूट जाता है, वह शरीर को भूल जाती है, संसार को भूल जाती है, सुपुप्ति तथा तुरीय-स्तर (Delta stage) पर पहुँचकर या तो अपने निज-रूप में आ जाती है, या विश्व-चेतना के सम्पर्क में आकर वहाँ से नव-जीवन को भरकर फिर शरीर तथा संसार में लौट आती है। तभी प्रगाढ़-निद्रा से लौटकर मनुष्य उल्लास अनुभव करता है, कहता है—ऐसा आनन्द आया जैसा जागते समय कभी नहीं आया। इस आनन्द तथा उल्लास को पाने के लिए शरीर तथा संसार से नाता तोड़ना पड़ता है, यह नाता तोड़ कर ही शरीर तथा संसार का रस लिया जा सकता है। रस इन्द्रियों तथा संसार के विषयों में नहीं, उसमें है जहाँ से सुपुप्ति तथा तुरीय-स्तर में जाकर चेतना रस को ग्रहण कर फिर शरीर तथा संसार में लौट आती है। जब प्रयोक्ता द्वारा या नींद की औषधियों द्वारा 'तन्त्रिका-तन्त्र'

(Nervous system) को सुन्न कर दिया जाता है, तब हमारी चेतना 'स्वप्न' (Rem) तथा 'सुपुप्ति' (Delta) में न जा कर शरीर के साथ ही अटकी रहती है, शरीर से आगे 'स्वप्न' तथा 'सुपुप्ति' में जाने का रास्ता कृत्रिम उपाय या निद्रा की औपधियों से रोक दिया जाता है, उसे शरीर से नाता तोड़कर अपने स्वरूप में तथा विश्व-चेतना के संपर्क में नहीं जाने दिया जाता। स्वप्न तथा सुपुप्ति का द्वार जब खुला रहता है, तभी चेतना इन मार्गों से तुरीय तक पहुँचती है, और वहाँ का प्रसाद ला कर शरीर तथा मन में चेतना का रस भर देती है।

विधाता ने शरीर की रचना ही ऐसी की है जिससे प्रतिदिन निद्रा के माध्यम से हमारा शरीर से नाता टूट जाय, और हमें उस स्थिति की हर रोज़ झाँकी मिलती रहे जो यथार्थ सत्य है। इस स्थिति का 'सुषुप्ति' अथवा 'तुरीयावस्था' में जाने पर अपने-आप हम सबको अनुभव होता है। इसी स्थिति को—शरीर तथा संसार से नाता तोड़ लेने को—सोते हुए नहीं, अपने प्रयत्न से प्राप्त करने का नाम ही ध्यान है। सोने से 'सुपुप्ति' प्राप्त होती है, ध्यान से 'समाधि' प्राप्त होती है—दोनों अवस्थाओं में इन्द्रियों तथा संसार से नाता टूट जाता है—दोनों अवस्थाओं में प्रसाद तथा प्रफुल्लता की प्राप्ति होती है, 'सुपुप्ति' की अवस्था परमात्मा का दिया हुआ सिर्फ़ साधन है जो इशारा करती है कि अनजाने मिली हुई यह स्थिति प्रयत्न से भी प्राप्त हो सकती है।

5. 'चेतना' की चार अवस्थाओं की तरह 'वाणी' के—बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा—ये चार स्तर

हमने ऊपर कहा है कि जब चेतना अपने-आपको लाँघ जाती है उसी का नाम 'ध्यान' है, उसी का नाम 'तुरीयावस्था' है। 'तुरीय' का अर्थ है—'चतुरीय' —चौथी अवस्था। पहली तीन अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति—सोते हुए पायी जाती हैं, सब-किसी के अनुभव की हैं; चौथी अवस्था—तुरीय-अवस्था—जागते हुए होती है, आध्यात्मिक-दृष्टि से विरले ही इस अवस्था को पहुँच पाते हैं। पहली तीन अवस्थाओं का दृष्टान्त इसलिए दिया जाता है जिससे हर-कोई समझ जाय कि तुरीय-अवस्था—चेतना के अपने को शरीर से जुदा होने के अनुभव की बात—कोई मन-घड़ंत बात नहीं है, सोने की प्रतिदिन की प्रक्रिया में सब-कोई अनजाने में अनुभव करता रहता है कि शरीर तथा चेतना अलग-अलग हैं, इनके अलग-अलग अनुभव होने में महान् आनन्द का पता चलता है, इसलिए पता चलता है क्योंकि सुपुप्ति से जागने पर हम सब कहते हैं कि इतना आनन्द आया जितना कभी न आया था। पहली अवस्थाएँ अपने-आप हुआ करती हैं, चौथी—तुरीय-अवस्था—आध्यात्मिक-जीवन के क्षेत्र में अपने-आप नहीं होती, उसका अनुभव प्राप्त करने से लिए प्रयत्न करना पड़ता है, उसी प्रयत्न का नाम

'ध्यान' है। तुरीयावस्था में पहुंच कर चेतना अचेतन-शरीर से अपने को मुक्त अनुभव कर सृष्टि की महान् चेतना के सम्पर्क में आती है, यही आत्मा-परमात्मा का संगम है। हमने देखा कि शरीर में चेतना अपने को शरीर की चार अवस्थाओं में प्रकट करती है। शरीर की पहली अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'जाग्रत' कहलाती है, शरीर की दूसरी अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'स्वप्न' कहलाती है, शरीर की तीसरी अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'सुषुप्ति' कहलाती है, शरीर की चौथी अवस्था जहाँ चेतना अपने को व्यक्त करती है 'तुरीय' कहलाती है। असल में, ये अवस्थाएँ शरीर की होती हैं, चेतना की नहीं; समझने की सुविधा के लिए हमने इन्हें चेतना की अवस्थाएँ लिखा है।

चेतना की चार अवस्थाओं को स्पष्ट करने के लिए जैसे शास्त्रों ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्थाओं का सहारा लिया है, वैसे ही चेतना की इन चार अवस्थाओं को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वाणी की चार अवस्थाओं का सहारा लिया है क्योंकि चेतना प्रकट-रूप में अपने को जैसे जागने-सोने के रूप में प्रकट करती है, वैसे ही प्रकट-रूप में वाणी द्वारा भी प्रकट करती है। वाणी की चार अवस्थाएँ हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा। उल्टी तौर से कहा जाय तो इन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी कहते हैं। चेतना का चौथा स्तर या उसकी चौथी अवस्था जैसे 'तुरीय-अवस्था' कहलाती है, वैसे ही वाणी का चौथा स्तर या उसकी चौथी अवस्था 'परा-स्तर' कहलाती है। चेतना की तुरीय-अवस्था तथा वाणी के तुरीय-स्तर का एक ही अर्थ है—यह Supra-conscious या Transcendental stage है। चेतना की तुरीय-अवस्था तथा वाणी के परा-स्तर को समझने के लिए निम्न विचार-प्रक्रिया को समझ लेना होगा :

जड़ तथा चेतन में क्या भेद है? जड़ अपने-आप क्रिया नहीं कर सकता, चेतन क्रियाशील है, इसी क्रियाशीलता के गुण के कारण वह जड़ में क्रिया का संचार कर सकता है। क्रियाशीलता को देख कर हम अनुमान करते हैं कि जहाँ क्रियाशीलता है वहाँ उसके व्यक्त होने में ज्ञात या अज्ञात तौर पर चेतना का हाथ अवश्य है। प्राणी हिलता-जुलता है, इसलिए उसमें चेतना होनी ही चाहिए। परन्तु भौतिकवादी बहस के तौर पर कह सकता है कि यह क्रियाशीलता स्वाभाविक है, अपने-आप हो रही है, तंत्रिका-तंत्र पर, बाह्य-संवेदन, उद्दीपक का आभ्यन्तर-परिणाम, उसकी अनुक्रिया है। इसलिए पतंजलि मुनि ने चेतना के चार स्तरों पर अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा है कि वे जड़ तथा चेतन में जो अत्यन्त स्पष्ट भेद है उसी को सामने रख कर चेतना के चार स्तरों को स्पष्ट करेंगे।

जड़ तथा चेतन में स्पष्ट भेद है—'वाणी' का। चेतन बोल सकता है,

भाषा का प्रयोग कर सकता है, जड़ बोल नहीं सकता, भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता, अपना भाव दूसरे को समझा नहीं सकता। इस 'वाणी' द्वारा, 'शब्द' के प्रयोग द्वारा, हम चेतना के चार स्तरों को समझ सकते हैं जिन्हें उन्होंने परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी 'वाणी' कहा है। चेतना के तुरीय-स्तर (Transcendental level of consciousness) पर पहुँचने के लिए, जहाँ मानवीय-स्वल्प-चेतना अपने विशुद्ध-रूप में व्यक्त होकर, शरीर की इन्द्रियों एवं संसार के विषयों से मुक्त होकर, जगत्-चेतना के सान्निध्य तथा सम्पर्क में आ जाती है, वहाँ पहुँचने के लिए, पतंजलि मुनि ने ओंकार के जप को जो 'वाणी' का ही एक रूप है—माध्यम बनाने का उपदेश दिया है। किसी भी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की यही प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ, हम किसी भी विचार को लें—हर विचार में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा—चेतना के ये चारों स्तर सब-किसी के अनुभव में आते हैं। पहले विचार वाणी में व्यक्त होता है। हम बात करते हैं, बोलते हैं, बहस करते हैं। यह चेतना का 'वैखरी-स्तर' है। फिर यह विचार वाणी से हट कर मन में चला जाता है, होंठ हिलना बन्द हो जाता है, हम खाली बैठे, जिन बातों को वाणी से कहा था, जिन बातों की बहस की थी, वे विचार बिना वाणी के हमारे भीतर चलने लगते हैं। यह चेतना का 'मध्यमा-स्तर' है। मध्यमा इसलिए कि न हम बोल रहे होते हैं, न बिल्कुल चुप ही होते हैं, बात कर भी नहीं रहे होते, बात चल भी रही होती है। इसके बाद विचार चेतना के 'पश्यन्ती-स्तर' में चला जाता है। इस समय मन में विचार चलना तो बन्द हो जाता है, परन्तु वह विचार जीवन का अंग हो जाता है, जीवन पर छा जाता है, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, हमारा जीवन उस विचार से ओत-प्रोत हो जाता है, वह विचार मानो हमें तथा हमारे सभी निकटवर्ती लोगों को दीखने-सा लगता है, सब कहने लगते हैं कि यह व्यक्ति विचारमय हो गया है, विचार का स्वरूप हो गया है। चेतना की इस अवस्था को 'पश्यन्ती-स्तर' कहा जाता है। इसके बाद चेतना का चतुर्थ-स्तर है, जो उक्त तीनों को लाँघ जाता है, जब वह विचार दीखने ही नहीं लगता, हम उस विचार को विचार के रूप में भूल जाते हैं, हम और वह विचार एक हो जाते हैं, हम में और उस विचार में भेद-भाव ही नहीं रहता। जहाँ भेद होगा वहीं तो कोई वस्तु दीखेगी, जहाँ भेद ही नहीं होगा, वहाँ दीखेगा क्या? इसलिए चेतना के 'पश्यन्ती-स्तर' के आगे का स्तर 'परा-स्तर' कहलाता है, 'परा'—अर्थात्, सब स्तरों से परे—जो सब स्तरों को लाँघ जाता है। वाणी का यही 'परा-स्तर' चेतना की 'तुरीयावस्था' भी कहलाती है। हमारे भीतर अनेक मनोभाव हैं। प्रेम है, द्वेष है, ईर्ष्या है, घृणा है—ये सब भी चेतना के चार स्तरों में हर-कोई अपने भीतर देख सकता है। हर प्रकार के ध्यान की यही प्रक्रिया है। चेतना के सम्बन्ध में ध्यान की इसी प्रक्रिया का आश्रय लेकर

योगाचार्य महर्षि पतंजलि ने इसे चेतना के साक्षात्कार पर घटाया है। उनका कथन है कि ओंकार का उच्चारण पहले चेतना के वैखरी-स्तर पर हो, फिर मध्यमा-स्तर पर, फिर पश्यन्ती-स्तर पर, फिर परा-स्तर पर। जब साधक ओंकार के सहारे चेतना के परा-स्तर पर पहुँच जाता है, तब वह चेतना की तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है जिसमें चेतना अपने विशुद्ध-रूप में आ जाती है। ओंकार का उच्चारण पहले वैखरी-वाणी द्वारा चेतना के वैखरी-स्तर पर किया जाता है, फिर मध्यमा-वाणी द्वारा चेतना के मध्यमा-स्तर पर किया जाता है, फिर पश्यन्ती-वाणी द्वारा चेतना के पश्यन्ती-स्तर पर किया जाता है, फिर परा-वाणी द्वारा चेतना के परा-स्तर पर किया जाता है, चेतना का यह परा-स्तर ही चेतना की तुरीयावस्था (Transcendental state) है जिसमें पिंड-चेतना तथा ब्रह्माण्ड-चेतना का द्वैत होते हुए भी आपसी संपर्क हो जाता है।

तो फिर, वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा का ओंकार के जप द्वारा चेतना के साक्षात्कार के साथ क्या सम्बन्ध है?

(क) **चेतना के 'वैखरी'-स्तर में ओंकार का जाप**—ध्यान के विज्ञान के अनुसार वाणी से उच्चारण करना ध्यान की प्रथम अवस्था है। जब हम वाणी द्वारा किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तब सब तरफ़ से ध्यान खिंच कर उस तरफ़ आ टिकता है, चेतना वहाँ केन्द्रित हो जाती है। उच्चारण द्वारा चेतना का एक शब्द में केन्द्रित हो जाना चेतना का वैखरी-स्तर कहलाता है। आध्यात्मिक-दृष्टि से ओंकार का उच्च-स्तर से उच्चारण करने के द्वारा ध्यान का उस स्वर में टिक जाना ध्यान का प्रथम चरण है।

(ख) **चेतना के 'मध्यमा'-स्तर में ओंकार का जाप**—वैखरी, चेतना का सबसे ऊपरी-स्तर है। उसके बाद उच्च-स्वर में उच्चारण करने के स्थान में ओंकार का भीतरी-ध्यान चलता है। इस द्वितीय-अवस्था में ओंकार को ज़ोर-ज़ोर से नहीं बोला जाता, होठों द्वारा ओंकार का उच्चारण नहीं किया जाता, हृदय के भीतर, मुँह से बिना जपे इस मन्त्र का जाप किया जाता है। चेतना में जाप की यह मध्यमा-स्थिति है क्योंकि इसमें उच्चारण-पूर्वक जाप जपा भी नहीं जाता, परन्तु मन के भीतर जाप जपा भी जाता है। चेतना के क्षेत्र में ज्यों-ज्यों हम आगे-आगे चलते हैं, त्यों-त्यों चेतना की गहराई में उतरते जाते हैं, जो चेतना बाह्य-संसार से घिरी पड़ी है, उसके बाहर के पर्दों को चीर कर चेतना के निकट बाहर से भीतर जाते हैं। कौन चेतना के निकट, बाहर से भीतर जाता है? कोई दूसरा नहीं, हमी जो वैखरी में बिखरे पड़े थे मानसिक-जप द्वारा अपने-आप में सिमटने लगते हैं।

(ग) **चेतना के 'पश्यन्ती'-स्तर में ओंकार का जाप**—मध्यमा के बाद चेतना का 'पश्यन्ती'-स्तर आता है। 'पश्यन्ती'-स्तर वह है जिसमें हम ओंकार का न

तो मुख से उच्चारण करते हैं, न मन में उसे दोहराते हैं ; इस स्तर में पहुँच कर ओंकार हमारे लिए दृश्य रूप धारण कर लेता है। दृश्य का अर्थ यह नहीं कि स्थूल-रूप में आँखों से दीखने लगता है, इसका यह अर्थ है कि हम इसी में समाए रहते हैं, हमें इसके सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं, इतना समाये रहते हैं मानों हमारे लिए इसका होना प्रत्यक्ष के समान हो जाता है, तभी इसे 'पश्यन्ती'-स्तर कहा है।

(घ) **चेतना के 'परा'-स्तर में ओंकार का जाप**—चेतना की गहराई में उतरते-उतरते साधक चेतना के महानतम-स्तर में जा पहुँचता है, तीनों स्तरों को लाँघ कर अपने चेतन-स्वरूप में आ जाता है, ओंकारमय हो जाता है। अपने स्वरूप में आ जाना या ओंकारमय हो जाना एक ही बात है। 'परा'-स्तर में उतर जाना ही तुरीयावस्था है जिसका ज़िक्र हमने जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के सिलसिले में किया था। वाणी का 'परा'-स्तर या चेतना की 'तुरीयावस्था' का एक ही अर्थ है, इसी को अंग्रेजी में Supra-conscious or Transcendental state का नाम दिया गया है।

6. शुद्ध-चेतना के रूप में तुरीयावस्था की प्राप्ति ही मनुष्य का चरम-लक्ष्य है

हम देख चुके हैं कि चेतना की चार अवस्थाओं में से 'तुरीयावस्था' अन्तिम अवस्था है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के बाद की अन्तिम अवस्था तुरीयावस्था है; वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती के बाद वाणी का जो अन्तिम स्तर है, जिसे 'परा' कहा जाता है, वह भी 'तुरीयावस्था' का ही दूसरा नाम है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति—ये अवस्थाएँ शरीर की हैं जिनमें से गुजरती हुई चेतना का शुद्ध-रूप तुरीय के नाम से अभिव्यक्त होता है; वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती—ये अवस्थाएँ वाणी की—भावनाओं की—हैं, जिनमें से गुजरती हुई वाणी अपने अन्तिम 'परा' रूप में अभिव्यक्त होती है, जो चेतना की तुरीयावस्था ही है। चेतना का शुद्ध, निखरा हुआ रूप न तो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति में से कोई-सा है, न वाणी की वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती में से कोई-सा है। वह इन सबसे पृथक् है। जब वह पिंड के सब रूपों को छोड़ कर अपने चेतना-स्वरूप—स्व-रूप—में आ जाती है, तब वह ब्रह्माण्ड की चेतना के सम्पर्क में आ जाती है, ब्रह्माण्ड के अणु-अणु को जीवन देने वाली चेतना के निकट आ जाती है। वह अवस्था चेतना की तुरीयावस्था तथा वाणी का परा-स्तर है।

हमारा बाह्य-जीवन, बाहर का व्यवहार, हमारे भीतर बैठी चेतना की तुरीयावस्था के खूंटे से बँधा रहता है—यह बात हर-किसी के अनुभव में आती है। उदाहरणार्थ, अगर हमारे भीतर चिन्ता बैठी हो, तो देखने को तो हम ऊपर

का सारा व्यवहार ऐसे करते रहते हैं मानो कुछ हुआ ही नहीं, परन्तु मन किसी डोरी से भीतर बँधा रहता है। मनुष्य अगर किसी के प्रेम-पाश में अटका है, तो बाहर से भले ही कुछ करता रहे, उसकी तार भीतर से ही खिंचा करती है। मनुष्य कारोबार में लगा दीखता है, परन्तु अगर भीतर कोई दुविधा है, तो उसकी छाया भीतर से बाहर पड़ती-ही-पड़ती है। जो बात भौतिक-जीवन में होती है, वही बात आध्यात्मिक-जीवन में होती है। अगर चेतना के तुरीय में चिन्ता है, तो चेतना का सम्पर्क चिन्ता से होगा और मानव के तुरीय का चिन्ता के खूंटे से बँधे रहने के कारण उसके बाहर के व्यवहार में चिन्ता का ही प्रवाह बहेगा; अगर चेतना के तुरीय में प्रेम है, तो चेतना का सम्पर्क प्रेम से होगा, और मानव के तुरीय का प्रेम के खूंटे से बँधे रहने के कारण उसके व्यवहार में प्रेम का ही प्रवाह होगा; अगर चेतना के तुरीय में शुद्ध-चेतना है, वह संसार के विषयों को छोड़ कर अपने शुद्ध चेतन-स्वरूप में व्यक्त हो रही है, तो उसका सम्पर्क ब्रह्माण्ड की अनन्त चेतना से होगा, और उस अनन्त चेतना के खूंटे से बँध जाने के कारण मानव का जीवन, उसका व्यवहार सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप अनन्त चेतन के रंग में रँग जाएगा। इस प्रकार जब चेतना तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेती है, संसार के विषयों से छूट कर परे—'परा'-भाव—को प्राप्त कर लेती है, तब उसका विश्व की सच्चिदानन्द-स्वरूप चेतन-शक्ति से सम्पर्क हो जाने के कारण उसमें सांसारिक सुख नहीं, आध्यात्मिक प्रसाद छलछला उठता है, और यही मानव का चरम लक्ष्य है।

सोचने की बात है, वृक्ष को रस कहाँ से मिलता है? वृक्ष को रस मिलता है जड़ से। पत्तों पर पानी छिड़कने से वृक्ष हरा नहीं होता, जड़ को पानी देने से वृक्ष हरा होता है। जड़ का काम पोषक-तत्त्वों को लेना है, लेकर आगे दे देना है। ठीक इसी तरह मनुष्य में चेतना का काम भीतर से शक्ति को लेना और उसे लेकर व्यवहार में फेंक देना है। अगर हमारी चेतना ऊपर-ऊपर के स्तर पर ही रही, तुरीय-स्तर पर नहीं पहुँची, उस स्तर पर जहाँ विश्व-चेतना का समुद्र लहलहा रहा है, तो कहाँ से वह शक्ति लेगी, बल लेगी, तेज लेगी, उत्साह लेगी। हम तो जाग्रत या वैखरी के बाह्य-स्तर पर ही अटके पड़े रहते हैं, चेतना को वहाँ जो-कुछ मिलेगा वही तो हमारे व्यवहार में प्रकट होगा। वहाँ क्या है? वहाँ तो बस विषयों का क्षण-भंगुर रस है, और मानव वहीं अटके रहने के कारण उस क्षण-भंगुर रस में ही अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देता है। चेतना को अखण्ड-रस मिलता है, शक्ति मिलती है, चेतना का रसमय से, आनन्द-मय से, शक्ति के पुंज से सम्बन्ध स्थापित कर लेने से। जैसे एक छोटे-से बल्ब को बिजली के प्लग में जमा देने से वह चमक उठता है, वैसे ही पिंड की चेतना को विश्व का संचालन करने वाली महती-चेतना के साथ जोड़ देने से इस अल्प-चेतना में महती-शक्ति का संचार हो जाता है, उस शक्ति के संचार से मानव की

चेतना उत्साहपूर्ण, आनन्दमग्न हो उठती है, आनन्द उसमें छलछलाने लगता है, इसलिए छलछलाने लगता है क्योंकि तुरीयावस्था में पहुँच जाने के कारण आनन्द के भण्डार, आनन्द के स्रोत, सच्चिदानन्द से उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है जहाँ से अजस्र आनन्द का झरना बहा करता है, परन्तु जो हमारी चेतना का उससे सम्पर्क न होने के कारण रस से भरपूर होते हुए भी हमारे लिए सब सूका पड़ा रहता है।

क्या यह सम्भव है कि मानव की चेतना का आनन्द के स्रोत के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सके? शास्त्रों का कथन हैं कि यह सम्भव ही नहीं, यही सम्भव है, यही स्वाभाविक है। हमारी स्वल्प-चेतना हर समय उस चेतना के अखण्ड-स्रोत के साथ जुड़ना चाहती है, परन्तु हम उसे बीच में संसार के विषयों की झाड़ियों में अटका लेते हैं। चेतना एक मधु-मक्खी के समान है। हम समझते हैं कि मधु-मक्खी का स्वभाव ही उड़ते रहना है, परन्तु यह बात नहीं है। मधु-मक्खी तो मधु की तलाश में उड़ रही है। जहाँ उसे मधु की एक बूंद मिली, वह वहीं चिपक जाती है, वहाँ से वह हिलना नहीं चाहती। हाँ, जब वह बूंद चुक जाती है, तब वह फिर झट मधु की तलाश में भटकने लगती है। चेतना भी आनन्द की तलाश में भटका करती है। विषयों में जो आनन्द मिलता है उसके साथ वह चिपट जाती है, परन्तु चिपटे-चिपटे पता चलता है कि ये सब आनन्द क्षणिक हैं, कुछ देर रहते हैं फिर नहीं रहते। असल में तो चेतना आनन्द के अखण्ड स्रोत की तलाश में भटका करती है, वह जब नहीं मिलता तब उस भटकने को हम चेतना का स्वभाव समझ लेते हैं। हम कहने लगते हैं—चेतना चंचल है, कहीं टिकती नहीं, टिक कर बैठती नहीं। ऐसी बात नहीं है। चेतना तो मधु-मक्खी की तरह आनन्द की तलाश में भटकती है। इसकी चंचलता स्वाभाविक नहीं, चंचलता तो कहीं टिकने के लिए भटकना है। इसका स्वभाव आनन्द को ढूंढना है। इसके सामने संसार के विषय आते हैं। इनमें आनन्द है, यह उनका आनन्द लेने के लिए उनमें अटक जाती है। जब वह आनन्द समाप्त हो जाता है, तब मधु-मक्खी की तरह फिर दूसरी जगह मधु की तलाश होने लगती है। स्वभाव इसका मधु को पाकर उसके साथ चिपक जाना है, भटकते रहना इसका स्वभाव नही है। चेतना में यह तलाश इस गहराई तक बैठी हुई है कि तलाश की इस भावना का इतना जबर्दस्त होना ही इस बात का सबूत है कि आनन्द का कोई अथाह स्रोत संसार में जरूर मौजूद है जिसकी चेतना को इतनी गहरी तलाश है।

आनन्द को ढूंढते रहने की यही प्रक्रिया ध्यान कहलाती है। चेतना आनन्द में डूबना चाहती है, इसमें विभोर हो जाना चाहती है। चेतना आनन्द के उस अमिट स्रोत तक पहुँच ही नहीं पाती, इसीलिए भटका करती है। चेतना का कहीं अजस्र-स्रोत है, तभी तो यह उसे पाने के लिए भटक रही है। शास्त्रों ने

उस अजस्र, अखण्ड स्रोत को पाने की विधि बतलाई है। वह विधि क्या है ? वह विधि मन्त्र-जाप की विधि है। मन्त्र-जाप की विधि क्या है ?

7. चेतना की तुरीयावस्था की प्राप्ति के लिए मन्त्र-जाप

चेतना की तुरीयावस्था तक पहुँचने के लिए शास्त्रों ने मन्त्र के जाप का विधान किया है। सब मन्त्रों से उत्कृष्ट मन्त्र 'ओ३म्' का कहा गया है। 'ओ३म्' का क्या रहस्य है ? आध्यात्मिक-प्रक्रिया का मूल-आधार प्राणायाम है। प्राणायाम में प्राण भीतर लिया जाता है, बाहर निकाला जाता है। प्राण-वायु लेने में 'सो', निकालने में 'हम्' की ध्वनि होती है, इस प्रकार 'सोऽहम्'-शब्द प्राणायाम का प्रतिनिधि है। प्राणायाम की ध्वनि का प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त 'सोऽहम्' का अर्थ—'सः अहम्' भी है, अर्थात् 'मैं यह शरीर नहीं हूँ'—वह 'आत्मा' हूँ। यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है। यजुर्वेद के 40 वें अध्याय में मन्त्र आता है—**'योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'**। इस मंत्र में भी 'सोऽहम्' शब्द आता है। अंग्रेजी में 'सोऽहम्' का अर्थ है—That I am. बायबल में (Exodus, Chapter 3, Verse 14) खुदा ने मूसा को कहा कि मेरा निज नाम 'That I am' है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय यह भारतीय-विचार यहूदियों में पहुँचा और उन्होंने भी खुदा का नाम 'सोऽहम्' (That I am) रखा। यहूदियों की तरह ग्रीक लोगों में भी इसी तरह का एक शब्द है—'Teteragrammaton'—जिसमें 'Tetera' का अर्थ है—'चतुर' ; 'Grammaton' का अर्थ है—'अक्षर'—जिससे ग्रामर-शब्द बना है। 'टैट्राग्रामेटोन' का अर्थ है—चार अक्षरों वाला शब्द। यहूदियों के परमेश्वर 'जिहोवा' (Jehovah) के लिए ग्रीक-भाषा में 'टैट्राग्रामेटोन'-शब्द का प्रयोग हुआ है। ग्रीक-भाषा में (देखो, ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी में 'टेट्रा'-शब्द) इस शब्द का अर्थ है—चार अक्षरों वाला ईश्वरवाचक शब्द। माण्डूक्योपनिषद् (मन्त्र 2) में 'ओंकार' को 'चतुष्पाद्'—चार अक्षरों वाला शब्द कहा गया है—**'सोऽयमात्माचतुष्पात्'**। इस उपनिषद् में कहा है कि ओंकार के चार अक्षर हैं—अ, उ, म् तथा अमात्र (8, 12)—**'अकार उकारो मकार इति—अमात्रश्चतुर्थः'**। जैसे यहूदियों ने उपनिषदों के **'सोऽहम्'** या **'तत्त्वमसि'** का अनुवाद करके अपने ईश्वर का नाम 'That I am' रखा, वैसे ग्रीक लोगों ने भी उपनिषदों के **'चतुष्पाद् ओंकार'** का अनुवाद करके ईश्वर-वाचक शब्द का प्रयोग करने के लिए 'Teteragrammaton'-शब्द का प्रयोग किया क्योंकि 'चतुष्पाद' तथा 'टैट्राग्रैमेटोन' का एक ही अर्थ है। उपनिषद् में 'चतुष्पाद्' शब्द का प्रयोग ओंकार के लिए हुआ है, ग्रीक-भाषा में 'टैट्राग्रैमेटोन'-शब्द का प्रयोग जिहोवा—ईश्वर—के लिए हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ओंकार की विचारधारा ही यहूदियों में तथा ग्रीक लोगों में किसी माध्यम से पहुँची है। 'सोऽहम्' जो प्राणायाम का प्रतिनिधि है उसी का

संक्षिप्त-रूप 'ओ३म्' है; 'स' और 'ह' निकल जाने से 'ओ' और 'म्' शेष रह जाता है। प्राणायाम में ओ३म् का सहारा लेकर इस मंत्र के जाप का शास्त्रों में विधान है। इस मन्त्र के जाप में साधक चेतना के चार स्तरों में से गुज़रता है। पहले-पहल ओंकार का जाप 'वैखरी'-वाणी में होता है। 'वैखरी' का अर्थ है—वाणी द्वारा उच्चारण। शुरू-शुरू में—'ओ३म्', 'ओ३म्'—इस प्रकार बोल कर जाप किया जाता है—सौ बार, हज़ार बार, बार-बार। इसके बाद जप 'मध्यमा'-वाणी के स्तर में आ जाता है। मध्यमा-वाणी का स्तर वह है जिसमें जप वाणी द्वारा बोलने के स्थान में संकल्प के क्षेत्र में आ जाता है। इसमें होंठ नहीं हिलते, परन्तु चेतना अपने भीतर-ही-भीतर जप में लगी रहती है। तीसरी अवस्था वह आती है जब चेतना में संकल्प भी नहीं रहता, वाणी तो बोलती ही नहीं, परन्तु चेतना के भीतर मन्त्र समाने लगता है। उस अवस्था में न हम वाणी से बोलते हैं, न भीतर-ही-भीतर जाप करते हैं, जप ही छूट जाता है, परन्तु मन्त्र की अनुभूति-मात्र रह जाती है। यह 'पश्यन्ती'-वाणी का स्तर है। पश्यन्ती, अर्थात् मन्त्र को हम देख-से रहे होते हैं, अनुभव कर रहे होते हैं, मन्त्र को न तो बोल रहे होते हैं, न भीतर-ही-भीतर जप रहे होते हैं। यह स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ जाना है। इसके बाद चौथी अवस्था आती है, जो 'परा'-वाणी का स्तर कहलाती है, इसी को तुरीयावस्था भी कहते हैं। इसमें मन्त्र की अनुभूति भी नहीं रहती, आनन्द, उत्साह, शक्ति मात्र रह जाते हैं, यह अवस्था मन्त्र-जाप, मन्त्र-संकल्प तथा मन्त्रानुभूति के परे की भावातीत अवस्था है जिसमें ओंकार तथा चेतना एक-रस हो जाते हैं, उनमें भेद नहीं रहता। जब चेतना इस अवस्था में पहुँच जाती है, तब पिंड की चेतना का ब्रह्माण्ड की चेतना से सम्पर्क हो जाता है—यही ब्रह्मानुभूति या ईश्वर-दर्शन है।

मन्त्र-जाप का यह अर्थ नहीं है कि साधक दिन-रात मन्त्र का जाप करता रहे। जिन लोगों ने दिन-रात मन्त्र-जाप करने की बात की थी उन्होंने भारत को निकम्मा बना दिया था। दिन-रात ध्यान लग नहीं सकता। परिणाम यह हुआ कि गुरु लोग शिक्षा तो यह देते रहे कि दिन-रात ध्यान करो, ऐसा हो नहीं सकता था, न चित्त ध्यान में लगा, न काम में लगा, न परलोक सिद्ध हुआ, न यह लोक सिद्ध हुआ। जप की, ध्यान की यह प्रक्रिया नहीं है। ध्यान की प्रक्रिया क्या है? जैसे कपड़े को रंगा जाता है, वैसे ध्यान द्वारा चेतना को रंगा जाता है। कपड़ा रंग कर धूप में फैला देते हैं। फैलाते हुए छाया में नहीं फैलाते, धूप में फैलाते हैं ताकि जितना रंग उड़ना है उड़ जाय। फिर उसे रंगते हैं, फिर धूप में फैलाते हैं। इस बार भी रंग उड़ता है, परन्तु पहले से कम। रंगना, फिर धूप में रंग का उड़ना—इस प्रक्रिया को करते-करते रंग कपड़े में स्थिर रूप से टिक जाता है। यही प्रक्रिया चेतना के साथ की जाती है। ध्या[illegible] के फिर काम करो,

ध्यान करो, फिर काम करो—ध्यान और काम, काम और ध्यान—परलोक और इहलोक, इहलोक और परलोक—परमेश्वर और संसार, संसार और परमेश्वर—इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में आने-जाने से चेतना वास्तविकता के जगत् में रहती है क्योंकि जैसे परमेश्वर सत्य है वैसे यह जगत् भी सत्य है। संसार के काम करने के बाद जब ध्यान में जाओगे तब विश्व की अथाह चेतना के साथ सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति की चेतना में इतनी शक्ति का संचार हो जायगा, इतना उत्साह, आनन्द तथा उल्लास भर जायगा कि भौतिक-जगत् में काम करते हुए भी आध्यात्मिक-जगत् से प्राप्त किया हुआ आनन्द बना रहेगा। तभी तो उपनिषदों में जनक आदि राजाओं के विषय में ऐसा वर्णन आता है कि दुनियावी काम करते हुए भी उनके हृदय में भगवान् की लौ लगी रहती थी। जप का, ध्यान का उद्देश्य, तुरीयावस्था की प्राप्ति का लक्ष्य, मानव को संसार से उपराम बना देना नहीं, अपितु सांसारिक-जीवन को भी सफल बना देना है। ध्यान में बैठने पर चेतना एक प्रकार से विश्व-चेतना के डायनेमो के सम्पर्क में आकर शक्ति से चार्ज हो जाती है, भर जाती है, उसमें परम-चेतना के सम्पर्क द्वारा शक्ति का संचार हो जाता है, मानव—आनन्द, शक्ति, उत्साह, प्रफुल्लता से छल-छलाने लगता है। यह छलछलाहट उस तक ही सीमित नहीं रहती, दूसरों को भी इसका अनुभव होने लगता है। यह सभी का अनुभव है कि कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से हम भी सूक-से जाते हैं, कई के सम्पर्क में आने से हम भी हरे-भरे हो जाते हैं। जो स्वयं हरे-भरे होंगे वे ही तो दूसरों को भी हर-भरा बना सकते हैं। जैसे चुम्बक लोहे को चुम्बकित कर देता है, वैसे ही विश्व-चेतना के सम्पर्क में आकर हमारी चेतना चुम्बकित हो जाती है, फिर वह चेतना जिस किसी के सम्पर्क में आती है उसमें भी शक्ति से लबालब भरे हुए अपने प्याले में से कुछ-कुछ हिस्सा बाँटती जाती है।

४. मिथ्या-अध्यात्मवाद

अध्यात्मवाद की यह मिथ्या-धारणा है कि यह संसार असत्य है, यह कि जब तक हम इस संसार से विरक्त नहीं हो जाते, इसे छोड़ नहीं देते, तबतक उस आनन्दमय भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। संसार असत्य नहीं है, सत्य है, भगवान् भी असत्य नहीं है, सत्य है। हम मकान में बैठे हैं, मकान सत्य है, परन्तु मकान के बाहर बगीचा है, वह भी सत्य है। मकान में बैठ कर मकान का आनन्द लेना, मकान के बाहर जाकर बगीचे का आनन्द लेना—इन दोनों को मिला देने से पूरा आनन्द मिलता है। हमारे सामने एक फूल है। फूल भी सत्य है, फूल के भीतर का रस, उसकी सुगंध भी सत्य है। न हम यही कह सकते हैं कि केवल फूल की सत्ता है, न यही कह सकते हैं कि केवल रस या गंध की

संक्षिप्त-रूप 'ओ३म्' है; 'स' और 'ह्' निकल जाने से 'ओ' और 'म्' शेष रह जाता है। प्राणायाम में ओ३म् का सहारा लेकर इस मंत्र के जाप का शास्त्रों में विधान है। इस मन्त्र के जाप में साधक चेतना के चार स्तरों में से गुज़रता है। पहले-पहल ओंकार का जाप 'वैखरी'-वाणी में होता है। 'वैखरी' का अर्थ है—वाणी द्वारा उच्चारण। शुरू-शुरू में—'ओ३म्', 'ओ३म्'—इस प्रकार बोल कर जाप किया जाता है—सौ बार, हज़ार बार, बार-बार। इसके बाद जप 'मध्यमा'-वाणी के स्तर में आ जाता है। मध्यमा-वाणी का स्तर वह है जिसमें जप वाणी द्वारा बोलने के स्थान में संकल्प के क्षेत्र में आ जाता है। इसमें होंठ नहीं हिलते, परन्तु चेतना अपने भीतर-ही-भीतर जप में लगी रहती है। तीसरी अवस्था वह आती है जब चेतना में संकल्प भी नहीं रहता, वाणी तो बोलती ही नहीं, परन्तु चेतना के भीतर मन्त्र समाने लगता है। उस अवस्था में न हम वाणी से बोलते हैं, न भीतर-ही-भीतर जाप करते हैं, जप ही छूट जाता है, परन्तु मन्त्र की अनुभूति-मात्र रह जाती है। यह 'पश्यन्ती'-वाणी का स्तर है। पश्यन्ती, अर्थात् मन्त्र को हम देख-से रहे होते हैं, अनुभव कर रहे होते हैं, मन्त्र को न तो बोल रहे होते हैं, न भीतर-ही-भीतर जप रहे होते हैं। यह स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ जाना है। इसके बाद चौथी अवस्था आती है, जो 'परा'-वाणी का स्तर कहलाती है, इसी को तुरीयावस्था भी कहते हैं। इसमें मन्त्र की अनुभूति भी नहीं रहती, आनन्द, उत्साह, शक्ति मात्र रह जाते हैं, यह अवस्था मन्त्र-जाप, मन्त्र-संकल्प तथा मन्त्रानुभूति के परे की भावातीत अवस्था है जिसमें ओंकार तथा चेतना एक-रस हो जाते हैं, उनमें भेद नहीं रहता। जब चेतना इस अवस्था में पहुँच जाती है, तब पिंड की चेतना का ब्रह्माण्ड की चेतना से सम्पर्क हो जाता है—यही ब्रह्मानुभूति या ईश्वर-दर्शन है।

मन्त्र-जाप का यह अर्थ नहीं है कि साधक दिन-रात मन्त्र का जाप करता रहे। जिन लोगों ने दिन-रात मन्त्र-जाप करने की बात की थी उन्होंने भारत को निकम्मा बना दिया था। दिन-रात ध्यान लग नहीं सकता। परिणाम यह हुआ कि गुरु लोग शिक्षा तो यह देते रहे कि दिन-रात ध्यान करो, ऐसा हो नहीं सकता था, न चित्त ध्यान में लगा, न काम में लगा, न परलोक सिद्ध हुआ, न यह लोक सिद्ध हुआ। जप की, ध्यान की यह प्रक्रिया नहीं है। ध्यान की प्रक्रिया क्या है? जैसे कपड़े को रंगा जाता है, वैसे ध्यान द्वारा चेतना को रंगा जाता है। कपड़ा रंग कर धूप में फैला देते हैं। फैलाते हुए छाया में नहीं फैलाते, धूप में फैलाते हैं ताकि जितना रंग उड़ना है उड़ जाय। फिर उसे रंगते हैं, फिर धूप में फैलाते हैं। इस बार भी रंग उड़ता है, परन्तु पहले से कम। रंगना, फिर धूप में रंग का उड़ना—इस प्रक्रिया को करते-करते रंग कपड़े में स्थिर रूप से टिक जाता है। यही प्रक्रिया चेतना के साथ की जाती है। ध्या[illegible] फिर [illegible] करो,

ध्यान करो, फिर काम करो—ध्यान और काम, काम और ध्यान—परलोक और इहलोक, इहलोक और परलोक—परमेश्वर और संसार, संसार और परमेश्वर—इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में आने-जाने से चेतना वास्तविकता के जगत् में रहती है क्योंकि जैसे परमेश्वर सत्य है वैसे यह जगत् भी सत्य है। संसार के काम करने के बाद जब ध्यान में जाओगे तब विश्व की अथाह चेतना के साथ सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति की चेतना में इतनी शक्ति का संचार हो जायगा, इतना उत्साह, आनन्द तथा उल्लास भर जायगा कि भौतिक-जगत् में काम करते हुए भी आध्यात्मिक-जगत् से प्राप्त किया हुआ आनन्द बना रहेगा। तभी तो उपनिषदों में जनक आदि राजाओं के विषय में ऐसा वर्णन आता है कि दुनियावी काम करते हुए भी उनके हृदय में भगवान् की लौ लगी रहती थी। जप का, ध्यान का उद्देश्य, तुरीयावस्था की प्राप्ति का लक्ष्य, मानव को संसार से उपराम बना देना नहीं, अपितु सांसारिक-जीवन को भी सफल बना देना है। ध्यान में बैठने पर चेतना एक प्रकार से विश्व-चेतना के डायनेमो के सम्पर्क में आकर शक्ति से चार्ज हो जाती है, भर जाती है, उसमें परम-चेतना के सम्पर्क द्वारा शक्ति का संचार हो जाता है, मानव—आनन्द, शक्ति, उत्साह, प्रफुल्लता से छल-छलाने लगता है। यह छलछलाहट उस तक ही सीमित नहीं रहती, दूसरों को भी इसका अनुभव होने लगता है। यह सभी का अनुभव है कि कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से हम भी सूक-से जाते हैं, कई के सम्पर्क में आने से हम भी हरे-भरे हो जाते हैं। जो स्वयं हरे-भरे होंगे वे ही तो दूसरों को भी हरा-भरा बना सकते हैं। जैसे चुम्बक लोहे को चुम्बकित कर देता है, वैसे ही विश्व-चेतना के सम्पर्क में आकर हमारी चेतना चुम्बकित हो जाती है, फिर वह चेतना जिस किसी के सम्पर्क में आती है उसमें भी शक्ति से लबालब भरे हुए अपने प्याले में से कुछ-कुछ हिस्सा बाँटती जाती है।

8. मिथ्या-अध्यात्मवाद

अध्यात्मवाद की यह मिथ्या-धारणा है कि यह संसार असत्य है, यह कि जब तक हम इस संसार से विरक्त नहीं हो जाते, इसे छोड़ नहीं देते, तबतक उस आनन्दमय भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। संसार असत्य नहीं है, सत्य है, भगवान् भी असत्य नहीं है, सत्य है। हम मकान में बैठे हैं, मकान सत्य है, परन्तु मकान के बाहर बगीचा है, वह भी सत्य है। मकान में बैठ कर मकान का आनन्द लेना, मकान के बाहर जाकर बगीचे का आनन्द लेना—इन दोनों को मिला देने से पूरा आनन्द मिलता है। हमारे सामने एक फूल है। फूल भी सत्य है, फूल के भीतर का रस, उसकी सुगंध भी सत्य है। न हम यही कह सकते हैं कि केवल फूल की सत्ता है, न यही कह सकते हैं कि केवल रस या गंध की

ही सत्ता है। फूल और रस, फूल और गंध दोनों की सत्ता है। इसी प्रकार यह संसार सत्तामय है, यह मिथ्या नहीं है, साथ ही संसार रूपी फूल का रस, उसकी गंध, उसमें सन्निविष्ट आनन्दमय भगवान्—वह भी सत्य है। वेदान्ती लोग संसार को माया-मोह तथा मिथ्या-जाल कहते हुए एक भ्रान्त धारणा में पड़ जाते हैं। वे संसार को छोड़ने की बात कहते हैं, परन्तु दूसरों से तो संसार क्या छूटना था, उनसे भी तो नहीं छूटता। तभी श्री शंकराचार्य ने दो शब्दों को गढ़ा—'परमार्थ' में संसार असत् है, 'व्यवहार' में संसार सत् है। असली चीज़ व्यवहार है। जब व्यवहार में उसने सत् रहना है, तब परमार्थ की बात व्यर्थ है। यही कारण है कि परमार्थ का नाम लेने वालों के जीवन उसी तरह काम, क्रोध, वासना से सने दिखलाई देते हैं जैसे अन्य संसारी जीवों के। वैदिक-अध्यात्मवाद संसार को असत्य नहीं मानता, वह इसे इतना ही सत्य मानता है जितना संसार रूपी फूल में आनन्द रूपी रस का संचार करने वाले को सत्य मानता है। वैदिक अध्यात्मवादी इस संसार में रहता हुआ अपना सम्पर्क विश्व की आनन्दमयी-सत्ता से बनाये रखता है जिससे उसका व्यावहारिक-जीवन शक्तिमय, आनन्दमय, उत्साहमय, उल्लासमय बना रहता है, शक्ति के स्रोत से उसके जीवन में आनन्द का प्रवाह बहता रहता है।

वेदान्ती लोग संसार को ही मिथ्या नहीं कहते, अपने को भी ब्रह्म कहते हैं। उनके अध्यात्मवाद की यह भी मिथ्या धारणा है। मैं अपने को राजा कहता फिरूँ और भीख माँगता फिरूँ—इन दोनों बातों में संगति नहीं है। अपना देश इसलिए क्रियाहीन, शक्तिहीन हो गया क्योंकि इस देश में अपने को ब्रह्म कहने वालों की टोलियों-की-टोलियाँ उठ खड़ी हुई। अपने को राजा कह देने से कोई राजा नहीं बन जाता। इसमें सन्देह नहीं कि हमें सशक्त होना है, आनन्दमय होना है, राजा बन कर जीना है, परन्तु इसका तरीका यह नहीं है कि हम अपने को ब्रह्म कहने लगें, राजा कहने लगें। इस रास्ते पर चल कर देश का सत्यानाश हो गया, भिखारियों की मण्डलियाँ दर-दर भीख माँगने लगी। इसका सही रास्ता तो यही है कि हम अपना सम्बन्ध उस आनन्दमय से जोड़ें। रेल का डिब्बा जब इंजन से जुड़ता है तब 50-60 किलोमीटर की रफ़्तार से दौड़ने लगता है। इसीप्रकार जब ध्यान द्वारा हमारी चेतना का सम्पर्क तुरीयावस्था में पहुँच कर आनन्द की स्रोत विश्व-चेतना से होगा, तब हमारी चेतना भी आनन्द से लबालब भर उठेगी, हममें आनन्द छलकने लगेगा, वह आनन्द हम तक ही सीमित नहीं रहेगा, जो भी हमारे सम्पर्क में आयेगा वह भी आनन्दमय हो जायेगा। तब हम संसार को मिथ्या और अपने को ब्रह्म या राजा नहीं कहते फिरेंगे, दूसरे भी हमें राजा ही अनुभव करेंगे, तब हम संसार को मिथ्या कह कर उससे उपराम नहीं हो जायेंगे, तब हम संसार को यथार्थ मान कर उसका शासन

करेंगे, संसार को जिधर चाहेंगे चलाएँगे। चुम्बक के सम्पर्क में आने से लोहा चुम्बक हो जाता है, ध्यान द्वारा आनन्द के स्रोत के साथ जुड़ जाने से मानव आनन्दमय हो जाता है।

9. यथार्थ-अध्यात्मवाद

हमारा दृष्टिकोण एकांगी है। भौतिकवादी लोग, चाहे पूर्व के हों चाहे पश्चिम के हों, सिर्फ़ इस दुनिया में रमे रहते हैं, भौतिकवाद का नारा लगाये फिरते हैं, अध्यात्मवादी सिर्फ़ परलोक की बात करते हैं। ये दोनों दृष्टियाँ एकांगी हैं, अयथार्थ हैं। सर्वांगीण तथा यथार्थ-दृष्टि यह है कि संसार भी सत्य है, ब्रह्म भी सत्य है, इन दोनों को आपस में लड़ाने के स्थान में इन दोनों के मेल से ही जीवन का सीधा रास्ता बनता है। सर्वांगीण-दृष्टि यह है कि मानव की स्वल्प-चेतना ध्यान द्वारा चेतना की 'तुरीयावस्था' या वाणी के 'परा-स्तर' पर पहुँच कर अव्यक्त विश्व-शक्ति के तेजोमय शक्ति-पुंज सच्चिदानन्द के सम्पर्क में आकर शक्ति का संचय करे और आधिभौतिक जगत् में आकर, सशक्त होकर, सांसारिक-जीवन को सफल बनाए। हर समय अध्यात्म में डूबे रहना सांसारिक लोगों को निकम्मा बना देता है। नाम ले, परन्तु काम करे। सिर्फ़ नाम ही लेते रहने से काम नहीं होता, सिर्फ़ काम ही करते रहने से काम करने की शक्ति ही नहीं रहती। नाम द्वारा शक्ति का संचय करना, और संचित-शक्ति से काम में लग जाना—यही सही रास्ता है। हम कुछ देर के लिए खजाने में जाते हैं, वहाँ से धन लेकर दिन-भर बाज़ार में काम करते हैं, इसी से दुनिया के कारोबार चलते हैं। अगर हम खज़ाने में ही बन्द रहें तो बेकार, अगर खज़ाने से पैसे लिए बिना बाज़ार में कारोबार के लिए चले जाएँ तो बेकार। ध्यान में बैठना खज़ाने में जाना है, ध्यान के बाद काम में लग जाना बाज़ार में जाना है। खज़ाने में जाओ और बाज़ार में आओ, नाम लो परन्तु उसके बाद काम करो, ध्यान में बैठो और शक्ति संचित कर संसार के व्यवहार को चलाओ—यही सर्वांगीण-दृष्टि है, यही यथार्थ वैदिक-अध्यात्मवाद है, इसी की घोषणा वेद में '**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**' कह कर की गई है—संसार का भोग करो, परन्तु ध्यान रखो कि भोग ही सब-कुछ नहीं है।

हम कहते हैं कि संसार के विषयों के खिंचाव इतने प्रबल हैं कि ध्यान में बैठा ही नहीं जाता। ध्यान में बैठते ही दुनिया की बातें चेतना-पटल पर सिनेमा के चल-चित्रों की तरह खिंचने लगती है। हम कैसा ही प्रयत्न करें, चेतना उनसे हटती ही नहीं। ध्यान के विज्ञान के पास इसका भी समाधान है। इसका समाधान यह है कि चेतना को विषयों से खींचना नहीं है। कैसे खिंचेगी? यह कैसे हो सकता है कि जो सांसारिक-विषय चेतना को दिन-रात घेरे रहते हैं उनकी तरफ़

हम ध्यान न दें ? जब हम उनकी तरफ़ ध्यान न देने की बात सोचने लगते हैं तब तो वे और प्रबल हो उठते हैं। इसका उपाय यही है कि इन विषयों के समकक्ष इनसे प्रबल कोई विषय चेतना के सामने रख दिया जाय। अगर मोमबत्ती का प्रकाश हो रहा हो, तो बिजली के प्रकाश से यह दब जाता है, रेडियो चल रहा हो तो उधर तो ध्यान बरबस जाता है परन्तु अगर उससे अधिक मधुर संगीत की तान छेड़ दी जाय, तो रेडियो चलता रहेगा परन्तु ध्यान उससे अपने-आप हट जायगा। चेतना को संसार के विषय घेरे रहते हैं इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, परन्तु हाँ—अगर चेतना के सम्मुख इन विषयों से प्राप्त होने वाले आनन्द से भी प्रबल विश्व-चेतना के सान्निध्य का आनन्द रख दिया जाय, तो बरबस उसके ध्यान का केन्द्र संसार के विषय न होकर विश्व-चेतना हो जाएगी—क्योंकि विषयों के आनन्द और चेतना के आनन्द की तुलना में विषयों का आनन्द क्षणिक दीखने लगेगा। चेतना की यह स्थिति 'तुरीयावस्था' या 'परा-स्तर' पर पहुँचने पर ही हो सकती है।

10. चेतना के विषय में मनोविश्लेषणवाद का पाश्चात्य-विचार

चेतना के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों की जिस विचारधारा का हमने उल्लेख किया उससे मिलती-जुलती विचारधारा का युरोप में फ्रॉयड (1856-1839) ने सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे 'मनोविश्लेषणवाद' (Psycho-analysis) कहा जाता है। 1892 में उसने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसका रूप यह था कि चेतना का अध्ययन हमें बतलाता है कि हमारी 'सचेतनावस्था' (Conscious state) से गहरी एक दूसरी चेतना है जिसे उसने 'अचेतनावस्था' (Unconscious state) का नाम दिया। हमारी सचेतनावस्था के नीचे, गहराई में एक ऐसी 'अचेतनावस्था' है, जैसे समुद्र के पानी की ऊपरी सतह के नीचे गहरा पानी होता है। सचेतनावस्था पानी की ऊपरी सतह है, अचेतनावस्था इस ऊपरी सतह के नीचे गहरा पानी है। उसका कहना था कि 'सचेतन' तथा 'अचेतन' के बीच में 'अवचेतनावस्था' (Sub-conscious state) है जो इन दोनों को मिलाती है। इस विचार को यूँ भी प्रकट किया जा सकता है कि मानो समुद्र में एक ग्लेशियर पड़ा है। ग्लेशियर बर्फ़ के उस विशाल-खण्ड को कहते हैं जो पहाड़ से बह कर समुद्र में आ पड़ता है। इसका बहुत ही थोड़ा हिस्सा पानी के ऊपर दिखलाई देता है, बहुत बड़ा हिस्सा पानी में ही डूबा रहता है। चेतना मानो इसी प्रकार का ग्लेशियर है। ग्लेशियर का थोड़ा-सा हिस्सा पानी की सतह पर दीखता है, उसी की तरह हमारी चेतना का थोड़ा-सा हिस्सा ही हमारे अनुभव में आता है, इसी को 'सचेतन' (The conscious) कहा जाता है; ग्लेशियर का तीन-चौथाई से अधिक हिस्सा पानी में डूबा रहता है, इसी को

'अचेतन' (The unconscious) कहा जाता है ; ग्लेशियर का कुछ हिस्सा पानी की सतह को कुछ ऊपर से कुछ नीचे से छूता है, इसी को 'अव-चेतन' (The sub-conscious) कहा जाता है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार हमारी चेतना का बहुत बड़ा भाग पानी में डूब रहे ग्लेशियर की तरह 'अवचेतना' तथा 'अचेतना' के रूप में हमारे अनजाने हममें बना रहता है।

(क) **सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन** (Conscious, Sub-conscious, Unconscious)—'सचेतन' (Conscious), 'अवचेतन' (Sub-conscious) तथा 'अचेतन' (Unconscious) में क्या भेद है ? पहले तो हमें 'सचेतन' तथा 'अचेतन' में भेद समझ लेना चाहिए क्योंकि यही दो मुख्य हैं, 'अवचेतन' तो इन दोनों के बीच का रास्ता है। फ्रॉयड का कहना है कि मनुष्य में कई तरह के विचार रहते हैं। कई विचार ऐसे हैं जिन्हें हमारा समाज बर्दाश्त कर लेता है, उन विचारों के लिए माता-पिता या समाज का कोई बन्धन नहीं होता। कई विचार ऐसे भी होते हैं जिन्हें हमारे माता-पिता पसन्द नहीं करते, न हमारा समाज उन्हें पसन्द करता है। जिन विचारों को हमारे माता-पिता, अभिभावक तथा समाज पसन्द करते हैं, वे हमारे 'सचेतन' (Conscious) में रहते ही हैं, परन्तु जिन विचारों को हमारे माता-पिता या समाज पसन्द नहीं करते, वे मन में तो उठते ही रहते हैं, उनका क्या होता है ? फ्रॉयड का कहना है कि बस, वे ही विचार 'अचेतन' (Unconscious) में जाकर जमा हो जाते हैं, और 'सचेतन' के लिए मानो लुप्त हो जाते हैं। हम अपनी तरफ़ से तो मानो उन विचारों को मन में से धकेल कर बाहर फेंक देते हैं, परन्तु ऐसा होता नहीं है। बाहर चले जाने के बजाय वे चेतना के अन्तर-स्तल में जा बैठते हैं, 'अचेतन-स्तर' में जा छुपते हैं। हम समझते हैं कि हमने उन्हें निकाल दिया, परन्तु निकल जाने के बजाय वे अन्दर गड़ कर बैठ जाते हैं। जब हम माता-पिता, समाज तथा अभि-भावकों द्वारा अमान्य उन अनुचित, अश्लील, गन्दे विचारों को जो बाहर के वातावरण से हमारे मन में प्रवेश करते हैं इच्छापूर्वक दबाकर 'अचेतना' के कूड़ाघर में धकेल देते हैं, तब इस मानसिक-प्रक्रिया को मनोविश्लेषणवाद की परिभाषा में 'दमन' (Suppression) कहा जाता है ; ये दबे हुए विचार भीतर से बाहर आने के लिए अकुलाने लगते हैं, ये गन्दे विचार 'अचेतन' के भीतर जाकर मरते नहीं, उनकी क्रियाशीलता बढ़ जाती है। जिस विचार को दबाया जाय, वह बाहर निकलने के लिए जोर लगाता ही है, अगर नहीं निकल सकता तो भीतर बेचैनी पैदा करता है, इसी से तन्त्रकीय-रोग (Nervous diseases) पैदा हो जाया करते हैं। दबाया हुआ गन्दा विचार मरा नहीं, क्रिया-शील है, बाहर निकलने के लिए जोर मार रहा है, परन्तु बाहर 'सचेतन-मन' (Conscious mind) में आने के लिए उसे 'अवचेतन-मन' (Sub-conscious

mind) में से गुज़रना पड़ता है। क्योंकि यह विचार गन्दा है, अश्लील है, इसलिए 'अवचेतन' जो अचेतन को सचेतन और सचेतन को अचेतन से मिलाने की सीढ़ी है, वहाँ एक 'अवरोधक' (Censor) बैठा है, जो गन्दे विचारों को अपने गन्दे रूप में आने नहीं देता, उन्हें फिर भीतर धकेल देता है, उनका 'दमन' (Suppression) कर देता है। परिणाम यह होता है कि ये गन्दे विचार अपनी शक्ल बदल कर दूसरे रूप में सचेतन में आने का प्रयत्न करते हैं। स्वप्न में यही होता है। हमारे 'अचेतन' में दबे हुए विचार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर स्वप्नों में विचरते हैं। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति किसी विवाहिता-स्त्री के प्रेम-पाश में फँस गया। यह विचार ऐसा है जिसे समाज सहन नहीं करता। हमारा मन इसे 'अचेतन' में धकेल देता है, इसका 'दमन' (Suppression) करता है। यह विचार मरता तो नहीं, अचेतन से बाहर निकलने की कोशिश करता है, अपने गन्दे रूप में तो 'अवरोधक' (Censor) इसे निकलने नहीं देता, इसका 'दमन' (Suppression) कर देता है, ऐसी हालत में यह गन्दा विचार या तो जाग्रत में जब 'अवरोधक' पहरा दे रहा होता है अपना रूप बदल कर 'सचेतना' में किसी बीमारी आदि की शक्ल में प्रकट होता है, या जब 'अवरोधक'-रूपी पहरेदार मनुष्य के सो जाने पर छुट्टी ले लेता है, तब वह उस विवाहिता-स्त्री से स्वप्न में प्रेम कर लेता है। चेतना में जब ये अनुचित तथा गन्दे विचार दब जाते हैं, जब उन्हें भेस बदल कर या बिना किसी भेस बदले अचेतन के कैदखाने में से बाहर निकलने का अवसर नहीं मिलता, तब व्यक्ति या तो मानसिक-सन्तुलन को खो बैठता है, या उसके भीतर मानसिक-तनाव (Tensions) उत्पन्न हो जाते हैं। मनोविश्लेषणवाद का कहना है कि जब रोगी को पता चल जाय कि उसका मानसिक-असन्तुलन या मानसिक-तनाव किस परिस्थिति में मनोभाव को दबाने से हुआ है, किस परिस्थिति के दमन से उसे मानसिक-कष्ट हुआ है, तब उसके ज्ञानमात्र से उसका रोग जाता रहता है। इसीलिए मानसिक-रोगों का इलाज करने के लिए मनोविश्लेषणवाद का सहारा लिया जाता है।

ऊपर हमने जो लिखा उसे दूसरी तरह भी समझाया जा सकता है। हमारी चेतना की, तुलना के लिए, कल्पना कीजिए कि हम एक ऐसे मकान में रहते हैं जिसमें एक तहखाना है, तहखाने के ऊपर एक मकान बना हुआ है। एक परिवार नीचे तहखाने में रहता है, दूसरा तहखाने के ऊपर बने मकान में रहता है। दोनों परिवार अलग-अलग हैं। ऊपर के मकान में जो परिवार रहता है, वह सभ्य है, सुशिक्षित है, सदाचारी है, सफ़ाई-पसन्द है, साफ़-सुथरे कपड़े पहनता है, भला तो है ही, दूसरों के सामने भी भला लगना ही पसन्द करता है। इसे मन की 'सचेतनावस्था' (Conscious state) का प्रतिनिधि समझिए। अब आइये तहखाने के भीतर। वहाँ गन्दे, अश्लील लोग रहते हैं, परिवार उनका

वहुत वड़ा है, हो-हल्ला मचाते रहते हैं, अपने स्वार्थ के सिवाय उन्हें कुछ सूझता नहीं। सब तरह के काम-क्रोध-लोभ-मोह के वे शिकार हैं, निर्लज्जता उनका स्वाभाविक गुण है। उनकी हर समय यह इच्छा वनी रहती है कि वे अपनी काल-कोठरी को जिसमें न हवा, न पानी, न प्रकाश है, छोड़कर ऊपर के मकान के लोगों के वीच आएँ, उनसे मिलें-जुलें और इस प्रयत्न में वे हर समय जी-तोड़ प्रयत्न करते रहते हैं। इस तहखाने तथा उसमें रहने वालों को मन की 'अचेतनावस्था' (Unconscious state) का प्रतिनिधि समझिए। ऊपरी मकान तथा तहखाने को मिलाने वाला एक स्थल है जिसमें से गुजर कर तहखाने के लोग ऊपर के मकान में जवर्दस्ती आ घुसने की कशमकश कर रहे हैं। इस स्थल को 'सचेतन' तथा 'अचेतन' को मिलाने वाली मन की 'अव-चेतनावस्था' (Sub-conscious state) समझिए। इस स्थल पर एक पहरेदार तैनात है जो आने वालों के टिकट देखकर ही योग्य व्यक्तियों को आने देता है, नहीं तो सवको पीछे धकेल देता है। इस पहरेदार को 'अवरोधक' (Censor) समझिये। पहरेदार जव जागता होता है तव भेस वदल कर कुछ तहखाने वाले वाहर निकल आते हैं, कुछ तव निकल आते हैं जव पहरेदार रात को सो जाता है ; जो वाहर नहीं निकल सकते वे भीतर ऊधम मचाते रहते हैं। इसी को मानसिक-असन्तुलन, मानसिक-तनाव समझिये।

(ख) इड, ईगो, सुपर-ईगो (Id, Ego, Super-Ego)—चेतना के विषय में जैसे फ्रॉयड ने 'सचेतन' (Conscious), 'अवचेतन' (Sub-conscious) तथा 'अचेतन' (Unconscious) शब्दों का प्रयोग किया है, वैसे चेतना के विषय में ही उसने इड, ईगो तथा सुपर-ईगो (Id, Ego, Super-Ego) शब्दों का प्रयोग किया है। ये क्या हैं ? 'इड'-शब्द का प्रयोग उन प्रसुप्त तथा दवी हुई इच्छाओं के लिए किया गया है, जो 'अचेतना के क्षेत्र' (Area of the unconscious) में छिपी हुई पड़ी रहती है। हमें इनका ज्ञान नहीं रहता, परन्तु वे वहाँ पड़ी वाहर निकलने के लिए कुलवुलाती रहती हैं। 'अचेतना' तथा 'इड' में क्या भेद है ? 'अचेतना' तो उस क्षेत्र का, चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसे 'अज्ञात' कह सकते हैं, 'इड' उस वस्तु-जात का, उस तत्त्व का नाम है जो अज्ञात में रहता है। 'इड' हमारी अतृप्त, अश्लील, गन्दी वासनाओं के पुंज का नाम है जो चेतना के 'अचेतन', अज्ञात-क्षेत्र में मुंह छिपाये पड़ी रहती हैं और 'सचेतन', ज्ञात-क्षेत्र में आने के लिए जोर मारती रहती हैं। उनका इस प्रकार जोर मारते रहना ही हमारे मन में असन्तुलन, तनाव आदि उत्पन्न करता है। मनुष्य की वासनाओं के ढेर को जिसमें वुद्धि काम नहीं करती, जो अचेतन में, अज्ञात में अस्त-व्यस्त पड़ी रहती हैं 'इड' संज्ञा दी गई है। 'इड' के वाद दूसरी सत्ता 'ईगो' की है। फ्रॉयड का कहना हैं कि 'इड' का क्षेत्र तो अचेतन (Unconscious) है ; 'ईगो'

लिंग-सम्बन्धी विचार जन्मते ही उत्पन्न हो जाते हैं। वालक अपनी माता के प्रति खिचता है, वालिका अपने पिता के प्रति। वालक के माता के प्रति और वालिका के पिता के प्रति खिचाव को फ्रॉयड ने लिंग-सम्बन्धी खिचाव कहा है। फ्रॉयड के मत में वच्चे की प्रत्येक क्रिया का आधार 'काम-लिप्सा' (Libido) है। अंगूठा चूसना, पेशाव करना, मल त्यागना—उसी 'काम-लिप्सा' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। फ्रॉयड के इस मत से उसके साथी एडलर (1870-1937) का मत विल्कुल भिन्न था। एडलर का कहना था कि फ्रॉयड का यह मत कि मानव की प्रारम्भिक-क्रियाओं का आधार 'काम-लिप्सा' है, ग़लत वात है। एडलर ने कहा कि काम-लिप्सा का जीवन में मुख्य-स्थान तो है, परन्तु वह जीवन की सर्वेसर्वा नहीं; जीवन में मुख्य-स्थान, जीवन का सव से वड़ा आवेग 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा'—'स्वाग्रह'—(Self-assertive Impulse या Will to Power) है। इसी आवेग के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति में परिस्थितियों के कारण अपने को वड़ा समझने की—'श्रेष्ठता-मनोग्रन्थि'—(Superiority complex) या छोटा समझने की—'हीनता-मनोग्रन्थि'—(Inferiority complex) वन जाती है।

11. शास्त्रीय-विचार तथा मनोविश्लेषणवाद की तुलना

(क) **'सचेतन', 'अवचेतन', 'अचेतन'—इन तीन के विचार के साथ 'जाग्रत', 'स्वप्न', 'सुषुप्ति', 'तुरीय' एवं 'वैखरी', 'मध्यमा', 'पश्यन्ती', 'परा' इन चार के विचार की तुलना**—फ्रॉयड ने चेतना की सचेतन, अवचेतन, तथा अचेतन—इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। माण्डूक्योपनिषद् में चेतना की चार अवस्थाओं का वर्णन है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय; पतंजलि मुनि ने वाणी के चार स्तरों का वर्णन किया है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा। हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में देख आए हैं कि फ्रॉयड की सचेतनावस्था (Conscious state) उपनिषद् की जाग्रतावस्था है; फ्रॉयड की अवचेतनावस्था (Subconscious state) उपनिषद् की स्वप्नावस्था है; फ्रॉयड की अचेतनावस्था (Unconscious state) उपनिषद् की सुषुप्तावस्था है। प्रत्येक विद्वान् का अपने मन्तव्य को प्रकट करने का अपना-अपना तरीका, अपने-अपने दृष्टान्त होते हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित 'सचेतन', 'अवचेतन' तथा 'अचेतन' उपनिषद् के 'जाग्रत', 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्ति' के विचार को ही प्रकट करते हैं। इनमें भेद केवल दृष्टि का है। फ्रॉयड ने चेतना की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन मानव के व्यवहार को समझने-समझाने के लिए किया है क्योंकि पाश्चात्य-विचारधारा मनुष्य के भौतिक-जीवन तक ही अपने को सीमित रखती है। उपनिषद् ने चेतना की तीन अवस्थाओं की जगह उसकी चार अवस्थाओं का वर्णन किया है जिनमें

तीसरे पड़ाव पर अटक गए हैं, भारतीय-विचारक चौथे पड़ाव पर पहुँच गए हैं। इन दोनों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ है कि पश्चिम का मनोवैज्ञानिक जिसने मनोविश्लेषणवाद को जन्म दिया 'अचेतन' (Unconscious) के कीचड़ की दलदल में फँस गया है, उसे उस दलदल की ही जाँच करना है, भारत का मनोवैज्ञानिक भी जिसने अध्यात्मवाद को जन्म दिया 'अचेतन' (Unconscious) तक पहुँचा है, परन्तु वहाँ अटक जाने के स्थान में उसे लाँघ कर पिंड तथा ब्रह्माण्ड की चैतन्य-शक्ति की खोज में वह आगे निकल गया है।

फ्रॉयड का यह कथन कि 'सेक्स' तथा 'काम-लिप्सा' (Sex and Libido) से मानव की सब वासनाओं का उदय होता है कोई नई खोज नहीं है। भारत के दार्शनिकों ने मानव की मानसिक-रचना में 'पुत्रैषणा' को प्रथम स्थान दिया है। भेद इतना ही है कि फ्रॉयड ने एक भौतिकवादी भद्दे शब्द का प्रयोग किया है, इस भावना को 'लिबिडो'—'काम-लिप्सा'—(Lust)—कहा है, भारतीय ऋषियों ने इसके लिए अध्यात्मवादी-शब्द का प्रयोग किया है, इस भावना को 'पुत्रैषणा' कहा है, आधारभूत बात एक ही है। जहाँतक इस भावना में 'सेक्स' (Sex)—लिंग—का सम्बन्ध है, वैदिक-विचाधारा यह है कि काम-वासना तो सब में होती ही है, परन्तु मानव का ध्येय इस वासना के कीचड़ में फँसने के स्थान में तुरीयावस्था में पहुँचना है जिससे ज्ञान की अग्नि द्वारा ये वासनाएँ भस्म हो जाएँ। फ्रॉयड वासनाओं के स्वरूप को देखता है, वैदिक-मनोविज्ञान उनके स्वरूप को देख कर उन्हें भस्म करने की, ज्ञानाग्नि द्वारा जला देने की बात करता है।

(ख) **इड, ईगो, सुपर-ईगो के साथ अहंकार, चित्त, मन, बुद्धि की तुलना**—मनोविश्लेषणवाद के सिलसिले में हम लिख आए हैं कि फ्रॉयड ने चेतना के प्रकरण में 'अचेतन' (Unconscious) का 'इड' (Id) से, 'अवचेतन' तथा 'सचेतन' (Sub-conscious and Conscious) का 'ईगो' (Ego) से तथा 'पूर्ण-सचेतन' का 'सुपर-ईगो' (Super-Ego) से सम्बन्ध जोड़ा है। यहाँ पर भी फ्रॉयड ने तीन सत्ताओं का उल्लेख किया है, भारतीय-दर्शन में चार सत्ताओं का उल्लेख है। फ्रॉयड का कथन है कि 'इड' में प्रेरणा का जो स्रोत है वह 'लिबिडो' (Libido) है, 'सेक्स' (Sex) है। हमने लिखा था कि इस बात से एडलर सहमत नहीं रहे। एडलर, फ्रॉयड के समकक्ष, उसके साथ काम करने वाले विद्वान् थे, वे इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे कि जीवन का स्रोत 'काम-लिप्सा' (Libido) से ही प्रभावित होता है। 'काम-लिप्सा' का जीवन में मुख्य स्थान है, परन्तु यह जीवन में अन्त तक नहीं बनी रहती, समय आता है जब यह नष्ट हो जाती है। एडलर के कथनानुसार आत्म-गौरव या आत्माभिमान की भावना जीवन में शुरू से पायी जाती है, अन्त तक बनी रहती है।

वनता है। सांख्य के अन्तःकरण चतुष्टय में जो 'मन' तथा 'वुद्धि' हैं, वे फ्रॉयड के 'उच्च-अन्तःकरण' (Super-Ego)—'पर+अहम्'—के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार हमने देखा कि 'इड' अचेतन का 'अहंकार' है, 'ईगो' अवचेतन तथा सचेतन का 'चित्त' है, 'सुपर-ईगो' ज्ञात-चेतना का 'मन तथा बुद्धि' है। संक्षेप में, 'इड'-'ईगो'-'सुपर-ईगो' सांख्य के अन्तःकरण चतुष्टय—अहंकार, चित्त, मन-वुद्धि—के ही समान हैं। इस विवरण में फ्रॉयड तथा सांख्य में भेद यह है कि फ्रॉयड इड तथा लिविडो को मानता है, सांख्य इड तथा लिविडो की जगह एडलर के 'स्वाग्रह' (Self-assertion) के सिद्धान्त से मिलते-जुलते 'अहंकार'-तत्त्व को मानता है।

(ग) **'काम-लिप्सा' तथा 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' (स्वाग्रह) के विचार के साथ पुत्रैषणा, लोकैषणा तथा वित्तैषणा के शास्त्रीय सिद्धान्त की तुलना**—फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का आधार 'इड' या 'लिविडो' है। 'इड' या 'लिविडो' का आधारभूत भाव 'काम-लिप्सा' है। फ्रॉयड का कथन है कि जीवन में मानसिक-विकास का प्रारम्भ काम-लिप्सा से होता है। वच्चा जन्मते ही कामी होता है। 'लिविडो'-शब्द 'का अंग्रेज़ी में अर्थ 'Lust' है—'लस्ट' अर्थात् काम। शास्त्र में भी कहा है—**'कामस्तदग्रे समवर्तत'**—शुरू-शुरू में 'काम' ही था। उपनिषद् में वर्णन पाया जाता है—**'सोऽकामयत्'**(वृहदारण्यक, 1-4)—उसने 'कामना' की। शास्त्रों में अन्यत्र भी तीन एपणाओं का उल्लेख है। 'एपणा' का अर्थ है—मनुष्य को प्रेरणा देने वाली मानसिक-शक्ति। अंग्रेज़ी में 'एपणाओं' को 'Urges' कहा जा सकता है। फ्रॉयड के मत में जीवन की प्रेरणा का स्रोत, वह स्रोत जिसकी वजह से वह क्रियाशील होता है, इड है, लिविडो है, काम-लिप्सा है, सेक्स है। अगर 'लिविडो' के अर्थ को सेक्स (Sex) तक ही सीमित न रखा जाए, तो शास्त्रीय-सिद्धान्त के अनुसार यह कहना अनुचित न होगा कि मानव के व्यवहार की प्रेरणा का आधार 'काम' ही है। इसी को शास्त्रों में तीन एषणाओं का नाम दिया गया है, जिनमें से प्रथम 'पुत्रैपणा' है। एक तरह से पुत्रैपणा ही इड है, लिविडो है। परन्तु हम पहले ही देख आए हैं कि फ्रॉयड का समकक्ष, उसका साथी एडलर कहता था कि 'लिविडो' जीवन का उतना आधारभूत तत्त्व नहीं है जितना अपने को वड़ा समझने या बनाने की अभिलाषा जिसे उसने 'Self-assertion'—'स्वाग्रह'—कहा है। हर-कोई 'मैं-पन' का शुरू से ही शिकार होता है। काम-लिप्सा तो अन्त तक नहीं वनी रहती, 'मैं-पन' जीवन के प्रारम्भ से शुरू होता है, जीवन के अन्त तक वना रहता है। इसको सांख्य की परिभाषा में 'अहंकार' कहा गया है, एषणाओं की शब्दावली में इसे 'लोकैपणा कहा गया है। ऐसा लगता है कि हमारे शास्त्रों की दृष्टि में फ्रॉयड तथा एडलर का कथन एकांगी है, इन दोनों के कथनों को मिला देने से ही चेतना का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। चेतना के निर्माण में 'इड'—

बड़ा है, महान् है—यह विश्व का संहार भी कर सकता—'विश्वहा'—है, इसलिए हे काम ! तुझे नमस्कार है। उपनिषद् में भी लिखा है—'सोऽकामयत्'। यह 'काम'-शब्द सेक्स का सूचक तो है ही, 'काम' का अर्थ 'कामना' होने के कारण इसका अर्थ सेक्स से कुछ अधिक भी है। फ्रॉयड ने भी 'लिबिडो'-शब्द को सेक्स तक सीमित रखने के स्थान में कुछ व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार 'अहंकार'-शब्द का प्रयोग एडलर के 'स्वाग्रह' (Self-assertion) का सूचक है। मनुष्य में ये दोनों एषणाएँ हैं—इन एषणाओं से मानव का व्यवहार चल रहा है। भारतीय-शास्त्र फ्रॉयड तथा एडलर से कुछ आगे की भी बात सोचते हैं। उनका कहना है कि 'काम' (Libido) तथा 'स्वाग्रह' (Self assertion)—इन एषणाओं में से सिर्फ़ एक को जीवन में प्रेरणा देने का स्रोत मानने के स्थान में जीवन में प्रेरणा देने वाले उक्त दो के अलावा तीन स्रोत मानने चाहियें, जिनमें से तीसरा प्रेरक-स्रोत 'परिग्रहण-एषणा' (Desire for Acquisition) है। मनुष्य में सिर्फ़ 'काम' की ही नहीं, 'अहंकार' की ही नहीं, 'परिग्रहण'—संग्रह—की भी एषणा है, इन तीन प्रेरकों—तीन आवेगों—तीन एषणाओं से प्रभावित होकर यह मानव-जीवन चल रहा है। शास्त्रों में काम की एषणा को 'पुत्रैषणा', परिग्रहण की एषणा को 'वित्तैषणा' तथा श्रेष्ठता-प्राप्ति या अहंकार की एषणा को 'लोकैषणा' कहा गया है।

एषणाएँ तो बरसात की बाढ़ की तरह हर व्यक्ति के भीतर उमड़ा करती हैं, इन्हीं से मनुष्य परेशान रहता है। ये जहाँ मनुष्य के व्यवहार की प्रेरणा-स्रोत हैं, वहाँ उसकी परेशानियाँ भी यही हैं। इन एषणाओं को तृप्त भी किया जाय, इनका शिकार होने से बचा भी जाय—इन से कैसे निपटा जाय—यह फ्रॉयड की समस्या थी, यह एडलर की समस्या थी, भारतीय-ऋषियों के सम्मुख भी यही समस्या थी। आइए, इन एषणाओं से कैसे निपटा जाय—इस पर विचार कर लें।

(क) **पुत्रैषणा**—मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक फ्रॉयड का कहना है कि सेक्स का विचार बालक को जीवन के प्रारम्भ से पकड़ लेता है। बालक माता के प्रति तथा बालिका पिता के प्रति आकृष्ट रहती है। फ्रॉयड का कथन है कि विजातीय के प्रति आकर्षण का कारण सेक्स ही है। ज्यों-ज्यों बालक-बालिका बड़े होने लगते हैं, त्यों-त्यों सेक्स का विचार गहरा होता जाता है। समाज की धारणा सेक्स के विचारों को प्रकट-रूप में व्यक्त होने में बाधा डालती है, इसलिए ये विचार अचेतन-मन (Unconscious mind) में जा बैठते हैं जिससे आँखों से तो ओझल रहें, परन्तु वहाँ से मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। जितना सेक्स-सम्बन्धी विचारों का 'दमन' (Suppression) किया जाता है उतने ही वे भीतर-ही-भीतर क्रियाशील होते जाते हैं, और मनुष्य का

विषय-भोग से विषय-वासना बढ़ती ही जाती है मनुस्मृति (2-94) में ठीक कहा है :

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

—कामनाएँ कभी उनका उपभोग करने से शान्त नहीं होतीं। कामना का जितना उपभोग किया जाय उतनी ही उसके प्रति लालसा तीव्र हो जाती है, ठीक ऐसे जैसे आग में घी डालें, तो आग शान्त होने की जगह चमक उठती है, और अधिक घी की आहुति चाहती है।

मनोविश्लेषणवाद का भोगवादी दृष्टि-कोण एक तरफ़ है, भारतीय-शास्त्रों का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण दूसरी तरफ़ है। मनोविश्लेषणवाद कहता है कि विषय-भोग से मन शान्त हो जाता है, मानसिक-तनाव दूर हो जाता है; वैदिक-विचारधारा का कथन है कि विषय-भोग की शान्ति क्षणिक शान्ति है, कुछ देर बाद यह शान्ति अधिक अशान्ति को जन्म देती है। इस विकट-स्थिति में मनोविश्लेषणवाद के पास एक दूसरा रास्ता भी है। वह रास्ता क्या है ?

(ii) **इच्छा का उदात्तीकरण** (Sublimation of Desire)—सेक्स एक शक्ति है। इसका स्वाभाविक-प्रवाह विषय-भोग की तरफ़ होता है। स्वाभाविक-प्रवाह से क्या अभिप्राय है ? स्वाभाविक-प्रवाह से अभिप्राय यह है कि जब पुरुष स्त्री के या स्त्री पुरुष के सम्पर्क में आती है, तब सेक्स की 'मूल-प्रवृत्ति' (Instinct) के कारण उसके 'तंत्रिका-तंत्र' (Nervous system) में नैसर्गिक तौर पर उत्तेजना होती है। यह उत्तेजना जबतक दूर नहीं हो जाती तबतक उत्तेजित-व्यक्ति की 'तंत्रिकाएँ' (Nerves) तनाव की स्थिति में बनी रहती हैं। उस व्यक्ति के सेक्स के कृत्य में प्रवृत्त हो जाने से ये उत्तेजित तंत्रिकाएँ शान्त हो जाती हैं, तनाव मिट जाता है। परन्तु हमारे समाज की धारणाएँ व्यक्ति के इस प्रकार सेक्स में प्रवृत्त हो जाने को घृणित समझती हैं, परिणामस्वरूप उत्तेजित-व्यक्ति सेक्स में समाजानुमोदित या समाजनिन्दित तरीके से प्रवृत्त होने के बजाय इन विचारों का दमन कर देता है, परन्तु दमित सेक्स भीतर बेचैनी तथा तनाव उत्पन्न कर देता है, इसलिए 'मनोरोगविज्ञानी' (Psychiatrists) सेक्स-सेवन का ही सुझाव देते हैं। परन्तु क्या इच्छाओं के सम्बन्ध में दमन के सिवाय दूसरा रास्ता नहीं है ? यह दूसरा रास्ता ही सेक्स-शक्ति का 'उदात्तीकरण' (Sublimation) है। पानी की भाप एक शक्ति है। इस शक्ति से हम एक नहीं, अनेक काम ले सकते हैं। इसी भाप से हम रसोई-घर में रोटी-दाल पका सकते हैं, इसी से रेलगाड़ी का इंजिन भी चला सकते हैं। शक्ति को किसी ऊँचे कार्य की दिशा दे देना ही उसका 'उदात्तीकरण' है। शक्ति हाथ में होनी चाहिए, उस से ध्वंस भी किया जा सकता है, सर्जन तथा निर्माण भी किया जा सकता है। फ्रॉयड के 'लिबिडो' या 'सेक्स' को—वेदों तथा

इसलिए गृहस्थी का जीवन सोलह संस्कारों से घिरा हुआ था जिनमें से एक-एक संस्कार का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का निर्माण करना था। जब गृहस्थी के सम्मुख गृहस्थाश्रम का उद्देश्य समाज को सुसंस्कृत सन्तान देना हो, तब एक उच्च-लक्ष्य होने के कारण वह सेक्स का शिकार नहीं होगा, उसके जीवन में स्वतः सेक्स की मूल-प्रवृत्ति का उदात्तीकरण हो जाएगा। यह ठीक है कि सब किसी के लिए सेक्स का उदात्तीकरण सम्भव नहीं है। हमने यहाँ सेक्स के सम्बन्ध में वैदिक विचारधारा के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, परन्तु जो इस दिशा में नहीं चल सकते उनके लिए मनोविश्लेषणवाद के निष्णात 'मनो-रोगविज्ञानियों' (Psychiatrists) का निर्दिष्ट किया हुआ रास्ता खुला ही है।

(ख) **वित्तैषणा**—दूसरी एषणा जिसका जीवन में गहरा प्रभाव है 'वित्तैषणा' है। वित्त का अर्थ है—'धन'। हर-कोई धन पाने के लिये व्याकुल रहता है। विस्तृत अर्थों में 'वित्तैषणा' का अर्थ है—'परिग्रहण' (Acquisition) करना, भौतिक-पदार्थों के पीछे भागना और उनका संग्रह करना। हर-कोई चाहता है कि जो-कुछ मिले उसे समेट ले। वैदिक विचार-धारा के अनुसार यह एषणा भी मानव के व्यवहार को प्रेरणा देने वाली मुख्य-स्रोत है। इस एषणा ने भी काम-वासना की तरह मानव-समाज को व्याकुल कर रखा है। इसके सम्बन्ध में भी भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण में महान् भेद है। भौतिकवादी लोग मरते दम तक हाय पैसा, हाय पैसा चिल्लाते हैं, उन्हें धन-संग्रह करने में ही सन्तोष मिलता है, अध्यात्मवादी दृष्टि में 'अपरिग्रह' का विचार जीवन के दर्शन-शास्त्र की एक महान् खोज है। किसी-न-किसी दिन हमारे हाथ से छूटना तो सब-कुछ है, साथ लेकर तो आजतक कोई नहीं गया, परन्तु यह जानते हुए भी इच्छा से छोड़ना कोई नहीं चाहता। स्वेच्छा से त्याग तथा अनिच्छा से बाधित होकर त्याग में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। स्वेच्छा से छोड़ने वाला हँसता-हँसता छोड़ता है, बाधित होकर छोड़ने वाला रोता-रोता छोड़ता है—छोड़ना दोनों को है। जीवन का जो होने वाला अवश्यम्भावी अन्त है, जो किसी के रोके रुक नहीं सकता, उसी को ध्यान में रखकर बृहदारण्यक उपनिषद् (2 अध्याय, 4-5 ब्राह्मण) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा था—'**अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन**'—जीवन की अमरता—पूर्णता—के लिये वित्त से—धन-धान्य से—आशा करना व्यर्थ है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर कठोपनिषद् (प्रथम वल्ली-27) में नचिकेता ने यमाचार्य को कहा था—'**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'—मनुष्य संसार भर की धन-दौलत पाकर भी तृप्त नहीं हो सकता।

यही कारण है कि जैसे 'काम' को मूल-प्रवृत्ति मानते हुए वैदिक विचार-धारा में 'काम' का उदात्तीकरण करते हुए 'पुत्रैषणा' को स्थान दिया गया है, वैसे ही 'परिग्रह'—'संग्रह'—'धन-कमाने' को मूल-प्रवृत्ति मानते हुए वैदिक

(Self-assertion) की मूल-प्रवृत्ति मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत है। शास्त्रीय विचारधारा के अनुसार, फ्रॉयड के लिबिडो या सेक्स की जगह 'काम'-शब्द का तथा एडलर के सेल्फ़-असर्शन (स्वागृह) की जगह 'अहंकार'-शब्द' का प्रयोग किया गया है। जैसे 'काम' के लिए अथर्व में 'कामो जज्ञे प्रथमः' कहा गया है, वैसे ही 'अहंकार' के लिये सांख्य दर्शन में कहा है—'प्रकृते र्महान् महतोऽहंकारः'। 'अहंकार'—'स्वाग्रह'—सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ। 'अहंकार' का अर्थ है—'मैं-पना', 'व्यक्तित्व'। एडलर का 'स्वाग्रह' (Self-assertion) तथा सांख्य का 'अहंकार'—इन दोनों का एक ही अर्थ है। एषणा की परिभाषा में 'काम' का अर्थ है—'पुत्रैषणा'; इसी प्रकार एषणा की परिभाषा में 'अहंकार' का अर्थ है—'लोकैषणा'। एडलर के सेल्फ़-असर्शन (स्वाग्रह) तथा सांख्य के अहंकार का लोकैषणा की दृष्टि से एक ही अर्थ है। हर-कोई बड़ा बनना चाहता है, कम-से-कम यह चाहता है कि दूसरे लोग उसे बड़ा समझें। उसका 'ईगो' (Ego)—'अहंकार'—उसके भीतर उछालें मारता है—वह भीतर से 'मैं-मैं' किया करता है। इसी मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्ति को आधार बनाकर एडलर ने 'व्यष्टि-मनोविज्ञान' (Individual psychology) की स्थापना की थी। उसने 'मैं बड़ा'—'मैं बड़ा'—'लोकैषणा' की बड़े मनोरंजक ढंग से व्याख्या की है। वह 'मैं बड़ा' से शुरू करने के स्थान में 'मैं छोटा' से शुरू करता है। एडलर का कहना है कि मनुष्य को अपने भीतर झाँकने से कुछ कमी—कुछ छोटापन—दिखलाई देता है। छोटा बच्चा चारों तरफ़ से बड़े लोगों से घिरा रहता है। कोई उससे कद में बड़ा, कोई धन में बड़ा, कोई किसी दूसरी बात में उससे बढ़-चढ़कर होता है। इसलिए हर बच्चे में कुछ-न-कुछ अंश हीनता का—छोटेपन का—जा बैठता है। इसे उसने 'हीनता की मनोग्रन्थि' (Inferiority Complex) का नाम दिया है। परन्तु इस 'हीनता की मनोग्रन्थि' के साथ-साथ उसका मुख्य प्रेरणा-स्रोत 'स्वाग्रह' (Self-assertion) होता है जिसे सांख्य के शब्दों में 'अहंकार' (Ego) कहा जा सकता है। इस 'स्वाग्रह'—'अहंकार'—'ईगो'—के कारण वह अपनी हीनता को दूर करने का प्रयास किया करता है। मनुष्य छोटा नहीं कहलाना चाहता, बड़ा कहलाना चाहता है—यही 'लोकैषणा' है। जो व्यक्ति एक दिशा में दब गया, वह दूसरी दिशा में प्रबल वेग से चल निकलता है। हमने कहा था कि सेक्स एक शक्ति है, वह कई दिशाओं में जा सकती है। ठीक ऐसे ही 'स्वाग्रह' (Self-assertion)—'अहंकार'—'मैं'—'ईगो'—भी एक शक्ति है, एक दिशा में अगर उसके सामने हीनता की भावना उसका रास्ता रोकती है, तो वह दूसरी दिशा में अपना रास्ता बना लेती है। बायरन लंगड़ा था, वह अच्छा तैराक बन गया, रूज़वेल्ट को बचपन में पोलियो हो गया था, वह अमरीका का राष्ट्रपति बन गया, मिल्टन अन्धा था, वह महान् कवि बन गया, पत्नी की धिक्कार खाकर

(Self-assertion) की मूल-प्रवृत्ति मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत है। शास्त्रीय विचारधारा के अनुसार, फ्रॉयड के लिबिडो या सेक्स की जगह 'काम'-शब्द का तथा एडलर के सेल्फ़-असर्शन (स्वागृह) की जगह 'अहंकार'-शब्द' का प्रयोग किया गया है। जैसे 'काम' के लिए अथर्व में 'कामो जज्ञे प्रथमः' कहा गया है, वैसे ही 'अहंकार' के लिये सांख्य दर्शन में कहा है—'प्रकृते र्महान् महतोऽहंकारः'। 'अहंकार'—'स्वाग्रह'—सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ। 'अहंकार' का अर्थ है—'मैं-पना', 'व्यक्तित्व'। एडलर का 'स्वाग्रह' (Self-assertion) तथा सांख्य का 'अहंकार'—इन दोनों का एक ही अर्थ है। एषणा की परिभाषा में 'काम' का अर्थ है—'पुत्रैषणा'; इसी प्रकार एषणा की परिभाषा में 'अहंकार' का अर्थ है—'लोकै-षणा'। एडलर के सेल्फ़-असर्शन (स्वाग्रह) तथा सांख्य के अहंकार का लोकैषणा की दृष्टि से एक ही अर्थ है। हर-कोई बड़ा बनना चाहता है, कम-से-कम यह चाहता है कि दूसरे लोग उसे बड़ा समझें। उसका 'ईगो' (Ego)—'अहंकार'—उसके भीतर उछालें मारता है—वह भीतर से 'मैं-मैं' किया करता है। इसी मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्ति को आधार बनाकर एडलर ने 'व्यष्टि-मनोविज्ञान' (Individual psychology) की स्थापना की थी। उसने 'मैं बड़ा'—'मैं बड़ा'—'लोकैषणा' की बड़े मनोरंजक ढंग से व्याख्या की है। वह 'मैं बड़ा' से शुरू करने के स्थान में 'मैं छोटा' से शुरू करता है। एडलर का कहना है कि मनुष्य को अपने भीतर झाँकने से कुछ कमी—कुछ छोटापन—दिखलाई देता है। छोटा बच्चा चारों तरफ़ से बड़े लोगों से घिरा रहता है। कोई उससे कद में बड़ा, कोई धन में बड़ा, कोई किसी दूसरी बात में उससे बढ़-चढ़कर होता है। इसलिए हर बच्चे में कुछ-न-कुछ अंश हीनता का—छोटेपन का—जा बैठता है। इसे उसने 'हीनता की मनोग्रन्थि' (Inferiority Complex) का नाम दिया है। परन्तु इस 'हीनता की मनोग्रन्थि' के साथ-साथ उसका मुख्य प्रेरणा-स्रोत 'स्वाग्रह' (Self-assertion) होता है जिसे सांख्य के शब्दों में 'अहंकार' (Ego) कहा जा सकता है। इस 'स्वाग्रह'—'अहंकार'—'ईगो'—के कारण वह अपनी हीनता को दूर करने का प्रयास किया करता है। मनुष्य छोटा नहीं कहलाना चाहता, बड़ा कहलाना चाहता है—यही 'लोकैषणा' है। जो व्यक्ति एक दिशा में दब गया, वह दूसरी दिशा में प्रबल वेग से चल निकलता है। हमने कहा था कि सेक्स एक शक्ति है, वह कई दिशाओं में जा सकती है। ठीक ऐसे ही 'स्वाग्रह' (Self-assertion)—'अहंकार'—'मैं'—'ईगो'—भी एक शक्ति है, एक दिशा में अगर उसके सामने हीनता की भावना उसका रास्ता रोकती है, तो वह दूसरी दिशा में अपना रास्ता बना लेती है। बायरन लंगड़ा था, वह अच्छा तैराक बन गया, रूज़वेल्ट को बचपन में पोलियो हो गया था, वह अमरीका का राष्ट्रपति बन गया, मिल्टन अन्धा था, वह महान् कवि बन गया, पत्नी की धिक्कार खाकर

कालिदास कालिदास बन गया, तुलसीदास तुलसीदास बन गया। एक प्रकार की न्यूनता, 'स्वाग्रह' (Self-assertion)—अहंकार—की मूल-प्रवृत्ति के कारण दूसरे प्रकार की श्रेष्ठता द्वारा पलड़ा बराबर कर देती है—यह एडलर का कथन है।

एडलर का जो-कुछ भी कहना हो, उसका अभिप्राय 'लोकैषणा' में आ जाता है। 'लोकैषणा' का अर्थ है—लोग हमारी तारीफ़ करें, हमें छोटा न समझें, बड़ा समझें। यह एषणा हर-किसी में होती है, इसी को शास्त्रों में 'लोकैषणा' कहा है।

एडलर ने तो मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करके इतना भर कह दिया है कि अपनी हीनता को दूर करने तथा दूर करके अपने को बड़ा बनाने की इच्छा हर-किसी में पायी जाती है, फिर भले ही वह किसी भी उपाय से बड़ा बनने का प्रयत्न करे—**'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्'**। ज़्यादातर क्या पाया जाता है? स्वार्थी लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए जायज़ तथा नाजायज उपायों से समाज में उच्च-स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी संस्थाओं में 'स्वाग्रह' (Self-assertion) की, अहंकार की, ईगो की होड़ मची हुई है। लोग दूसरों को धन देकर, लालच देकर, भुलावा देकर अपने 'ईगो' को तृप्त करने में लगे हुए हैं। जिस रास्ते पर चलकर लोग 'लोकैषणा' की तृप्ति करने में लगे हुए हैं, यह भौतिकवादी मार्ग है, इस मार्ग पर चल कर तभी तक वाह-वाह होती है जब तक स्वार्थी लोगों की कलई नहीं खुलती। स्वार्थ को आधार बना कर लोकैषणा को सिद्ध करने की प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि आज मन्दिरों के, मस्जिदों के, गिरजाघरों के, धार्मिक-संस्थाओं के, शिक्षा-संस्थाओं के, राजनैतिक नेताओं के आये-दिन कचहरियों में एक-दूसरे के खिलाफ़ मुकदमेबाज़ी होती रहती है। हर-किसी के मन में है—मैं खाऊँगा, तू क्यों खाता है; मैं नेता हूँ, तू कैसे नेता बन गया है। लोकैषणा के क्षेत्र में यह सब झमेला इसलिए चलता है क्योंकि लोकैषणा की दौड़ में जो खिलाड़ी हैं उनमें ऊँचा उठने के जो दो मौलिक-तत्त्व हैं उन तत्त्वों का अभाव होता है।

लोकैषणा की सिद्धि में आधारभूत जो दो मौलिक-तत्त्व हैं, वे हैं—'त्याग' तथा 'सेवा'। जो व्यक्ति लोकैषणा की तृप्ति के लिए स्वार्थ को मन में लेकर इस एषणा के क्षेत्र में पग रखता है, घर बनाना चाहता है, बाल-बच्चों के लिए, उनकी परवरिश तथा उनकी आजीविका के लिए साधन जुटाना चाहता है, अपना निजी हित चाहता है, वह भी 'त्याग' तथा 'सेवा' का ढोंग रच कर ही आता है। स्वाभाविक भी है। 'लोकैषणा' का अर्थ है—लोगों से वाहवाही लेना। जबतक लोगों के लिए आप कुछ करने का ढोंग नहीं रचेंगे, तबतक वे आपके लिए ताली क्यों बजायेंगे? आप कहते हैं—मैं सब-कुछ छोड़ दूंगा, आपकी सेवा करूँगा, तन-मन-धन से आप-ही-आप के—जनता के—हित में काम करूँगा।

लोगों को क्या पता कि आपके दिल में क्या है। वे भुलावे में आ जाते हैं, आपके नाम के नारे लगाने लगते हैं। पर यह खेल देर तक नहीं चलता। कुछ दिन बाद जब आपकी पोल खुल जाती है, जनता को यह नज़र आ जाता है कि आपने तो अपने लिये ही यह ढोंग रचा था, तब वे उल्टे नारे लगाने लगते हैं। स्वार्थी व्यक्ति की लोकैषणा की सिद्धि का गुर इतना ही है कि वह कब तक अपने कौशल से जनता को इस भुलावे में रख सकता है कि उसने दो मन्त्र सिद्ध कर लिये हैं—पहला मन्त्र 'त्याग' का, दूसरा मन्त्र 'सेवा' का। क्योंकि देर तक लोगों की आँखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती इसलिए हर-एक स्वार्थी जन-सेवक की कुछ दिन बाद छीछालेदर होने लगती है।

वैदिक-विचारधारा के अनुसार लोकैषणा की सिद्धि वही प्राप्त कर सकता था जो स्वार्थ को तिलांजलि देकर इस क्षेत्र में पग रखता था। उसके दो विशिष्ट गुण होते थे—पहला गुण 'त्याग' था, दूसरा गुण 'सेवा' थी। जो व्यक्ति सब-कुछ त्याग देता था—घर-बार त्याग देता था, बाल-बच्चों को त्याग देता था, धन-सम्पत्ति को त्याग देता था, जिसका अपना कुछ नहीं रहता था, वह जनता के सम्मान की पहली शर्त को पूरी करता था। त्याग करना तो सिर्फ़ एक 'ऋणात्मक' (Negative) कृत्य है। इस 'ऋणात्मक'-कृत्य के साथ वह 'धनात्मक' (Positive) कृत्य भी करता था। धनात्मक-कृत्य था—'सेवा'। सब-कुछ छोड़ कर यह हाथ-पर-हाथ धर कर नहीं बैठ जाता था, अपनी सेवा छोड़ कर वह जन-सेवा में, जन-कल्याण में लग जाता था। ऐसा जीवन संन्यासी का जीवन था, ऐसा व्यक्ति ही जनता के सम्मान का अधिकारी था। फिर उसे सम्मान के पीछे नहीं भागना होता था, सम्मान उसके पीछे भागता था। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार के जीवन के लिये व्यक्ति कपड़े रंग कर अपने-आपको सच्चिदानन्द सरस्वती ही कहने लगे; इसके बिना भी अगर मनुष्य की वृत्ति 'त्याग' तथा 'सेवा' की है, तो वह हर देखने वाले को नजर आ जाती है, और ऐसे व्यक्ति को अपने-आप जनता का सम्मान प्राप्त हो जाता है। 'लोकैषणा' के विषय में वैदिक-विचारधारा का यही दृष्टिकोण है।

इस प्रकार हमने देखा कि जहाँ फ्रॉयड सिर्फ़ 'काम-लिप्सा' (Libido) को मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत मानता है, जहाँ एडलर सिर्फ़ 'स्वाग्रह' (Self-assertion) को मानव के व्यवहार का प्रेरणा-स्रोत मानता है, वहाँ ऋषियों की विचारधारा 'काम' तथा 'स्वाग्रह' के अलावा मानव-व्यवहार के एक तीसरे प्रेरणा-स्रोत—'परिग्रहण'—(Acquisition) पर भी उतना ही बल देती है। इस दृष्टि से फ्रॉयड तथा एडलर का एकांगी-पक्ष है, शास्त्रों का व्यापक-पक्ष है, ऐसा व्यापक-पक्ष जिसमें फ्रॉयड तथा एडलर के विचार समा जाते हैं, और समा जाने के बाद वह उनसे आगे निकल जाता है। आगे कैसे निकल जाता है?

आगे ऐसे निकल जाता है क्योंकि इन एषणाओं का शास्त्रीय-विवेचन इन एषणाओं का सिर्फ़ विश्लेषण ही नहीं करता, मानव-हित में इन एषणाओं का कैसे सदुपयोग हो सकता है—इस पर भी प्रकाश डालता है, इन एषणाओं का दुरुपयोग कैसे रोका जा सकता है—इस बात पर भी प्रकाश डालता है।
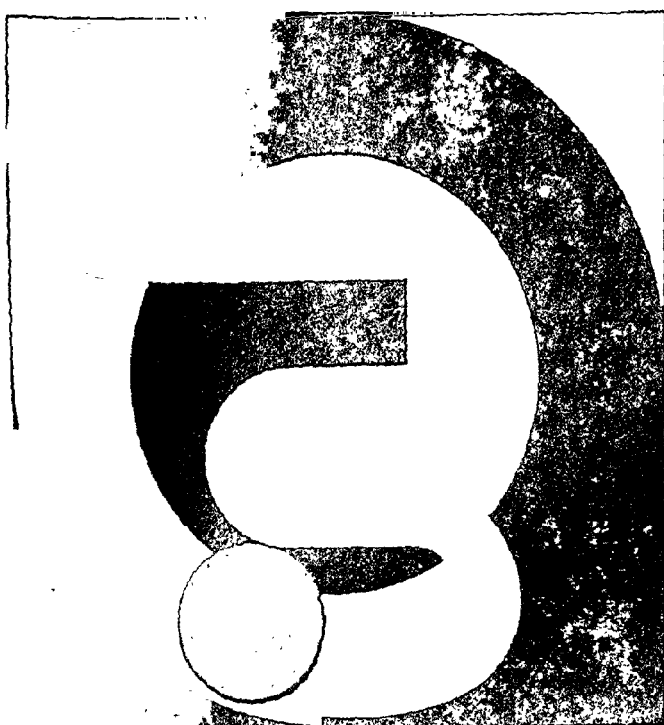
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषम् महान्तम् ।
(श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3—19)

'ईश्वर' में मतवादियों ने 'मानवत्वारोपण की संकल्पना' (Anthropomorphic conception) की है, उसे मानव-सरीखा कल्पित कर लिया है, 'ईश्वर' को पुरुष जैसा मान लिया है। योग-दर्शन में भी ईश्वर को 'क्लेश कर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' कहा है, परन्तु यह मानवत्वारोपण नहीं है क्योंकि यहाँ लौकिक-भाषा का प्रयोग करते हुए उसके अलौकिक रूप का वर्णन किया गया है—यह कहा है कि पुरुष तो क्लेशादि से परामृष्ट होता है, वह ऐसा पुरुष है जो क्लेशादि से अपरामृष्ट है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह 'पुरुष' है, इसका तो यह अर्थ है कि वह पुरुष नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का ऊपर जो उद्धरण दिया गया है उसमें यही तो कहा है कि उसके न हाथ हैं, न पाँव हैं, बिना हाथों के पकड़ता, बिना पाँवों के गति करता है, उसके न आँख हैं, न कान हैं, वह बिना आँखों के देखता, बिना कानों के सुनता है। वैदिक दृष्टिकोण

पंचम अध्याय

ईश्वर

(GOD)

I. ईश्वर के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा

(क) **ईश्वर एक बड़ा, महान् शक्तिशाली मानव है—ईश्वर में 'मानवत्वा-रोपण की संकल्पना'** (Anthropomorphic conception of God)—साधारण-व्यक्ति का ईश्वर के सम्बन्ध में यह विचार है कि जैसे वह अपना मकान बनाता है, उसके हाथ-पैर हैं, मन है, बुद्धि है, ऐसे ही कोई एक बहुत बड़ा मानव है, जो इतना बड़ा है कि बहुत ही बड़ा है, हमारे मकान बनाने की तरह वह भी सृष्टि की रचना करता है, जैसे हम अपने मकान में रहते हैं वैसे हमारी तरह ही वह कहीं स्वर्गलोक में रहता है। जैसे मनुष्यों का शासन राजा करता है, वैसे संसार का शासन वह करता है, वह राजाओं का राजा है। यह विचार उस सामाजिक-रचना का प्रतिबिम्ब है जिसमें एक राजा होता था, वह अपनी प्रजा पर शासन करता था, उसे जैसा चाहता बनाता-बिगाड़ता था। कुटुम्ब में पिता का शासन, समाज में राजा का शासन, संसार में ईश्वर का शासन—इस सारी परम्परा का निष्कर्ष ईश्वर को एक महान् मानव समझना था। मनुष्य छोटे से क्षेत्र में शासन करता है, ईश्वर महान् क्षेत्र में राज्य करता है, ईश्वर एक महा-पुरुष है। जैसे मनुष्य की सेवा या स्तुति से सेवक उसे सन्तुष्ट करता है, वैसे ईश्वर की सेवा एवं स्तुति से उसे प्रसन्न किया जा सकता है। ऐसे ईश्वर की इसी प्रकार प्रार्थना भी की जाती है और उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की याचनाएँ भी की जाती हैं।

(ख) **अधिकांश धर्मों में ईश्वर को महामानव ही माना गया है**—यहूदी, ईसाई, तथा इस्लाम में ईश्वर का यही रूप है। वह अदन के बग़ीचे में टहलता है, मनुष्यों का-सा व्यवहार करता है। यहूदी धर्म में जिहोवा मूसा को मौंट-सिनाई में प्रकट हुआ, ईसाई तथा इस्लाम में भी उसका निवास-स्थान स्वर्ग-लोक माना गया है। स्वर्ग-नरक की कल्पना भी ईश्वर को मनुष्य-सरीखा मानने के कारण है।

परन्तु क्या ईश्वर को मनुष्य का-सा मानने का यह विचार युक्ति-संगत है? अगर ईश्वर मनुष्य-जैसा है, किसी स्थान-विशेष में रहता है, स्तुति-उपासना करने से खुश तथा गाली देने से ना-खुश हो जाता है, तो उसके विषय में जो यह दार्शनिक-धारणा है कि वह अनादि है, अनन्त है, आनन्दमय है—यह सब व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। जो स्थान-विशेष में रहेगा वह सर्वव्यापी नहीं होगा, जो सर्वव्यापी नहीं होगा वह परिच्छिन्न होगा, जो परिच्छिन्न होगा उसका भौतिक-शरीर होगा, जिसका भौतिक-शरीर होगा उसमें जन्म तथा मृत्यु भी होगी, जिसकी जन्म-मृत्यु होगी वह अनादि-अनन्त नहीं होगा। इसलिए बाधित होकर यह मानना पड़ता है कि ईश्वर को पुरुष-विशेष मानने की बात हमने अपने छोटे-से दिमाग़ के सन्तोष के लिये गढ़ रखी है, यह विचार बाल-मस्तिष्क का है। ईश्वर एक व्यक्ति-विशेष नहीं, शक्ति-विशेष है, और वह शक्ति-विशेष सत्ता भी भौतिक न होकर चैतन्य-स्वरूप है। वैसे तो जड़ में भी शक्ति है, परमाणुओं का विश्लेषण करते-करते धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत्कण ही रह जाते हैं जो शक्ति के ही पुंज तथा शक्ति के ही दूसरे रूप हैं। प्रकृति के परमाणुओं में निहित शक्ति जड़ का ही एक रूप है, जड़ ही है, वह शक्ति ईश्वर नहीं है। ईश्वर को जब हम शक्ति-विशेष कहते हैं तब हमारा अभिप्राय विद्युत की तरह जड़-शक्ति से नहीं होता, वह शक्ति जड़ न होकर चैतन्यस्वरूप है। जड़-शक्ति प्रकृति कहलाती है, चेतन-शक्ति परमेश्वर कहलाती है, इस चेतन-शक्ति के कारण ही चैतन्यस्वरूप परमेश्वर सृष्टि का कर्त्ता, धर्ता, संहर्ता है—परन्तु वह महा-पुरुष नहीं है, व्यक्ति नहीं है, शक्ति है, शक्ति भी जड़-शक्ति नहीं, चेतन-शक्ति है।

(ग) तो फिर योग-दर्शन में ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' क्यों कहा गया है— यह ठीक है कि योग-दर्शन में ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कहा है, परन्तु कैसा 'पुरुष-विशेष'। वहाँ कहा है—**'क्लेश कर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः'**—जो क्लेश—अर्थात्, जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेशों से अछूता है—ऐसा पुरुष-विशेष ईश्वर है। अगर ईश्वर को पुरुष के रूप में देखना ही हो जैसा कि संसार के सब धर्मों ने देखने का यत्न किया है, तो वह कैसा पुरुष होगा? ऐसा पुरुष जिसमें 'क्लेश'—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि—नहीं है; 'कर्म'—जिसमें अच्छा या बुरा कर्म नहीं है, जो सिर्फ़ द्रष्टा रूप में सृष्टि का संचालन कर रहा है; 'विपाक'—जो अच्छा या बुरा कर्म नहीं करता इसलिए जो हमारी तरह कर्म-फल भी नहीं भोगता; 'आशय'—क्योंकि वह कर्म-फल के अधीन नहीं है इसलिए उसमें कर्म-फल से उत्पन्न होने वाली वासना भी नहीं है, वह वासना जो जन्म तथा मृत्यु का कारण होती है—ऐसा 'पुरुष-विशेष' जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अछूता

है, ईश्वर है। 'पुरुष' भी उसको क्यों कहा ? 'पुरुष' का अर्थ है—'पुरि शेते इति पुरुषः'—जैसे आत्मा शरीर रूपी पुरी में, नगर में विराजमान है, ऐसे ही ईश्वर संसार रूपी पुरी में—इसके अणु-अणु में वर्तमान है। 'पुर'-शब्द वैसा ही है जैसा सहारनपुर या नागपुर में 'पुर' शब्द पाया जाता है। वे छोटे शहर हैं, ईश्वर के लिए यह विशाल-विश्व मानो एक शहर के समान है। इस अलंकार की भावना से उसे 'पुरुष' कहा है। योग-दर्शन ने जब ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कहा तो लौकिक-भाषा का प्रयोग करते हुए उस अलौकिक शक्ति का ऐसा वर्णन कर दिया जो सर्व-साधारण की समझ में भी आ सकता था, परन्तु जिस वर्णन में ईश्वर का दार्शनिक रूप—अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक—भी समा जाता था। संसार के मत-मतान्तर ईश्वर का पुरुष के रूप में वर्णन करते रहे, मानवत्वारोपण की संकल्पना (Anthropomorphic conception) करते रहे, और ऐसा वर्णन करते हुए उसे वे अपने जैसा पुरुष ही समझते रहे। योगदर्श के 'पुरुष-विशेष' और मत-मतान्तर के 'पुरुष-ईश्वर' में यही भेद है। योगदर्शन सर्व-साधारण को समझाने के लिये ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' कह देता है, परन्तु पुरुष कहते हुए भी उसे अपुरुष ही वतलाता है, तभी उसे 'पुरुष-विशेष' कहता है ; मत-मतान्तर उसे पुरुष-रूप में ही देखते हैं, पुरुष के सभी गुणों के साथ उसे केवल 'महा-पुरुष' मानते हैं। उनके अनुसार है वह 'पुरुष' ही, यह वात दूसरी है कि वह साधारण-पुरुष न होकर अत्यन्त 'महान् पुरुष' है।

जैसा हमने कहा, ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है, शक्ति है, चैतन्य-स्वरूप शक्ति। 'प्रकृति' (Matter) का विश्लेषण करते-करते हम ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युत्-कणों तक पहुँचते हैं, अर्थात् विश्लिष्ठ-प्रकृति का रूप 'शक्ति' है, परन्तु प्रकृति की यह शक्ति चेतन नहीं है, अचेतन है, जड़ है; परमेश्वर भी शक्ति रूप है, व्यक्ति नहीं है, परन्तु वह शक्ति चेतन है, जड़ या अचेतन नहीं है। इसी चेतन-शक्ति को ईश्वर, परमेश्वर कहा जाता है।

इस वात को इस तरह समझिये। मैं अपने मकान में वैठा हूँ। वड़ा आलीशान मकान है। पंखे हैं, वातानुकूलक हैं, फ्रिज हैं—सव चल रहे हैं। एकाएक पंखे घूमने वन्द हो गये, वातानुकूलक में गति न रही, उनसे ठण्डी हवा आना रुक गया, फ्रिज भी शान्त हो गये। वाहर से सव वही-का-वही है—सव की जान चली गई—यह क्या हो गया ? देखा तो पता चला कि किसी ने स्विच ऑफ़ कर दिया था। जव स्विच ऑन किया तव फिर सव पहले-सा चलने लगा। तो क्या यह सव-कुछ विजली की धारा का ही खेल था ! विजली की धारा आई, सव घूमने लगा, गई तो सव खड़ा हो गया। मकान में विजली के इस खेल को देखकर मेरा ध्यान अपने पर गया। यह शरीर चलता-फिरता है, काम

पता नहीं चलता, तो उसका क्या पता चलेगा। विश्व की इसी चेतन-शक्ति का नाम ही परमेश्वर है—परमेश्वर जो व्यक्ति-विशेष नहीं, चैतन्य-शक्ति-विशेष है। इससे अधिक उस शक्ति का हम साधारण-व्यक्तियों को कुछ पता नहीं चलता, पता न चल सकने की विवशता के कारण कोई उसे 'सहस्रशीर्षः सहस्राक्षः सहस्रपाद्' कह देता है, कोई उसे 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीत पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' कह देता है; कोई कह देता है, उसके हजारों हाथ-पैर हैं, कोई कह देता है कि न उसके हाथ हैं, न पैर हैं। कहने के ढंग में फ़र्क है—दोनों के कहने का अर्थ एक ही है, यह अर्थ कि ईश्वर एक अज्ञेय चेतन-शक्ति है जिससे सृष्टि का संचालन हो रहा है, सृष्टि का संचालन करने वाली शक्ति जड़ नहीं है।

सृष्टि में एक महती चेतन-शक्ति है जो विश्व का संचालन कर रही है—इसमें निम्न प्रमाण हैं :

2. सृष्टि में सर्जनात्मक चेतन-शक्ति
(Creative Conscious Energy)

सृष्टि की रचना का अर्थ है—सृष्टि का विकास, सृष्टि का बनना। सृष्टि में विकास हो रहा है, यह बन रही है—इसका अर्थ यह है कि इसकी जो पहले अवस्था थी वह अब नहीं, जो अब है वह आगे नहीं रहेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि में परिवर्तन हो रहा है, परिवर्तन—अर्थात् 'गति'। जड़ वस्तु में गति अपने-आप नहीं हो सकती, जहाँ गति होगी वहाँ गति को देने वाला कोई दूसरा होगा। यह दूसरा अगर जड़ है, तो उसमें गति कौन देगा, वह जड़ नहीं हो सकता क्योंकि अगर वह जड़ है तो उसमें अपने-आप गति माननी पड़ेगी, परन्तु जड़ में अपने-आप गति नहीं हो सकती, जड़ में गति सदा बाहर से आती है। बाहर से आती है इसलिए समाप्त भी हो जाती है, अगर बाहर से न आए, उसकी अपनी हो, तो वह कभी समाप्त भी न हो। जड़ की हर गति कालान्तर में समाप्त हो जाती है, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वह बाहर से आती है, उसके भीतर से नहीं आती। इस युक्ति-क्रम से सिद्ध है कि क्योंकि सृष्टि में विकास है, रचना है, सर्जन है, परिवर्तन है, गति है, सृष्टि कार्य है, इसलिए इस गति को देने वाली कोई शक्ति इस से भिन्न होनी चाहिए। मैं कलम से लिख रहा हूँ, कलम अपने-आप नहीं लिखने लगती; मैं साइकल या मोटर चला रहा हूँ, साइकल या मोटर अपने-आप नहीं चलने लगती। लिखना शुरू करता हूँ और समाप्त कर देता हूँ, साइकल पर चढ़ता हूँ और उतर जाता हूँ। साइकल की अपने भीतर से गति होती तो वह चलती ही रहती, चलती ही रहती। जड़ वस्तु तभी क्रियाशील होती है जब उसमें बाहर से चेतन द्वारा क्रिया का प्रवेश किया जाता है। इसी भाव को सम्मुख रख कर संस्कृत में

सृष्टि, संसार, जगत्, सर्ग—इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। सृष्टि तथा सर्ग 'सृज धातु' से बने हैं जिसका अर्थ है—उत्पन्न होना, बनना, कार्य होना। संसार तथा जगत् शब्दों का अर्थ है—गतिशील होना। सृष्टि में गति है, विकास है, यह कार्य है—इस गति को देने वाली कोई चेतन-शक्ति होनी चाहिए, वह जड़ नहीं होनी चाहिए, उस रचना या सर्जन करने वाली चेतन-शक्ति का नाम ही ईश्वर है। यह सर्जनात्मक-शक्ति जड़-जगत्, वनस्पति-वृक्ष-जगत् तथा प्राणि-जगत् में सब जगह काम कर रही है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि कोई चेतन-शक्ति विश्व में जागरूक होकर काम कर रही है क्योंकि सर्जन तथा विकास तो हो ही रहा है, और विकास का यह गुण जड़ में अपने-आप हो नहीं सकता। अगर यह माना जाय कि शुरू-शुरू में यह गति चेतन-शक्ति ने दी, उसके बाद विकास अपने-आप होने लगा, तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। ऐसी हालत में तब चेतन-शक्ति को तो मानना ही पड़ेगा, परन्तु यह कहना युक्ति-संगत नहीं होगा कि उस चेतन-शक्ति ने प्रकृति में गति उत्पन्न कर देने के बाद छुट्टी कर ली। विकास तथा सर्जन हर घड़ी हो रहा है, प्रत्येक कार्य फिर कारण बनकर अगले कार्य को उत्पन्न कर रहा है, इसलिए वह शक्ति अहर्निश जागरूक है, क्रियाशील है। हम इस प्रकरण मे पहले जड़-जगत्, फिर वृक्ष-वनस्पति-जगत्, फिर प्राणी-जगत् के क्रम से विवेचना करेंगे क्योंकि जड़ तथा प्राणी के बीच में वनस्पति-जगत् आधा जड़ तथा आधा प्राणी जैसा है।

(क) **जड़-जगत् में सर्जनात्मक चेतन-शक्ति**—विज्ञान के अनुसार सृष्टि की रचना 'नेव्युला' (Nebula) से हुई। यह 'नेव्युला' सृष्टि का प्रकाशमान आदि-तत्त्व है। हमारी सृष्टि की रचना जिस प्रकार के 'नेव्युला' से हुई उसी प्रकार के अनन्त 'नेव्युला' इस सृष्टि में मौजूद हैं। 'नेव्युला' को वेद में 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है—**'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'**—अग्रे, अर्थात् आदि-काल में सृष्टि हिरण्यगर्भ के रूप में हुई, 'हिरण्यगर्भ'—अर्थात् जिसके गर्भ, अन्तराल में सुवर्ण जैसी चमक है।

नेव्युला में गति है। यह गति कितनी कल्पनातीत है यह जानकर आश्चर्य होता है। 'मौडर्न साइन्टिफ़िक थॉट' (Modern Scientific Thought)-नामक पुस्तक में सर जेम्स जीन्स लिखते हैं कि सौर-मण्डल में अनेक नेव्युला ऐसे हैं जो कल्पनातीत गति से पृथ्वी तथा एक-दूसरे से दूर भागते जा रहे हैं, और अन्तरिक्ष में वे जितनी दूर भागते जाते हैं उतनी ही उनकी गति और भी तेज़ होती जाती है। उदाहरणार्थ, 100 इंच बड़े टैलिस्कोप से एक ऐसा 'नेव्युला' देखा गया है जो एक सेकण्ड में 15 हज़ार मील की गति से पृथ्वी से दूर भागा जा रहा है। सर जेम्स जीन्स का कहना है कि एक ऐसा 'नेव्युला' है जिसका प्रकाश पृथ्वी तक आने में 1 अरब (1000000000) वर्ष लग जाते हैं। अगर

इस बात को ध्यान में रखा जाए कि प्रकाश की गति एक सेकण्ड में 1 लाख 86 हज़ार मील है, तो यह समझकर आश्चर्य होगा कि पृथ्वी से कितनी दूर वह नेब्युला होगा, और कितनी तीव्र गति से भागा जा रहा होगा। इतनी तीव्र गति अपने-आप हो रही है—क्या यह समझ में आने वाली बात है ?

अन्तरिक्ष में इतने तारे हैं जितने संसार के सभी समुद्र-तटों पर रेत के कण हैं। जैसे हमारे सौर-मण्डल में गति है, वैसे उनमें भी गति तथा विकास की प्रक्रिया चल रही है। ये सब तारे नभोमण्डल में तीव्र-गति से दौड़ रहे हैं, वे एक-दूसरे से लाखों मील दूर हैं, लाखों, करोड़ों सालों से ये गतिशील हैं, कोई दूसरे से टकराता नहीं है। ये सब अग्नि के पुंज हैं। पृथ्वी भी किसी समय इसी प्रकार अग्निमय थी। धीरे-धीरे अग्नि का क्षय होने लगा। जड़ वस्तु बनती है, फिर नष्ट भी होती है। पृथ्वी ठण्डी हुई और इस पर जीवन का बने रहना भी सम्भव हुआ। क्या जड़-जगत् की इतनी गति, इतना विकास अपने-आप हो गया। इस सबको करने के लिए अगर चेतन-शक्ति को माने बग़ैर मनुष्य की बुद्धि इस विकास को समझ सकती है, तो ईश्वर जैसी चेतन-शक्ति को मानने की अपेक्षा भी यह और अधिक अचम्भे की बात है। एक छोटा-सा तिनका भी चेतन-शक्ति के माध्यम के बिना नहीं हिलता, फिर यह असीम-विश्व अपने-आप कैसे चल रहा है ? अगर तिनके को हवा उड़ा रही है, तो हवा को कौन चला रहा है ? हवा तो इस जड़-जगत् का एक अंग मात्र है। जो प्रश्न हम ब्रह्माण्ड की गति के सम्बन्ध में करते हैं, वह वैसा ही हवा के लिए, हर भौतिक-तत्त्व के लिए खड़ा है। जड़-जगत् का नेब्युला से शुरू होकर वर्तमान भौतिक-जगत् तक विकसित हो जाना एक महान् निर्माण है, महान् रचना है, महान् सर्जन है, महान् सृष्टि है, महान् बनना है—इस जड़-जगत् में विकास करने वाली जो चेतन-शक्ति है उसी को 'ईश्वर'—इस नाम से कहा जाता है।

वैशेषिक तथा न्यायदर्शन ने, पाश्चात्य-विचार के धनात्मक तथा ऋणात्मक इलैक्ट्रोन, न्यूट्रोन तथा प्रोटोन की तरह जो जड़-शक्ति के मूलभूत विद्युतमय अणु हैं, सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जब सृष्टि का निर्माण होता है तब दो अणु मिल कर द्व्यणुक को उत्पन्न करते हैं, अणु के समान यह द्व्यणुक भी इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता। इसके बाद तीन द्व्यणुक मिल कर एक त्रसरेणु को उत्पन्न करते हैं जिसमें 6 अणुओं के मिलने से सूक्ष्मता के बाद स्थूलता आ जाती है। पाश्चात्य-विचार के अनुसार सबसे पहले 'नेब्युला', उसके बाद धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युतमय तीन अणु—इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन—उनके मिलने से यह सृष्टि बनी; भारतीय-विचार के अनुसार सबसे पहले 'हिरण्यगर्भ', उसके बाद दो अणुओं का द्व्यणुक, फिर तीन द्व्यणुकों के मिलने से त्रसरेणु—इस प्रकार सृष्टि बनी। दोनों की भाषा अलग-अलग है, विचार मूलतः

एक ही है, भेद इतना ही है कि पाश्चात्य-विचार भारतीय-चार्वाक-चिन्तन के अनुसार इस गति को, सर्जन को, विकास की प्रक्रिया को अपने-आप होने वाला मानता है, भारतीय-आस्तिक-विचार यह है कि जड़ में यह गति, यह विकास, उसके जड़ होने के कारण, अपने-आप नहीं हो सकता, अगर अपने-आप हो सके तो जड़ ही चेतन हो जाए, परन्तु जड़ कहीं चेतन नहीं दीखता, बिना चेतन के जड़ में गति या विकास नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त जड़-प्रकृति में अगर पाश्चात्य-विचारकों तथा भारतीय-चार्वाकों के कथनानुसार स्वाभाविक-गति मान ली जाय, तो वह सदा बनी रहनी चाहिए, समाप्त नहीं हो जानी चाहिए। जब गति जड़ का स्वभाव ही हो, तो वह स्वभाव समाप्त नहीं हो सकता, परन्तु पाश्चात्य-विज्ञान भी यह मानता है कि सूर्य की गर्मी धीरे-धीरे समाप्त हो रही है, और समय आयगा जब सूर्य भी ठण्डा हो जायगा। वही गति समाप्त होती है जो किसी दूसरे द्वारा दी जाती है, अपने-आप में स्वभावगत-गति समाप्त नहीं हो सकती, समाप्त हो जाती है तो मानना पड़ेगा कि वह उसका स्वभाव नहीं है। न्यूटन ने जिस 'गति के नियम' (Law of Motion) का प्रतिपादन किया उसका सार ही यह है कि भौतिक-पदार्थ अगर गतिहीन अवस्था में है, तो गतिहीन ही रहेगा जब तक बाहर से उसे गति नहीं दी जायगी, अगर गति की अवस्था में है, तो गति में ही रहेगा, अगर बाहर से उसकी गति का किसी के द्वारा प्रतिरोध नहीं होगा। सृष्टि के प्रारम्भ में नेब्युला (Nebula) में गति कहाँ से आई, अन्त में यह गति समाप्त कैसे होगी, अगर इसे कोई देने वाला नहीं, कोई समाप्त करने वाला नहीं ? यह गति नित्य नहीं, हर वस्तु बन रही है, नष्ट हो रही है—यह तो स्वयंसिद्ध है।

(ख) **वनस्पति तथा वृक्ष जगत् में सर्जनात्मक चेतन-शक्ति**—वनस्पति तथा वृक्ष के विकास में भी चेतन-शक्ति का हाथ दीखता है। जड़-जगत् का विकास, उसमें गति, उसमें परिवर्तन होता है—यह हमने देखा। शुरू-शुरू में सृष्टि सूक्ष्मावस्था में थी, नेब्युला या हिरण्यगर्भ की अवस्था में थी, उसके बाद स्थूलावस्था में आयी, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु का रूप प्रकट हुआ—यह सब जड़ का विकास था। विकास की यह प्रक्रिया पृथ्वी, जल आदि की तरह वनस्पति-वृक्ष-जगत् में भी देखी जाती है। एक बीज को हम पृथ्वी में गाड़ देते हैं, उसके विकास का सिलसिला जारी हो जाता है। बीज का अंकुर, अंकुर का पौधा, पौधे पर पुष्प, पुष्प पर फल—यह सारा विकास जड़ में अपने-आप नहीं हो सकता। विश्व के कण-कण में बैठी हुई चेतन-शक्ति ही विकास के इस क्रम को चला सकती है, अन्यथा चेतन-शक्ति के अभाव में जड़-बीज में किसी प्रकार की गति नहीं आ सकती। यह नियम है कि जड़ में जो गति है वह उसकी अपनी

नहीं, चेतन से आती है, बाहर से आती है, बाहर की गति अगर फिर जड़ से आये तो प्रश्न वहीं-का-वहीं खड़ा रहता है, हल हाथ नहीं आता। बाहर की गति अगर चेतन से आये, तभी इस समस्या का हल होता है क्योंकि सिर्फ़ चेतन के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसकी गति उसका स्वभाव है—'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'—यह उपनिषद् का वचन है—जड़ के विषय में यह नहीं कहा जा सकता।

वनस्पति, वृक्ष आदि में चेतना है—इसमें सन्देह नहीं। चेतना इसलिए है क्योंकि उनमें वृद्धि होती है, ह्रास होता है। परन्तु क्या उनमें आत्मा भी है? यहाँ 'आत्मा' तथा 'चेतन-शक्ति' में भेद करना होगा। चेतन-शक्ति तो वह है जो विश्व के अणु-अणु में जगत् के कर्तृत्व-भाव से सर्वत्र व्याप रही है, उसकी वजह से वनस्पति तथा वृक्ष का बीज पृथ्वी में डालने के बाद गुरुत्वाकर्षण के नियम से बँधा होने के कारण भी नीचे को जाने के स्थान में ऊपर को अंकुर के रूप में फूट पड़ता है, बढ़ता है, फलता है, फूलता है, परन्तु यह सब उस बीज में निहित चेतन-शक्ति का ही प्रभाव है। वृक्ष में सूक्ष्म-शरीर को धारण करने वाले आत्मा का निवास नहीं है, सिर्फ़ परमात्मा का निवास है। 'आत्मा' वह है जो शरीर में आकर कर्मों को करता और उनका भोग भोगता है, वनस्पति तथा वृक्ष में 'चेतना' वह है जो वनस्पति की वृद्धि एवं ह्रास का तो कारण है, परन्तु आत्मा की तरह कर्म नहीं करती, कर्मों का फल नहीं भोगती। 45 साल हुए जब लेखक को श्री जे० सी० बोस से मिलने का अवसर मिला था। लेखक ने उनसे प्रश्न किया कि जब आप वृक्षों में भी आत्मा कहते हैं तब शाकाहारियों के सामने एक विकट समस्या खड़ी हो जाती है। अगर वृक्षों में भी आत्मा है, तो उनका भक्षण भी जीव-हत्या है, फिर मांस खाने तथा वनस्पति खाने में क्या अन्तर रह जाता है? उन्होंने उस समय बड़ा मार्मिक उत्तर दिया था। वे कहने लगे कि वृक्ष में 'जीवन' (Life) तो है, 'आत्मा' (Soul) नहीं है। जीवन के लक्षण हैं—वृद्धि-ह्रास, विकास, बढ़ना-घटना आदि। वृक्ष में क्योंकि विश्वात्मा का चैतन्य-स्वरूप मौजूद है इसलिए उसकी प्रेरणा-शक्ति से उसमें गुरुत्वाकर्षण के विपरीत नीचे को जाने के स्थान में बीज का ऊपर की तरफ़ बढ़ना, उगना, फलना-फूलना पाया जाता है, ठीक ऐसे जैसे जड़-जगत् में व्याप्त विश्वात्मा की चैतन्यता के कारण उसमें भी गति तथा विकास एवं ह्रास पाया जाता है, परन्तु जड़ चट्टान तथा वृक्ष में वह आत्मा नहीं है जो कर्मों को करता तथा फलों को भोगता है। 'आत्मा' एक व्यक्तिगत-अस्तित्व (Individual existence) है, 'जीवन' एक विश्वगत-अस्तित्व (Cosmic existence) है। व्यक्तिगत-अस्तित्व ही कर्म, कर्म के बन्धन, फल-भोग आदि की उलझन में पड़ी रहती है, विश्वगत-अस्तित्व नहीं। मनुष्य के शरीर में व्यक्तिगत-अस्तित्व आत्मा का है, वह कर्म

करता है, फल भोगता है, इसके साथ उसमें विश्वात्मा का भी चैतन्य-स्वरूप अस्तित्व है जो नदी, पहाड़, समुद्र, वन, वृक्ष, वनस्पति सबमें है। संक्षेपतः, जड़-जगत् तथा वनस्पति-जगत् में परमात्मा की सत्ता के कारण वहां जीवन दिखलाई देता है, उनमें कर्म करने वाला एवं फल भोगने वाला आत्मा नहीं है; प्राणी-जगत् में परमात्मा की सत्ता के अलावा आत्मा की भी वैयक्तिक-सत्ता है जो कर्म करता है और फल भोगता है। कर्म करने तथा कर्मानुकूल फल भोगने वाले प्राणी को शरीर से जुदा करके उसके विकास में बाधा डालना हिंसा कहा जा सकता है, परन्तु जहाँ केवल विश्वात्मा का चैतन्य-स्वरूप प्रकाशित हो रहा है, उस चैतन्यता के कारण भ्रमवश ऐसा लगता है कि यहाँ भी जन्म-जन्मान्तरों में विचरने वाला आत्मा है, वहाँ वनस्पति तथा वृक्ष आदि में—वनस्पति के उपभोग को हिंसा नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से जड़ तथा वनस्पति आदि में एक चेतन है—परमात्मा; प्राणी में दो चेतन हैं—आत्मा तथा परमात्मा। आत्मा कर्म की गठरी बाँधे प्राणी-शरीर में कैद पड़ा है; परमात्मा जड़, वनस्पति, प्राणी सबमें चेतनता के रूप में विराजमान है, परन्तु किसी शरीर में बन्धन में डालने वाले किसी कर्म को नहीं करता।

अगर 'जीवन' (Life) तथा 'आत्मा' (Soul) में भेद न माना जाय, तो मानना पड़ेगा कि जहाँ-जहाँ जीवन है वहाँ-वहाँ आत्मा है। अगर यह बात ठीक है, तो 'शुक्राणुओं'—'स्पर्मेपोज़ोआ' (Spermatozoa)—में जो वीर्य के अत्यन्त गतिशील पदार्थ हैं आत्मा मानना पड़ेगा। विज्ञान के अनुसार 'एक बार के वीर्य-स्राव में लाखों शुक्राणु होते हैं। क्या इन लाखों शुक्राणुओं में से एक-एक शुक्राणु में एक-एक आत्मा है ? फिर, मनुष्य का एकबार ही नहीं अनेक बार वीर्य-स्राव होता है। क्या हर बार के शुक्र-पात में लाखों आत्मा निकलते हैं ? फिर मनुष्य भी तो एक नहीं, करोड़ों, अरबों हैं। मनुष्य ही क्या, जीव-जन्तु भी अनन्त हैं—सब प्राणियों के वीर्य-स्राव में—और उनमें भी हर प्राणी के वीर्य-स्राव में लाखों शुक्राणु रहते हैं। क्या इन सब शुक्राणुओं में आत्मा रहती है ? अगर ऐसी बात है, तो आत्मा को मानने वाले, पुनर्जन्म को मानने वाले यह क्यों कहते हैं कि गर्भ ठहर जाने के सातवें मास गर्भ में आत्मा प्रवेश करता है ? उदाहरणार्थ, गर्भोपनिषद् में लिखा है : "ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कलिवलं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरेण पिंडो भवति, मासाभ्यन्तरेण कठिनो भवति, मासद्वयेन । [illegible]पद्यते, मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति, अथ चतुर्थेमासेऽङ्गुल्यजडरकटिप्रदेशो भवति । पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति, षष्ठेमासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्रारिण भवन्ति, **सप्तमेमासे जीवेन संयुक्तो भवति**। अष्टमेमासे सर्वसंपूर्णो भवति···" "अथ नवमेमासि सर्वलक्षण संपूर्णो भवति, पूर्वजातीः स्मरति···शुभाशुभं च कर्म विन्दति।"—गर्भोपनिषद् के इस

सन्दर्भ का यही अर्थ है कि इस उपनिषद् के लिखने वाले के विचार में गर्भ बढ़ता तो रहता है, परन्तु उसमें जीवात्मा का प्रवेश सातवें महीने में होता है।

आत्मा गर्भ में सातवें मास में प्रवेश करता है—इसका यही अर्थ हो सकता है कि उससे पहले गर्भ में 'जीवन' (Life) तो होता है, 'आत्मा' (Soul) नहीं होता। अगर माना जाय कि सातवें मास नहीं, 'शुक्राणु' (Sperm) तथा 'अंडाणु' (Ovum) के मिलते ही आत्मा गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, तब भी मानना पड़ेगा कि 'शुक्राणु' के 'अंडाणु' में प्रवेश करने से पहले 'शुक्राणु' में जीवन तो था, आत्मा नहीं थी। इस दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि जहाँ-जहाँ आत्मा है वहाँ-वहाँ जीवन तो है, परन्तु यह जरूरी नहीं कि जहाँ-जहाँ जीवन दिखलाई दे वहाँ-वहाँ आत्मा अवश्य है। वह कौन-सी सीमा है जहाँ जीवनधारी-जगत् में कर्म-फल भोगने वाला आत्मा सन्निविष्ट हो जाता है, जहाँ सिर्फ़ जीवन है, आत्मा नहीं है—यह बात अज्ञात के गर्भ में है।

'जीवन' (Life) सर्वत्र है, *विश्व-व्यापी है, कर्म-फल को भोगने वाला* 'आत्मा' (Soul) सर्वत्र नहीं व्याप रहा। अगर यह बात ठीक है तो यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। जहाँ-जहाँ जीवन है वहाँ-वहाँ मस्तिष्क होता है, हृदय होता है—इसलिए वहीं जीवन मानना उचित है जहाँ मस्तिष्क है, हृदय है; जहाँ मस्तिष्क नहीं, तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) नहीं, वहाँ जीवन के अस्तित्व को कैसे माना जा सकता है? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। इस शंका का तो यह अभिप्राय हुआ कि वही प्राणी हज़म कर सकता है जिसमें पेट हो क्योंकि मनुष्य में हाजमे के लिये पेट है। अमीबा हज़म कर सकता है परन्तु उसमें पेट नहीं है। असल बात यह है कि प्राणी जितना पूर्ण विकसित होता जाता है उतना ही उसमें भिन्न-भिन्न अंगों का भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये विकास होता जाता है। ऐसा जीवन है जिसमें मस्तिष्क नहीं, तन्त्रिका-तन्त्र नहीं, हृदय नहीं, परन्तु वृद्धि है, ह्रास है, विकास है। जितना ही हम ऊपर से नीचे की तरफ़ उतरते हैं उतना ही हम जीवन को, चेतना को, मस्तिष्क, तन्त्रिका-तन्त्र तथा हृदय से पृथक्, उससे जुदा पाते हैं, जितना हम प्राणी के विकास की सीढ़ी में नीचे से ऊपर को आते हैं उतना ही जीवन के प्रकाश के लिये अलग-अलग अंगों का निर्माण देखते हैं। ऐसा जीवन है जिसमें मस्तिष्क नहीं, तन्त्रिका-तन्त्र नहीं, हृदय नहीं, भिन्न-भिन्न अंग भी नहीं, वे पेट से हज़म न कर सारे शरीर से हज़म करते हैं, आँख से न देख कर त्वचा से देखते हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि 'जीवन' तथा 'चैतन्य' की अलग सत्ता है कर्म-फल भोगने वाले आत्मा की अलग सत्ता है; जीवन तथा चैतन्य सर्वव्यापक है, आत्मा वहीं है जहाँ कर्म-फल भोग है। यह सम्भव है कि जहाँ जीवन दिखलाई देता हो वहाँ आत्मा न हो, यह सम्भव नहीं है कि जहाँ आत्मा हो वहाँ जीवन

न हो—'जीवन' (Life) तथा 'आत्मा' (Soul) इन दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।

(ग) प्राणी-जगत् में सर्जनात्मक चेतन-शक्ति—यही चेतन-शक्ति प्राणि-जगत् में उद्बुद्ध हो रही है। परन्तु प्राणि-जगत् की सर्जनात्मक चेतन-शक्ति तथा जड़ एवं वृक्षादि में वर्तमान चेतन-शक्ति में भेद है। वह भेद क्या है ? वह भेद वही है जिसका हमने अभी ऊपर निर्देश किया है। प्राणी में वैयक्तिक-चेतना तथा विश्व-चेतना दोनों मौजूद हैं। इनमें वैयक्तिक-चेतना 'आत्मा' कहलाती है, विश्व-चेतना 'परमात्मा' कहलाती है। 'आत्मा' कर्म करता है, कर्म के बन्धनों में पड़ जाता है, फल भोगता है; 'परमात्मा' जड़-चेतन सबमें मौजूद रहता है, परन्तु वह बन्धनजनक कर्म नहीं करता, इसीलिए फल भी नहीं भोगता। यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि प्राणी के शरीर में चेतना तथा आत्मा दोनों हैं, जड़-जगत् तथा वृक्ष-वनस्पति में सिर्फ़ चेतना है, आत्मा नहीं है। आत्मा वह है जो कर्म करता, फल भोगता है; चेतना वह है जो न कर्म करती, न फल भोगती है—वह केवल मात्र चेतना-शक्ति है जिसके कारण विश्व में गति तथा विकास हो रहा है। वह चैतन्य-शक्ति ही 'ईश्वर' है क्योंकि विकास बिना चैतन्य-शक्ति के नहीं हो सकता।

जीव विज्ञान (Biology) के मत में प्राणी-जगत् की रचना की प्रथम इकाई वह जन्तु है जिसे 'अमीबा (Amoeba) कहते हैं। भौतिकवादियों का कथन है कि 'अमीबा' जीवन की वह इकाई है, वह कोशिका (Cell) है, जहाँ 'जड़' विकसित होता हुआ अचानक 'चेतन' बन जाता है। 'अमीबा' सृष्टि के प्रथम सूक्ष्म-प्राणी का देह है जिसके भीतर चेतन-तत्त्व रहता है। इस चेतन-तत्त्व को —'जीव-द्रव्य'—'प्रोटोप्लाज़्म' (Protoplasm) कहते हैं। प्रोटोप्लाज़्म-गर्भित अमीबा सृष्टि का प्रथम प्राणी है जिससे विकसित होते-होते लाखों, करोड़ों वर्षों में परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते-करते मानव का विकास हुआ है। परन्तु क्या—यह कह देने मात्र से कि जड़ से चेतन का विकास हो गया—इस समस्या का हल हो जाता है ? जड़ से चेतन न हुआ है, न हो सकता है; दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है, जड़ में गति का प्रवेश चेतन ही कर सकता है; जड़ में अपने-आप गति नहीं हो सकती, उसका अपने-आप विकास नहीं हो सकता। 'अमीबा' की वही स्थिति है जो वनस्पति-वृक्ष आदि की है। वनस्पति-वृक्ष आदि में भी जीवन (Life) तो है, आत्मा (Soul) नहीं है; इसी प्रकार अमीबा में 'जीवन-तत्त्व' है, 'आत्म-तत्त्व' नहीं है; आत्मा वह सत्ता है जो कर्म तथा कर्म-फल को साथ लेकर जीवन-तत्त्व में आ बैठती है। जब जीवन-तत्त्व विकसित होता-होता इतना विकसित हो जाता है कि आत्मा के लिए उपकरण बन सके, तब आत्मा अपने सूक्ष्म-शरीर के साथ, कर्मों के बीज-रूप संस्कारों को लेकर

उसमें प्रवेश करता है। निस्सन्देह यह चौंका देने वाली स्थापना है, परन्तु इस स्थापना को स्वीकार कर लेने से अनेक उलझनें सुलझ जाती हैं।

जैसे जड़-जगत् के विकास में तथा वनस्पति एवं पशु-जगत् के विकास में चेतन-शक्ति काम कर रही है, वैसे ही प्राणी-जगत् के विकास में भी चेतन-शक्ति काम करती है। प्राणी-जगत् में इस विकास को गति देने वाली वही चेतन-शक्ति ईश्वर है। विकास की इस प्रक्रिया में एक स्थिति ऐसी आती है जहाँ चेतन-शक्ति के साथ जीव भी कर्म तथा कर्म-फल के कारण देह में प्रवेश कर जाता है। क्योंकि सार्वभौम-चेतन-शक्ति कर्म तथा कर्म-फल के वश में नहीं है, स्वतन्त्र है, सिर्फ़ विकास की प्रक्रिया को गति देती है, इसलिए जड़ में, वनस्पति में, वृक्ष में, पशु में, मनुष्य में, इन देहों को अनुप्राणित करते हुए भी उस पर किसी प्रकार का विकार आरोपित नहीं होता। अगर वह 'चैतन्य-शक्ति' न होकर 'महान्-पुरुष' होती, योगदर्शन प्रतिपादित 'पुरुष-विशेष' नहीं, मत-मतान्तरों में जैसा पुरुष उसे कहा गया है वैसी होती, तो अवश्य आक्षेप का अवसर होता।

3. सृष्टि में क्रम तथा नियमबद्धता
(Order in the Universe)

हम पहले देख आए हैं कि सृष्टि में सर्जन हो रहा है, विकास हो रहा है, गति हो रही है, वस्तु जैसी आज है कल वैसी नहीं रहती, परिवर्तन लगातार, हर समय होता रहता है। यह परिवर्तन, यह सर्जन, यह विकास, जड़ प्रकृति का गुण नहीं हो सकता, कहीं बाहर से आता है। जड़ प्रकृति में, वनस्पति तथा वृक्ष में, प्राणी-जगत् में—सब जगह परिवर्तन हो रहा है, हर वस्तु कार्य है, बनी है—इस सर्जन को, विकास को, परिवर्तन को लाने वाली कोई चेतन-सत्ता होनी चाहिए, उसी चेतन-शक्ति को ईश्वर कहते हैं। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि प्रकृति में विकास और गति ही नहीं हो रही, इस विकास में, गति में, क्रम तथा नियमबद्धता है—ये सब किन्हीं नियमों में बँधे हुए हैं। जहाँ नियम हो वहाँ नियामक होना ही चाहिए, बिना नियामक के नियम नहीं हो सकता। जड़ में, वनस्पति तथा वृक्ष में, एवं प्राणी-जगत् में सर्वत्र नियम काम कर रहे हैं, इसीलिए उस चेतन-शक्ति को नियन्ता भी कहा जाता है। संसार को नियमों में बाँधने वाले कुछ दृष्टान्त निम्न हैं :

(क) **जड़-जगत् में क्रम तथा नियम-बद्धता**—पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह इस प्रकार अपनी परिधि पर घूम रहे हैं कि आज से हज़ार साल पहले उनकी क्या स्थिति थी, हजार साल बाद क्या स्थिति होगी—इस बात को निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। सूर्य-ग्रहण तथा चन्द्र-ग्रहण किस दिन होगा, किस घड़ी होगा—इस बात की भविष्यत्-वाणी की जा सकती है। ऐसा क्यों

किया जा सकता है ? ऐसा इसलिए किया जा सकता है क्योंकि जगत् की रचना नियमबद्ध है। इन नियमों का पता लगाना ही ज्योतिष्-शास्त्र है। असल में, भिन्न-भिन्न शास्त्रों का काम ही उन नियमों का पता लगाना है जिनके अनुसार सृष्टि का संचालन हो रहा है। ज्योतिष्-शास्त्र की तरह भू-विज्ञान का काम भी नदी, पर्वत की रचना के नियमों को ढूंढ़ निकालना है। नदी जिस स्रोत से निकली, वहाँ से बहती हुई जिन-जिन स्थानों में से रास्ता बनाती हुई गई उसका कारण है। पानी उधर बहता है जिधर ढलाव हो, ऊँचाई की तरफ़ नहीं चढ़ जाता। यह नियम ही तो है जिसके आधार पर नदी का मार्ग बन जाता है। पर्वत कैसे बन गए ? शुरू-शुरू में तो वे थे ही नहीं। पृथ्वी गर्म थी, वह धीरे-धीरे ठण्डी होती गई, ठण्डी होते-होते नियमानुसार उसकी सतह सिकुड़ी जिससे कहीं पहाड़, कहीं खाई, कहीं समुद्र, कहीं टापू बन गए—इन सब घटनाओं के नियमों का पता लगाने से ही भू-विज्ञान बन गया। समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, इसके विषय में भविष्य-वाणी की जा सकती है। कब समुद्र का पानी चढ़ेगा, कब उतरेगा, इसी विद्या के सहारे समुद्र में नाव, जहाज़ चलते हैं। क्या ये नियम, यह-सब व्यवस्था अपने-आप हो गई। जहाँ व्यवस्था होती है वहाँ व्यवस्था को करने वाला भी होता है, उसी व्यवस्थापिका चेतन-शक्ति का नाम 'ईश्वर' है।

(ख) **वनस्पति तथा वृक्ष जगत् में क्रम तथा नियम-बद्धता**—वनस्पतियों तथा वृक्षों की वृद्धि के भी नियम हैं। बीज बोते हैं, अंकुर फूटता है, तना बनता है, बड़ा होता है, फूल खिलते हैं, फल निकलता है, पकता है, फिर उसमें से बीज उसी चक्कर में चल देता है। कहीं यह नियम नहीं टूटता, ऐसा नहीं होता कि पहले फल निकले, फिर फूल बने, फिर अंकुर दिखलाई दे। गेंदे के बीज से गुलाब नहीं निकलता, गुलाब के बीज से गेंदे का पौधा नहीं उगता। वनस्पति-शास्त्र अपने नियमों से बँधा हुआ है। बड़े-बड़े वृक्षों को आरे से चीर दें, तो उनके सम-धरातल स्तरों में गोल-गोल चक्र बने दीखते हैं। एक-एक चक्र वृक्ष की आयु का सूचक है। इन चक्रों को गिनकर उसकी आयु का पता लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं, इन चक्रों के अन्तर को देख कर यह पता लगाया जा सकता है कि इस वर्ष कितनी वर्षा हुई थी, एक चक्र में दूसरे चक्र से फ़ासला अधिक हो तो अधिक वर्षा, कम हो तो सूखा पड़ा था। यह-सब जान सकना क्या सिद्ध करता है ? यह-सब यह सिद्ध करता है कि वृक्ष तथा वनस्पति जगत् में अव्यवस्था नहीं है। उसी व्यवस्थापिका चेतन-शक्ति का नाम 'ईश्वर' है। वैज्ञानिक उसे नेचर (Nature) कह देते हैं, कोई उसे कुदरत कह देते हैं, नेचर या कुदरत कह देने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता, असल बात यह है कि कोई चेतन-शक्ति है जो संसार में क्रम, नियम तथा व्यवस्था को कायम रखे हुए है।

(ग) **प्राणी-जगत् में क्रम तथा नियम-बद्धता**—जैसे जड़-जगत् नियमों के आधार पर चल रहा है वैसे ही प्राणी-जगत् के भी अपने नियम हैं। रज-वीर्य के संयोग से प्राणी उत्पन्न होता है, विना इनके संयोग के नहीं होता। वीर्य में 24 'वाहकाणु'—'जीन'—(Genes) होते हैं जिनमें से एक-एक—जीन—वाहकाणु—में प्राणी की ऊँचाई, लम्वाई, गोरापन, कालापन, नीली आँख, भूरी आंख आदि भिन्न-भिन्न गुण सिमटे रहते हैं। इन्हीं वाहकाणुओं के कारण प्राणी के शरीर का निर्धारण होता है। जिस प्राणी के वीर्य के वाहकाणुओं में जिस प्रकार के वाहकाणु होंगे वह वैसा ही वनेगा। इसी विद्या के आधार पर आनुवंशिकता (Heredity) के नियम वनते हैं। इसी विद्या की खोज में संसार के वैज्ञानिक दिन-रात लगे हुए हैं ताकि ऐसे उपाय ढूंढ़ निकालें जिनसे प्राणी के दोषपूर्ण 'वाहकाणु' — जीन—(Gene) हटा कर उसमें उच्च-गुणों के वाहकाणु निविष्ट कर दिए जाएँ। इस वात की संभावना के स्वप्न लिए जा रहे हैं जिससे वाहकाणुओं के परिवर्तन द्वारा नवीन-मानव का निर्माण हो सके। भारतोत्पन्न *प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री खुराना अमरीका में इसी खोज में लगे हुए हैं। क्या ये* स्वप्न लिए जा सकते थे अगर प्राणी-जगत् में नियम-बद्धता न होती? वच्चा पैदा होता है, धीरे-धीरे वढ़ कर युवा हो जाता है, फिर वृद्ध हो जाता है, पहले वृद्ध हो, फिर युवा हो, फिर वच्चा हो जाए—ऐसा नहीं होता। मनुष्य के रज-वीर्य से मनुष्य ही पैदा होता है, गाय-घोड़ा-वकरी नहीं हो जाता, गाय-घोड़ा-वकरी के वीर्य से गाय-घोड़ा-वकरी ही पैदा होते हैं, मनुष्य नहीं पैदा हो जाता। प्राणी-जगत् के ये नियम, यह व्यवस्था अपने-आप हो रही है, इस व्यवस्था को करने वाली कोई चेतना-सत्ता नहीं है—इस वात को मान लेना क्लिष्ट कल्पना है।

4. सृष्टि में प्रयोजन या उद्देश्य
(Teleology or Purpose in the Universe)

(क) **जड़-जगत् में प्रयोजन या उद्देश्य**—सृष्टि में हर वस्तु का प्रयोजन है, किसी उद्देश्य से उसका निर्माण हुआ है। प्रयोजन का होना सिद्ध करता है कि उसके निर्माण के पीछे कोई चेतन-शक्ति है, जो उस वस्तु का निर्माण करती है। सूर्य अपनी किरणों से समुद्र से पानी को खींचता है। समुद्र के पानी में नमक भी तो घुला हुआ है, परन्तु नहीं, सूर्य की किरणें उसमें से शुद्ध पानी को नितार लेती हैं। उस पानी से वादल वनते हैं, पानी वरसता है, इतना वरसता है कि वरसात नाम की एक मौसम वन जाती है। धरातल के समुद्र के वरावर ही आकाश का समुद्र वादलों के रूप में उमड़ आता है। आसमान से पानी न वरसे तो खेती न हो, त्राहि-त्राहि मच जाए, खाने को न मिले। दिन होता है, रात

होती है, दिन-ही-दिन रहे, तो मुसीबत, रात-ही-रात रहे तो मुसीबत, दिन को काम किया जा सकता है, रात को विश्राम किया जा सकता है। संसार में सूखा न पड़ जाए इसलिए सूर्य समुद्र में से पानी खींच लेता है, परन्तु पानी खींचते-खींचते समुद्र ही न सूख जाए, इसलिए उसी पानी से संसार का काम हो जाने पर वही पानी नदियों के रूप में फिर समुद्र में जा पड़ता है। ऐसा चक्र चला हुआ है कि वह चक्र न चले तो समुद्र खाली हो जाए। पानी बरसता है, खेती होती है, एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु आती है, सब घटनाएँ एक-दूसरे के साथ निश्चित प्रयोजन से बँधी हुई हैं। क्या इतना भारी प्रयोजन, इतना भारी प्लैनिंग बिना प्लैनर के हो सकता है, अपने-आप हो सकता है, बिना चेतन-शक्ति के ही हो सकता है?

(ख) **वनस्पति तथा वृक्ष-जगत् में प्रयोजन या उद्देश्य**—प्राणी साँस से जीता है, परन्तु प्राण-वायु में जो ऑक्सीजन है वही उसके जीवन को धारण करती है। सृष्टि की रचना इस प्रकार हुई है कि वृक्ष कार्बन से जीता है, प्राणी ऑक्सीजन से जीता है। प्राणी के जीवन के लिए वृक्ष ऑक्सीजन को बाहर फेंकता है, कार्बन को अपने भीतर ग्रहण करता है, इससे प्राणी तथा वृक्ष-वनस्पति का जीवन बना रहता है। दीखने को कैसी उल्टी बात है, परन्तु इस उल्टेपन का प्रयोजन है। वन में अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ हैं जिनका उद्देश्य रोगों को दूर करना है—इसी से चिकित्सा-शास्त्र का जन्म हुआ है। वैज्ञानिक का काम वृक्ष तथा वनस्पतियों के उन नियमों का पता लगाना है जिनसे रोगों को दूर किया जा सके। पृथ्वी में घास कितनी भरी पड़ी है, इतनी घास न हो तो शाकाहारी प्राणियों के भोजन की समस्या बनी रहे।

(ग) **प्राणी-जगत् में प्रयोजन या उद्देश्य**—प्राणी के अंगों की रचना का जितना अध्ययन किया जाए उतना ही उनकी रचना का प्रयोजन समझ में आने लगता है। अगर जहाँ हाथ हैं वहाँ पाँव होते, जहाँ पाँव हैं वहाँ हाथ होते, तो क्या अजीब समस्याएँ उत्पन्न हो जातीं। आँखें सामने हैं, अगर पीठ की तरफ़ होतीं तो प्राणी शत्रु का शिकार बना रहता। जो अंग जहाँ जड़ा हुआ है वहीं फ़िट बैठता है क्योंकि वहीं होने से उसका प्रयोजन सिद्ध होता है। मशीन में जैसे एक-एक पुर्ज़े का प्रयोजन है, पुर्ज़ा जहाँ लगा होता है वहीं उसका प्रयोजन सिद्ध होता है, वह पुर्ज़ा न हो तो भीमकाय मशीन खड़ी-की-खड़ी रह जाती है, वैसे ही प्राणी के शरीर में एक-एक अंग का अपना-अपना काम है। मुँह कितना चिकना-चुपड़ा है, परन्तु होठों पर मूँछें तथा ठोडी पर दाढ़ी आ जाती है। मूँछों का काम साँस लेते हुए वायु में दूषित धूल-गर्द को छान देना है, सर्द हवा को फेफड़ों में जाने से पहले गर्म कर देना है ताकि जुकाम न हो सके, दाढ़ी का काम छाती तक बढ़ कर छाती को ठण्ड लगने से बचाना है ताकि न्युमोनिया न

हो सके। बच्चे में जीवनी-शक्ति ज्यादा होती है, इसलिए उसे इनकी ज़रूरत नहीं होती, वयस्क तथा वृद्ध को इनकी ज़रूरत होती है। जो आवश्यक अंग हैं, वे दो-दो दे दिए हैं ताकि एक निकम्मा हो जाए तो दूसरे से काम चलता रहे। कई लोग हैं जो दो में से एक के रुग्ण हो जाने पर एक ही फेंफड़े पर जीते हैं, एक ही गुर्दे, एक ही आँख से जीवन-निर्वाह करते हैं। अगर प्राणी के अंगों के प्लैनर ने ये अंग दो-दो की जगह एक-एक ही दिए होते, तो ऐसे व्यक्तियों का जीवन असम्भव हो जाता। प्राणी की माँसपेशियों की सबलता के द्वारा वे भारी-से-भारी काम को करते हैं। इन माँसपेशियों में बल-संचार 'केशिकाओं' (Capillaries) द्वारा होता है जो प्रतिक्षण हर माँसपेशी तक रुधिर पहुँचाती रहती हैं। मनुष्य के शरीर में इनकी लम्बाई 95,000 किलोमीटर (59,375 मील) है। शरीर के माँस-पिंड में एक पौंड रुधिर पहुँचाने के लिए एक मील लम्बी केशिका की जरूरत पड़ती है। मनुष्य के इस छोटे-से शरीर के भीतर *इतना विशाल आयोजन क्या अपने-आप हो गया है? और, आश्चर्य यह है कि* यह सब-कुछ और बहुत-कुछ, क्षुद्रवीक्षण-यन्त्र से ही दीखने वाले एक शुक्राणु में सिमिटा पड़ा है। स्वयं 'हृदय' क्या किसी चमत्कार से कम है? यह एक तरह का पम्प है जो रात-दिन अपने-आप 70-80 वर्ष तक बिना रुके चलता रहता है। क्या मनुष्य की प्रतिभा इसकी एक अणु भर तुलना का भी कोई पम्प बना सकी है? मुट्ठीभर का यह पम्प एक मिनट में पाँच लिटर रुधिर को पम्प करता रहता है, आवश्यकता पड़ने पर एक मिनट में पच्चीस लिटर तक पम्प कर सकता है। दिन-रात चलता हुआ यह सत्तर वर्ष तक 2,800,000,000 बार गति करता है जिसमें यह 400,000,000 लिटर रुधिर को पम्प करता है। इतना अद्‌भुत् यन्त्र जो बिना चलाए सौ साल तक भी चलता रहे अदृश्य 'शुक्राणु' में मौजूद हो—यह बिना किसी नियन्ता के कैसे सम्भव है? हृदय स्वयं सृष्टि के नियन्ता का पेसमेकर (Pacemaker) है।

जिस प्रकरण में हम 'हृदय' की चर्चा कर रहे हैं उसमें तो यह बात नहीं संगत बैठती, परन्तु फिर भी इस बात का वर्णन कर देने का हम प्रलोभन संवरण नहीं कर सकते कि 'हृदय'-शब्द के निर्माण में प्राचीन ऋषियों का शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) का गहरा ज्ञान निहित है। निरुक्त में 'हृदय' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है: **'हृदयम् कस्मात्—हरति, ददाति, याति इति'**—हृदय को हृदय इसलिए कहते हैं क्योंकि यह रुधिर का हरण करता है, दान करता है, यान करता है। हृ, द, य इन तीन अक्षरों को इसलिए चुना गया है क्योंकि हृदय रुधिर को लेता है, देता है, सारे शरीर में चलाता है। शरीर क्रिया-विज्ञान का भी यही कहना है कि हृदय शरीर के अशुद्ध रुधिर को लेकर, फिर उस अशुद्ध रुधिर को, ऑक्सीजन द्वारा शुद्ध करने के लिए फेफड़ों को देकर शरीर

में गति करने के लिए दे देता है। इस दृष्टि से 'हृदय'-शब्द के अर्थ में रुधिर की गति (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। हृदय द्वारा रुधिर गति करता है—यह पता युरोप में हार्वे (1578-1657) ने 17वीं शताब्दी में लगाया था, परन्तु उससे सदियों पहले निरुक्तकार यास्क को इस बात का ज्ञान था क्योंकि उन्होंने 'हृदय'-शब्द का अर्थ ही रुधिर को गति देने वाला (Circulation of blood) अंग दिया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (पंचम अध्याय, तृतीय ब्राह्मण) में भी 'हृदय'—शब्द की यही व्याख्या की गई है। वहाँ लिखा है—"**तदेतत् त्र्यक्षा हृदयमिति, 'हृ' इत्येकमक्षरम् अभिहरन्ति अस्मै····'द' 'इत्येकमक्षरं ददाति अस्मै····'यम्' इत्येकमक्षरं एति**"।

इतना ही नहीं कि प्राणी के शरीर के एक-एक अंग का प्लैनिंग है, परन्तु प्राणी के शरीर की रचना भी ऐसी की गई है कि अपनी टूट-फूट की मरम्मत भी यह स्वयं कर लेती है। ऐसी मशीन दुनिया में कोई नहीं बनी जिसकी अपने-आप मरम्मत होती रहती है। सात साल में शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं, नया शरीर हो जाता है। इस शरीर की ऐसी विलक्षण रचना की गई है कि अगर हम ही हस्तक्षेप न करते रहें, तो इसकी जो टूट-फूट होती रहती है उसका भीतर से ही अपने-आप इलाज भी होता रहता है। चिकित्सक का काम इस मशीन के भीतर से चल रही मरम्मत को सिर्फ़ सहारा देना होता है, या रोगी को स्वास्थ्य के नियम समझा कर अपने-आप चल रही मरम्मत में हस्तक्षेप न करने के लिए तैयार करना होता है।

5. सृष्टि की विविधता में एक-सूत्रता
(Unity in Diversity)

(क) **जड़-जगत् में एक-सूत्रता**—सृष्टि में इतनी विविधता है कि उसे देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि सब वस्तुएँ अलग-अलग पड़ी हैं, परन्तु अन्दर प्रविष्ट होकर दीखने लगता है कि यह विविधता एक सूत्र में पिरोई हुई है। प्रत्येक वस्तु का दूसरी से ताल-मेल है। जैसे मकान की एक-एक ईंट का दूसरी ईंट से सम्बन्ध जुड़ा हुआ होता है, वैसे सूर्य का चन्द्र से, चन्द्र का पृथ्वी से, पृथिवी का वनस्पति तथा वृक्षों से, वनस्पतियों का जीव-जन्तुओं से, जीव-जन्तुओं का मनुष्यों से, सूर्य-चन्द्र से लेकर सृष्टि के कीट-पतंग तक सब एक ही माला के मनके हैं। जो नियम बड़ी-से-बड़ी वस्तु में काम कर रहे हैं वे ही छोटी-से-छोटी में काम कर रहे हैं। सौर-मण्डल में जो प्रक्रिया चल रही है वह अणु-परमाणु में चल रही है। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि परमाणु एक छोटा-सा सौर-मण्डल है। यह एक-सूत्रता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस विशाल-विश्व की रचना में एक ही शक्ति का हाथ है। ये नियम किसी अन्ध-शक्ति के

नहीं, चेतन-शक्ति के हैं क्योंकि इनमें बुद्धि काम कर रही है, प्रयोजन काम कर रहा है। नेचर, कुदरत, प्रकृति आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए नेचर को, कुदरत को, प्रकृति को चेतन मान लिया जाय, बुद्धिपूर्वक काम करने वाला मान लिया जाय, तो आस्तिकवाद या नास्तिकवाद का विवाद वाग्-विलास मात्र रह जाता है क्योंकि ईश्वर से अभिप्राय किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं, शक्ति-विशेष से है, फिर उसका नाम भले ही कुछ रख लिया जाय।

(ख) **वनस्पति तथा वृक्ष जगत् में एक-सूत्रता**—वैज्ञानिक एक शब्द का प्रयोग करते हैं—'एम्पैथी' (Empathy)—जिसका अर्थ है 'सदनुभूति'—ऐसी अनुभूति जो सूर्य से लेकर वृक्ष-वनस्पति तथा मनुष्य तक सब में एक-समान मौजूद है। अमरीका में वृक्षों पर गवेषणा करने का एक केन्द्र है जिसका नाम है—'दि रिंग रिसर्च सेंटर'। इसके संचालक हैं प्रो० डगलस। उनका कहना है कि वृक्ष के तने को अगर आरी से काटें तो तने पर कुछ गोलाकार चिह्न दिखलाई देते हैं। हमारे फ़र्नीचर में जो रिंग दिखलाई देते हैं वे तने के यही वर्तुल हैं। इन वर्तुलों को देखकर वृक्ष की आयु का पता लगाया जाता है। हर ग्यारहवें वर्ष यह रिंग पहले वर्षों के वर्तुलों से बड़ा होता है। क्यों बड़ा होता है? हर ग्यारहवें वर्ष सूर्य की रेडियो-एक्टिविटि तीव्र हो जाती है जिससे वृक्ष का वर्तुल बड़ा बन जाता है। यह बात किसी एक ही जंगल में नहीं, सृष्टि-भर के सभी जंगलों में अपनी जाति के वृक्षों पर यही प्रभाव पड़ता है। सृष्टि के सब वृक्ष अलग-अलग हैं, परन्तु प्रत्येक वृक्ष का अपनी जाति के दूसरे वृक्ष से, भले ही वह हजारों मील दूर हो, तारतम्य, एक-सूत्रता बनी हुई है। अपनी जाति के वृक्ष के साथ ही नहीं, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी के साथ भी वह एक-सूत्र में बँधा हुआ है, तभी तो सूर्य की रेडियो-एक्टिव लहरों से अपनी जाति के हर वृक्ष में ये वर्तुल पड़ जाते हैं। क्या यह एक-सूत्रता इस बात का प्रमाण नहीं है कि सृष्टि की एक-एक वस्तु को किसी चेतन कारीगर ने अपने हाथ से—हाथ का अभिप्राय यहाँ भौतिक हाथ नहीं है—माला में मनकों की तरह पिरो दिया है।

(ग) **प्राणी-जगत् में एक-सूत्रता**—उपनिषदों में पिंड तथा ब्रह्माण्ड की एक-सूत्रता का जगह-जगह उल्लेख मिलता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'**यत्पिंडे तत् ब्रह्माण्डे**'—जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। सारा-का-सारा विश्व, जड़-जगत् का एक-एक अणु, वनस्पति-जगत् का एक-एक पत्ता, प्राणी-जगत् का एक-एक रोंयां—एक-दूसरे से बँधा हुआ है। सूर्य से पृथिवी जन्मी है, पृथिवी से वनस्पति-वृक्ष जन्मे हैं, वनस्पति-वृक्ष से, भोजन में लिये गए इनके रस से प्राणी जन्मा है—यह एक-सूत्रता शुरू से अन्त तक लगातार बनी हुई है। जिस 'एम्पैथी'—'सदनुभूति'—का हमने ऊपर उल्लेख किया, वह सम्पूर्ण-जगत् में

व्याप रही है। सूर्य में जरा से परिवर्तन का वनस्पति तथा प्राणी-जगत् पर प्रभाव पड़ता है। हमारा शरीर यहीं तक समाप्त नहीं हो जाता, वह वृक्ष-वनस्पति, सूर्य, चन्द्र, तारे—सभी से जुड़ा हुआ है। सूर्य हम से 10 करोड़ मील दूर है, परन्तु उसकी गर्मी से हमारा जीवन बना हुआ है। चांद का मन पर प्रभाव पड़ता है, पूर्णमासी आने पर समुद्र में तूफ़ान आ जाता है, पागल ज़्यादा पागल हो जाता है। ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड की एक-सूत्रता को वैदिक ऋषियों ने इतना समझा था कि चन्द्र का मन से, चक्षु का सूर्य से, प्राण का वायु से उन्होंने 'सदनुभूति' का सम्बन्ध जोड़ दिया था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के नव्वे सूक्त के चौदहवें मन्त्र में इस बात को स्पष्ट किया गया है। वहाँ उल्लेख है—

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च प्राणात् वायुः अजायत। १४।

उस चेतन-सत्ता की अगर पुरुष-रूप में कल्पना की जाय, तो उसके मन से चन्द्र, चक्षु से सूर्य, प्राण से वायु की कल्पना की गई है। इतना ही नहीं, समाज की कल्पना भी उस शक्ति को पुरुष मान कर करते हुए वहाँ उल्लेख है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। १३।

उस चेतन-सत्ता को अगर पुरुष-रूप में कल्पित कर लिया जाय, तो उसके मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य तथा पाँवों से शूद्र—इस प्रकार का समाज उत्पन्न हुआ। यह स्थल वर्ण-विभाग के विवेचन करने का नहीं है, परन्तु इतना तो स्वयं-सिद्ध है कि हर-किसी समाज में ये चार वर्ग तो होते-ही-होते है, भले ही वह कम्युनिस्ट समाज ही क्यों न हो।

ये वर्णन अक्षरशः उक्त-विकास के द्योतक नहीं है, इनसे सिर्फ़ ईश्वरीय-सत्ता के साथ जागतिक-सत्ता की एक-सूत्रता प्रतिपादित की गई है। जैसे ईश्वरीय पुरुष की आँख से सूर्य हुआ, वैसे सूर्य से प्राणी-जगत् की आँख उत्पन्न हुई, अन्त्येष्टि-संस्कार के समय कहाँ जाता है—'**सूर्यं ते चक्षुः गच्छतु**'—मरने के बाद तेरी आँख सूर्य में चली जाय क्योंकि सूर्य तथा प्राणी की आँख का वैसा ही एक-सूत्री-सम्बन्ध है जैसा एक-सूत्री सम्बन्ध सूर्य का चेतन-स्वरूप कल्पित 'पुरुष-विशेष'—ईश्वर की आँख से है। वेद के ये सारे वर्णन सृष्टि में एक-सूत्रता को ध्यान में रख कर कहे गये हैं, अन्य किसी प्रयोजन से नहीं।

जड़, वनस्पति, प्राणी-जगत् में उक्त एक-सूत्रता को देख कर यही अनुमान हो सकता है कि इस विश्व का संचालन किसी चेतन-शक्ति द्वारा ही हो रहा है, तभी अणु-अणु में जड़-चेतन सभी में उसके ही निशान दिखलाई पड़ते हैं।

6. सृष्टि में विशालता

पृथ्वी की परिधि 25 हज़ार मील है। इस 25 हज़ार मील की परिधि से 13 लाख गुणा बड़ी परिधि सूर्य की है। परिमाण में सूर्य पृथिवी से 60 हज़ार गुणा बड़ा है। सूर्य की किरण प्रति सैकेण्ड 1 लाख 86 हज़ार मील की रफ़तार से चलती है। यह किरण इस रफ़तार से चलती हुई 7 मिनट में पृथ्वी पर पहुँचती हैं। इसी से अन्दाज लगाया जा सकता है कि सूर्य पृथिवी से कितनी दूर तथा कितना बड़ा है। आसमान में रात को टिमटिमाते तारे दीखते हैं। ब्रह्माण्ड में इन तारों की संख्या इतनी है जितने सभी समुद्र-तटों पर बिखरे रेता के कण हैं। इनमें से एक-एक तारा इतना बड़ा है जिसमें अगर दस लाख को दस लाख से गुणा किया जाय, तो पृथिवी के परिमाण से उतने गुणा बड़े वे तारे हैं। इनमें से कुछ तारे हमारे सौर-मण्डल की तरह समूह-रूप से अन्तरिक्ष में भ्रमण कर रहे हैं, कुछ इकले ही घूम रहे हैं। घूमते हुए ये महाकाय तारे इस प्रकार भ्रमण कर रहे हैं कि करोड़ों-करोड़ वर्ष हो गये कोई तारा किसी दूसरे तारे से टकराता नहीं। इन भीमकाय तारों में से प्रत्येक तारा अपने निकटतम दूसरे तारे से कम-से-कम 10 लाख मील की दूरी पर भ्रमण कर रहा है। अन्तरिक्ष में एक ऐसे 'नेब्युला' का पता चला है जो प्रति सैकेण्ड 15 हज़ार मील की गति से पृथ्वी से दूर भागा जा रहा है। एक ऐसा 'नेब्युला' है जिसका प्रकाश पृथिवी तक आने में 1 अरब वर्ष लग जाते हैं। यह पृथिवी से कितनी दूर होगा इसका अन्दाज़ इसी बात से लग जाता है जब हम इस बात को सोचें कि प्रकाश की गति 1 सेकेण्ड में 1 लाख 86 हज़ार मील है। अन्तरिक्ष-विद्या के जानने वालों का कहना है कि 10 लाख को अगर 2 हज़ार से गुणा किया जाय, तो इतना समय हो गया जब सृष्टि की रचना में एक अभूतपूर्व-घटना घटी। वह घटना यह थी कि सृष्टि में भ्रमण करता हुआ एक भीमकाय, विशाल तारा सूर्य के इतने निकट से गुज़रा कि उसका सूर्य पर वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा सूर्य तथा चन्द्र का पृथिवी पर प्रभाव पड़ता है। सूर्य तथा चन्द्र से पृथिवी में लहरें उठने लगती हैं, चन्द्र के प्रभाव से समुद्र में उफान आ जाता है। उस तारे के सूर्य के निकट आने से सूर्य में लहरें उत्पन्न हो गई। ये लहरें उस प्रकार की साधारण लहरें नहीं थीं जैसी चाँद के प्रभाव से समुद्र में उठा करती हैं। इन लहरों का प्रभाव सूर्य की सतह पर ऐसा हुआ कि एक विशालकाय पर्वत की ऊँचाई जैसा सूर्य-खण्ड उठ खड़ा हुआ जो जितना वह तारा सूर्य के निकट आता गया उतना ही वह सूर्य-खण्ड भयंकर रूप से विशाल होता गया। उस तारे के सूर्य से परे हटने से पहले ही उसका सूर्य पर प्रभाव इतना जबर्दस्त हो गया कि पर्वतों-के-पर्वत-नुमा यह सूर्य-खण्ड टुकड़े-टुकड़े होकर छितर गया, और इसके टुकड़े वैसे ही खण्ड-खण्ड हो

गये जैसे समुद्र की विशाल लहर टूट कर छिटिया जाती है। तब से सूर्य के ये टुकड़े ग्रहों के रूप में सूर्य के गिर्द चक्कर काट रहे हैं, उन्हीं टुकड़ों हमारी पृथिवी भी एक ग्रह है। सूर्य तथा अन्य तारागण अत्यन्त गर्म हैं, ये भी आग के शोले थे, पृथिवी पर जीवन थोड़े ही रह सकता था। धीरे इनकी गर्मी जाती रही, ये ठण्डे हो गये और आज हम उसी सूर्य-खण्ड पर बिता रहे हैं। क्या इतना विशाल-जगत् जिसकी कल्पना करते हुए भी चकरा जाता है अपने-आप हो गया है ?

7. सृष्टि में अस्थायित्व में स्थायित्व
(Permanence in Transience)

सृष्टि का यह नियम है कि कोई अस्थायी-वस्तु स्थायी आधार के नहीं टिक सकती। चक्की का चाक चलता है, परन्तु उसकी कील स्थिर है, अगर कील भी घूमने लगे तो चक्की चल नहीं सकती। अस्थिर का स्थिर ही होता है, नहीं तो अस्थिर टिक नहीं सकता। ईशोपनिषद् में कहा **'अनेजत् एकं मनसो जवीयः'**—वह गति नहीं करता इसलिए संसार में भी अधिक गति दिखलाई देती है, **'तदेजति तन्नैजति'**—वह गति नहीं इसलिए जो गतिशील है वह गति कर सक रहा है। उपनिषद् की यह का भाषा है, परन्तु इसमें सृष्टि का एक गूढ़ रहस्य छिपा है। सृष्टि गतिशी अणु-अणु में गति है, यह गतिशीलता हो नहीं सकती, अगर इसके मूल में गति-रहित स्थिर-सत्ता न हो। गतिशीलता गतिराहित्य के विना, अविनाशी के विना हो नहीं सकता, इसलिए कोई स्थायी, अविनाशी सत्ता चाहिए जिसके आधार पर यह अस्थायी-जगत् टिक सके, वही 'ईश्वर' है

8. भारतीय-दर्शनों में ईश्वर-सिद्धि के प्रमाण

(क) **ईश्वर-सिद्धि में वैशेषिक-दर्शन की युक्ति**—इस दर्शन के र कणाद हैं। वैशेषिक-दर्शन का मुख्य ध्येय ईश्वर-सिद्धि नहीं है, फिर भी को सिद्ध करने के लिए कणाद ऋषि ने निम्न सूत्र की रचना की है— **कर्म तु अस्मत्-विशिष्टानाम् लिंगम्'**—अर्थात्, संसार की वस्तुओं का शु में 'नाम' तथा हर वस्तु का 'काम' निश्चित करने वाली, हम साधारण ल कोई विशिष्ट-सत्ता होनी चाहिए। वह सत्ता कौन है ? इसमें सन्देह न सृष्टि के प्रारम्भ होने के बाद वस्तु-जात की 'संज्ञा' (नाम) तथा उनक (काम) ऋषियों ने निश्चित किया, परन्तु सर्गादि-काल में संसार की वस्तु नाम किसने दिया, उनका इस्तेमाल करने की शिक्षा किसने दी ? यह कुछ अटपटी-सी लगती है, परन्तु इसका भाव यह प्रतीत होता है कि

को शुरू-शुरू में ज्ञान किस से प्राप्त हुआ। हमें ज्ञान अपने माता-पिता, गुरुओं से मिलता है, उन्हें अपने माता-पिता तथा गुरुओं से मिलता है। इस प्रकार पीछे-पीछे चलते चले जाएँ, तो सृष्टि का प्रारम्भ-काल आ जाता है। उस समय ज्ञान किसने दिया? बृहदारण्यक उपनिषद् (प्रथम अध्याय 7) में भी सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—'**तत् ह इदं अव्याकृतम् आसीत् तत् नाम रूपाभ्याम् एव व्याक्रियत**'—सृष्टि के शुरू में सब अव्यक्त था, नाम-रूप रहित था, जिसने उसे व्यक्त कर दिया, व्यक्त करने का अर्थ है—सृष्टि के पदार्थों को नाम और रूप देना—जिसने यह ज्ञान दिया, वही ईश्वर है। सृष्टि में ज्ञान का प्रारम्भ कैसे हुआ—इस समस्या को लेकर बहुत अटकल लड़ाई जाती है। जैसे नास्तिकों के सामने जड़ से चेतन कैसे हो गया—यह समस्या है, वैसे ही उनके सामने ज्ञान का श्रीगणेश कैसे हुआ—यह भी समस्या है। यह कह देना कि ऐसे ही हो गया, यूँ ही हो गया, कोई हल नहीं है। योग-दर्शन में भी ईश्वर की सिद्धि में इस युक्ति का भी प्रयोग किया गया है। वहाँ लिखा है—'**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्**'—(योग-दर्शन 25)—सम्पूर्ण-ज्ञान का जो भंडार है, जो निरतिशय-स्रोत है, वह ईश्वर है। युक्ति यह है कि हमारा ज्ञान किसी दूसरे से आता है, इस ज्ञान में हम घटा-बढ़ी कर सकते हैं, परन्तु जन्म से ज्ञान लेकर कोई नहीं पैदा होता। मैंने किसी से ज्ञान लिया, उसने भी किसी दूसरे से लिया। इस प्रकार ज्ञान के आदि-स्रोत की खोज चल पड़ती है। उसी को कहा है—'**सः सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**' (योग-दर्शन, 1-26)। वह परमात्मा ही गुरुओं का भी गुरु है, सबका वह आदि-गुरु है, क्योंकि काल-क्रम में पीछे की तरफ़ चलते-चलते वही एक गुरु शेष रह जाता है जिसे ज्ञान का आदि-स्रोत कहा जा सके।

(ख) **ईश्वर-सिद्धि में न्याय-दर्शन की युक्ति**—इस दर्शन के रचयिता गौतम हैं। वैशेषिक की तरह न्याय-दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को मानता है, परन्तु वैशेषिक-दर्शन की तुलना में ईश्वर-सिद्धि के लिए न्याय-दर्शन का विशेष आग्रह है। वैशेषिक तथा न्याय का मत है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वह अनुमान तथा वेद-वाक्यों के प्रमाणों से ही सिद्ध होता है। न्याय-दर्शन कारण-कार्य के सिद्धान्त (Law of causation) पर विशेष बल देता है। जहाँ कार्य होगा उसका कारण अवश्य होगा, बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। घड़ा कार्य है, उसका कारण मट्टी है; कपड़ा कार्य है उसका कारण सूत है। कार्य को देख कर कारण का अनुमान करना ही पड़ता है, कर्त्ता न हो तो कार्य हो नहीं सकता। यह जड़-चेतनमय संसार कार्य है, इसका कर्त्ता होना ही चाहिए, वह कर्त्ता ही ईश्वर है। यह युक्ति वही है जो हम इस प्रकरण में संख्या (2) में दे आये हैं। इस युक्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी की

उत्पत्ति किसी ने देखी नहीं, इसलिए उन्हें कार्य मानने का क्या प्रमाण है ? न्याय-दर्शन का उत्तर यह है कि यद्यपि उनकी उत्पत्ति किसी ने नहीं देखी, तो भी ये सब अवयवों से बने हैं, जो वस्तु अवयवों से बनी है, जिसका विश्लेषण किया जा सकता है, वह कार्य ही होता है भले ही हमने उसे बनते न देखा हो। अगर बनी है, तो कार्य है, अगर कार्य है, तो इसका कर्ता होना चाहिए।

इसके अलावा न्याय ने ईश्वर की सिद्धि के लिए एक दूसरी युक्ति भी दी है। न्याय कुसुमांजलि के रचयिता उदयनाचार्य का कथन है कि 'अदृष्ट'—जो दीखता नहीं परन्तु जो होना चाहिए—सबका अलग-अलग है। जीवन का प्रारम्भ सबका अलग-अलग है। किसी में किसी योग्यता की प्रधानता है, किसी में किसी दूसरी शक्ति की प्रधानता है। शक्तियों की इस विविधता के कारण सबका इस लोक का जीवन पृथक्-पृथक् है। जीवन की यह विषमता जिसे लेकर प्राणी उत्पन्न होता है उसे ऊँचा या नीचा बना देती है। पिछले जन्म के जिन कर्मों के कारण सबके जीवन में यह विषमता पायी जाती है, वे कर्म दीखते नहीं, वे ही 'अदृष्ट' कहलाते हैं। यह 'अदृष्ट', जो संसार के प्राणी-प्राणी में विविधता तथा विषमता का कारण है, जड़ है, चेतन नहीं है, वह स्वयं फल नहीं दे सकता, परन्तु फल तो हर-किसी को मिलता है। इस 'अदृष्ट' को फलित करने का काम जो शक्ति करती है वही 'ईश्वर' है। सरल भाषा में इस युक्ति का यह अर्थ है कि कर्म अपने-आप फल नहीं ला सकते, कर्म-फल देने वाला जो है— वह 'ईश्वर' है।

अनुमान के उक्त दो प्रमाणों के अलावा ईश्वर-सिद्धि में न्याय-प्रतिपादित तीसरा प्रमाण वेद तथा उपनिषद् वाक्य हैं। ईशावास्योपनिषद् में लिखा है— **'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंचित् जगत्यां जगत्'**—जगत् में जो-कुछ बसा हुआ है, ईश्वर द्वारा बसाया हुआ है।

(ग) **ईश्वर-सिद्धि में सांख्य-दर्शन की युक्ति**—प्रचलित विचार यह है कि सांख्य के रचयिता कपिल मुनि ईश्वर को नहीं मानते थे, योग-दर्शन के रचयिता पतंजलि मुनि ईश्वर को मानते थे। योग-दर्शन क्योंकि अन्य बातों में सांख्य के बहुत निकट है इसलिए योग-दर्शन को 'सेश्वर-सांख्य' भी कहा जाता है। परन्तु सांख्य को निरीश्वरवादी कहना ग़लत है। सांख्य ईश्वर को सृष्टि का 'उपादान-कारण' (Material cause) नहीं मानता, सृष्टि का 'निमित्त-कारण' (Efficient cause) या सृष्टि का अधिष्ठाता अवश्य मानता है। 'उपादान-कारण' तथा 'निमित्त-कारण' में क्या भेद है ? मट्टी से घड़ा बनता है, सोने के ज़ेवर बनते हैं ; मट्टी घड़े का और सोना ज़ेवर का 'उपादान-कारण' है। घड़ा कुम्हार बनाता है, ज़ेवर सुनार बनाता है; कुम्हार घड़े का, सुनार ज़ेवर का 'निमित्त-कारण' है। सांख्य जब ईश्वर को नही मानता प्रतीत होता है तब

उसका अभिप्राय यह है कि जैसे वेदान्ती ब्रह्म को सृष्टि का 'उपादान-कारण' मानते हैं वैसा सांख्य नहीं मानता, परन्तु वह ईश्वर के सृष्टि का 'निमित्त-कारण' होने से इन्कार नहीं करता। झगड़ा सांख्य और वेदान्त के बीच का है; सांख्य, न्याय, वैशेषिक या योग दर्शन के बीच का नहीं। वेदान्त ब्रह्म को सृष्टि का 'उपादान-कारण' मानता है 'निमित्त-कारण' नहीं, सांख्य ईश्वर को सृष्टि का 'निमित्त-कारण' मानता है, 'उपादान-कारण' नहीं। सांख्य-दर्शन में 61वें सूत्र में लिखा है—'तत्सन्निधानात् अधिष्ठातृत्वम् मणिवत्'—जैसे मणि के सम्मुख जपा-कुसुम के रखने से मणि में जपा-कुसुम का रंग झलकने लगता है, वैसे ही प्रकृति के साथ चेतन ईश्वर-सत्ता के सम्पर्क से जड़-प्रकृति में क्रियाशीलता आ जाती है। आगे कहा है—'ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा'—इस प्रकार के ईश्वर की जो अधिष्ठाता के रूप में सृष्टि का नियामक है सत्ता सिद्ध हो जाती है। सांख्यकार प्रकृति को अनादि-अनन्त मानता है, उसे जड़ मानता है जैसी वह है ही। उसमें गति कहाँ से आई? इसी का उत्तर देते हुए सांख्यकार का कथन है कि ईश्वर प्रकृति से भिन्न है, उसका 'उपादान-कारण' नहीं है, 'निमित्त-कारण' है, और जैसे कुम्हार 'निमित्त-कारण' होता हुआ मट्टी से घड़ा बना देता है वैसे ईश्वर प्रकृति का 'निमित्त-कारण' होता हुआ उसमें गति करके उससे भिन्न-भिन्न पदार्थ बना देता है। अंग्रेज़ी में उपादान-कारण को 'Material cause' कहते हैं, निमित्त-कारण को 'Efficient cause' कहते हैं। परमात्मा सृष्टि का 'उपादान-कारण' नहीं है, 'निमित्त-कारण' है, इसलिए 'निमित्त-कारण' है क्योंकि सृष्टि एक 'कार्य' है।

(घ) **ईश्वर-सिद्धि में योग-दर्शन की युक्ति**—इस दर्शन के रचयिता पतंजलि हैं। ईश्वर की सिद्धि के लिए योग-दर्शन ने तीन युक्तियाँ दी हैं, जो निम्न हैं—

(i) **श्रुति का प्रमाण**—छहों दर्शन—वेदों तथा उपनिषदों को स्वतः सिद्ध प्रमाण मानते हैं, उनमें जो लिखा है उस पर उनकी अकाट्य-श्रद्धा है। क्योंकि श्रुति में—वेदों तथा उपनिषदों में—ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन है इसलिए योग दर्शन के रचयिता पतंजलि मुनि के लिए ईश्वर-सत्ता का यह सबसे प्रबल प्रमाण है।

(ii) **निरतिशयता का प्रमाण**—ईश्वर की सत्ता में योग-शास्त्र की दूसरी युक्ति यह है कि सृष्टि में हर क्षेत्र में विकास हो रहा है। विकास-सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी सीमा होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रकृति में छोटे-से-छोटा परिणाम 'परमाणु' (Atom) का है, बड़े-से-बड़ा परिमाण 'आकाश'—'अन्तराल' (Space) का है। अर्थात्, 'प्रकृति' (Matter) का परिमाण छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा मौजूद है। इसी प्रकार 'ज्ञान' (Knowledge) और शक्ति (Energy) का भी छोटे-से-छोटा रूप तथा

बड़े-से-बड़ा ज्ञान भी होना चाहिए—इनकी श्रेणियाँ होनी चाहिए। ज्ञान में तथा शक्ति में जो बड़े-से-बड़ा है वही ईश्वर है। उसका यह ज्ञान तथा शक्ति—बल—उसी के भीतर होने चाहिएँ, बाहर से नहीं आने चाहिएँ, क्योंकि अगर बाहर से, किसी दूसरे से उसे ये प्राप्त होंगे, तो वह बाहर वाला ज्ञान तथा बल में उससे बड़ा हो जायगा। इसी को श्रुति में **'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'** कहा है। योग-दर्शन का सूत्र है—**'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्'** (1-25)—जिसमें 'ज्ञान' तथा 'बल' निरतिशय है—इतना है कि उससे अधिक किसी में नहीं है—वही 'ईश्वर' है। इसी बात को योग-दर्शन के 25वें सूत्र में कहा है—**'सः सर्वेषाम् अपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**—वह ईश्वर गुरुओं का गुरु है, ज्ञान का आदि-स्रोत है, क्योंकि काल की कोई सीमा नहीं। जितना भी ज्ञान है, किसी काल में, किसी दूसरे से आता है। इस प्रकार ज्ञान को गुरुओं से लेते-लेते हम गुरुओं-के-गुरु तक जहाँ से सृष्टि के काल का प्रारम्भ हुआ पहुँच जाते हैं। काल-से-काल में पीछे-पीछे जाते हुए ज्ञान का जो आदि-स्रोत है वही 'ईश्वर' है।

ईश्वर-सिद्धि के प्रमाणों की इस शृंखला में निरतिशयता को 'सापेक्षता-निरपेक्षता' का प्रमाण भी कह सकते हैं। सृष्टि में प्रत्येक वस्तु दूसरे की अपेक्षा 'सापेक्ष' (Relative) है। अगर उसे छोटा कहा जाय तो किसी की अपेक्षा छोटी है, किसी दूसरे की अपेक्षा बड़ी है। इस सापेक्षता की सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते जहाँ सापेक्षता नहीं रहती, वह 'निरपेक्ष' (Absolute) है। सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, अगर सापेक्ष है, तो निरपेक्ष भी होना ही चाहिए, नहीं तो सापेक्ष हो नहीं सकता। इसी प्रकार 'निरपेक्ष' (Absolute) का ज्ञान हमारे अनजाने हमें होना चाहिए, इसलिए होना चाहिए क्योंकि 'सापेक्ष' (Relative) का ज्ञान हमें है। सापेक्ष का ज्ञान हमें है—इसमें सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु सापेक्ष तभी सापेक्ष है जब उसका निरपेक्ष से जोड़ हो, इसलिए जब हम कहते हैं कि हमें सापेक्ष का ज्ञान है तब यह बात स्वयं-सिद्ध हो जाती है कि हमें निरपेक्ष का ज्ञान पहले से है। जब हम आधे की बात करते हैं तब हमें पूरे का ज्ञान होना-ही-होना है, जब हम चौथाई की बात करते हैं तब हमें आधे का ज्ञान होना-ही-होना है। इसी निरपेक्ष को 'ईश्वर' कहा जाता है जिसे योगशास्त्र ने 'निरतिशय' (Absolute) कहा है।

(iii) **क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से जो मुक्त है वह ईश्वर है**—ईश्वर की सत्ता में योग-दर्शन की तीसरी युक्ति यह है कि आत्मा तो सृष्टि में कर्म-फल भोग रहा है, क्लेश में पड़ा हुआ है। कैसे क्लेश? 'क्लेश' पाँच प्रकार के माने गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। 'कर्म' दो प्रकार के हैं—अच्छे तथा बुरे। कर्म का फल तीन प्रकार का है—जाति, आयु तथा भोग। कर्म-फल को शास्त्रों में 'विपाक' कहा है। इनके अतिरिक्त, चित्त में 'आशय' रहता है,

आशय—अर्थात्, वासना। जीव इन चारों बन्धनों से बँधा हुआ है जिसे योग-शास्त्र ने क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय कहा है। जो बँधा है वह बन्धन से मुक्त भी हो सकता है। बन्धन से मुक्त वही तो करा सकता है जो स्वयं बन्धन से मुक्त हो। इसलिए कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से स्वयं मुक्त हो, वही सत्ता ईश्वर है जिसे योग-शास्त्र में **'क्लेश कर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः (1—24)** कहा है।

(ङ) **ईश्वर के विषय में पूर्व-मीमांसा (मीमांसा) का मत**—वेद को दो भागों में बाँटा गया है—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। वेद के कर्मकाण्ड का वर्णन मीमांसा-शास्त्र में है, वेद के ज्ञानकाण्ड का वर्णन वेदान्त-शास्त्र में है। दोनों शास्त्रों को मीमांसा-शास्त्र भी कहा जाता है; कर्मकाण्ड-प्रधान-शास्त्र को पूर्व-मीमांसा तथा ज्ञानकाण्ड-प्रधान-शास्त्र—वेदान्त-दर्शन को—उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं। पूर्वमीमांसा-शास्त्र (मीमांसा) के दो काम हैं—कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों को तर्क द्वारा पुष्ट करना तथा कर्मकाण्ड की विधियों में जहाँ विरोध जान पड़ें उनका समाधान करना। कर्मकाण्डियों का कथन है कि यज्ञों के अनुष्ठान से 'अपूर्व'-नामक एक नवीन-पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जो स्वर्ग को ले जाता है। मीमांसक 'कर्म' को ही ईश्वर के समान मानते हैं। मीमांसा के सूत्रकार जैमिनी मुनि हैं। कुमारिल भट्ट मीमांसा के मुख्य व्याख्याकार हुए हैं जिनके साथ शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ था। मीमांसक जगत् को प्रवाह के रूप से अनादि तथा नित्य मानते हैं, ईश्वर की सत्ता की उन्हें ज़रूरत नहीं दीखती। वेद मन्त्रों पर उनकी आस्था है, परन्तु उनका कहना है कि वेद-ज्ञान सृष्टि के प्रवाह की तरह नित्य है, उसके लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं। कर्मों का फल देने के लिए जो ईश्वर को मानते हैं उनके लिए भी मीमांसा का यही उत्तर है कि कर्मों का फल कर्मों द्वारा ही हो जाता है। यज्ञादि द्वारा कर्म में जो 'अपूर्व' पैदा हो जाता है वही कर्म का फल देने में सशक्त है। कुमारिल ने 'श्लोक वार्तिक' में सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन किया है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय अपने ग्रन्थ 'भारतीय-दर्शन' के पृष्ठ 333 में लिखते हैं—"आचार्य बादरायण व्यास ईश्वर को कर्म-फल का दाता मानते हैं, पर जैमिनी के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं। प्राचीन मीमांसा ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं मानी जाती, पर पीछे के मीमांसकों को यह त्रुटि बेतरह खटकी और इसके मार्जनार्थ उन लोगों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार किया। वेदान्त-देशिका ने उसी उद्देश्य से 'सेश्वरमीमांसा'-नामक ग्रन्थ की रचना की। ईश्वर के विषय में प्रभाकर तथा उनके अनुयायी मीमांसक लोग ईश्वर की सत्ता मानते हैं। कर्मकाण्ड की उपादेयता मीमांसा मत में इतनी अधिक मान्य है कि वे ईश्वर को मानने के

लिए तैयार नहीं है। प्राचीन मीमांसा-मत निरीश्वरवादी ही प्रतीत होता है। पिछले मीमांसकों को यह त्रुटि खटकी और उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल के दाता के रूप में स्वीकार किया।"

(च) **ईश्वर के विषय में उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) का मत**—इस दर्शन का निर्माण बादरायण व्यास ने किया है। वेदान्त के कई सम्प्रदाय हैं—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत। वेदान्त-दर्शन की व्याख्या अद्वैत-परक भी है, द्वैतपरक भी है। अद्वैत-परक व्याख्या में शंकराचार्य मुख्य हैं, द्वैत-परक व्याख्या में मध्वाचार्य मुख्य हैं।

(i) **शंकराचार्य का मत**—संसार में कारण से कार्य उत्पन्न होता है, दूध दही बनता है। दूध कारण है, दही कार्य है। प्रश्न यह है कि कार्य, अपने कारण में सत् है, मौजूद है, या मौजूद नहीं है? सांख्य 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त को मानता है। सांख्य का कहना है कि कारण में कार्य मौजूद रहता है, यह बात दूसरी है कि अव्यक्त रूप में रहता है; न रहता होता तो दूध से दही ही क्यों बनता, तेल ही क्यों न बन जाता। इसे 'परिणामवाद' कहा जाता है। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब प्रकृति का विकार, प्रकृति के परिणाम हैं—'**कारण गुणपूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः**'—कारण में जो गुण हैं वे कार्य में आ जाते हैं—यह सांख्य का सिद्धान्त है। प्रकृति जड़ है, इसलिए इसके कार्य भी जड़ हैं; ठीक इसी प्रकार, क्योंकि कार्य जड़ हैं, इसलिये प्रकृति भी जड़ है। शंकराचार्य का वेदान्त इस बात को नहीं मानता। शांकर-वेदान्त सांख्य के 'परिणामवाद' के स्थान में 'विवर्तवाद' को मानता है। 'विवर्तवाद' क्या है? इस वाद का कहना है कि जो कार्य दिखलाई देता है वह वास्तव में कार्य नहीं है, सिर्फ़ कार्य का आभास है, केवल कार्य की प्रतीति होती है, कार्य कल्पनामात्र है। उदाहरणार्थ, अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ कर हम डर जाते हैं। क्यों डर जाते हैं? क्योंकि रज्जु में हमें साँप की प्रतीति, उसका आभास, उसकी कल्पना, उसकी भ्रांति होने लगती है। यही 'विवर्तवाद' कहलाता है। दीया जलाने से यह भ्रान्ति टूट जाती है। इसी प्रकार वास्तविक, एक-मात्र सत्ता तो ब्रह्म की है, परन्तु अविद्या के अन्धकार के कारण रज्जु में साँप की प्रतीति की तरह हमें अवास्तविक-जगत् वास्तविक प्रतीत होने लगता है—अर्थात्, जो इस जगत् का कारण है, ब्रह्म, उसके सत्ता आदि गुण इस जगत् में सत्य रूप में न होते हुए भी सत्य दिखलाई देने लगते हैं। अगर सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को माना जाय, तो कारण के गुण कार्य में आने चाहिएँ, जैसा सांख्य-सिद्धान्त में माना जाता है। सांख्यवादी प्रकृति को जड़ मानते हैं और इसीलिए प्रकृति की जड़ता का गुण सांसारिक-पदार्थों में मानते हैं जिसे 'परिणामवाद' कहा जाता है; शंकराचार्य ऐसा नहीं मानते। वे ब्रह्म को चेतन मानते हैं, उसी एक-मात्र ब्रह्म से सृष्टि

की रचना मानते हैं, परन्तु सृष्टि में, जो ब्रह्म का ही कार्य है, ब्रह्म के गुण परिणत होना नहीं मानते, इसलिए उनका सिद्धान्त 'विवर्तवाद' कहा जाता है। जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं, विवर्त है; जैसे अँधेरे में सर्प रज्जु का परिणाम नहीं, विवर्त है। इस दृष्टि से, जैसे रज्जु में दीखने वाला सर्प मिथ्या है, इसी प्रकार सृष्टि में दीखने वाली प्रकृति मिथ्या है। इसी को शंकराचार्य ने 'माया' का नाम दिया है। यथार्थ-सत्ता ब्रह्म की ही है, अन्य सब-कुछ यथार्थ रूप में ब्रह्म से अभिन्न हैं, भिन्न दीखना 'विवर्त' है। उदाहरणार्थ, घड़ा, सकोरा आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ दीखते हैं परन्तु यथार्थ-सत्ता मट्टी की है, भिन्न-भिन्न ज़ेवर सोने से बने हैं परन्तु यथार्थ-सत्ता सोने की है, इसी प्रकार जगत् में नाना प्रकार की भिन्नता दीख पड़ती है, यथार्थ-सत्ता ब्रह्म की है। वेदान्त-दर्शन आस्तिक दर्शन है, परन्तु उसकी आस्तिकता का स्वरूप अन्य आस्तिक दर्शनों से भिन्न है—वह ब्रह्म को ही मानता है, जीव तथा प्रकृति को स्वतन्त्र रूप में नहीं मानता।

(ii) **मध्वाचार्य का मत**—जैसे शंकराचार्य अद्वैतवादी हैं, वैसे मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं। दोनों की व्याख्याओं का आधार उपनिषद् ही हैं। मध्वाचार्य पाँच प्रकार का भेद मानते हैं—(क) पहला भेद यह है कि जीव तथा ब्रह्म का भेद बिल्कुल वास्तविक है, (ख) दूसरा भेद यह है कि जीव तथा जड़ प्रकृति का भेद वास्तविक है, (ग) तीसरा भेद यह है कि एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से भिन्न है, (घ) चौथा भेद यह है कि परमात्मा जड़ प्रकृति से भिन्न है, (ङ) पाँचवाँ भेद यह है कि एक जड़ पदार्थ दूसरे जड़ पदार्थ से भिन्न है।

इस प्रकार हमने देखा कि वेदान्त-दर्शन के दोनों मुख्य सम्प्रदाय—अद्वैतवादी शंकराचार्य तथा द्वैतवादी मध्वाचार्य—आस्तिक हैं, यद्यपि इन दोनों की आस्तिकता भिन्न प्रकार की है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द मध्वाचार्य की दृष्टि के पृष्ठ-पोषक थे, द्वैतवादी थे। अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद के सम्बन्ध में विशेष विचार हम अगले अध्याय में करेंगे।

9. ईश्वर के दर्शन

(क) **ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते**—ईश्वर के क्या दर्शन हो सकते हैं? ईश्वर वह चेतन-सत्ता है जो सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी है, तो मेरे-आपके भीतर भी है। जिसको देखना हो वह दृश्य होना चाहिए, देखने वाला द्रष्टा होना चाहिए, दृश्य तथा द्रष्टा में दूरी होनी चाहिए। जब विश्व की चेतन-सत्ता को हम सर्वव्यापी कहते हैं, तब उससे दूरी नहीं हो सकती, देखने के लिए दूरी आवश्यक शर्त है। जिन्होंने ईश्वर के दर्शन की बात कही है उन्होंने ईश्वर को एक-देशीय बना दिया है, मन्दिर में, गिर्जे में ला बैठाया है। ईश्वर क्या, हमें तो अपने आत्मा के भी दर्शन नहीं हो सकते। हम क्या हैं? हम सृष्टि की चेतन-सत्ता

की तरह एक चेतन-सत्ता हैं। अगर हम अपना दर्शन करना चाहें, तो हमें अपने से दूर होना होगा। द्रष्टा बनने के लिये दूरी आवश्यक है। क्या हम अपने से दूर हो सकते हैं ? अपने से दूर हुए कि अपना ही न रहे। बृहदारण्यक उपनिषद् (2 अध्याय, 14) में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं—'येन इदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्'—अरे, जो जानने वाला है, द्रष्टा है, उसे किससे जान सकते हैं ? द्रष्टा—दूसरी, बाह्य-वस्तुओं को तो देख सकता है, अपने को तो नहीं देख सकता, क्योंकि द्रष्टा की अपने से दूरी नहीं हो सकती, न सर्वव्यापी परमेश्वर से जो मेरे भीतर भी वर्तमान है मेरी दूरी हो सकती है। दर्शन की आवश्यक शर्त द्रष्टा और दृश्य में दूरी का होना है जो आत्मा तथा परमात्मा में नहीं है।

(ख) **तो क्या ईश्वर के दर्शन हो ही नहीं सकते ?—ऐसी बात नहीं है, उसे अनुभव किया जा सकता है, देखा नहीं जा सकता**—जो दावा करते हैं कि उन्हें ईश्वर का प्रत्यक्ष हुआ है उनसे हमें कोई झगड़ा नहीं, परन्तु अगर ईश्वर सर्वव्यापी है, तो उसे देखा नहीं जा सकता, उसका अनुभव जरूर किया जा सकता है। हम जब किसी को देखते हैं तो उसका बाहर का शरीर ही तो देखते हैं, उसके अन्दर क्या है—यह हमें नहीं दीखता। हाँ, क्योंकि हमें अपने शरीर में इन्द्रियों को छोड़ कर किसी अतिरिक्त-सत्ता की प्रतीति होती है, अनुभव होता है, इसलिये हम दूसरों में भी उसी प्रकार की सत्ता का अनुमान कर लेते हैं जो हमें अपने में अनुभव होती है। अपने में हमें अनुभव होता है कि हम शरीर से भिन्न हैं, इसलिये दूसरे में भी ऐसा ही होगा। जब वह मर जाता है, तब शरीर वैसे-का-वैसा रहता है, परन्तु यह बात सहज अनुभव में आती है कि उसके शरीर में से कुछ निकल गया जो पहले उसमें था, जो शरीर नहीं था, जो इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता था, वह शरीर को छोड़ गया। जैसे अपने शरीर में शरीर से अतिरिक्त न दीखने वाली सत्ता का हम अनुभव करते हैं, वैसे ही इस विश्व में न दीखने वाली चेतन-सत्ता को देखा तो नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है।

जो पूछता है कि आत्मा कैसा है, परमात्मा कैसा है, न आत्मा दीखता है, न परमात्मा दीखता है, इसलिए ये दोनों कल्पनामात्र हैं, उससे पूछो कि तुम्हारा मुँह कैसा है, तुम्हारी पीठ कैसी है, है भी या नहीं, क्योंकि न किसी को अपना मुँह दीखता है, न पीठ दीखती है। अगर कहो कि दर्पण में तो दीखता है, तो चलो ऐसे संसार की कल्पना करो जिसमें मुँह देखने का दर्पण न हो, अपना प्रतिबिम्ब देखने का कोई साधन न हो, संसार में तुम्हारे सिवाय कोई व्यक्ति न हो जो तुम्हें बतला सके कि तुम्हारा मुँह कैसा है—काला है, गोरा है, चितकबरा है, तो क्या तुम कह दोगे कि तुम्हारा मुँह नहीं है, तुम्हारी पीठ नहीं

है। अपने मुंह के विषय में भी हम दूसरे के कहे से जानते हैं कि मुंह गोरा है या काला है, वह मुंह जो भौतिक है, जिसका रंग-रूप है। जब वह वस्तु जो आंख का विषय है उसे भी हम अपनी आंखों से नहीं देख सकते, तब आत्मा-परमात्मा जो अभौतिक हैं, जिनका रंग-रूप नहीं, जो आंख के विषय नहीं, उन्हें हम न देख सकें, तो आश्चर्य क्या है? हम अपना चेहरा नहीं देख सकते तो क्या चेहरा नहीं है, अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख सकते तो क्या आँखें नहीं हैं, अपनी पीठ नहीं देख सकते तो क्या पीठ नहीं है? ठीक इसी तरह अगर हम आत्मा-परमात्मा को नहीं देख सकते तो क्या आत्मा-परमात्मा नहीं हैं?

देखने, सुनने, अनुभव करने की एक सीमा होती है। एक खास सीमा के भीतर के शब्द को हम सुन सकते हैं, उससे ऊपर या नीचे की सीमा के शब्द को हम इन कानों से नहीं सुन सकते। पृथ्वी 31 किलोमीटर प्रति सेकण्ड की रफ्तार से सूर्य के गिर्द घूम रही है, उस गति से जो भयंकर घोष उठ रहा है वह कान फाड़ देने के लिये काफ़ी है, परन्तु हमारे कान उस घोष की तरंगों को ग्रहण ही नहीं करते। हमारे सुनने की सीमा से ऊपर-नीचे दोनों प्रकार के शब्द हो रहे हैं, परन्तु वे हमें सुनाई नहीं पड़ते। एक सेकण्ड में 31 किलोमीटर की चाल से उड़ रही यह पृथ्वी ठहरी हुई मालूम पड़ती है, उसमें किसी प्रकार की गति का अनुभव नहीं होता। इसका यह मतलब नहीं कि पृथ्वी की रफ्तार का घोष नहीं है या पृथ्वी में गति नहीं है। घोष भी विकट है, गति भी कल्पनातीत है, परन्तु हमारी इन्द्रियां उस घोष, उस गति को पकड़ने के लिए बनी ही नहीं हैं। किसी वस्तु का होना तथा उसका इन्द्रियों से पता लगना— ये दोनों बातें अलग-अलग हैं। क्योंकि वस्तु दीखती नहीं, इन्द्रियों से पता नहीं लगती, इसलिये वह है ही नहीं—यह युक्ति-संगत बात नहीं है। 'अस्तित्व' (Existence) तथा 'अभिव्यक्ति' (Manifestation) दोनों में भेद है। आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व है, अभिव्यक्ति न होने पर भी इनकी 'अनुभूति' (Realization) है, इस अनुभूति के कारण अभिव्यक्त न होने पर भी आत्मा तथा परमात्मा—इन दोनों का अस्तित्व है।

भौतिकवादी का कहना है कि 'प्रकृति' ही है, वही दीखती है; अध्यात्मवादी का कहना है कि प्रकृति तो है, परन्तु प्रकृति ही नहीं है, 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' भी हैं—यद्यपि वे दीखते नहीं। जिस वस्तु का अस्तित्व हो, वह न दीखे या अन्यथा दीखे—इसके अनेक उदाहरण हैं—

हम एक 'वृत्त' को देखते हैं। वृत्त की रेखा गोल है या सीधी? वृत्त के एक छोटे-से-छोटे टुकड़े को लें। यद्यपि वृत्त गोल होता है, तथापि वृत्त का क्षुद्रतम वक्र-खण्ड गोल न होकर सीधा लगता है। वृत्त का यह छोटा-सा खण्ड लगता सीधा है, होता गोल है, इसमें गोलार्ध न हो, तो इस प्रकार के अन्य

खण्डों के जोड़ से वृत्त न बने। वृत्त के खण्डों में गोलाई है, परन्तु देखने में सीधाई लगती है।

विश्व में प्राकृतिक-पदार्थों की रचना को तोड़ते-तोड़ते हम परमाणुओं तक पहुँच जाते हैं, परन्तु परमाणुओं से जब हम आगे बढ़ते हैं, तब हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता क्योंकि परमाणु हमारे सामने से विलीन हो जाते हैं, और उनके अन्तस्तल में विद्यमान 'शक्ति' (Energy) हमें दीखने लगती है। परमाणुओं के विलय के बाद उनका 'शक्ति' रूप न हो जाय, तो हम परमाणुओं को ही सब-कुछ समझ बैठें।

एक और उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। स्टूडियो का सिने-कैमरा क्या करता है? स्टूडियो में अभिनय के शूटिंग की जो चहल-पहल हो रही होती है—नाचना, गाना, सब प्रकार की घटनाएँ—सिने-कैमरा इस गतिशील चहल-पहल को ग्रहण नहीं करता। यह क्या करता है? यह इस सजीव चहल-पहल का, उसके टुकड़ों-टुकड़ों के रूप में, उसके 'स्थिर-चित्र' (Still-pictures) खींच लेता है। इन 'स्थिर-चित्रों' को अगर वेग की गति न दी जाय, तो ये चित्र अलग-अलग 'स्थिर-चित्र' ही दिखलाई देंगे, इनसे सिनेमा जैसा सजीव-चित्र नहीं दिखलाई देगा। अगर कोई इन 'स्थिर-चित्रों' को देखकर कहे कि इनके पीछे कोई सजीव-अभिनय नहीं था, तो यह कहना गलत होगा क्योंकि इन स्थिर-चित्रों में वेग—गति—का संचार करके देखें, तो चित्रों के ये टुकड़े मिलकर सजीव-सिनेमा का रूप धारण कर लेंगे, जो एक नई ही दुनिया होगी।

'शरीर' तथा 'जगत्' के सम्बन्ध में हमारी भौतिकवादी-बुद्धि क्या करती है? हम इस 'शरीर' का, जगत् में इस 'प्रकृति' का भौतिकवादी-बुद्धि के सिने-कैमरा द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके 'स्थिर-चित्र' (Still picture) खींच लेते हैं, परन्तु जगत् के इस स्टूडियो में जिन पात्रों द्वारा अभिनय किया जा रहा है, उनके अभिनय को देखना चूक जाते हैं क्योंकि 'स्थिर-चित्रों' में अभिनय नहीं है, अभिनय इन चित्रों की गति के भीतर निहित है। भौतिकवादी का यह कहना कि शरीर ही है, 'आत्मा' नहीं है, प्रकृति ही है, 'परमात्मा' नहीं है, यह कहने के समान हैं कि सिनेमा के अभिनय में अलग-अलग 'स्थिर-चित्र' (Still pictures) ही अन्तिम सत्ता हैं, इन चित्रों के पीछे खेल खेलने वाले कोई पात्र नहीं हैं।

वृत्त के वक्र-खण्ड में गोलाई की जगह सीधाई दीखती है; प्रकृति के परमाणुओं के भेदन से परमाणु विलीन हो जाते हैं, जो शक्ति दीख नहीं रही थी वह प्रकट हो जाती है; सिने-कैमरा के खण्ड-चित्रों में स्थिरता दीखती है परन्तु होता उनमें अभिनय का पूर्ण चमत्कार है; ऐसे ही दीखता यह शरीर है, इस पर्दे को हटा दें तो इसके पीछे विद्यमान 'आत्मा' है; दीखती यह प्रकृति है, परन्तु प्रकृति के पर्दे को हटा दें तो इसके पीछे मौजूद 'परमात्मा' है। तभी वेद

(यजु०, 40-15) ने कहा है—'तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'—हे पूषन् ! सचाई का साक्षात्कार करने के लिए उस पर पड़े पर्दे को हटा दो ताकि मैं देखूं, सचाई क्या है ?

(ग) ईश्वर का अनुभव ध्यान से किया जा सकता है जो तीसरी आंख है—ध्यान से जो अनुभव में आता है वह कल्पना नहीं है। ईश्वर का अनुभव कल्पना नहीं है। मन किसी ऐसी बात को सोच ही नहीं सकता जिसका आधार अनुभव न हो। ईश्वर के विषय में हमारा सोच सकना ही सिद्ध करता है कि इसके अनुभव का कोई आधार हमारी चेतना में कहीं छिपा पड़ा है। हमारी इन्द्रियों के जो विषय होते हैं उन्हीं को तो हम सोच सकते हैं। रूप को हम देखते हैं, इसीलिए आँख के विषय को हम सोच सकते हैं; शब्द को हम सुन सकते हैं, इसीलिए कान के विषय को हम सोच सकते हैं। इसी प्रक्रिया को अगर उलट कर रखा जाय, तो कहना होगा कि जिस बात को हम सोच सकते हैं, उसका कोई विषय होता है, उसकी कोई इन्द्रिय भी होती है। रूप को हम सोच सकते हैं, इसलिए उसका विषय यह स्थूल-जगत् है, आँख उसकी इन्द्रिय है; शब्द को हम सोच सकते हैं इसलिए संगीत उसका विषय है, कान उसकी इन्द्रिय है; इसी तरह अनादि-अनन्त सत्ता के विचार को हम सोच सकते हैं, इसलिए आत्मा तथा परमात्मा उसके विषय हैं, ध्यान उसकी इन्द्रिय है। इस दृष्टि से ध्यान भी आँख, कान की तरह एक इन्द्रिय है जिससे आत्मा तथा ईश्वर का प्रत्यक्ष की तरह बोध होता है। ध्यान से जिस ईश्वर का पता चलता है वह कैसा है ? जिन्होंने ध्यान से ईश्वर को जाना, उन्होंने उसका वर्णन करते हुए कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।

श्वेताश्वतर, 3–19।

उसके न हाथ हैं, न पाँव हैं, फिर भी अत्यन्त वेग से वह गति करता है, बिना आँख के देखता है, बिना कान के सुनता है, जो-कुछ जानने योग्य है उसे वह जानता है, उसे कोई नहीं जान पाता। सृष्टि का वही महान् आदि-पुरुष—'ईश्वर'—है।

ईश्वर के इस स्वरूप की अनुभूति जिन्हें हुई वह कैसे हुई है ? कौन-सी इन्द्रिय है जिससे उन्हें इस प्रकार की चैतन्य-सत्ता का बोध हुआ ? किस इन्द्रिय के अभाव से उस चेतन-सत्ता का बोध नहीं होगा ? कल्पना करो कि एक प्राणी है जिसके 5 इन्द्रियों की जगह 4 इन्द्रियां हैं, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा हैं—आंख नहीं। उसके लिए आँख का संसार शून्य होगा, कितना ही समझाएँ वह मानेगा नहीं। फिर कल्पना करो कि एक दूसरा प्राणी है जिसके कुल 3 इन्द्रियां

हैं, आंख तथा कान नहीं हैं। उसके लिए प्रकाशमय-जगत् तथा संगीत का अस्तित्व नहीं होगा। इसी तरह ध्यान भी एक इन्द्रिय है—छटी इन्द्रिय। आंख से देखा जाता है, कान से सुना जाता है, कान देख नहीं सकता, आंख सुन नहीं सकती। ठीक इसी तरह ध्यान ऐसी इन्द्रिय है जिससे देखा तो नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है—किन्हीं के यह इन्द्रिय होती है, किन्हीं के नहीं होती, जिनके होती है वे ही आत्मा तथा ईश्वर का अनुभव कर सकते हैं, दूसरों के लिए इनकी सत्ता होते हुए भी नहीं होती। ध्यान से ईश्वर का अनुभव करना ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन है क्योंकि प्रत्यक्ष का अर्थ सिर्फ़ आँख से देखना ही नहीं है। अथर्व० (19·9-5) में कहा है—'**इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्राह्मण संशितानि**'—ध्यान के साधन मन को यहाँ छठी इन्द्रिय कहा है।

(घ) **योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन पर विवेचन**—योग-दर्शन के विभूतिपाद में ऐसा वर्णन आया है जिसे हम योगमतानुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन की सम्भावना कह सकते हैं। 47वें सूत्र में 'इन्द्रियजय'-शव्द का प्रयोग हुआ है। '**इन्द्रियजय**'-शव्द का अर्थ है—इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लेना। इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लेने पर क्या होता है ? इसका विवरण देते हुए 48वें सूत्र में लिखा है—'**ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च**'—अर्थात्, 'इन्द्रियजय' के बाद '**मनोजवित्व**' प्राप्त हो जाता है, मन अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है; इसके साथ ही '**विकरणभाव**' प्राप्त हो जाता है—'करण' का अर्थ है—साधन, 'इन्द्रियां' 'वि', का अर्थ है—विना, 'वि + करणभाव', अर्थात् इन्द्रियजयी इन्द्रियों के विना सिर्फ़ मन द्वारा प्रत्यक्षादि सव कार्य करता है; इन्द्रियजय से '**प्रधानजय**' प्राप्त हो जाता है—'प्रधान' का अर्थ है—प्रकृति, 'जय' का अर्थ है—जीत जाना, प्रकृति पर वह जय प्राप्त कर लेता है। आज विज्ञान यन्त्रादि उपकरणों द्वारा जो-कुछ कर रहा है, इन्द्रियजयी-योगी विना उपकरणों के—'वि + करण' होकर—**मानसिक-जवित्व** से, मानसिक-शक्ति से वह सव-कुछ प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में, इन्द्रियजयी इन्द्रियों से काम न लेकर मन से वही काम ले लेता है, इन्द्रियों से काम लेने की उसे आवश्यकता नहीं रहती।

योग-दर्शन का कहना यह है कि आँख नहीं देखती, हम आँख से देखते हैं; कान नहीं सुनते, हम कान से सुनते है। इन्द्रियाँ सिर्फ़ ज्ञान ग्रहण करने के रास्ते हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रियों को नहीं होता, इन्द्रियों द्वारा होता है, देखने वाला भीतर बैठा है। मस्तिष्क भी तो इन्द्रियों की तरह एक रास्ता ही है; इन्द्रियाँ मस्तिष्क तक जो वात पहुँचाती हैं, मस्तिष्क उसी को आगे द्रष्टा तक पहुँचा देता है। योग-दर्शन का कहना है कि इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जिस द्रष्टा तक अपनी वात पहुँचाते हैं, उस द्रष्टा में ऐसी शक्ति भी है जिससे वह इन्द्रियों के विना भी सब-कुछ जान जाता है। 'इन्द्रियजय'-अवस्था के वाद जो अवस्था आ जाती

है उसी को 'विकरणभाव' की अवस्था कहा गया है—ऐसी अवस्था जिसमें इन्द्रियों के बिना ज्ञान होता है। तभी मनु (२ य अध्याय) में मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा है—'एकादशं मनोज्ञेयम् इन्द्रियम् उभयात्मकम्'—मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है जो ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का काम करती है। स्वप्न में मन बिना आँख के देखता, बिना कान के सुनता है। इसी प्रकार बिना किसी बाह्य-उपकरण के, मन द्वारा योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है, और इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष करने वाले योगियों का कहना है कि उन्होंने ईश्वर का मन द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके जान लिया है कि वह ज्योतियों की ज्योति—महाज्योति है—'**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**' (यजु:, 31-18)—यह मानस्-प्रत्यक्ष है।

(घ) **ध्यान तथा अनुभूति से ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन का स्वरूप**—गीता में ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन का स्वरूप वर्णित किया गया है। प्रत्यक्ष-दर्शन के लिए ईश्वर को शरीर धारण करके खड़ा होना चाहिए, निर्गुण से सगुण होना चाहिए। ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन की इसी माँग को तृप्त करने के लिए आज अपने देश में 'भगवानों' की बाढ़-सी आ गई है। हर कोई भगवान् बना जा रहा है, परन्तु गीता ने निर्गुण ईश्वर का सगुण रूप में, अशरीरी का शरीरी के रूप में बड़ी कवितामयी, ललित भाषा में सातवें अध्याय में वर्णन किया है। गीता कहती है—हे अर्जुन! देख मुझ अशरीरी का, निर्गुण का शरीर। पानी में रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्र में तेज मैं हूँ, वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश में ध्वनि मैं हूँ, पुरुषों में पराक्रम मैं हूँ, पृथ्वी में गंध मैं हूँ, अग्नि में प्रकाश मैं हूँ, प्राणीमात्र में जीवन मैं हूँ, तपस्वी में तप मैं हूँ, बुद्धिमान् में बुद्धि मैं हूँ, बलवान् में बल मैं हूँ। आश्चर्य यही है कि सब में मैं हूँ, मेरे आश्रय से सब टिके हैं, फिर भी मन्दमति लोग मेरी जगह इन्हीं को देखते, इन्हीं की उपासना करते हैं। मैं सब जगह प्रकृति के इन पर्दों के पीछे से झाँक रहा हूँ, जो प्रकृति के पर्दे को उघाड़ पाता है वह मेरे प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है—'**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्**'। क्या मैं पानी के रस में प्रत्यक्ष नहीं दीख पड़ता, क्या मैं सूर्य-चन्द्र के तेज में, वेदों की ओंकार-ध्वनि में, आकाश के गुंजायमान शब्द में, पुरुष के पराक्रम में, प्राणियों के जीवन में, तपस्वियों के तप में प्रत्यक्ष नहीं दीख जाता? जो इन सब जगह मुझे देखता है वह मेरे प्रत्यक्ष दर्शन करता है। यह विशाल पृथ्वी, ये अनवरत बहने वाले नदी-नाले, यह अथाह-समुद्र, ये गगनभेदी पर्वतों के शिखर, ये शस्यश्यामला योजनों लम्बी घाटियाँ, ये सूर्य-चन्द्र-तारे—ये सब क्या हैं, अगर ईश्वर के शरीर नहीं हैं? जो इस जड़-सृष्टि में उसकी प्राणभूत-सत्ता के दर्शन कर लेता है वह ईश्वर को मानो अपने सामने खड़ा हुआ देखता है, न दीखनेवाला भी उसे मानो दीख जाता है।

सृष्टि में ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन करना—यह विचार पाश्चात्य-विचारक ऑगस्ट कोम्टे (1798-1857) के विचार से मिलता-जुलता विचार है। उसने 'मानव-धर्म' (Religion of Humanity) की स्थापना की थी। उसका कहना था कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो हमसे बाहर है, हमसे ऊपर है, हमसे परे है, जिसके सम्मुख हमें बरबस सिर झुकाना पड़ता है, जिसे हमें सर्वोपरि मानना पड़ता है। वह शक्ति क्या है ? धर्मवादी उस शक्ति को ईश्वर, परमेश्वर कहते हैं, परन्तु कोम्टे तो ईश्वरवादी नहीं था, भौतिकवादी था, प्रत्यक्षवादी था, वह ईश्वर जैसी शक्ति को कैसे मानता ? उसका कहना था कि 'मानवता' (Humanity) ही वह महती-सत्ता है, जो हमसे ऊपर है, हमसे परे है, जिसके सामने हमें बरबस सिर झुकाना पड़ता है, परन्तु साथ ही जो प्रत्यक्ष भी है। 'मानवता' को उसने 'प्रत्यक्ष-ईश्वर' कहा, 'मानवता' का मन्दिर बनाने, उसकी पूजा करने का उपक्रम किया। गीता का सृष्टि को प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहना, कोम्टे के 'मानवता' को ही ईश्वर कहने के समान है—तैत्तिरीय (1-1) में भी कहा है—**'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षम् ब्रह्म वदिष्यामि'**। वेद (अथर्व, 10-8-32) ने इस सृष्टि में ईश्वर के प्रत्यक्ष-दर्शन किए हैं। वहाँ कहा है—**'अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति'**—यह सृष्टि के रचियता का काव्य है, जो जरा-मृत्यु से मुक्त है, न बुढ़ाता है, न मरता है—सृष्टि रूपी काव्य में उसका प्रत्यक्ष-दर्शन हो रहा है।

की खोज करते-करते 'सत्व', 'रजस्', 'तमस्'—'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—ऐसा कहा है। सांख्य ने वर्तमान-विज्ञान की तरह 3 मूल-तत्त्व माने हैं, गौतम मुनि ने सृष्टि की रचना पृथ्वी, अप्, तेज, वायु—इन 4 मूल-तत्त्वों से मानी है। विज्ञान अब कहने लगा है कि इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन भी भौतिक-तत्त्व न होकर सिर्फ विद्युत्-कण हैं, मैटर न होकर एनर्जी मात्र हैं। यह सब सूचित करता है कि विज्ञान मूल-तत्त्वों की गणना में लाघव-न्याय का भरपूर प्रयोग कर रहा है। अन्त में हम इस दिशा में जा रहे हैं कि भौतिक-पदार्थों का मूल-तत्त्व एक ही है, उसे विज्ञान भले ही एनर्जी का नाम दे, सांख्य ने उसे 'साम्यावस्था प्रकृति' का नाम दिया है, 'प्रकृति' से जो भौतिक-पदार्थ बने हैं उन्हें 'विकृति' कहा है। यहां तक भौतिकवाद तथा सांख्यवाद एक ही दिशा में जाते हैं।

परन्तु यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है। इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन को अगर विद्युत्-कण ही मान लिया जाय, तो भी उनमें चैतन्य-गुण तो नहीं है, न सांख्य की प्रकृति में चैतन्य-गुण है। ऐसी हालत में, सृष्टि के निर्माण में हमें कम-से-कम दो मूल-तत्त्व तो मानने ही पड़ेंगे—'जड़' तथा 'चेतन'। प्रश्न उठता है कि क्या एक ही मूल-तत्त्व मानने से काम नहीं चल सकता। ऐसे विचारक हैं जो एक ही मूल-तत्त्व मानने का आग्रह करते हैं। भौतिकवादी 'जड़'-प्रकृति को, अध्यात्मवादी 'चेतन'-ब्रह्म को एकमात्र मूल-तत्त्व मानते हैं। इसे 'एक-तत्त्व-वाद' (Monism) कहा जाता है। भौतिकवादियों का कहना है कि 'जड़' से 'चेतन' बन गया, ब्रह्मवादियों का कहना है कि चेतन-'ब्रह्म' से जड़-'प्रकृति' का निर्माण हो गया। हमने इन दोनों वादों का विवेचन कर के इन दोनों को नहीं माना, 'जड़' तथा 'चेतन'—इन दोनों को स्वतन्त्र मूल-तत्त्व माना है। प्रश्न यह रह जाता है कि क्या चेतन एक है—परब्रह्म परमेश्वर; या चेतन दो हैं—जीव तथा ब्रह्म। इस समस्या का हमने यथास्थान विवेचन करते हुए ऋग्वेद के त्रैतपरक **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**—इस मन्त्र द्वारा प्रतिपादित त्रैतवाद का युक्ति तथा शास्त्र के आधार पर समर्थन किया है। इन दो का प्रतिपादन करते हुए वहाँ कहा है—**'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति'**—इन दो के सिवाय एक तीसरा है, जो प्रकृति तथा पुरुष—इन दोनों के नियमन को देखता रहता है।

'जड़' तथा 'चेतन'—ये दो तो बरबस मानने ही पड़ते हैं क्योंकि सृष्टि में ये दोनों हैं ही, न जड़ से चेतन पैदा हो सकता है, न चेतन से जड़ पैदा हो सकता है।

षष्ठ अध्याय

सृष्ट्युत्पत्ति—एकत्व, द्वैत, त्रैत या बहुत्ववाद

(CREATION—MONISM, DUALISM, TRIADISM OR PLURALISM)

1. तीन वाद

आत्मा तथा ईश्वर के विषय में हम लिख आए हैं; इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त 'भौतिक-द्रव्य'—Matter—एक तीसरा तत्त्व है, इसलिए वैज्ञानिक-दृष्टि से यह विचार करना आवश्यक है कि सृष्टि की उत्पत्ति में मूलभूत-तत्त्व कितने हैं। मूलभूत-तत्त्वों के विषय में वैज्ञानिक-दृष्टि से मुख्य तौर पर निम्न विचार-धाराओं पर विचार किया जा सकता है—

(क) **एकत्ववाद** (Monism)—एकत्ववादी वह सिद्धान्त है जो कहता है कि या तो जड़ से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है, या चेतन से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है। अगर जड़ से सृष्टि का निर्माण मानें तो मानना पड़ता है कि भौतिक-द्रव्य (प्रकृति) से ही जीवन की उत्पत्ति हुई है—ये लोग जड़ से जीवन की उत्पत्ति तो मानते हैं, आत्मा-परमात्मा जैसे तत्त्व को मानते ही नहीं। यह धारणा प्राचीन-युग के चार्वाकों की है, वर्तमान-युग के जड़वादियों—भौतिकवादियों (Materialists) की है। अगर चेतन से सृष्टि का निर्माण मानें तो मानना पड़ता है कि चेतन-तत्त्व से ही भौतिक-द्रव्य (प्रकृति) की उत्पत्ति हुई है—ये लोग भौतिक-द्रव्य—Matter—तथा जीवात्मा—Soul—की पृथक्, स्वतन्त्र, अनादि सत्ता नहीं मानते। यह धारणा भारतीय दार्शनिकों में मुख्य तौर पर शंकराचार्य (788-820) के वेदान्त-सिद्धान्त की, पाश्चात्य दार्शनिकों में मुख्य तौर पर स्पाइनोज़ा (1632-1677) तथा बर्कले (1685-1753) की और मत-वादियों में यहूदी, ईसाई एवं मुसलमानों की है। यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान मानते हैं कि ईश्वर एक है, उसी ने अभाव से, नेस्ति से, जगत् तथा जीव को उत्पन्न कर दिया है।

(ख) **द्वैतवाद** (Dualism)—द्वैतवादी वह सिद्धान्त है जो कहता है कि मूलभूत-सत्ताएँ दो हैं—जीव (Soul) तथा भौतिक-द्रव्य—(Matter)—अर्थात्

देह तथा संसार बना यही-कुछ है, और कुछ नहीं। उनके जीवन का लक्ष्य था—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

चार्वाकों के सामने दो प्रश्न थे जिनका हल ज़रूरी था। पहला प्रश्न तो यह था कि अगर जीवात्मा नहीं है तो जड़-पदार्थों से चेतना अर्थात् जीवन कैसे बना; दूसरा प्रश्न यह था कि अगर परमात्मा नहीं है, तो इस सृष्टि-चक्र को चलाता कौन है? इन दो प्रश्नों के अलावा चार्वाक अपने पक्ष की पुष्टि में कुछ युक्तियाँ भी देता है। इन तीनों विन्दुओं पर हम यहाँ विचार करेंगे।

(i) जड़ से 'चेतना' अर्थात् जीवन कैसे उत्पन्न हुआ— पहला प्रश्न यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये चारों तत्त्व जड़ परमाणुओं के मिश्रण से बने हैं, इन जड़-पदार्थों के मिश्रण से चेतन-तत्त्व कैसे उत्पन्न हुआ? चार्वाक इसका उत्तर यह देता है कि जिस प्रकार दही और गोवर मिला देने से छोटे-छोटे कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के परमाणुओं के संयोग से जीवन उत्पन्न हो जाता है। दही और गोवर तो भौतिक-तत्त्व ही हैं, इन भौतिक-तत्त्वों के एक विशेष प्रकार तथा एक विशेष मात्रा में मिलने से कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न परमाणुओं के एक विशेष प्रकार तथा विशेष मात्रा में मिलने से आत्मा उत्पन्न हो जाता है। एक दूसरा उदाहरण लो। मदिरा को वनाने वाले तत्त्वों में कोई मादक-पदार्थ नहीं होता। परन्तु कुछ पदार्थों को एक विशेष प्रकार से मिला देने पर उनमें मादकता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार जड़ परमाणुओं में अलग-अलग से जीवन या चैतन्य नहीं होता, परन्तु उनके एक विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से चेतना नाम का एक नवीन-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। वर्तमान-विज्ञान का उदाहरण लिया जाय तो कहा जा सकता है कि जैसे हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन दोनों अदृश्य तत्त्व हैं, इन दोनों के एक विशेष मात्रा में सम्मिश्रण से जल नामक दृश्य-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है जो उन दोनों से भिन्न है, वैसे ही भिन्न-भिन्न जड़ परमाणुओं के विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से उनसे भिन्न चेतन-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उक्त दृष्टान्तों के आधार पर चार्वाक का कहना है कि जड़ परमाणुओं से भिन्न जीवन-तत्त्व या आत्म-तत्त्व को मानने की कोई ज़रूरत नहीं है। चार्वाक लोग इसे 'भूत-चैतन्य-वाद' कहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये 'महाभूत' ही चैतन्य उत्पन्न कर देते हैं।

(ii) सृष्टि-चक्र कौन चलाता है—दूसरा प्रश्न यह है कि चार्वाक के पास इस वात का क्या उत्तर है कि दही और गोवर को, मदिरा के घटक-तत्त्वों को, हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन को तो मिलाने वाली कोई दूसरी चेतन हस्ती होती

है, वही तो इन्हें मिलाती है, सृष्टि-चक्र में मिलाने वाले के विना सृष्टि का निर्माण करने वाले परमाणु आप-से-आप कैसे मिल जाते हैं ?

इसका उत्तर चार्वाक के पास यह है कि परमाणुओं का संयोग-वियोग, मिलना और अलग हो जाना—यह परमाणुओं का अपना स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव जलाना है, जल का स्वभाव शीतलता है, परमाणुओं का आपस में मिल कर जीवन उत्पन्न कर देना उनका स्वभाव है। चार्वाकों के इस सिद्धान्त को 'स्वभाववाद' कहा जाता है। उनका कहना है कि परमाणुओं के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उनके वियोग से सृष्टि का विनाश—यह सब परमाणुओं के स्वभाव में निहित है। परमाणुओं का संयोग तथा वियोग किसी कारण-कार्य के नियम के अधीन नहीं होता, यह सब अपने-आप, स्वभाव से ही होता है। चार्वाक प्रत्यक्ष के सिवाय किसी प्रमाण को नहीं मानता, न ही कारण-कार्य के नियम को मानता है। जो दीखता है बस उसी को मानता है, जड़ को ही मानता है, चेतन को—परमात्मा तथा आत्मा को—नहीं मानता। परमात्मा की तो बात ही दूसरी है, वह तो न दीखता है, न चार्वाक को अनुभव होता है; आत्मा की प्रतीति तो सब-किसी को होती है, 'मैं हूँ'—इस प्रतीति से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता, इसीलिये जड़-तत्त्वों से जीवन कैसे उत्पन्न हो गया—इस विषय में उसने ऊपर के दृष्टान्त दिए हैं।

हमने देखा कि चार्वाक के सिद्धान्त के ऊपर जड़ से चेतना की उत्पत्ति कैसे हुई—इस सम्बन्ध में जो शंका थी उसका उत्तर उसने 'भूतचैतन्यवाद' के सिद्धान्त से तथा परमात्मा के विना सृष्टि-चक्र के न चल सकने के सम्बन्ध में जो शंका थी उसका उत्तर उसने 'स्वभाववाद' के सिद्धान्त से दिया। इन दोनों बातों के अलावा चार्वाक अपने सिद्धान्त की पुष्टि में कुछ युक्तियाँ भी देता है जो निम्न हैं :

(iii) **चार्वाक की अपने मत के समर्थन में युक्तियां**—यह सिद्ध करने के लिए कि देह के अतिरिक्त 'आत्मा' नाम की कोई वस्तु नहीं है चार्वाक का कथन है कि (क) ज्यों-ज्यों हम खाना छोड़ते जाते हैं, उपवास करते हैं, त्यों-त्यों चेतना क्षीण होती जाती है, चेतना के क्षीण होने पर ज्यों-ज्यों हम अन्न खाने लगते हैं, त्यों-त्यों चेतना लौटने लगती है—इससे सिद्ध होता है कि शरीर ही चेतना है, आत्मा कुछ नहीं है, (ख) अनुभव में भी हम यही देखते हैं कि जब शरीर दुर्बल होने लगता है, तब हम कहते हैं—'मैं दुर्बल हो रहा हूँ', जब शरीर स्वस्थ होने लगता है, तब हम कहते हैं—'मैं स्वस्थ हो रहा हूँ'—इससे सिद्ध होता है कि शरीर ही आत्मा है जिसके लिए हम 'मैं'—इस शब्द का व्यवहार करते हैं, (ग) चेतना के अतिरिक्त बुद्धि तथा मानसिक-विकास के सम्बन्ध में भी यही देखा जाता है कि ब्राह्मी-घृतादि औषधियों के सेवन से बुद्धि बढ़ती है,

मानसिक-विकास होता है जिससे सिद्ध होता है कि बुद्धि, मन आदि शक्तियाँ जो आत्मा की कही जाती हैं, वे वास्तव में शरीर की हैं, नहीं तो ओषधि के सेवन से शरीर का विकास तो होता, बुद्धि का विकास न हो सकता।

चार्वाक के एकत्ववाद की समीक्षा

(i) **जड़ से चेतना का उत्पन्न होना (भूत-चैतन्यवाद)**—चार्वाक का कहना है कि देह ही आत्मा है, देह के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है जिस स्थापना को सिद्ध करने के लिए दही तथा गोबर एवं मदिरा आदि के दृष्टान्त दिए जाते हैं। परन्तु ये दृष्टान्त प्रकृत-प्रकरण में ठीक नहीं उतरते। दूरवीक्षण-यन्त्र से अगर देखा जाय, तो दही तथा गोबर एवं अन्य दृष्टान्तों में जीवन-तत्त्व पहले से मौजूद रहता है। इसके अतिरिक्त आत्मा की सत्ता मानने वालों का कहना यह है कि जहाँ आत्मा को अनुकूल शरीर मिलेगा वहाँ वह अपना स्थान बना लेता है, उसे उत्पन्न होने की ज़रूरत नहीं, अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर सिर्फ़ प्रकट होने की स्थिति में आना पड़ता है, जीवन—चेतना उत्पन्न नहीं होती, सिर्फ़ प्रकट होती है। अब तक आधुनिक भौतिक-विज्ञान जड़ से चेतना को उत्पन्न नहीं कर सका। चार्वाक का 'भूत-चैतन्य-वाद' इस आधार पर खड़ा किया गया है कि गोबर तथा दही में पहले से चेतन-तत्त्व नहीं है। यह आधार ही ग़लत है क्योंकि इन सब दृष्टान्तों में—जीवन—चेतना पहले से वहाँ होती है।

(ii) **सृष्टि-चक्र का स्वभाव से चलना (स्वभाववाद)**—चार्वाकों का कहना है कि जैसे शरीर में आत्मा के मानने की ज़रूरत नहीं, वैसे सृष्टि-रचना के लिए परमात्मा के भी मानने की ज़रूरत नहीं क्योंकि परमाणुओं में सृष्टि के निर्माण तथा संहार की स्वाभाविक शक्ति है। परन्तु यह स्थापना भी युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। भौतिक-विज्ञान का न्यूटन-प्रतिपादित अभिप्रेरणा का यह नियम (Law of Motion) है कि जड़-पदार्थ (Inert substance) को यदि गति दे दी जाय, और उस गति में बाधा डालने वाला कोई व्यक्ति या पदार्थ न हो, तो वह निरन्तर उसी गति में सीधी रेखा में चलता रहेगा, इसी प्रकार यदि जड़-पदार्थ स्थिति की अवस्था में हो और उसे कोई गति न दे, तो वह निरन्तर स्थिति की अवस्था में ही बना रहेगा। अगर सृष्टि-रचना के समय भौतिक परमाणु स्थिति की अवस्था में थे, तो वे अपने-आप गति की अवस्था में नहीं आ सकते, अगर गति की अवस्था में थे तो वे अपने-आप स्थिति की अवस्था में नहीं आ सकते, और निरन्तर एक सीधी गति में चलते रहते। ये परमाणु स्वयं अपनी गति की दिशा बदल कर, अपना स्थान परिवर्तन करके विश्व के विविध पदार्थों का निर्माण नहीं कर सकते। उनकी गतियों की दिशा को चेतन ही बदल सकता है, जड़ पदार्थ के परमाणुओं में भिन्न-भिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए

संयोग-वियोग नाम की परस्पर-विरोधी-प्रक्रिया चेतन-शक्ति के बिना नहीं हो सकती। परमाणु जगत् का निर्माण नहीं कर सकते, उनमें गति होना, उनका स्थान परिवर्तन करना अपने-आप, स्वभाव-जन्य होना मिथ्या-कल्पना है क्योंकि जड़-पदार्थ को गति देने वाला सदा चेतन होता है। फ़ुटबाल, मोटर कार, रेल गाड़ी का एंजिन, विमान—ये स्वयं गति में नहीं आ सकते, आ जाएँ तो स्वयं रुक नहीं सकते, चेतन द्वारा ही इनमें गति आती है, चेतन ही इस गति को रोक सकता है। वही चेतन विश्व में ईश्वर है, और शरीर में आत्मा है।

(iii) **चार्वाक की अपने मत के समर्थन में युक्तियों की समीक्षा**—चार्वाक ने अपने मत के समर्थन में जो युक्तियाँ दी हैं उनका सार यह है कि अन्न तथा औषधि खाने या छोड़ने से चेतना बढ़ती या घटती है इसलिए अन्न तथा औषधि खाने या छोड़ने वाला शरीर ही आत्मा है। परन्तु शरीर तो आत्मा का साधन है, उपकरण है, अगर साधन न होने पर उसका इस्तेमाल करने वाले को अनुभव हो कि साधनहीन होने के कारण वह अशक्त हो गया है, तो इससे साधनहीन होने वाले का बाध नहीं हो जाता। अगर बढ़ई का रंदा तेज़ न हो, उसे शान पर न चढ़ाया गया हो, तो क्या उससे बढ़ई रंदा बन जाता है, अगर मकान में तरेड़ आ जाय, वह कहीं से टूट जाए, तो क्या मकान मनुष्य हो जाता है?

अतः स्पष्ट है कि चार्वाक का यह कहना है कि सिर्फ़ परमाणुओं के संयोग-वियोग से सृष्टि-रचना अपने-आप होती रहती है, आत्मा तथा परमात्मा की आवश्यकता नहीं है, केवल भौतिक-द्रव्य—Matter—से काम चल जाता है, युक्ति की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं ठहरता। ईश्वर, जीव, प्रकृति—तीनों को मानना पड़ता है।

3. वर्तमान-विज्ञान का एकत्ववाद—भौतिक-द्रव्य (Matter) की ही एकमात्र सत्ता है

(क) **परमाणुवाद तथा वैद्युतिक-तरंग का सिद्धान्त**—भारत के चार्वाक सम्प्रदाय की तरह वर्तमान-विज्ञान का यह कथन है कि भौतिक-द्रव्य (Matter) से ही सम्पूर्ण-सृष्टि का निर्माण हुआ है, जड़-चेतन सभी मैटर का ही परिणाम है। कोई समय था जब विज्ञान के जगत् में हर भौतिक-पदार्थ की पृथक् सत्ता मानी जाती थी, परन्तु राबर्ट ब्वायल (1627-1691) ने यह सिद्ध किया कि भौतिक-पदार्थों में मूलभूत भौतिक-तत्त्व 92 हैं जिनका आगे विभाग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन है, ऑक्सीजन है, कार्बन है, सोना है—ये सब मूल-तत्त्व हैं, इनका विच्छेदन होगा तो ये अपने ही परमाणुओं में विभक्त हो जाएंगे। एक तत्त्व के परमाणु एक ही प्रकार के होते हैं, इसीलिए उसने इन्हें भौतिक-

द्रव्य—Matter—के मूल-तत्त्व कहा। अब इन मूल-तत्त्वों की संख्या 105 तक पहुंच गई है, कुछ बढ़ भी सकती हैं। हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक के 92 तत्त्व स्थायी तत्त्व हैं। उसके बाद आने वाले तत्त्व स्थायी नहीं हैं। ये कृत्रिम रूप से प्रयोगशाला में निर्मित किए गये हैं जो शीघ्र ही खण्डित हो जाते हैं।

ब्वायल की मूल-तत्त्व की परिभाषा यह थी कि वह ऐसा पदार्थ है जिसे दो या दो से अधिक पदार्थों—तत्त्वों—में विभक्त न किया जा सके। डेढ़ सौ साल पहले तक जिन पदार्थों को ब्वायल की परिभाषा के अनुसार मूल-तत्त्व माना जाता रहा, अब पिछले 30-40 साल से उन्हें मूल-तत्त्व नहीं माना जाता। अब स्थिति यह है कि जो 92 मूल-तत्त्व माने जाते थे, जिनकी संख्या बढ़ कर 105 हो गई है, वे भी मूल-तत्त्व नहीं हैं, वे भी अन्य कणों के समूहों से बने हैं, कणों की मात्रा बदल देने से पदार्थ बदल दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रेडियम को मूल-तत्त्व माना जाता रहा, परन्तु यह देखा गया कि इसके परमाणु समय के बीतने के साथ झड़ते-झड़ते लेड तथा हीलियम में परिवर्तित हो जाते हैं जिन दोनों को भी मूल-तत्त्व माना जाता है। एक मूल-तत्त्व दूसरे मूल-तत्त्व में कैसे बदल सकता है ? अगर बदल जाता है, तो वह मूल-तत्त्व नहीं है, किन्हीं अन्य तत्त्वों का सम्मिश्रण है। जैसा ऊपर कहा गया, पिछले 30-40 वर्ष से मूल-तत्त्वों के विषय में नई खोज हो चुकी है इस खोज में उक्त 105 मूल-तत्त्वों का तीन प्रकार के कणों में विभाजन कर दिया है। ये तीन कण हैं—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन। इस 'परमाणुक-सिद्धान्त' का यह अर्थ है कि अब तक हम जिन 105 तत्त्वों को मूल-तत्त्व समझे हुए थे वे मूल-तत्त्व नहीं थे, उन्हें भी कणों में विभक्त किया जा सकता है, जिन कणों में विभक्त किया जा सकता है उन्हीं का नाम इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन है। शुरू-शुरू में यह समझा जाता था कि किसी भी तत्त्व की रचना में केन्द्र में प्रोटोन तथा एक न्यूट्रोन होते हैं, और इनके चारों ओर इलेक्ट्रोन तीव्र गति से चक्कर लगा रहे होते हैं। विज्ञान अपनी प्रगति में जहाँ पहले 105 मूलतत्त्वों पर रुका, इसके बाद मूल-तत्त्वों (Elements) को छोड़ कर तीन कणों (Particles) तक पहुँचा, अब यह वहाँ से और आगे बढ़ गया है और इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन को मानने के स्थान में भौतिक-द्रव्य—Matter—को 'ऊर्जा की तरंगें' (Waves of energy) मानने लगा है। विज्ञान की खोज के अनुसार इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन में भौतिक-कण नहीं हैं, परन्तु इलेक्ट्रोन भी वैद्युतिक-शक्ति की तरंगों के पुंज हैं, प्रोटोन भी वैद्युतिक-शक्ति की तरंगों के पुंज हैं, न्यूट्रोन भी वैद्युतिक-शक्ति की तरंगों के पुंज हैं। इलेक्ट्रोन 'ऋणात्मक' (Negative) तथा प्रोटोन 'धनात्मक' (Positive) विद्युत्-तरंगों के पुंज हैं, न्यूट्रोन न ऋणात्मक है, न धनात्मक। इस दृष्टि से विज्ञान के क्रमिक-विकास में पहले 'मूल-पदार्थों का

सिद्धान्त' (Elemental Theory) आया, उसके बाद 'परमाणु-सिद्धान्त' (Atomic Theory) आया, और अब 'वैद्युतिक-तरंग का सिद्धान्त' (Electronic Wave Theory) आया। पार्थिव-जगत् क्या है ? वर्तमान-विज्ञान के अनुसार यह सम्पूर्ण पार्थिव-जगत् वैद्युतिक-तरंगमय है, ऊर्जामय है।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे सिद्ध होता है कि वर्तमान-विज्ञान एकत्ववाद का पोषक है, एक ही तत्त्व को मानता है, और वह तत्त्व है—'वैद्युतिक-तरंग'। 'वैद्युतिक-तरंग' ऊर्जा (Energy) का रूप है—इसलिए वर्तमान-विज्ञान सृष्टि-रचना में मैटर में अन्तर्निहित 'ऊर्जा' को मूल-तत्त्व मानता है, इसमें उसे परमात्मा की सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

(ख) **प्रोटोप्लाज़्म से जीवन के उत्पन्न होने का विकासवादी-सिद्धान्त**—ऊपर के प्रकरण में हम जो लिख आए हैं, उसका अभिप्राय यह है कि 'भौतिक-वाद'—जड़वाद (Materialism)—की दृष्टि में 'परमात्मा' की सत्ता के स्थान में भौतिक-द्रव्य-निहित वैद्युतिक-तरंग की ही सत्ता है। अब प्रश्न यह है कि जीवन के सम्बन्ध में भौतिकवाद का क्या दृष्टिकोण है ? भौतिकवाद का कथन है कि 'जीवात्मा' जैसी कोई सत्ता नहीं है, जड़ से चेतन का अविर्भाव हो जाता है। भौतिकवाद तथा ब्रह्मवाद में यह अन्तर है कि भौतिकवाद जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानता है, ब्रह्मवाद (वेदान्त) चेतन से जड़ की उत्पत्ति मानता है—हैं दोनों 'एकत्ववादी-सिद्धान्त'। आधुनिक-विज्ञान का कथन है कि 'प्रोटोप्लाज़्म' (Protoplasm–'जीव-द्रव्य') के विश्लेषण से पाया गया है कि उसमें निम्न द्रव्यों का एक निश्चित मात्रा में मिश्रण है जिससे जीवन की उत्पत्ति होती है। यही जीवन की इकाई है, यहीं से जीवन का प्रारम्भ होता है। वे द्रव्य निम्न हैं—

कार्बन	55 भाग
ऑक्सीजन	23 भाग
नाइट्रोजन	14 भाग
हाइड्रोजन	7 भाग
गन्धक, पोटाशियम, सोडियम, आदि	1 भाग
	100 कुल

विकासवाद का यह कथन है कि 'प्रोटोप्लाज़्म' उक्त द्रव्यों के निश्चित मात्रा में सम्मिश्रण से उत्पन्न हो जाता है। करोड़ों, अरबों बरस हो गए जब पार्थिव-तत्त्वों के सम्मिश्रण से अचानक इसकी उत्पत्ति हुई। इसमें अंगों का विभाजन नहीं पाया जाता। अपने सम्पूर्ण-शरीर से यह सब शारीरिक क्रियाएँ करता है। शरीर के उसी भाग से खाता, उसी से पीता, उसी से साँस लेता है, उसी से मल त्यागता है। इसे चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकते, सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से ही

यह दीख पड़ता है। यही 'प्रोटोप्लाज्म' विकसित होते-होते भिन्न-भिन्न प्राणियों की शक्ल धारण कर लेता है—जीवन के विकास की यही दिशा है। जैसा-जैसा पर्यावरण उत्पन्न होता है वैसा-वैसा परिवर्तन प्राणी के शरीर में होता जाता है, और इस विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप क्षुद्र 'प्रोटोप्लाज्म' से विकसित प्राणी-जगत् लाखों-करोड़ों सालों में विविध योनियों का रूप धारण कर लेता है।

जड़ से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है या नहीं—इस सम्बन्ध में रूस में एक परीक्षण किया गया। यह परीक्षण रूस की विज्ञान-पण्डिता एक महिला ने किया जिसका नाम लपेशिन्स्काया था। उन्होंने हाइड्रा नामक एक सूक्ष्म प्राणी को खरल में पीस लिया। अब इस खरल किये हुए प्राणी का शरीर जीवन-रहित हो गया। इस जीवन-रहित मैटर को एक परखनली में भर लिया गया। परखनली में कुछ पोषण-तत्त्व डाल दिए गये। कुछ देर बाद देखा गया कि हाइड्रा के पिसे-पिसाये अजीवित-शरीर से जीवित-हाइड्रा के चिह्न प्रकट होने लगे। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि रूसी महिला के इस परीक्षण से सिद्ध होता है कि जड़ में चेतन को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है इसलिए आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान-विज्ञान के एकत्ववाद की समीक्षा

(क) **परमाणुवाद तथा वैद्युतिक-तरंग के सिद्धान्त की समीक्षा**—'भौतिकवाद'—'जड़वाद'—Materialism—का कहना है कि सृष्टि की अन्तिम-सत्ता न आत्मा है, न परमात्मा है, यह सत्ता विद्युत् की तरंगों का अविरल प्रवाह है। ये तरंगें तीन प्रकार के विद्युत्-कणों से बनती हैं जिन्हें इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन कहा जाता है। इस प्रवाह की गति विच्छेदयुक्त है, यह प्रवाह सर्प-गति से न चलकर मेंडक की कुदान की तरह मंडूक-प्लुति न्याय से प्रवाहित हो रहा है। इस प्रकरण में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं :

(i) **गति गति देने वाले के बिना नहीं हो सकती**—एक बात तो यह है कि विद्युत्-तरंगों का प्रवाह विच्छेदयुक्त है, निरन्तर नहीं बह रहा, प्रवाहित तरंग के बीच व्यवधान पड़ जाता है*। अगर यह बात ठीक है तो जब प्रवाह का विच्छेद हो जाता है तब प्रवाह फिर कैसे चल पड़ता है? सब से पहले तो विद्युत् की तरंगों का प्रवाह शुरू ही क्योंकर होता है, फिर विच्छेद पड़ जाने पर वह गतिमान् कैसे होता है? कोई गति बिना गति देने वाले के नहीं हो सकती। भौतिकी (Physics) का यह नियम है कि जड़-पदार्थ (Inert substance) को यदि गति दे दी जाए, और उसे बाधा देने वाला कोई पदार्थ या व्यक्ति न हो, तो वह

* तरंगों के विच्छेदयुक्त-प्रवाह पर हमने 'कर्म' के अध्याय में विस्तार से लिखा है, वहाँ देखें।

निरन्तर गति में सीधी रेखा में चलता रहेगा, और शुरू में ही अगर कोई उसे गति देने वाला न हो, तो वह सदा स्थिति की अवस्था में ही बना रहेगा। संसार तो है ही गति, तभी तो इसे संस्कृत में 'संसार'—**संसरति इति संसारः**—'जगत्'—**गच्छति इति जगत्**—यह कहा है। यहां तो सृष्टि के प्रारम्भ में भी गति है, यह गति विच्छिन्न भी हो जाती है, विच्छिन्न हो कर फिर गति प्रारम्भ हो जाती है। यह सब-कुछ गति देने वाले के बिना कैसे सम्भव हो सकता है? जो शुरू में गति देता है, जो गति के विच्छिन्न हो जाने के बाद फिर उसे गति दे देता है—वह कौन है? विज्ञान के पास इसका क्या उत्तर है?

(ii) **परमाणुओं की रचना में गणितज्ञ का हाथ है**—दूसरी बात देखिए। हम लिख आए हैं कि 105 मूलतत्त्वों (Elements) के परमाणुओं की रचना में तीन प्रकार के कण हैं जिनकी लहरों से सृष्टि बनी हुई है—ये हैं इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन। इन परमाणुओं के निर्माण में (न्यूट्रोन को छोड़ कर) जितने इलेक्ट्रोन होते हैं उतने ही प्रोटोन होते हैं। न्यूट्रोनों और प्रोटोनों की उस निश्चित संख्या के होने पर ही 105 में से कोई मूल-तत्त्व (Element) बनता है। तीनों कणों—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन—की निश्चित संख्या के अनुसार मूल-तत्त्वों की जिनकी संख्या अब तक 105 तक पहुँच गई है, रूस के प्रसिद्ध रसायनशास्त्री डी० एस० मेण्डिलिएफ़ ने एक क्रमबद्ध-तालिका तैयार की थी। क्रमबद्ध का अर्थ है कि यदि एक मूल-तत्त्व में 79 इलेक्ट्रोन तथा 79 ही प्रोटोन हैं, तो तालिका के अगले मूलतत्त्व में 80 इलेक्ट्रोन तथा 80 ही प्रोटोन होंगे—एक इलेक्ट्रोन तथा एक प्रोटोन के विद्युत्-कण के बढ़ जाने से मूल-तत्त्व वही नहीं रहता, वह दूसरा मूल-तत्त्व बन जाता है। मूल-तत्त्वों की रचना में इलेक्ट्रोनों तथा प्रोटोनों के विद्युत्-कणों की एक-एक करके क्रमशः प्रवर्धमान संख्या तथा एक-एक विद्युत् कण के बढ़ जाने से मूल-तत्त्वों का बदलते जाना स्पष्ट सूचना देता है कि किसी गणितज्ञ चेतन-शक्ति की ही इस सब पर छाप है। विद्युत्-कणों के क्रमशः प्रवर्धमान-क्रमों की तालिका प्रो० जे० बी० राजम ने अपनी पुस्तक Atomic Physics में इस प्रकार दी है :

मूल-तत्त्व की क्रम-संख्या	संकेत	प्रोटोन की संख्या	इलेक्ट्रोन की संख्या
1. हाइड्रोजन	1 (H)	1	1
2. हीलियम	2 (He)	2	2
3. लीथियम	3 (Li)	3	3
4. बैरीलियम	4 (Be)	4	4
5. बोरोन	5 (B)	5	5
6. कार्बन	6 (C)	6	6
7. नाइट्रोजन	7 (N)	7	7
8. ऑक्सीजन	8 (O)	8	8

इस प्रकार क्रमिक-प्रवर्धमान विद्युत्-कणों से पदार्थ का स्वरूप बदलता जाता है। पदार्थ के निर्माण में यह क्रमिक-प्रवर्धमान-संख्या सिद्ध करती है कि इसमें किसी चेतन-शक्ति का हाथ है। भौतिक-द्रव्यों के निर्माण में इस क्रमिक-प्रवर्धमान विद्युत्-कणों की संख्या के होने का विज्ञान के पास क्या समाधान है? कौन गणितज्ञ यह क्रम बाँध रहा है? क्या यह सब अपने-आप हो जाता है?

(iii) **सौर-मण्डल की निश्चित-गति**—इस सम्बन्ध में तीसरी बात सौर-मण्डल की निश्चित गति है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा सौर-मण्डल की गतियाँ इतनी नियमित और गणित-शुद्ध हैं कि ज्योतिषी लोग सौ-सौ साल पहले और सौ-सौ साल पीछे का हिसाब लगा कर बतला सकते हैं कि सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण किस तारीख को होगा या हुआ था, धरती के किस प्रदेश में दिखलाई देगा या दिखलाई दिया था। इन पिण्डों को इतनी नियमित तथा गणित-शुद्ध गतियों को देने का काम बिना बुद्धि या बिना चेतना के नहीं हो सकता।

(ख) **प्रोटोप्लाज्म के अपने-आप उत्पन्न होने के सिद्धान्त की समीक्षा**—'जड़' के अतिरिक्त 'चेतन' की सत्ता न होने के सम्बन्ध में भौतिकवाद का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जड़ से चेतन उत्पन्न हो गया जिसे वे 'प्रोटोप्लाज़्म' का नाम देते हैं, और कहते हैं कि विकास की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते वनस्पति तथा प्राणी-जगत् की सृष्टि उत्पन्न हो गई। इस सम्बन्ध में निम्न बातें विचारणीय हैं—

(i) यह ठीक है कि वैज्ञानिकों ने प्रोटोप्लाज्म का विश्लेषण करके यह जान लिया है कि इसके निर्माण में कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि पदार्थ हैं, उन्होंने यह भी जान लिया है कि इनकी कितनी-कितनी मात्रा 'प्रोटोप्लाज़्म' में पाई जाती है, परन्तु प्रश्न यह है कि इनके सम्मिश्रण से वे अब तक जीवन को उत्पन्न क्यों नहीं कर सके। यह तो ऐसी बात है जैसे कोई कहे कि मकान सिर्फ़ ईंटों से बनता है, या कालीदास का काव्य सिर्फ़ अक्षरों से बनता है, या विज्ञान की पुस्तक सिर्फ़ टाइपों से बनती है। मकान को मज़दूर सिर्फ़ ढा सकता है, बना उसे इंजीनियर ही सकता है; अक्षरों को बच्चा सिर्फ़ अलग-अलग से जान सकता है, उनसे काव्य का निर्माण कवि ही कर सकता है; कम्पोज़ीटर टाइपों को सिर्फ़ उठा या धर सकता है, विज्ञान की पुस्तक का निर्माण वैज्ञानिक ही कर सकता है। ठीक इसी तरह 'प्रोटोप्लाज़्म' का प्रयोगशाला में सिर्फ़ विश्लेषण हो सकता है, उन विश्लिष्ट-तत्त्वों से जीवन का निर्माण न अब तक हुआ, न जीवन-शक्ति के बिना आगे कभी हो सकता है।

(ii) वैज्ञानिक कहा करते हैं कि अगर अब तक प्रयोगशाला में जीवन का निर्माण नहीं हुआ, तो कौन कह सकता है कि आगे कभी भी यह नहीं हो सकेगा? मान भी लें कि आगे कभी जड़ में जीवन का आविर्भाव होता

दीख जाए, तब भी प्रश्न यही रहेगा कि क्या वहाँ जीवन का निर्माण हुआ, जड़ से जीवन को उत्पन्न कर लिया गया, अथवा उस तत्त्व में जीवन प्रकट हो गया, या चेतना बाहर से प्रविष्ट हो गई। जो कहते हैं कि बच्चा माँ के गर्भाशय में ही उत्पन्न हो सकता है, उन्हें वैज्ञानिक उत्तर दिया करते हैं कि वे कभी परखनली में भी बच्चे का निर्माण (Test-tube babies) कर सकेंगे, भौतिक-तत्त्वों से भी जीवन का निर्माण कर सकेंगे। इसका उत्तर यही है कि गर्भाशय भी तो प्रकृति की बनाई हुई परखनली (Test-tube) ही है, यह प्राणी के शरीर के भीतर हो या बाहर हो—इसमें भेद नहीं पड़ता; भीतर रहने से माँ का बच्चे के प्रति स्नेह बना रहता है, परखनली में बच्चे के उत्पन्न हो जाने से वह विज्ञान का एक चमत्कारमात्र रह जाता है, उसमें सौहार्द्र उत्पन्न नहीं हो सकता। जहाँ तक भौतिक-तत्त्वों से जीवन के निर्माण की सम्भावना है उसका उत्तर यह है कि आत्मा के प्रकाश में आने के लिए तो उपयुक्त परिस्थिति की आवश्यकता है। अगर ऐसी परिस्थिति माँ के गर्भाशय में उपस्थित कर दी जाए, तो आत्मा वहाँ प्रवेश कर जाएगी, अगर परखनली में उपस्थित न कर दी जाए, तो आत्मा वहाँ प्रवेश कर जाएगी। अबतक वैज्ञानिक आत्मा के प्रवेश के लिए कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि के सम्मिश्रण से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर सके जिसमें आत्मा प्रवेश कर सके, जब ऐसा कर लेंगे तब आत्मा भी उस परिस्थिति में अगर प्रविष्ट हो जाए, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं होगी, न यही कहा जा सकेगा कि विज्ञान ने जड़ से चेतन को उत्पन्न कर लिया।

(iii) जड़ से चेतन की उत्पत्ति के प्रयोग का हमने ऊपर उल्लेख किया है जिसमें एक रूसी महिला ने 'हाइड्रा' (Hydra)-नामक प्राणी को खरल में पीस कर, उसके जीवन को नष्ट कर, फिर उसमें जीवन के लक्षणों को प्रकट होते देखा। यह प्रयोग लगभग वैसा ही है जैसा चार्वाक लोग दही-गोबर या मदिरा में कीटाणुओं के प्रकट हो जाने के दृष्टान्त से दिया करते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में यह विचार सदा से चला आ रहा है—क्या जड़ से जीवन हो सकता है, या जीवन से ही जीवन का निर्माण होता है? जड़ से जीवन होने को वैज्ञानिक लोग 'अजीवनात्-जनन' (Abiogenesis) कहते हैं, जीवन से ही जीवन हो सकने को वे 'जीवनात्-जनन' (Biogenesis) कहते हैं। अगर जड़वाद कोई वाद है, तो उसके लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि जड़ से जीवन हो सकता है। जैसा हमने ऊपर कहा, अब तक विज्ञान जड़ से चेतना उत्पन्न नहीं कर सका, जहाँ भी जीवन दिखलाई देता है वह पहले किसी विद्यमान जीवन से आया है। दही-गोबर, मदिरा या हाइड्रा के परीक्षणों में भी विज्ञान ही यह कहता है कि स्थूल-दृष्टि से तो उनमें जीवन नहीं दिखलाई देता, परन्तु सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से उनमें भी पहले से ही जर्म्स के चिह्न होते हैं। 'हाइड्रा' को खरल से पीस लिया तो क्या

इससे सिद्ध हो गया कि उसमें जीवन समाप्त हो गया। जीवन के अपने स्तर हैं। मनुष्य मर जाता है, परन्तु अगर मृत-देह को पड़े रहने दिया जाय, तो उसके नख तथा बाल बढ़ते दिखलाई देते हैं, उसमें निम्न-स्तर का जीवन बना रहता है जो व्यावहारिक-जीवन के लिए बेकार है। 'हाइड्रा' को कूट-पीस कर उसके जीवन को नष्ट कर दिया परन्तु उस कुटे-पिसे पदार्थ से फिर 'हाइड्रा' ही की 'कोशिकाएँ' (Cells) बनती हैं, किसी और प्राणी की नहीं बनतीं—ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि देखने को तो 'हाइड्रा' मर गया, उसमें से जीवन नष्ट हो गया, परन्तु फिर भी उसमें सूक्ष्म-रूप में जीवन बना रहा। फलतः, यही मानना पड़ता है कि जैसे भौतिक-द्रव्य के अतिरिक्त विश्व में कोई चेतन-सत्ता है जिसे 'ईश्वर' कहा जाता है, वैसे प्राणी में भी देह के अतिरिक्त कोई जीवन-जैसी सत्ता है जिसे 'आत्मा' कहा जाता है।

उक्त कारणों से स्पष्ट है कि जड़वाद का यह कहना कि सृष्टि सिर्फ़ विद्युत्-तरंगों तक समाप्त हो जाती है, इसमें विश्व-चेतना के रूप में 'ईश्वर' का कोई स्थान नहीं है, प्राणी की रचना 'प्रोटोप्लाज़्म' से हो जाती है, इसमें 'आत्मा' जैसी किसी चेतन-शक्ति का कोई स्थान नहीं है, युक्ति की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतरता। ईश्वर, जीव, प्रकृति—तीनों को मानना पड़ता है।

4. एकत्ववाद—'भौतिक-द्रव्य' की नहीं, अपितु 'चेतन' की ही एकमात्र सत्ता है।

'एकत्ववाद' (Monism) के दो दृष्टान्त हमने देखे—भारत का चार्वाक-सिद्धान्त तथा पश्चिम का विज्ञान का सिद्धान्त। ये दोनों एकत्ववाद सिर्फ़ 'जड़' को सृष्टि का मूल-तत्त्व मानते हैं। इन दोनों के विरुद्ध ऐसे भी एकत्ववादी हैं जो सिर्फ़ 'चेतन' को सृष्टि का मूल-तत्त्व मानते हैं। इस 'चेतन-एकत्ववाद' के भी तीन दृष्टान्त हैं। इसका पहला दृष्टान्त शंकर का वेदान्त या 'सर्वेश्वरवाद'—'अद्वैतवाद' (Pantheism) है; दूसरा दृष्टान्त पश्चिम में बर्कले (Berkley) का प्रत्ययवाद—'आइडियलिज़्म' (Idealism) है ; तीसरा दृष्टान्त यहूदी, ईसाई, मुसलमानों का सिर्फ़ परमात्मा का विचार है—ऐसा परमात्मा जो एक होता हुआ अभाव से जड़-सृष्टि तथा चेतन-जीव को उत्पन्न कर देता है।

शंकर का एकत्ववाद (अद्वैतवाद—सर्वेश्वरवाद)—Pantheism.

(क) ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है (सत्कार्यवाद)—शांकर-मत के अनुसार सृष्टि की मूल-सत्ता 'चेतन' है जिसे 'ब्रह्म' का नाम दिया जाता है। इस सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'—'एकमेवाद्वितीयम्'—ये उक्तियाँ प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वेदान्तियों की युक्ति

इस प्रकार है— कारण-कार्य के नियम पर विचार करने से प्रतीत होता है कि कार्य के उत्पन्न होने से पहले उसमें कार्य विद्यमान रहता है, इसलिए कार्य तथा कारण में भेद नहीं है। उदाहरणार्थ, मट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, सुवर्ण से कुंडल बनता है, यथार्थ-सत्ता तो मट्टी की ही है—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', यथार्थ-सत्ता तो सुवर्ण की ही है—'सुवर्णमित्येव सत्यम्'। जब मट्टी में घड़ा मौजूद है, सुवर्ण में कुंडल मौजूद है, तब यह समझना भूल है कि कारण तथा कार्य में भेद है। अगर भेद है तो सिर्फ़ इतना कि कारण में कार्य मौजूद तो है, परन्तु व्यक्त न होकर अव्यक्त रूप में मौजूद है। इस सिद्धान्त को दर्शन-शास्त्र में 'सत्कार्यवाद' कहा गया है—'कार्य' पहले से ही कारण में सत् है, तभी कारण-विशेष से कार्य-विशेष उत्पन्न होता है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शन इस बात को नहीं मानते। उनका कथन है कि उत्पन्न होने से पहले घड़ा मट्टी में या कुंडल सुवर्ण में विद्यमान नहीं था, अर्थात् कार्य की कारण में सत्ता नहीं थी, कुम्हार ने सामग्री की सहायता से घड़ा तथा सुनार ने सामग्री की सहायता से कुंडल का निर्माण कर दिया, घड़ा एवं कुंडल क्रमशः मट्टी तथा सुवर्ण ही नहीं हैं, प्रत्युत् एकदम नवीन वस्तु हैं। यदि कार्य कारण में पहले से ही मौजूद होता, तो नई-नई वस्तुएँ बनाने के लिए किसी को हाथ-पाँव हिलाने की ज़रूरत ही क्यों होती। अगर मान लिया जाय कि मट्टी तथा घड़े एवं सुवर्ण तथा कुंडल में सिर्फ़ आकार का भेद है, वैसे दोनों एक ही हैं, तो न्याय तथा वैशेषिक का कहना है कि नहीं, दोनों के व्यवहार में भी भेद है—मट्टी में पानी नहीं भरा जा सकता, घड़े में भरा जा सकता है। तब तो मानना पड़ेगा कि मट्टी दूसरी वस्तु है, घड़ा दूसरी वस्तु है। नैय्यायिकों तथा वैशेपिकों का यह सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' कहलाता है।

'सत्कार्यवाद' वेदान्त तथा सांख्य का सिद्धान्त है, 'असत्कार्यवाद' न्याय तथा वैशेपिक का सिद्धान्त है। इस विवाद में सत्कार्यवादियों का कथन है कि अगर कार्य की कारण में पहले से सत्ता न होती, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी जो असम्भव बात है, कितना भी प्रयत्न करने पर अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त क्या कारण है कि किसी विशिष्ट-वस्तु को बनाने के लिए केवल विशिष्ट-साधन का ही उपयोग किया जाता है, जिस-किसी साधन का उपयोग नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, दही बनाने के लिए दूध, कपड़े बनाने के लिए सूत, तेल निकालने के लिए तिल का प्रयोग किया जाता है, कपड़े से ही तेल क्यों नहीं निकाला जाता। इसका कारण यही हो सकता है कि तिलों में तेल पहले से ही मौजूद है, सूत में कपड़ा पहले से ही मौजूद है, मट्टी में घड़ा, सुवर्ण में कुंडल पहले से ही मौजूद है। अगर कारण में कार्य पहले से ही मौजूद न होता, तो हर वस्तु से हर वस्तु उत्पन्न की जा सकती।

शंकर का अद्वैतवाद कहता है कि जैसे घटादि पदार्थों की अन्तिम-सत्ता मृत्तिका है, पटादि पदार्थों की अन्तिम-सत्ता रूई है, स्वर्णादि अलंकारों की अन्तिम-सत्ता सुवर्ण है, वैसे इन सब पदार्थों में जो 'सत्ता' का गुण वर्तमान है उसकी अन्तिम-सत्ता क्या है? घड़ा स्थायी पदार्थ नहीं है, घड़े की अपेक्षा मृत्तिका अधिक स्थायी पदार्थ है; पट स्थायी पदार्थ नहीं है, पट की अपेक्षा रूई अधिक स्थायी पदार्थ है; अलंकार स्थायी पदार्थ नहीं है, अलंकारों की अपेक्षा सुवर्ण जिससे अलंकार बनते हैं अधिक स्थायी पदार्थ है। ये स्थायी-पदार्थ भी स्थायी नहीं हैं क्योंकि इनमें वर्तमान, इनमें अनुस्यूत-'सत्ता' इनसे अधिक स्थायी तत्त्व है। यह 'सत्ता' मृत्तिका में, रूई में, सुवर्ण में—इन सबमें समान रूप से वर्तमान है, भौतिक ही नहीं अभौतिक तत्त्वों में भी 'सत्ता' की एकरूपता है। यह शुद्ध-सत्ता जो संसार के हर तत्त्व में वर्तमान है—यही 'ब्रह्म' है। कार्य-रूप समग्र-जगत् उस कारण-रूप चेतन ब्रह्म की सत्ता से प्रवाहित हो रहा है। शंकर के अद्वैतवाद को समझने के लिए 'सत्कार्यवाद' के सहारे 'ब्रह्म' की एकमात्र सत्ता को समझ लेना अद्वैत के सिद्धान्त की पहली सीढ़ी है, यह उसका प्रथम स्तम्भ है।

(ख) **सत्कार्यवाद के दो रूप—परिणामवाद तथा विवर्तवाद**—शांकर अद्वैतवाद के अनुसार जगत् कार्य है, इसका कारण ब्रह्म है, और वही सत्य है, यह नाम-रूप वाला जगत् असत्य है, एकमात्र-सत्ता ब्रह्म की है, जगत् की सत्ता नहीं है, सत्ता न होने पर भी इसकी सिर्फ़ प्रतीति होती है। अगर एकमात्र-सत्ता ब्रह्म की है, वह ब्रह्म ही जगत् का कारण है, तो यह जगत् ब्रह्म का परिणाम होना चाहिए। अगर जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो यह असत्य नहीं हो सकता, इसे सत्य होना चाहिए। अगर जगत् सत्य है तो एकत्ववाद नहीं ठहरता। शंकर के सर्वेश्वरवाद—अद्वैतवाद—एकत्ववाद—का तो दूसरा स्तम्भ ही यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—**'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'**। इस स्थल पर शांकर-वेदान्त तथा सांख्य में भेद आ जाता है। सांख्य का कहना है कि कारण से जब कार्य बनता है तब कार्य 'परिणाम' होता है कारण का। उदाहरणार्थ, दूध से दही बना। दूध कारण है, दही कार्य है—दूसरे शब्दों में, दही दूध का परिणाम है। जब कोई वस्तु किसी का परिणाम होती है तब वह पहली वस्तु की तरह सत्य होती है, मिथ्या नहीं होती, दही दूध का 'परिणाम' है, दूध भी सत्य है, दही भी सत्य है। सांख्य-शास्त्र अद्वैत-प्रतिपादक नहीं है, द्वैत-प्रतिपादक है, इसलिए 'परिणामवाद' को मानता है। शांकर-मत द्वैत-प्रतिपादक नहीं है, अद्वैत-प्रतिपादक है, इसलिए 'परिणामवाद' को मानने के स्थान में 'विवर्तवाद' को मानता है। 'विवर्तवाद' क्या है? 'विवर्तवाद' का कहना है कि हमें जो कार्य-रूप जगत् दिखलाई पड़ता है वह ब्रह्म का परिणाम नहीं है, परिणाम हो तो दूध-दही की

तरह द्वैत हो गया। द्वैत मानने को शंकर राजी नहीं हैं। शांकर-मत के अनुसार जो जगत् दिखलाई पड़ता है वह भ्रम है, मिथ्या है। प्रश्न यह है कि अगर जगत् भ्रम है, मिथ्या है, तो यह दिखलाई क्यों पड़ता है? इसका उत्तर शंकर यह देते हैं कि जैसे अंधेरे में रस्सी को देख कर हम डर जाते हैं, उसे यथार्थ समझ कर भाग खड़े होते हैं, जैसे सीप को देख कर यथार्थ न होने पर भी हमें उसमें चांदी होने की मिथ्या-भ्रान्ति हो जाती है, वैसे ही असत्य तथा मिथ्या जगत् को देख कर हमें उसकी यथार्थ-प्रतीति होने लगती है। इसी को वे 'विवर्त-वाद' का नाम देते हैं। जगत् ब्रह्म का 'परिणाम' नहीं, उसका 'विवर्त', उसका गोल-माल है। अगर जगत् ब्रह्म का 'परिणाम' होता, तो सिद्धान्त के रूप में द्वैतवाद ठहरता, क्योंकि जगत् है ही नहीं, जो-कुछ दीखता है वह वास्तविक न होकर आभासमात्र है—रज्जु में सांप की तरह, सीप मे चाँदी की तरह—इसी तरह शांकर-वेदान्त की दृष्टि से सिद्धान्त के रूप में अद्वैतवाद ठहरता है। शंकर के अद्वैतवाद को समझने के लिए '**विवर्तवाद**' दूसरा स्तम्भ है।

(ग) **कार्य को कारण का 'परिणाम' न मान कर 'विवर्त' क्यों मानें**—सांख्य-शास्त्रियों की तरह कार्य को कारण का 'परिणाम' न मान कर उसे 'विवर्त' क्यों मानें—इसमें शंकराचार्य की क्या युक्ति है? शंकराचार्य का कहना है कि कार्य में कारण की अपेक्षा एक नया रूप दीखता है इससे इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु अगर गहराई से विचार किया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि जिसे हम नया रूप कहते हैं वह सिर्फ़ कहने भर को है, मूल-द्रव्य से वह भिन्न नहीं है, आकार के भेद को देख कर वस्तु में ही भिन्नता आ गई—यह कहना ठीक नहीं है, आकार भिन्न हो जाने पर भी वस्तु वही रहती है। मनुष्य जागता-सोता, चलता-फिरता, खाता-पीता, पढ़ता-लिखता, भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता है, परन्तु रहता वही-का-वही है, उसके व्यक्तित्व में भेद नहीं आता। जो भिन्नता दिखलाई देती है वह हमारे मन का उस वस्तु पर आरोप है जिसे शंकराचार्य ने '**अध्यास**' कहा है—'अध्यास'—अर्थात्, 'आरोपण'। विवर्त में वास्तविकता नहीं होती, रज्जु में सर्प का, शुक्ति में रजत का अध्यास—अर्थात्, मानसिक-आरोपण हो जाता है, जो यथार्थ-ज्ञान होने पर मिट जाता है। यह मिथ्या-आरोपण ही 'विवर्त' है। शंकर के अद्वैतवाद को समझने के लिए '**अध्यास**' तथा 'विवर्तवाद' द्वारा जगत् को भ्रम तथा मिथ्या जान लेना तीसरा स्तम्भ है।

(घ) **ब्रह्म की शक्ति माया या अविद्या**—शंकर के मत में ब्रह्म में एकत्व है। प्रश्न उपस्थित होता है कि एकत्व से नानात्व कैसे उत्पन्न होता है? इस के उत्तर में शंकर ने माया की कल्पना की है। माया तथा अविद्या का एक ही अर्थ है। माया ब्रह्म की शक्ति है। जैसे अग्नि में दाह की शक्ति उसके साथ

रहती है, वैसे ही ब्रह्म के साथ माया उसकी शक्ति के रूप में उसके साथ रहती है। फिर प्रश्न उठता है कि 'माया' क्या सद्वस्तु है, अर्थात्—क्या इसकी ब्रह्म से पृथक् सत्ता है? इसके उत्तर में शांकर-वेदान्त का कथन है कि माया सत् नहीं है। 'सत्' उसे कहते हैं जिसका निराकरण न हो सके। माया का तो ज्ञान अथवा विद्या से निराकरण हो जाता है। तो क्या माया 'असत्' है? 'असत्' उसे कहते हैं जिसकी प्रतीति न हो सके। माया की तो प्रतीति होती है क्योंकि इसी प्रतीति के कारण हमें संसार के पदार्थों का बोध होता है। तो फिर माया का स्वरूप क्या है? शांकर-वेदान्त का कथन है कि माया न सत् है न असत् है, सत्-असत् दोनों न होने के कारण माया 'अनिर्वचनीय' है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए माया के विषय में कहा गया है—**'सत् चेत् न बाध्येत, असत् चेत् न प्रतीयेत'**—अगर वह 'सत्' हो, तो उसका निराकरण नहीं हो सकता, अगर वह 'असत्' हो तो उसकी प्रतीति नहीं हो सकती—इसलिये वह न सत् है, न असत् है, माया इन दोनों से भिन्न है—**'अनिर्वचनीय'** है। माया ब्रह्म की शक्ति-विशेष है। यह शांकर-अद्वैतवाद का चौथा स्तम्भ है।

माया का क्या काम है? माया में दो शक्तियाँ हैं जिन्हें 'आवरण' तथा 'विक्षेप' कहा जाता है। इन दोनों का क्या काम है?

(ङ) **माया की दो शक्तियाँ—आवरण तथा विक्षेप**—'आवरण' का अर्थ है वस्तु के अपने रूप पर आवरण डाल देना, पर्दा डाल देना, उसे ढक देना; 'विक्षेप' का अर्थ है उस वस्तु की जगह दूसरी ही कोई वस्तु दीखने लगना। उदाहरणार्थ, एक जादूगर पत्थर को उछालता है और उसकी जगह सोने का कड़ा गिरता है। पत्थर को उछालने पर वह पत्थर के असली रूप पर पर्दा डाल देता है—यह 'आवरण' है; पर इतने से काम नहीं चलता, पत्थर की जगह देखने वाले को सोने का कड़ा दीखने लगता है—यह 'विक्षेप' है। इस प्रक्रिया में जादूगर को तो पत्थर-का-पत्थर ही दीखता है, उसके देखने में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसी तरह ब्रह्म की माया की शक्ति का पहला काम तो यह है कि वह ब्रह्म के वास्तविक रूप को छिपा देती है, उस पर 'आवरण' डाल देती है; माया का दूसरा काम यह है कि ब्रह्म के वास्तविक रूप की जगह यह प्रपंचात्मक-जगत् दीखने लगता है। यह बात ध्यान में रखने की है कि जैसे जादूगर को मिथ्या-भ्रम नहीं होता, इसी तरह माया तो ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है, ढकने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु दीखने लगते हैं, परन्तु जादूगर की तरह ब्रह्म ज्यों-का-त्यों निर्विकार बना रहता है, भ्रम देखने वाले जीव को होता है, ब्रह्म को नहीं। **'आवरण' तथा 'विक्षेप'** अद्वैतवाद का पाँचवाँ स्तम्भ है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वेदान्त में 'जीव' की भी सत्ता मानी जाती है, क्या ब्रह्म तथा माया के अतिरिक्त 'ईश्वर' की भी सत्ता मानी जाती है?

(च) **शांकर-वेदान्त में ब्रह्म तथा माया के अतिरिक्त 'जीव' तथा 'ईश्वर' का स्वरूप**—वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जब माया से आवृत होकर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने में प्रवृत्त होता है, तब उसकी 'ईश्वर' संज्ञा हो जाती है। 'ब्रह्म' तथा 'ईश्वर' में यही भेद है। माया से आवृत ब्रह्म ईश्वर है, और वह अपने में से ही सृष्टि की रचना करने लगता है जैसे मकड़ी अपने भीतर से जाला निकाल कर जाल तान लेती है। इस दृष्टि से न्याय-शास्त्र के ईश्वर में और वेदान्त-शास्त्र के ईश्वर में यह भेद है कि न्याय-शास्त्र के ईश्वर के पास प्रकृति मौजूद है, शंकर के ब्रह्म के पास प्रकृति मौजूद नहीं है; न्याय ईश्वर को सृष्टि का निमित्त-कारण (Efficient Cause) मानता है, शंकर ब्रह्म को सृष्टि का उपादान-कारण (Material cause) मानता है। जीव के विषय में वेदान्तियों की यह धारणा है कि उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म ही जीव कहलाता है। उपाधि-विशिष्ट का क्या अर्थ है? जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु घड़े की उपाधि होने के कारण घड़े के भीतर के आकाश को घटाकाश कह देते हैं, वैसे ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु अन्तःकरण की उपाधि में प्रतिबिम्बित होने के कारण ब्रह्म को ही जीव कह देते हैं—तभी कहा है—'**श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**'—ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं है। ब्रह्म कर्त्ता, भोक्ता नहीं है, उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म ही जीव के रूप में यह-सब लीला कर रहा है। यह शांकर-अद्वैतवाद का छटा स्तम्भ है।

(छ) **ब्रह्म यह सब लीला क्यों कर रहा है?**—अगर शांकर-वेदान्तियों से पूछा जाय कि ब्रह्म माया के सहारे ईश्वर बन कर और उपाधि-विशिष्ट होकर जीव बन कर यह-सब खेल क्यों रच रहा है, तो इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यह-सब केवल लीला के लिए, बिना किसी प्रयोजन के हो रहा है। उदाहरणार्थ, जैसे कोई राजा केवल लीला के लिए क्रीड़ा करता है, वैसे ही यह सारा जगड्-वाल निष्प्रयोजन, लीलावश हो रहा है। यह शांकर-अद्वैत का सातवाँ स्तम्भ है।

(ज) **अगर सब मिथ्या है, भ्रम है, तो सब यथार्थ क्यों प्रतीत होता है?**—शांकर-वेदान्त की सब बात सुन कर, जान कर, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अगर सब मिथ्या है, भ्रम है, तो संसार बिल्कुल यथार्थ क्यों प्रतीत होता है? इसका उत्तर वेदान्ती यह देते हैं कि 'सत्ता' तीन तरह की होती है—पारमार्थिकी-सत्ता, प्रातिभासिकी-सत्ता तथा व्यावहारिकी-सत्ता। जो वस्तु त्रिकालाबाधित हो, उसकी पारमार्थिकी-सत्ता होती है—ऐसी सत्ता एकमात्र 'ब्रह्म' की है। जो वस्तु पीछे जाकर किसी प्रमाण से बाधित, खण्डित हो जाय, उसकी सत्ता प्रातिभासिकी-सत्ता होती है। उदाहरणार्थ, रज्जु में सर्प भासना, शुक्ति में रज्जु भासना—ऐसी सत्ता प्रातिभासिकी है क्योंकि दीपक के प्रकाश से इस भासने का खण्डन

हो जाता है। तीसरी सत्ता व्यावहारिकी है—ऐसी सत्ता जो वास्तव में असत् है, परन्तु व्यवहार के लिए उसे सत् मान लिया जाता है क्योंकि उसे माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। ऐसी सत्ता इस संसार की है क्योंकि अगर संसार को मिथ्या ही समझ लिया जाय, तो संसार का कारोबार नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ, बिन्दु वह है जिस की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई न हो—परन्तु ऐसा बिन्दु तो मिल नहीं सकता, इसलिए लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई वाले चिह्न को बिन्दु मान कर व्यवहार चला लिया जाता है। यह शांकर-अद्वैतवाद का आठवाँ स्तम्भ है—'**एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति**' (शांकर-भाष्य)।

शंकर के एकत्ववाद (अद्वैत) की समीक्षा

(क) **एक से अनेक कैसे हो गए ?**—एकत्ववाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह यह नहीं बतला सकता कि एक से दो कैसे हो गये। 'जड़-एकत्व-वादी' (चार्वाक तथा आधुनिक-विज्ञान) सृष्टि के मूल-तत्त्व की खोज करते-करते जड़-परमाणु तक पहुँच जाते हैं, परमाणु से भी आगे चल कर परमाणु की गति तक पहुँच जाते हैं, परन्तु परमाणु की गति के विषय में यह नहीं समझा सकते कि यह गति दी किस ने ? अगर यह गति किसी ने दी तो गति देने वाला मानना पड़ता है, अगर किसी ने नहीं दी, तो जड़ में गति आ ही नहीं सकती। 'चेतन-एकत्ववादी' (शंकर का अद्वैतवाद) सृष्टि के मूल-तत्त्व की खोज करते-करते चेतन-सत्ता तक पहुँच जाते हैं, परन्तु अद्वैत-चैतन्य तक पहुँच कर यह नहीं समझा सकते कि उस इकले चेतन से यह जड़ संसार कैसे उत्पन्न हो गया ? दो से तीन तो हो सकते हैं, एक से दो नहीं हो सकते। कह देने भर को ठीक है—'**एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायें**'—ब्रह्म ने सोचा मैं एक हूँ, मैं अनेक हो जाऊँ, परन्तु अनेक होने के लिए एक कठोर शर्त है। वह शर्त यह है कि पहले एक से दो होना पड़ेगा। एक दो तभी हो सकता है जब उसके भीतर ही द्वित्व हो। अगर उसके भीतर ही द्वित्व है, तो वह एक न रहा। क्योंकि संसार में द्वैत, त्रैत, बहुत्व दिखलाई देता है इसलिए इस गुत्थी को सुलझाने के लिए शंकर ने ब्रह्म के साथ माया को—उसके विरोधी तत्त्व को—ब्रह्म की सहचारिणी-शक्ति मान लिया है। अगर माया ब्रह्म की सहचारिणी-शक्ति है, तो न तो ब्रह्म एक रहा, न माया नित्य-ब्रह्म की सहचारिणी-शक्ति होने के कारण अनित्य रही।

(ख) **माया के सदसत्-विलक्षण होने का कुछ अर्थ नहीं**—जैसा हमने कहा, अगर ब्रह्म के साथ माया जुड़ी हुई है, तो ब्रह्म की तरह उसे भी 'सत्' होना चाहिए; परन्तु अगर उसे 'सत्' मान लिया जाय, तो एकत्ववाद—अद्वैत—नहीं टिकता, अद्वैत को बनाए रखने के लिए अगर उसे 'असत्' मान लिया जाय, तो उसकी प्रतीति क्यों होती है—इसका कोई उत्तर नहीं बनता। अगर उसे

सत्-असत् मान लिया जाय, तो परस्पर-विरोध आ खड़ा होता है। इन सब उलझनों से बचने के लिये शांकर-वेदान्त ने उसे सत्-असत्-विलक्षण माना है, उसे 'अनिर्वचनीय' माना है, जो एक निरर्थक शब्द है।

(ग) **अद्वैतवाद के सब दृष्टान्त द्वैत-परक हैं**—अद्वैतवाद का कहना है कि जैसे रज्जु में सर्प की, शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है, वैसे मिथ्या-जगत् में सत्य की भ्रान्ति होती है। ये दृष्टान्त युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि रज्जु तथा सर्प की, शुक्ति तथा रजत की अलग-अलग सत्ता पाई जाती है, तभी रज्जु में सर्प या शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है, अगर इनकी अलग-अलग सत्ता न होती, तो ये भ्रान्तियां भी न होतीं। यह कहना कि जिस प्रकार रज्जु में अन्धेरे के कारण सांप की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार मायारूपी अज्ञान के कारण ब्रह्म में जगत् के प्रपंच की भ्रान्ति होती है युक्तियुक्त नहीं ठहरता क्योंकि भ्रान्ति उन्हीं दो वस्तुओं की हो सकती है जिनकी अलग-अलग सत्ता भी हो, जैसे रज्जु तथा सांप की अलग-अलग सत्ता है। अद्वैतवादी तो ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की सत्ता को मानते ही नहीं।

(घ) **घटाकाश, मठाकाश के दृष्टान्त भी कुछ सिद्ध नहीं करते**—यह कहना कि जैसे आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु घड़े में वही आकाश छोटे, बद्ध-रूप में आ जाता है, वही सर्वव्याप्त आकाश मठ में भी संक्षिप्त रूप में पाया जाता है, जैसे समुद्र में जल असीम है, परन्तु ताल-तलय्यों में छोटे-से गड़े में पाया जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक है, परन्तु मायावश मनुष्य के अन्तःकरण में वह बद्ध पाया जाता है—इसी को 'जीव' कहते हैं—युक्तियुक्त नहीं है। इस आधार पर तो ब्रह्म छिद्रमय हो जाएगा, जहाँ-तहाँ उसमें अणु-परिमाण-'जीव' भरे रहेंगे जिनसे उसमें छेद-ही-छेद हो जायेंगे। यह दृष्टान्त भी कुछ सिद्ध नहीं करता।

(ङ) **स्वप्न के बाधित हो जाने की तरह जाग्रत् में जगत् बाधित नहीं होता**—जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिए प्रायः यह युक्ति दी जाती है कि जैसे स्वप्न में भिक्षुक, हाथी-घोड़े-पालकी पर चढ़ता है, परन्तु जागने पर सब हवा हो जाता है, वह दरिद्र-का-दरिद्र ही रह जाता है, वैसे ही जाग्रतावस्था में यह जगत् सत्य प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञान के नेत्र खुल जाने पर यह मिथ्या हो जाता है। यह युक्ति भी निस्सार है क्योंकि जागने पर स्वप्न तो भंग हो जाता है, जागते रहने पर जगत् भंग नहीं होता, वैसे-का-वैसा बना रहता है।

(च) **जगत् का ब्रह्म की लीला होना भी उपहासास्पद है**—यह कहना कि जगत् ब्रह्म की लीला है अत्यन्त उपहासास्पद बात है। उसे क्या जरूरत पड़ी थी कि ऐसी लीला करने लगे जिसमें कुछ लोग आनन्द-मौज के गुलछर्रे उड़ाएं, कुछ भूख से तड़प-तड़प कर प्राण गँवाएँ। ऐसा ब्रह्म भी क्या जो 'स्वान्तः

'विषयी'—'कर्ता'—(Subject)—देखने वाले की सत्ता के आधार पर खड़ी है। साधारण-दृष्टि से विचार करें तो मकान, पहाड़, नदी-नाले—इन सब की यथार्थ सत्ता मानी जाती है, दृश्य को द्रष्टा से भिन्न माना जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि जगत् के इन पदार्थों की द्रष्टा से भिन्न दृश्य रूप में स्वतन्त्र-सत्ता है या नहीं ? अगर इनकी दृश्य-रूप में स्वतन्त्र-सत्ता मानें, तो जैसा पहले कहा जा चुका है, क्योंकि ये इन्द्रियों से देखे जाते हैं और देखे जाने पर ही इनकी सत्ता निर्भर करती है, इन्द्रियां इन्हें न देखें तो नहीं देखे जाते, इसलिए इनकी स्वतन्त्र-सत्ता नहीं ठहरती, अगर इनकी द्रष्टा के बिना स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तो बर्कले कहता है कि यही तो मैं सिद्ध करना चाहता हूँ।

बर्कले ने इसी बात को कारण-कार्य के सिद्धान्त के आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वह कहता है कि एक तरफ़ 'द्रष्टा' है—मन से देखने वाला मनुष्य, दूसरी तरफ़ सूर्य तक फैला हुआ 'दृश्य'-जगत् है। सूर्य की किरणें नभोमण्डल से चलती हुई मेरी आँख पर पड़ती हैं, आँख से भीतर रैटिना पर पड़ कर मस्तिष्क तक पहुँचती हैं, जिनका 'मन' द्वारा ग्रहण होता है और द्रष्टा सूर्यादि जगत् को देखता है। इस देखने में मन का सूर्य तक सम्बन्ध जुड़ जाता है। अगर मन न देखे तो सूर्य तक सारा जगत् दृश्य की कोटि में न आए। इसलिए मन से सूर्य तक जितना जगत् है उसे दृश्य-कोटि में मन ही लाता है, मन न हो तो जगत् का अस्तित्व नेस्ति हो जाता है। यही कारण है कि बर्कले जगत् को अपने मन की उपज मानता है क्योंकि कारण-कार्य के नियम के अनुसार मन आँख को, आँख किरण को, आगे-आगे सत्ता का प्रदान करती जाती है। क्योंकि यह सारी सत्ता तभी सत्तावान् है जब मन इसे दृश्य-कोटि में लाकर इसे अस्तित्व देता है इसलिए दृश्य-जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, यह मन की ही उपज है।

इस बात को यूँ भी समझाया जाता है कि जैसे अन्धे को प्रकाश का ज्ञान नहीं होता, बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता, अन्धे के लिए प्रकाश का अस्तित्व नहीं है, बहरे के लिए शब्द का अस्तित्व नहीं है, ऐसे ही अगर कल्पना करें कि सृष्टि में कोई प्राणी नहीं है जो देखता हो, जो सुनता हो, तब जगत् का अस्तित्व कहाँ रहा ? देखने वाले होंगे तभी तो दृश्य-जगत् होगा, सुनने वाले होंगे तभी तो संगीत का जगत् होगा, अर्थापत्ति यह निकलती है कि हम नहीं होंगे तो जगत् नहीं होगा। जो देखने, सुनने वालों के न रहने से नहीं रहता, उसका अस्तित्व कैसे माना जाए ? इन सब युक्तियों के आधार पर बर्कले का कहना है कि हमारा सब ज्ञान 'प्रत्यय'-मात्र (Idea) का ज्ञान है, इसलिए संसार 'आइडिया' है, ठोस-जगत् नहीं है।

बर्कले के प्रत्ययवाद की समीक्षा

बर्कले की इन-सब युक्तियों का शब्दकोशकार जॉनसन (1709-1784)ने बड़ा मनोरंजक उत्तर दिया। बर्कले के इस सिद्धान्त को सुन कर कि दृश्य-जगत् की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है उसने पत्थर के ऊपर अपना पैर ज़ोर से पटका और कहा : 'No sir, I disprove it'— अर्थात् जगत् की अपने-आप में कोई स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है, तो देखो यह पत्थर पर मैं अपना पैर पटकता हूँ, मुझे चोट क्यों लगती है ?

बर्कले से पहले डेकार्ट (1596-1650) ने भी कहा था कि जगत् की सत्ता मन पर ही आश्रित है, हम देखते हैं तो संसार दीखता है, नहीं देखते तो नहीं दीखता। जो-कुछ सत्ता है वह द्रष्टा पर आश्रित है। सारा दृश्य-जगत् मेरे 'प्रत्ययों' (Ideas) पर निर्भर है। परन्तु क्या सचमुच मेरे 'प्रत्यय' ही जगत् हैं, जगत् की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है ? अनुभव के आधार पर ही तो कहा जा सकता है कि जगत् है या नहीं है। हमें सारा जगत् स्थूल-रूप में दीखता है। यह ठीक है कि जब सृष्टि में कोई प्राणी नहीं होगा तब जगत् भी नहीं होना चाहिए, परन्तु होता तो यह है ही। अगर मेरे द्रष्टा-रूप होकर देखने के कारण जगत् की सत्ता है—और जगत् की सत्ता है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता—तो जब कोई प्राणी द्रष्टा रूप में नहीं रहता, तब भी जगत् का बने रहना सिद्ध करता है कि जिसके ज्ञान में यह जगत् सत्ता-रूप में विद्यमान रहता है वह 'ईश्वर' है। इस प्रकार डेकार्ट प्रत्ययवाद के आधार पर ही ईश्वर, जीव तथा जगत्—इन तीन की स्वतन्त्र-सत्ता मानता है। मैं सन्देह करता हूँ—इसलिए 'मैं' हूँ; जगत् सब-किसी के अनुभव में आता है—इसलिए 'जगत्' है; मेरे न रहने पर भी जगत् की सत्ता बनी रहती है—इसलिए जिसके ज्ञान में यह जगत् सत्ता-रूप में विद्यमान रहता है—वह 'ईश्वर' भी है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमानों का एकेश्वरवाद

यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान—इन तीनों का एकत्ववाद एक ही तरह का है। इन तीनों का कथन है कि ईश्वर ने कहा और हो गया—**'एकोऽहं बहुस्याम्'**। 'हो गया' का अर्थ है—अभाव से यह सृष्टि पैदा हो गई, 'नास्ति' से 'अस्ति' हो गया। अभाव से भाव का होना असम्भव बात है, चाहे मनुष्य के विषय में कहा जाए, चाहे परमात्मा के विषय में कहा जाए। सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं है कि असम्भव को भी सम्भव कर दे, अभाव से भाव पैदा कर दे। सर्वशक्तिमान् का अगर यह अर्थ लिया जाए कि परमात्मा असम्भव को भी सम्भव कर सकता है तो ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में यह बड़ा उपयुक्त प्रश्न उठाया है कि क्या वह अपने जैसे दूसरे परमात्मा को उत्पन्न कर सकता है, क्या वह आत्मघात

हमने इस प्रकरण में यहूदी, ईसाई तथा मुसलमानों के मत को इसलिए सम्मिलित कर लिया है क्योंकि अन्य एकत्ववादियों की तरह ये भी एकत्ववादी हैं। चार्वाक-मत तथा भौतिक-विज्ञान— ये दोनों 'जड़'-एकत्ववाद को मानते हैं; शंकर, बर्कले तथा यहूदी, ईसाई, मुसलमान—ये सब 'चेतन'-एकत्ववाद को मानते हैं, इसलिए इन दो वर्गों में हमने उक्त वादों का विभाग कर दिया है। ईश्वर ने जगत् तथा जीव को रचा, रचने के बाद इन तीन से सृष्टि का चक्र चला—यह त्रिक की बात ये मतवादी लोग भी मानते हैं।

5. द्वैतवाद

भारतीय दर्शन-शास्त्र में एकत्ववाद के विरुद्ध सबसे पहले तथा प्रबल आवाज़ सांख्यकार महर्षि कपिल ने उठाई। उनका कथन था कि सृष्टि में अन्तिम-सत्ता के रूप में एक तत्त्व मानने से काम नहीं चल सकता—न जड़ के एक-तत्त्व के रूप में, न चेतन के एक-तत्त्व के रूप में सृष्टि की जटिल समस्या का हल हो सकता है। जड़ तथा चेतन दो सत्ताओं को तो मानना ही पड़ेगा, तभी सृष्ट्युत्पत्ति की समस्या का समाधान हो सकता है। इस विचार को सांख्य-दर्शन का प्रकृति-पुरुष का सिद्धान्त कहा जाता है। शास्त्रों में इस सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न नामों से अभिव्यक्त किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (प्रथम अध्याय, 8) में इसे 'क्षर-अक्षर-विचार', गीता (13-1, 2, 3) में इसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' कहा गया है। ब्रह्माण्ड की दृष्टि से उपनिषद् ने दो मूल सत्ताओं को माना है—'क्षर' तथा 'अक्षर'। 'क्षर' वह है जो खर जाती है, एक रूप में नहीं रहती, जिसे 'प्रकृति' या Matter कहा जाता है; 'अक्षर' वह है, जो खरती नहीं, एक रूप में रहती है, जिसे 'चेतन' या Consciousness कहा जाता है। पिंड की दृष्टि से गीता ने जिन दो सत्ताओं को माना, है वे हैं—'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ'। 'क्षेत्र' खेत को कहते हैं। यह शरीर एक खेत है। जैसे किसान खेत का मालिक होता है, उससे लाभ उठाता है, वैसे इस शरीर रूपी खेत का मालिक, इससे लाभ उठाने वाला 'क्षेत्रज्ञ' है, क्षेत्रज्ञ—अर्थात्, 'आत्मा'। इसी भाव को कठ उपनिषद् (तृतीय वल्ली, 3, 4) में 'रथ तथा रथी' के अलंकार के रूप में वर्णित किया है। शरीर 'रथ' है, आत्मा उसका इस्तेमाल करने वाला—'रथी' है। वैदिक-संस्कृति के भोक्ता-भोग्य, द्रष्टा-दृश्य आदि सिद्धान्तों का श्रीगणेश इसी द्वैतवाद के सिद्धान्त से हुआ है। सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में यह द्वित्व का सिद्धान्त इतना हृदयग्राही तथा मनोरंजक है कि ग्रीक-विद्वान् प्लेटो ने अपने ग्रन्थ फ़ीड्स के पृष्ठ 246 में इसी रूपक का प्रयोग किया है। उपनिषद् के 'क्षर', 'दृश्य', 'भोग्य', 'रथ', सांख्य के 'प्रकृति' तथा गीता के 'क्षेत्र' शब्दों का एक-समान अर्थ है। इसी प्रकार उपनिषद् के

आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ पाये जाते हैं—इसका क्या कारण है ? सांख्यवादियों ने सब पदार्थों का निरीक्षण करके पदार्थों में तीन गुणों को पाया है—सत्व, रज तथा तम—इसलिये उस मूल-द्रव्य में—'प्रकृति' में—भी वे इन तीनों गुणों मानते हैं जिसके कारण प्रकृति में नानात्व पाया जाता है, एक प्रकृति से इन तीन गुणों के कारण अनेक पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। सांख्य का कथन है कि सांसारिक जड़-पदार्थों की मूल-सत्ता 'प्रकृति' है, उपनिषदों के शब्दों में वह 'रथ' या 'क्षर' है, गीता के शब्दों में वह 'क्षेत्र' है। जैसे पाश्चात्य-जगत् में रसायन-शास्त्री सृष्टि-रचना में पहले डाल्टन (1766-1844) के परमाणुवाद को मानते थे, परमाणु अनन्त हैं, वैसे ही भारतीय न्याय-दर्शन में भी सृष्टि की रचना परमाणुओं से मानी गई है। न्याय तथा वैशेषिक के अनुसार एक परमाणु से सृष्टि नहीं बनती, दो परमाणु मिल कर द्व्यणुक बनाते हैं, तीन द्व्यणुक मिलकर त्रसरेणु बनाते हैं। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, त्रसरेणु इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। जैसे डाल्टन के परमाणुवाद के बाद वैज्ञानिकों ने कहना शुरू किया कि सृष्टि के आरम्भ में, जड़-जगत् में मैटर-ही-मैटर था, 'नेव्युला' (Nebula) था, प्राणी-जगत् में डार्विन के अनुसार जीव-द्रव्य 'प्रोटोप्लाज़्म' (Protoplasm) था—इसी से इस नाना प्रकार की जड़-चेतन सृष्टि का विकास हुआ, परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी में विज्ञान के जगत् में 'विकासवाद' (Theory of Evolution) का सिद्धान्त सर्वव्यापी हो गया, वैसे ही साँख्य-सिद्धान्त में भी जड़-सृष्टि का विकास एक मूल-द्रव्य से माना जाता है जिसे 'प्रकृति' का नाम दिया गया है। इस दृष्टि से सांख्य का प्रकृति से विकृति का सिद्धान्त डार्विन (1809-1882) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (1820-1903) आदि के विकासवाद के सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण की आध्यात्मिकता तथा भौतिकता इन दोनों की विषय-प्रतिपादन शैली में अलग-अलग प्रतिविम्बित दिखलाई देती हैं।

(ख) **चेतन-पुरुष, क्षेत्रज्ञ एवं अक्षर की मूल-सत्ता**—जिस प्रकार सांख्य जड़-प्रकृति की मूल-सत्ता मानता है, उसी प्रकार चेतन की भी मूल-सत्ता मानता है। इसी चेतन को 'पुरुष', 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'अक्षर' कहा गया है। गीता ने मानव-शरीर को 'क्षेत्र' कहा है—यह खेत है, कारखाना है। प्रश्न उठता है कि यह किस का खेत है, किसका कारखाना है ? इस खेत का, इस कारखाने का कोई स्वामी है या नहीं ? शरीर रूपी खेत में खेती हो रही है, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ हल चलाती रहती हैं, शरीर का यह कारखाना धड़ाधड़ चलता रहता है—क्या यह-सब अपने-आप हो रहा है ? कोई हल खेत में अपने-आप खेती नहीं करता, हल को किसान चलाता है, कोई कारखाना अपने-आप नहीं चलता, कारखाने का कोई मालिक होता है जो मजदूरों को काम करने का हुक्म देता है। वह कौन है ? इसके अलावा 'स्मृति' कहाँ रहती है ? शरीर तो हर सातवें साल बदलता

'अक्षर', 'द्रष्टा', 'भोक्ता', 'रथी', सांख्य के 'पुरुष' तथा गीता के 'क्षेत्रज्ञ' शब्दों का भी एक-समान अर्थ है। 'क्षर-अक्षर', 'दृश्य-द्रष्टा', 'भोग्य-भोक्ता', 'रथ-रथी', 'प्रकृति-पुरुष' तथा 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' का एक-एक का जोड़ा है जिस जोड़े—द्वित्व—की नींव पर ये शास्त्र खड़े हैं। यह बात ध्यान में रखने की है कि इन शब्दों को 'जड़' तथा 'चेतन'—इन दो के वर्गीकरण में भी सम्मिलित किया जा सकता है। इन सब शब्दों का यही अर्थ है कि ये शास्त्र एकत्व पर नहीं ठहरते, द्वित्व पर ठहरते हैं। कैसा द्वित्व ? एक सत्ता जड़ है, दूसरी चेतन—इनका कहना यह है कि सृष्टि की समस्या को समझने के लिए इन दो को तो मानना ही पड़ेगा, यह बात दूसरी है कि चेतन भी एक की जगह दो हों—एक 'आत्मा' तथा दूसरा 'परमात्मा'। इस स्थान पर हम जड़ की मूल-सत्ता तथा चेतन की मूल-सत्ता—इस सम्बन्ध में सांख्यकार की दी गई युक्तियों पर विचार करेंगे—यही विचार 'जड़-चेतन', 'प्रकृति-पुरुष', 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' तथा 'क्षर-अक्षर' का विचार है।

(क) **'जड़-प्रकृति', 'क्षेत्र' एवं 'क्षर' की मूल-सत्ता है**—*श्री तिलक ने* इस सम्बन्ध में गीता-रहस्य में जो लिखा है उससे अच्छे शब्दों का हम प्रयोग नहीं कर सकते। 'गीता-रहस्य' पृष्ठ 156 में वे लिखते हैं : "सांख्य मतानुसार जब 'सत्कार्यवाद' सिद्ध हो जाता है, तब यह मत आप ही गिर जाता है कि दृश्य-सृष्टि की उत्पत्ति शून्य में हुई है, क्योंकि शून्य से, अर्थात् जो कुछ है ही नहीं, उससे 'जो अस्तित्व में है' वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस बात से यह साफ़ सिद्ध होता है कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई है, और इस समय सृष्टि में जो गुण हमें दीख पड़ते हैं वे ही इस मूल-पदार्थ में होने चाहिएँ। अब यदि हम सृष्टि की ओर देखें, तो हमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना-चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं, और इन सबके रूप तथा गुण भिन्न-भिन्न हैं। सांख्यवादियों का सिद्धान्त है कि यह भिन्नता तथा नानात्व, आदि में, अर्थात् मूल-पदार्थ में तो नहीं दीखता, किन्तु मूल में सब वस्तुओं का द्रव्य एक ही है। अर्वाचीन-रसायन-शास्त्रज्ञों ने भी भिन्न-भिन्न द्रव्यों का पृथक्करण करके पहले 62 मूल-तत्त्व (फिर 92 और अब 105) ढूँढ निकाले थे, परन्तु अब पश्चिमी-विज्ञान वेत्ताओं ने भी यह निश्चय कर लिया है कि ये मूल-तत्त्व स्वतन्त्र या स्वयंसिद्ध नहीं हैं, किन्तु इन सबकी जड़ में कोई-न-कोई एक ही पदार्थ है, और उस पदार्थ से ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण की सृष्टि उत्पन्न हुई है।" जगत् के सब पदार्थों का जो यह मूल-द्रव्य है, उसे ही सांख्य-शास्त्र में 'प्रकृति' कहते हैं, प्रकृति का अर्थ ही 'मूल' है; इस 'प्रकृति' के आगे जो पदार्थ बनते हैं, उन्हें 'विकृति'—अर्थात्, मूल-पदार्थ के विकार कहते हैं। परन्तु यद्यपि सब पदार्थों में मूल-द्रव्य एक ही है तथापि इस जगत में पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना

आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ पाये जाते हैं—इसका क्या कारण है ? सांख्यवादियों ने सब पदार्थों का निरीक्षण करके पदार्थों में तीन गुणों को पाया है—सत्व, रज तथा तम—इसलिये उस मूल-द्रव्य में—'प्रकृति' में—भी वे इन तीनों गुणों मानते हैं जिसके कारण प्रकृति में नानात्व पाया जाता है, एक प्रकृति से इन तीन गुणों के कारण अनेक पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। सांख्य का कथन है कि सांसारिक जड़-पदार्थों की मूल-सत्ता 'प्रकृति' है, उपनिषदों के शब्दों में वह 'रथ' या 'क्षर' है, गीता के शब्दों में वह 'क्षेत्र' है। जैसे पाश्चात्य-जगत् में रसायन-शास्त्री सृष्टि-रचना में पहले डाल्टन (1766-1844) के परमाणुवाद को मानते थे, परमाणु अनन्त हैं, वैसे ही भारतीय न्याय-दर्शन में भी सृष्टि की रचना परमाणुओं से मानी गई है। न्याय तथा वैशेषिक के अनुसार एक परमाणु से सृष्टि नहीं बनती, दो परमाणु मिल कर द्व्यणुक बनाते हैं, तीन द्व्यणुक मिलकर त्रसरेणु बनाते हैं। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, त्रसरेणु इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। जैसे डाल्टन के परमाणुवाद के बाद वैज्ञानिकों ने कहना शुरू किया कि सृष्टि के आरम्भ में, जड़-जगत् में मैटर-ही-मैटर था, 'नेब्युला' (Nebula) था, प्राणी-जगत् में डार्विन के अनुसार जीव-द्रव्य 'प्रोटोप्लाज़्म' (Protoplasm) था—इसी से इस नाना प्रकार की जड़-चेतन सृष्टि का विकास हुआ, परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी में विज्ञान के जगत् में 'विकासवाद' (Theory of Evolution) का सिद्धान्त सर्वव्यापी हो गया, वैसे ही साँख्य-सिद्धान्त में भी जड़-सृष्टि का विकास एक मूल-द्रव्य से माना जाता है जिसे 'प्रकृति' का नाम दिया गया है। इस दृष्टि से सांख्य का प्रकृति से विकृति का सिद्धान्त डार्विन (1809-1882) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (1820-1903) आदि के विकासवाद के सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण की आध्यात्मिकता तथा भौतिकता इन दोनों की विषय-प्रतिपादन शैली में अलग-अलग प्रतिविम्बित दिखलाई देती हैं।

(ख) **चेतन-पुरुष, क्षेत्रज्ञ एवं अक्षर की मूल-सत्ता**—जिस प्रकार सांख्य जड़-प्रकृति की मूल-सत्ता मानता है, उसी प्रकार चेतन की भी मूल-सत्ता मानता है। इसी चेतन को 'पुरुष', 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'अक्षर' कहा गया है। गीता ने मानव-शरीर को 'क्षेत्र' कहा है—यह खेत है, कारखाना है। प्रश्न उठता है कि यह किस का खेत है, किसका कारखाना है ? इस खेत का, इस कारखाने का कोई स्वामी है या नहीं ? शरीर रूपी खेत में खेती हो रही है, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ हल चलाती रहती हैं, शरीर का यह कारखाना धड़ाधड़ चलता रहता है—क्या यह सब अपने-आप हो रहा है ? कोई हल खेत में अपने-आप खेती नहीं करता, हल को किसान चलाता है, कोई कारखाना अपने-आप नहीं चलता, कारखाने का कोई मालिक होता है जो मजदूरों को काम करने का हुक्म देता है। वह कौन है ? इसके अलावा 'स्मृति' कहाँ रहती है ? शरीर तो हर सातवें साल बदलता

रहता है, पुराने तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, नये आ जाते हैं, सात साल के बाद शरीर ही नया हो जाता है, किन्तु मुझे पिछले 50 साल की बातें याद रहती हैं। जब शरीर के सब परमाणु बदल गये, तो 50 साल पहले की बात को लगातार समान रखने वाला, इस एकीकरण की प्रक्रिया को जारी रखने वाला कौन है ? फिर 'मैं' की अनुभूति तो हर-किसी को होती है, कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसे 'मैं नहीं हूँ' की अनुभूति होती हो। यह अनुभव कौन करता है ? वेदान्त-दर्शन (3.3—53, 54) में कहा है कि 'मैं हूँ'—इस प्रतीति का प्रत्येक मनुष्य को होना आत्मा के शरीर से अतिरिक्त-अस्तित्व होने का एक पुष्टतम प्रमाण है। इसी बात को पाश्चात्य-दार्शनिक डेकार्ट (Decartes—1596-1650) ने यूँ कहा है—"प्रश्न यह है कि क्या मेरी स्वतन्त्र सत्ता है ? यह निस्सन्दिग्ध है कि यह प्रश्न करते हुए मैं अपनी सत्ता के विषय में सन्देह कर रहा हूँ। परन्तु 'सन्देह करना' सिद्ध करता है कि मैं 'विचार' कर रहा हूँ। अगर मैं विचार कर रहा हूँ तो यह निस्सन्दिग्ध है कि 'मैं हूँ', अगर 'मैं नहीं हूँ', तो मैं विचार कैसे कर सकता हूँ—Cognito, ergo sum (I think, therefore I am)". श्री शंकराचार्य की युक्ति तथा डेकार्ट की युक्ति का एक ही अर्थ है। आत्मा की मूल-सत्ता को सिद्ध करने के लिये सांख्य-शास्त्र की युक्तियों का हम 'आत्मा' के प्रकरण में पहले उल्लेख कर आये हैं। इन सब युक्तियों का एक जगह संग्रह निम्न सांख्यकारिका में किया गया है :

संघात् परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययात् अधिष्ठानात्
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । सांख्यकारिका, 17 ।

इसका अर्थ है—(१) **'संघात परार्थत्वात्'**—जो भौतिक-पदार्थ हैं वे अपने लिए नहीं किसी दूसरे के लिए होते हैं, बिस्तर बिस्तर पर नहीं सोता, दूसरा कोई बिस्तर पर सोता है। संसार संघातमय है, जिसके लिए यह संघात है, वही आत्मा है, (२) **'त्रिगुणादि विपर्ययात्'**—प्रकृति में सत्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं। इन तीन गुणों के कारण प्रकृति दृश्य है, अविवेकी है। अगर प्रकृति दृश्य है, अविवेकी है, तो किस की अपेक्षा से यह दृश्य है, अविवेकी है ? अपेक्षा का अर्थ है—इससे विपरीत-सत्ता जिसकी अपेक्षा से यह दृश्य तथा अविवेकी कही जा सके—वही अदृश्य, चेतन, विवेकी सत्ता आत्मा है, (३) **'अधिष्ठानात्'**—रथ तभी चलता है जब उसके चलाने वाला हो, शरीर भी तो रथ है—चलता-फिरता है—इसका अधिष्ठाता, इसे जो चलाता है वह कोई चेतन है, वही आत्मा है, (४) **'भोक्तृभावात्'**—संसार के सब विषय भोग्य हैं, इनका जो भोक्ता है वह आत्मा है, (५) **'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः'**—मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के बंधनों से बँधा पड़ा है, दुःखों से सब कराह रहे हैं, उनसे मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील हैं। कौन दुःख से मुक्त होना चाहता है ? अगर आत्मा है ही नहीं, तो दुःख से

छुटकारा कौन पाना चाहता है ? जो सब दुःखों से छूटने के लिए छटपटाता रहता है, वही आत्मा है। सांख्यकार ने जहाँ जड़-प्रकृति की सत्ता को माना है, वहाँ चेतन-आत्मा के जड़-प्रकृति से भिन्न होने के लिए उक्त पांच युक्तियाँ दी हैं जिनके द्वारा सांख्यकार ने द्वित्व को सिद्ध किया है।

द्वित्ववाद की समीक्षा

हमने देखा कि भारतीय चिन्तकों में जहाँ एकत्ववादी थे, वहाँ द्वित्ववादी भी थे जिनका कहना था कि सृष्ट्युत्पत्ति की समस्या सिर्फ़ एक मूल-सत्ता को मानने से हल नहीं होती। चाहे जड़ को मूल-सत्ता मानें, चाहे चेतन को, जड़ से चेतन उत्पन्न नहीं हो सकता, न चेतन से जड़ उत्पन्न हो सकता है क्योंकि ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु संसार में पाए दोनों जाते हैं। इस स्थिति को देख कर कुछ विचारकों ने यही उचित समझा कि वे एक के स्थान में दो मूल-सत्ताओं को मानें—'जड़' तथा 'चेतन'। परन्तु 'चेतन' कैसा ? जैसे संसार में जड़-पदार्थ नाना दिखलाई देते हैं, उन सब में जड़ता का समान-गुण पाया जाता है, इसलिए इन सब नाना जड़-रूपों को एक में समाविष्ट कर जड़-प्रकृति का नाम दे दिया गया, क्या ऐसे ही चेतन अनेक नहीं दिखलाई देते, क्या इन सब चेतनों को एक चेतन-तत्त्व में समाविष्ट नहीं किया जा सकता ? क्या ऐसा तो नहीं कि जैसे जगत् में जड़ तथा चेतन—ये दो मूलतत्त्व दिखलाई देते हैं, वैसे ही चेतन में—'अल्पज्ञ-चेतन' और 'सर्वज्ञ-चेतन'—ये दो मूलतत्त्व भी हों, और इस प्रकार मूल-सत्ताएँ दो न होकर तीन हों—'जड़'-मूलसत्ता का नाम 'प्रकृति', अल्पज्ञ-'चेतन-सत्ता' का नाम 'आत्मा' और सर्वज्ञ-'चेतन-सत्ता' का नाम 'परमात्मा' हो। हमें तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि इसी दुविधा में पड़ कर सांख्य ने इस चेतन मूल-सत्ता का नाम 'पुरुष', उपनिषद् ने 'अक्षर' तथा गीता ने उसका नाम 'क्षेत्रज्ञ' रखा। ये तीनों शब्द पिण्ड में आत्मा तथा ब्रह्माण्ड में परमात्मा पर एक-समान घटित हो जाते हैं। पिण्ड में 'पुरुष'-शब्द का अर्थ है—आत्मा, ब्रह्माण्ड में 'पुरुष'-शब्द का अर्थ है—परमात्मा, क्योंकि 'पुरुष'-शब्द 'पुरि शेते'—जो पिण्ड या ब्रह्माण्ड रूपी नगरी में आराम कर रहा है—यह है। तभी पतंजलि के योग-शास्त्र में ईश्वर को पुरुष-विशेष कहा गया है—**'क्लेश कर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः'**। पिण्ड में 'क्षेत्रज्ञ'-शब्द का अर्थ है—आत्मा, ब्रह्माण्ड में 'क्षेत्रज्ञ'-शब्द का अर्थ है—परमात्मा, क्योंकि शरीर-रूपी यह पिण्ड क्षेत्र है—आत्मा का, जगत्-रूपी ब्रह्माण्ड क्षेत्र है—परमात्मा का; आत्मा इस शरीर-रूपी कारखाने का 'क्षेत्रज्ञ' है, मालिक है, परमात्मा इस सृष्टि-रूपी कारखाने का 'क्षेत्रज्ञ' है, मालिक है। पिण्ड में 'अक्षर'-शब्द का अर्थ है—शरीर-रूपी खर जाने वाले पिण्ड में न खरनेवाला आत्मा;

वह व्यक्ति जिसे भ्रान्ति हो रही है, दूसरी वह वस्तु जिसमें भ्रान्ति हो रही है, तीसरी वह वस्तु जिसकी भ्रान्ति हो रही है। उदाहरणार्थ, सीपी में चांदी की भ्रान्ति—मिथ्या-प्रतीति—हो रही है। इसमें तीनों तत्त्व मौजूद हैं। एक-तत्त्व सीपी है जिसमें भ्रान्ति हो रही है; दूसरा-तत्त्व चांदी है जिसकी भ्रान्ति हो रही है; तीसरा-तत्त्व वह व्यक्ति है जिसे भ्रान्ति हो रही है। इन तीनों के बिना सीपी में चाँदी की भ्रान्ति नहीं हो सकती। इसी को वेदान्त में 'व्यवहार-सत्' का नाम दिया गया है। परमार्थ में एक ही सत्ता है, व्यवहार में देखा जाता है कि एक की जगह तीन मूलतत्त्व हैं। तभी हमने कहा कि वेदान्त में सीधे तौर पर तो नहीं, 'माया', 'उपाधि', 'व्यवहार-सत्' आदि शब्दों के द्वारा यह मान लिया गया है कि तीन मूल-तत्त्वों को माने बिना काम नहीं चलता। पाश्चात्य-जगत् में डेकार्ट ने तीन मूल-सत्ताओं को माना है, वेदान्त के अनेक आचार्यों में से भारत में मध्वाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने भी त्रैत-सत्ता को माना है।

(ख) **उपनिषदों, गीता तथा सांख्य में त्रैतवाद**—जैसा हम पहले लिख आए हैं उपनिषद्, गीता तथा सांख्य में जिन मूल-तत्त्वों का निर्देश है, वे हैं—'क्षर-अक्षर', 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' तथा 'प्रकृति-पुरुष'। इसका यह अर्थ है कि इन शास्त्रों में 'क्षर', 'क्षेत्र', 'प्रकृति' के नाम से एक 'जड़-मूलतत्त्व' को माना ही है, इसके अतिरिक्त 'अक्षर', 'क्षेत्रज्ञ', 'पुरुष' के नाम से एक 'चेतन-मूलतत्त्व' को भी माना है। 'चेतन-मूलतत्त्व' दो हैं—पिण्ड में 'आत्मा', ब्रह्माण्ड में 'परमात्मा'। इस प्रकार इन शास्त्रों में भी तीन मूल-तत्त्वों का निर्देश है।

(ग) **वेदों में त्रैतवाद**—वेदों का अध्ययन करने से भी यह ज्ञात होता है कि उनमें त्रैतवाद का बड़े मनोरंजक रूप में वर्णन किया गया है। इसमें ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के निम्न मन्त्र प्रमाण हैं :

(i) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति ॥

(ऋ०, मण्डल 1, सूक्त 164, मन्त्र 20; अथर्व 9, 9, 10)

इस मन्त्र में रूपक के तौर पर कहा गया है कि दो पक्षी हैं जो परस्पर साथ-साथ रहते हैं, दोनों एक ही वृक्ष का आलिंगन किए बैठे हैं। इन दोनों में से एक वृक्ष के फलों को खा-खा कर उनका स्वाद ले रहा है, दूसरा बिना खाए पहले पक्षी की गति-विधि का सूक्ष्म-निरीक्षण कर रहा है। इस वर्णन में स्पष्ट तौर पर पिण्ड में इस शरीर को तथा ब्रह्माण्ड में विशाल-जगत् को वृक्ष से उपमा दी गई है। पिण्ड-रूपी वृक्ष तथा ब्रह्माण्ड-रूपी वृक्ष में यह जीव-रूपी पक्षी पिण्ड में इन्द्रियों का तथा ब्रह्माण्ड में सांसारिक-विषयों का मीठा-मीठा लुभावना भोग ले रहा है। दूसरा परमेश्वर-रूपी पक्षी जीवात्मा द्वारा किये गए भोग-रूपी कर्मों का फल देने के लिए उसकी गति-विधि को देखता रहता है।

(ii) अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भी त्रैतवाद का ही उल्लेख करता है :

बालात् एकम् अणीयस्कम् उत् एकं नैव दृश्यते
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया (अथर्व, 10, 8, 25)

एक ऐसा तत्त्व है जो बाल से भी सूक्ष्म है, अणुतम है—इससे 'जीव' का वर्णन हुआ; दूसरा ऐसा तत्त्व है, जो इतना सूक्ष्म है कि दीखता ही नहीं—इससे सूक्ष्म, अदृश्य 'प्रकृति' का वर्णन हुआ ; तीसरा ऐसा तत्त्व है—देवता है—जिसने समग्र-जगत् का आलिंगन किया हुआ है, सर्वव्यापक है, वही देवता मेरा प्रिय है—इससे 'ईश्वर' का वर्णन हुआ। इस मन्त्र में भी अणुरूप जीव का, अदृश्य-रूप प्रकृति का तथा समग्र-जगत् का आलिंगन करने वाले सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन है।

इस प्रकार हमने देखा कि सृष्ट्युत्पत्ति में एकत्ववाद, द्वैतवाद तथा त्रैतवाद का अपना-अपना क्या स्थान है और इस सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों की, पाश्चात्य-विद्वानों की तथा वेदों की विचारधारा क्या है।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (अथर्व, 7. 50. 8)

'**कर्म**' के सिद्धान्त को एक दार्शनिक-सिद्धान्त मान कर उस पर सिर्फ़ भारतीय-चितकों ने विचार किया है, पाश्चात्य-चितकों ने इसे एक दार्शनिक-सिद्धान्त मान कर विचार नहीं किया। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में पुनर्जन्म का सिद्धान्त यहाँ की विचारधारा का अभिन्न अंग रहा है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त की ही उपज है। भारत के छः मुख्य-दर्शनों में से एक दर्शन—'मीमांसा'—सिर्फ़ 'कर्म' पर लिखा गया है। गीता का तो सारा लक्ष्य ही 'कर्मयोग' का प्रतिपादन करना है।

'कर्म' का सिद्धान्त क्या है ? यह भौतिक-जगत् में विद्यमान कारण-कार्य के नियम का ही आध्यात्मिक-जगत् में घटित होना है। कारण होगा तो उसका कार्य होगा, कार्य होगा तो उसका कारण होगा—अगर यह नियम ठीक है, अटल है, तो कर्म' भी तो एक कारण है, इसका कार्य होना ही चाहिये, यह बात अटल होनी चाहिये। कर्म का फल अटल है—इसी को 'कर्म का सिद्धान्त' कहते हैं।

'कर्म' की चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, या वह दैव से, भाग्य से बँधा हुआ है ? 'कर्म' का फल ही तो 'दैव' है, 'भाग्य' है, परन्तु क्या ऐसी हालत में मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र कहा जा सकता है ? यह प्रश्न 'पुरुषार्थ' तथा 'भाग्य' के सनातन द्वन्द्व का प्रश्न है। भाग्यवादी कहते हैं कि जब कर्म का फल निश्चित है, तब मनुष्य का जीवन भाग्य से बँधा हुआ है; पुरुषार्थवादी कहते हैं कि आज जिसे हम भाग्य कहते हैं विगत-काल में वह पुरुषार्थ था, पुरुषार्थ के विना भाग्य का निर्माण हो ही नहीं सकता। अगर हम कहें कि इस जन्म में जो फल हम भोग रहे हैं वह पिछले जन्म का फल है, तो प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पिछले जन्म में वह क्या था ? अगर पिछले जन्म में भी वह भाग्य ही था, तो उससे पिछले जन्म में चले जायें, और इसी शंका को उठायें। पीछे-पीछे चलते जाने से समस्या हल नहीं होती, अनवस्था दोष आ जाता है, और यह मानना ही पड़ता है कि जिसे हम 'दैव' कहते हैं वह किसी समय 'पुरुषार्थ' था। अगर हम किसी जन्म में 'पुरुषार्थ' कर सकते थे, कर्म करने में स्वतन्त्र थे, तो इस जन्म में स्वतन्त्र क्यों नहीं, इस जन्म में 'पुरुषार्थ' क्यों नहीं कर सकते ? वस्तुत: वैदिक विचारधारा यही है कि जीवन में पुरुषार्थ तथा दैव दोनों साथ-साथ चलते हैं। तभी अथर्ववेद में कहा—'मेरा किया हुआ सब-कुछ मेरे दायें हाथ में है, परन्तु उसके बावजूद विजय मेरे बायें हाथ का खेल है।'

यह हम देखते हैं कि प्रत्येक कर्म का फल नहीं मिलता। जब आत्मा इस चोले को छोड़ कर चल देता है, तब उन कर्मों का क्या होता है जिनका फल नहीं मिला ? इसका उत्तर यह है कि उन कर्मों को बीज-रूप संस्कारों के रूप में सूक्ष्म-शरीर में लेकर उसके साथ आत्मा अगले जन्मों में जाता है और वहाँ वे बीज समय पाकर कर्म-फल के रूप में फलित हो जाते हैं। सूक्ष्म-शरीर में संस्कार ऐसे बने रहते हैं जैसे कटोरे में से केसर फेंक देने पर भी उसकी वास कटोरे में बनी रहती है। कर्म का तात्कालिक-फल भी मिलता है, वह फल कर्म करने वाले के मस्तिष्क में अच्छे या बुरे कर्म की प्रवृत्ति बन जाना है। प्रथम बार पाप करने वाले को अगर तत्काल फल नहीं मिला तो क्या है, उसकी पाप करने की प्रवृत्ति तो बन गई जो धीरे-धीरे उसका जेल की तरफ मुँह कर देती है। इस प्रवृत्ति का बन जाना ही कर्म का तत्काल फल है। मनुष्य क्योंकि कर्म करने में स्वतन्त्र है, इसलिये कर्म के बन्धन को जब चाहे कर्म से ही काट सकता है।

सप्तम अध्याय

कर्म

(THE LAW OF KARMA)

1. भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी संस्कृति में 'कर्म' का विचार

(क) **'कर्म' पर भौतिकवादी विचार**—भौतिकवादी-संस्कृति में 'कर्म' के सिद्धान्त पर दार्शनिक-दृष्टि से कोई विशेष विचार नहीं किया जाता, जो-कुछ किया जाता है उसका सिर्फ़ इस लोक से सम्बन्ध है। 'कर्म' के सिद्धान्त का सम्बन्ध मुख्यतः पुनर्जन्म से है। हमने पिछले जन्म में जैसे कर्म किये थे वैसा यह जन्म मिला, जैसे कर्म इस जन्म में करेंगे वैसा अगला जन्म मिलेगा। यह विचार भौतिकवादी-विचारधारा में सर्वथा अमान्य है। भौतिकवादी-विचारधारा यह मानती है कि यही जन्म है, न पिछला है, न अगला है। भारतीय-दर्शनों में चार्वाक-दर्शन इस विचार का प्रतिनिधि । अध्यात्मशास्त्र में मानव-जीवन के चार लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। मनुष्य का जीवन इन्हीं चार के लिए प्रयत्नशील रहता है। भौतिकवादी-चार्वाक का कथन है कि ये चार नहीं, अर्थ और काम—ये दो ही जीवन के लक्ष्य हैं—पैसा कमाओ और अपनी कामनाओं, वासनाओं को भोगो। इसमें सन्देह नहीं कि अगर हमारे कर्मों का विगत-जीवन तथा आने वाले जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, तो भौतिकवादी-दृष्टिकोण से 'धर्म' और 'मोक्ष' निरर्थक शब्द हैं, 'अर्थ' और 'काम' ही सार्थक हैं—चाहे यह विचार पश्चिम के विचारकों का हो, चाहे पूर्व के विचारकों का। इसी विचार-सरणी पर चलते हुए चार्वाक की फ़िलोसोफ़ी का सार है—**'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—जब तक जीओ सुख से जीओ, देह का नाश हो गया तो फिर आना-जाना कहाँ ? 'कर्म' के सिद्धान्त का निरूपण करने की भौतिकवादी-विचारधारा में कोई आवश्यकता नहीं, इसलिए पाश्चात्य-विचारकों ने मन, आत्मा, चेतना, ईश्वर, प्रकृति आदि तत्त्वों पर तो विचार भी किया है, कर्म के सिद्धान्त पर तो विचार भी नहीं किया। 'कर्म' के सिद्धान्त को एक दार्शनिक-विषय समझना

सिर्फ़ भारतीय-विचारधारा में पाया जाता है, पाश्चात्य-विचारकों ने दार्शनिक-सिद्धान्त के तौर पर 'कर्म' पर विचार नहीं किया।

(ख) **'कर्म' पर अध्यात्मवादी विचार**—अध्यात्मवादी दर्शनों में 'कर्म' पर एक फ़िलोसोफ़ी के रूप में विचार किया गया है। आस्तिक दर्शन छः माने जाते हैं—वैशेषिक-न्याय, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त—इन दो-दो का एक-एक जोड़ा है। इनमें से मीमांसा-दर्शन को कर्म-मीमांसा भी कहा जाता है। अध्यात्मशास्त्र में कर्म का फ़िलोसोफ़ी के तौर पर इतना महत्त्व है कि छः दर्शनों में से एक में कर्म पर पूरा-का-पूरा दर्शन लिखा गया है। गीता तो 'कर्म-योग' की ही विस्तृत व्याख्या है। मीमांसा के 'कर्म' तथा गीता के 'कर्म' में एक भेद है। मीमांसा का 'कर्म' यज्ञ-यागादि पर आश्रित है, मीमांसक इस जन्म के यज्ञ-यागादि कर्मों द्वारा अगले जन्म में स्वर्ग-प्राप्ति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करता है—सकाम-भाव से कर्म करता है, गीता कर्म को इस दृष्टि से करने की प्रेरणा देती है कि वह कर्त्तव्य है, अपने में शुभ है, उसे करना है—निष्काम-भाव से करना है। मीमांसा का कर्म 'कर्मवाद' कहलाता है, उसमें स्वार्थ की भावना है; गीता का कर्म 'कर्मयोग' कहलाता है, उसमें निःस्वार्थ की भावना है।

2. 'कर्म' तथा 'कारण-कार्य' का नियम [दोनों में समानता—'अटलपना']

(क) **भौतिक-जगत् में कारण-कार्य का नियम** (Law of cause and effect) **काम करता है**—सर जेम्स जीन्स 'New World of Modern Physics' में लिखते हैं कि कोई समय था जब मनुष्य को कारण-कार्य के नियम का पता नहीं था। वह समझता था कि जैसे वह जो चाहता है करता है, वैसे ही संसार में कोई देवी-देवता हैं जो अपनी मर्ज़ी के अनुसार मनचाही बात करते हैं। देवता प्रसन्न हुए तो वर्षा कर दी, नाराज़ हुए तो सूखा डाल दिया; प्रसन्न हुए तो बीमारी हटा दी, नाराज़ हुए तो रोग भेज दिया। बड़ी देखा-भाली के बाद मनुष्य ने यह खोज की कि संसार में कारण-कार्य का नियम काम कर रहा है। कारण होगा तो कार्य होगा, कार्य होगा तो उसका कारण होगा। 17वीं शताब्दी में, जो गैलिलियो (1564-1542) तथा न्यूटन (1642-1727) का काल था, युरोप के भौतिक-विज्ञान के पंडित इस परिणाम पर पहुँचे कि संसार देवी-देवताओं की मर्ज़ी पर नहीं चल रहा, इसमें कारण-कार्य का नियम काम कर रहा है। भौतिक-जगत् का कारण-कार्य का नियम ही अध्यात्मिक-जगत् में 'कर्म' का नियम कहलाता है। अब तक सितारों की गति या स्थिति के साथ राजाओं के जन्म तथा मृत्यु का सम्बन्ध जोड़ा जाता था, अब मालूम हुआ कि सूर्य, चन्द्र, तारों का इस पृथ्वी के नाचीज़ व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध

नहीं, उनका नियन्त्रण गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के नियम से होता है जो कारण-कार्य जैसे अन्य भौतिक नियमों के समान है। ये भौतिक-नियम अटल हैं, इनमें किसी शक्ति की स्वतन्त्र-इच्छा काम नहीं करती। ऐसा नहीं है कि जब चाहा सूर्य का उदय कर दिया, जब चाहा अस्त कर दिया। पाश्चात्य-जगत् के सभी भौतिक-वादियों का कहना था कि भौतिक-जगत् के कारण-कार्य, गुरुत्वाकर्षण आदि जिन नियमों की खोज हुई है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि संसार इन नियमों से ही बँधा हुआ है, इतना बँधा हुआ है कि कारण के होने पर कार्य न हो या कार्य के होने पर उसका कारण न हो—यह असम्भव है, इतना असम्भव है कि कारण के उपस्थित होने पर हम निश्चयपूर्वक भविष्य-वाणी कर सकते हैं कि इस कारण का अमुक कार्य होगा, और कार्य सम्मुख होने पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इसका अमुक कारण था। ज्यों-ज्यों कारण-कार्य के नियम के लागू होने का क्षेत्र बढ़ता गया, त्यों-त्यों यह निश्चयपूर्वक कहा जाने लगा कि विश्व में हर बात, हर घटना निश्चित है, इसलिए निश्चित है क्योंकि संसार एक यन्त्र है, मशीन है, इसमें स्वतन्त्र रूप से, अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से काम करने वाली कोई शक्ति नहीं है—न मनुष्य में, न विश्व में। मनुष्य का यह देह कारण-कार्य से चल रहा है, विश्व का यह संसार—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे—ये भी कारण-कार्य के नियम के अधीन चल रहे हैं, इस संचालन में 'स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति'—'संकल्प-स्वातन्त्र्य'—(Free Will) का कोई स्थान नहीं है।

(ख) **आध्यात्मिक-जगत् में कारण-कार्य का नियम ही 'कर्म का सिद्धान्त'** कहलाता है—भौतिक-जगत् में जिस नियम को कारण-कार्य का अटल नियम कहते हैं, आत्मा के जगत् में भी वह नियम वैसा ही अटल है। आत्मिक-जगत् में जब कारण-कार्य के इस नियम की हम खोज करते हैं, तब यह नियम 'कर्म का सिद्धान्त' कहलाता है। जैसे हम कर्म करते हैं वैसा फल मिलता है, 'कर्म' कारण है, 'फल' कार्य है। अगर हम आग में हाथ डालेंगे तो वह जल जायगा, आग यह नहीं देखेगी कि आग में हाथ जान-बूझकर डाला गया है या अचानक पड़ गया है, युवा-व्यक्ति ने डाला है या अबोध-बालक ने डाला है जिसे आग के जलाने के गुण का पता ही न था। सर्दी में बच्चा बिना कपड़ा ओढ़े नंगा पड़ा रहा तो उस पर कोई दया नहीं होगी, उस पर प्रकृति तरस नहीं खायेगी कि छोड़ दो इसको—यह नादान बच्चा था। कारण-कार्य का नियम अकाट्य है, होकर ही रहेगा, आग में जलने का कर्म किया है तो जलना पड़ेगा, सर्दी में खाँसी, जुकाम, न्यूमोनिया का शिकार होने का कर्म किया है तो वह भी होकर रहेगा। 'अनिवार्यता' कारण-कार्य का अटल नियम है, इसलिए 'कर्म' जो कि कारण-कार्य के नियम का ही आध्यात्मिक-क्षेत्र में दूसरा नाम है, अच्छा होगा

तो उसका अच्छा, बुरा होगा तो उसका बुरा फल अवश्य होगा, उससे बचा नहीं जा सकता। यह नहीं होगा कि कर्म कर जाओ, उसका फल न मिले—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में 'कारण-कार्य' तथा 'कर्म' की आपस में यह समानता है।

[दोनों में असमानता—कारण-कार्य में 'परतन्त्रता' है, कर्म में 'स्वतन्त्रता' है]

भौतिक-जगत् के 'कारण-कार्य' के नियम तथा आध्यात्मिक-जगत् के 'कर्म' के नियम में जो समानता है उसके सन्दर्भ में यह जान लेना आवश्यक है कि दोनों में असमानता भी है। हमने देखा कि 'कारण-कार्य' के नियम में अटलपना है, परतन्त्रता है, उसके साथ चेतना न होने की वजह से अन्धापन भी है। अन्धेपन से हमारा अभिप्राय है—जड़-वस्तु में चेतना न होने के कारण 'स्वतन्त्र-इच्छा'—'संकल्प-स्वातन्त्र्य'—(Free Will) का न होना। 'कर्म' के नियम में भी अटलपना है, परन्तु उसके साथ अन्धापन नहीं है, चेतना होने की वजह से स्वतन्त्र-इच्छा (संकल्प-स्वातन्त्र्य) का अभाव नहीं है। जो व्यक्ति कर्म करता है वह यह भी अनुभव करता है कि वह कारण-कार्य के नियम के अधीन होता हुआ भी कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसकी 'स्वतन्त्र-इच्छा' है, वह 'नियति' (Fate) का ही खेल नहीं है। कारण-कार्य का नियम क्योंकि जड़-प्रकृति का नियम है इसलिए अटल है, कर्म का नियम क्योंकि चेतन-आत्मा का नियम है इसलिए इसमें कारण-कार्य की अटलता होते हुए स्वतन्त्रता भी है। उदाहरणार्थ, हम गेंद दीवार पर फेंकते हैं—गेंद और दीवार दोनों जड़ हैं, गेंद दीवार से टकरायेगी और वापस लौट आयगी, दीवार पर बैठ कर यह सोचने नहीं लगेगी कि वापस लौटूँ या न लौटूँ। मुझे अगर कोई पत्थर मारेगा, तो अगर मैं देख न रहा होऊँगा तब तो खड़ा रहूँगा—इसलिए खड़ा रहूँगा क्योंकि अपने चेतनपन का प्रयोग नहीं कर रहा होऊँगा, जड़वत् व्यवहार कर रहा होऊँगा, परन्तु अगर देख रहा होऊँगा तो परे हट जाऊंगा। यह परे हट जाना चेतन होने के कारण अपनी स्वतन्त्र-इच्छा (संकल्प-स्वातन्त्र्य—Free Will) का प्रयोग करना है।

जो लोग 'कारण-कार्य' के नियम तथा 'कर्म के सिद्धान्त' में भेद नहीं करते, वे आपत्ति उठा सकते हैं कि जैसे कारण-कार्य के नियम के आधार पर आग्रह-पूर्वक कहा जा सकता है कि कारण उपस्थित होगा तो उससे बँधा हुआ फल अवश्य होगा, वैसे कर्म के विषय में भी आग्रहपूर्वक कहा जा सकना चाहिए कि जो कर्म हम करते हैं वह क्योंकि पहले किसी कर्म का फल है, इसलिए हर कर्म पूर्व-कर्म का फल होने के कारण हमें बाधित होकर, करना ही होगा, हम उसके करने में स्वतन्त्र नहीं हो सकते। इसी को 'भाग्यवाद', 'नियतिवाद' या

'अवश्यंभाविता' (Fatalism or Determinism) कहा जाता है। परन्तु जैसा हमने पहले कहा 'कारण-कार्य' तथा 'कर्म के सिद्धान्त' में समानता होते हुए भी यह भेद है कि 'कारण-कार्य' का नियम जड़-जगत् में काम करता है, 'कर्म' का सिद्धान्त चेतन-जगत् में काम करता है। जड़-जगत् में कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो कारण तथा कार्य के बीच में आ सके, चेतन-जगत् में चेतन-सत्ता ऐसी वस्तु है जो कारण तथा कार्य के बीच में आ खड़ी होती है। जड़-जगत् में प्रवर्तमान कारण-कार्य में चेतन-सत्ता के बीच में न पड़ने से शुद्ध-यन्त्रात्मक-प्रतिक्रिया होती है, नियति-पूर्वक—अवश्यंभावितापूर्वक (Determinism) प्रतिक्रिया होती है, चेतन-जगत् में कर्म तथा प्रतिक्रिया में चेतन-सत्ता के बीच में पड़ जाने के कारण यन्त्रात्मक-प्रतिक्रिया होने के स्थान में परतन्त्रता के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी बनी रहती है। इसी कारण चेतन-जगत् में कर्मों का बन्धन भी है, चेतन-आत्मा के बीच में पड़ जाने के कारण बन्धन से मुक्ति भी है। इस सिलसिले में 'भाग्यवाद' (Fatalism) तथा 'पुरुषार्थवाद' (Free Will) का जो पारस्परिक-समन्वय है उसकी हम आगे चर्चा करेंगे। इससे पहले कि हम 'भाग्यवाद' तथा 'पुरुषार्थवाद' के समन्वय पर लिखें, यह जान लेना आवश्यक है कि क्या कारण-कार्य का नियम ठीक वैसा ही अटल है जैसा इसे अब तक समझा जाता रहा है?

3. क्या कारण-कार्य का नियम सर्वथा अटल है?

(क) कारण-कार्य के सिद्धान्त के विषय में विज्ञान की नवीन खोज— कारण-कार्य के पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय में भौतिक-विज्ञान जिस क्रम में से गुज़रा है उसका उल्लेख करते हुए सर जेम्स जीन्स ने लिखा है कि 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक समझा जाता था कि जीवित-प्राणी जड़-जगत् से सर्वथा भिन्न हैं, दोनों में कोई ताल-मेल नहीं है। उसके बाद जब प्राणी के शरीर तथा जड़ पदार्थों के घटक-तत्त्वों का विश्लेषण किया गया, तब यह पता चला कि दोनों के घटक-तत्त्व तो एक-से हैं, वही-के-वही हैं। जिन परमाणुओं से प्राणी का शरीर बना है, उन्हीं से जड़-वस्तु बनी है। इस खोज के परिणामस्वरूप यह माना जाने लगा कि अगर जड़-जगत् में कारण-कार्य के नियमों के कारण सब-कुछ यन्त्रवत् चल रहा है, तो उन्हीं परमाणुओं के बना शरीर भी यन्त्रवत् चलना चाहिये, उसमें चेतना जैसे तत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता है? यह कहा जाने लगा कि न्यूटन का मस्तिष्क उन्हीं परमाणुओं से बना है जिनसे कोई भी जड़-पदार्थ बना है या जिनसे किसी अन्य व्यक्ति का मस्तिष्क बना है, उनमें भेद सिर्फ़ परमाणुओं के मिश्रण की व्यवस्था पर आश्रित है। एक में यह मिश्रण एक तरह बैठा है, दूसरे में दूसरी तरह; जैसे एक मकान की ईंटें एक ढंग से लगाई गईं, दूसरे की दूसरी तरह से; परन्तु नियम सब ईंटों पर एक ही

लगता है। अगर यह बात ठीक है तो न्यूटन का मस्तिष्क भी एक यन्त्र है, जो ठीक वैसे चलता है जैसे प्रिन्टिंग प्रेस चलता है। प्रिन्टिंग प्रेस में पुर्जों का जैसा संयोजन है उससे उसे वैसा चलना ही है, उसके पास अपनी इच्छा से चलने का कोई उपाय नहीं है, उसके पास अपना 'चुनाव' (Choice) नहीं है, अपनी स्वतन्त्र-इच्छा (Free Will) नहीं है, वह कारण-कार्य के अटल-नियम से बँधा हुआ है; इसी तरह प्राणी का मस्तिष्क उन्हीं परमाणुओं के द्वारा बना होने के कारण, जिनसे जड़-वस्तु का निर्माण हुआ है, ऐसा व्यवहार करता है जैसा उसकी रचना के संयोजक-परमाणुओं से बाधित होकर उसे करना ही पड़ता है। इसमें प्राणी के पास भी कोई 'चुनाव' (Choice) नहीं, अपनी 'स्वतन्त्र-इच्छा'—'संकल्प-स्वातन्त्र्य' (Free Will) का कोई स्थान नहीं। जड़ तथा चेतन दोनों में इसलिए 'चुनाव' तथा 'स्वतन्त्र-इच्छा' नहीं क्योंकि एक-एक परमाणु कारण-कार्य के नियम से बँधा हुआ है। जहाँ बन्धन हो वहाँ चुनाव का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है?

अब तक वैज्ञानिक लोग जिन जड़-तत्त्वों का अनुशीलन कर रहे थे वे स्थूल-तत्त्व थे, सूक्ष्म होते हुए भी इतने स्थूल कि अतिसूक्ष्म-यन्त्रों के प्रयोग के बिना वह अनुशीलन चल रहा था। जिन तत्त्वों पर अनुशीलन चल रहा था उनमें लाखों-करोड़ों परमाणु थे। ये स्थूल-परमाणु मिल कर यान्त्रिक-रूप में (In a mechanical way) ही काम करते थे। 19वीं शताब्दी के अन्त में एक नवीन खोज का सूत्रपात हुआ। वह खोज क्या थी? इस समय जो नवीन-खोज हुई उसमें इस विचार ने जन्म लिया कि हो सकता है कि सब परमाणुओं के मिलकर स्थूल-रूप में प्रतिक्रिया करने का तरीका दो-चार परमाणुओं के प्रतिक्रिया करने के तरीके से भिन्न हो; ठीक ऐसे जैसे व्यक्ति भीड़ में एक तरह से प्रतिक्रिया करता है, अलग-से, इकला होने पर वह दूसरी तरह से प्रतिक्रिया करता है; भीड़ में वह पुलिस की गारद को देखकर दूसरों के साथ होने के कारण उस पर हमला कर देता है, इकला होने पर पुलिसमैन को देखकर ही वह भाग खड़ा होता है। कहा जा सकता है कि भीड़ में व्यक्ति अपने को सुरक्षित समझ कर बहादुर बन जाता है, होता डरपोक ही है, परन्तु हमारी पहली बात एक दूसरे उदाहरण से जो जड़-जगत् से लिया गया है, अधिक स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के तौर पर, अगर पाँच-सात पैसों को कई बार उछाला जाए तो कभी वे सिर के बल गिरेंगे कभी दुम के बल, परन्तु अगर पाँच-सात पैसों के स्थान में हज़ार, दस हज़ार या टनों की संख्या में पैसों को एक-साथ उछाला जाए, तो ठीक आधे सिर के बल और ठीक आधे दुम के बल गिरेंगे। इस प्रयोग को कितनी ही बार दोहराया गया, हर बार यही परिणाम निकला है। इसका अर्थ यह हुआ कि कारण-कार्य का जो नियम समूह में दिखलाई देता है वह छोटी

इकाई में टूट जाता है, या जो नियम छोटी इकाई में दिखलाई देता है वह समूह में टूट जाता है। पैसों को उछालना एक 'कारण' है, सिर के या दुम के बल गिरना एक 'कार्य' है। कुछ पैसों के उछालने में कारण-कार्य का जो सम्बन्ध है वही हजार पैसों के उछालने में लागू होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, यह नियम इस परीक्षण में टूट जाता है। यह अद्भुत् घटना है। इस प्रयोग ने जड़-जगत् के कारण-कार्य में अटूटता, अटलपने के सिद्धान्त पर प्रहार किया जो 'कर्म' के सिद्धान्त को समझने के लिये महत्त्वपूर्ण है। इस प्रयोग के सिलसिले में प्रो० मैक्स प्लान्क के क्वान्टम के सिद्धान्त (Quantum theory) तथा शक्ति के विकिरण (Theory of Radiation) के सिद्धान्त से विशेष प्रकाश पड़ता है।

'क्वान्टम' तथा 'शक्ति के विकिरण' का सिद्धान्त—यह कारण-कार्य के नियम पर एक प्रहार है

जैसा हमने अभी कहा, इस प्रकरण में वर्लिन के प्रोफ़ेसर मैक्स प्लान्क की खोज का जिक्र कर देने से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रो० प्लान्क ने 1901 में वैज्ञानिक-जगत् को यह विचार दिया कि किसी भी प्रकाश के पुंज —सूर्य आदि—से 'ऊर्जा' (शक्ति—Energy) का प्रवाह 'निरन्तर'—एकसार—Continuous—न होकर, 'अनिरन्तर'—विच्छेदपूर्वक—Discontinuous—प्रवाहित होता है। 'ऊर्जा'—'शक्ति'—के प्रवाह की अल्पतम-इकाई को 'क्वान्टम' कहते हैं जो प्रो० प्लान्क का अपना गढ़ा हुआ शब्द है। इस 'क्वान्टम' सिद्धान्त को आधार मान कर प्रो० हाइज़नवर्ग ने एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो 'हाइज़नवर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त' (Heisenberg's Principle of uncertainty) के नाम से विख्यात है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी 'कण' की 'गति' तथा 'स्थिति'—इन दोनों का एक-साथ ठीक-ठीक ज्ञात कर सकना असम्भव है। इस सिद्धान्त के विषय में जो कहा जाता है वह यह है—"This principle states that the position and momentum of a particle cannot simultaneously be determined with perfect accuracy."—अर्थात्, विश्व में किसी भी 'कण' की भावी-स्थिति निश्चित नहीं की जा सकती। कारण-कार्य के सिद्धान्त का मूल-आधार ही किसी वस्तु के विषय में भावी-स्थिति को निश्चित रूप से बतला सकना है। अन्तरिक्ष के ऊपरी-स्तर से किरणों का 'विकिरण' (Radiation) प्रभूत-मात्रा में हो रहा है जिसे 'कौस्मिक-रैडियेशन' (Cosmic Radiation) कहते हैं। वैसे तो कारण-कार्य के नियम के अनुसार पृथ्वी पर पड़ रहे 'विकिरण' (Radiation) की गति अबाध रूप से, बीच में व्यवधान—विच्छेद—पड़े विना निरन्तर चलती आनी चाहिये क्योंकि कारण-कार्य की शृंखला में पहला कदम (कारण) अगले कदम

(कार्य) को उत्पन्न करेगा, वह कार्य फिर कारण बन कर अगले कार्य को उत्पन्न करेगा—यह शृंखला आगे-आगे बढ़ती चली जायगी, परन्तु ऐसा होता नहीं है। 'रेडियेशन' के प्रवाह की गति एकतान चलने के स्थान में बीच में व्यवधान डाल कर चलती है—जहां व्यवधान होता है वहां रेडियेशन के प्रवाह का कोई निशान नहीं होता, वहां शून्य होता है, कुछ नहीं होता। रेडियेशन कूद-कूद कर चलता है, बीच में टूट जाता है, व्यवधान पड़ जाता है, फिर चल पड़ता है, कारण-कार्य के नियम के अनुसार बीच में जो आवश्यक लगातार गति बनी रहनी चाहिये वह टूट जाती है। यह आश्चर्य का विषय है कि विश्व में प्रकाश-पुंज से जो शक्ति का प्रवाह चलता है वह निरन्तर न होकर विच्छेद-युक्त—व्यवधानयुक्त—टूट-टूट कर होता है। एक शब्द में कह सकते हैं विश्व की रचना ही विच्छेद-युक्त-शक्ति का प्रवाह है। इस बात को ऐसे समझें। सांप की गति हर स्थान को छूती हुई चलती है, उसकी गति में निरन्तरता है; मेंढक की कुदान एक भिन्न प्रकार की गति है, जिसमें मेंढक हर स्थान को छूता हुआ नहीं चलता, कूद कर बीच में चार-पांच हाथ के स्थान में कोई सम्पर्क स्थापित किए बिना नये स्थान पर पहुँच जाता है। इसे संस्कृत में 'मंडूक-प्लुति' कहते हैं। क्वान्टम के सिद्धान्त पर आधारित 'रैडियेशन' में ऐसी ही गति होती है जिसे विच्छेद-युक्त-प्रवाह कहा जा सकता है। प्रश्न यह है कि जब शक्ति (ऊर्जा—Energy) के प्रवाह में विच्छेद आ गया, पीछे का सम्बन्ध टूट गया, शून्य अवस्था आ गई, तब आगे का प्रवाह कैसे चल पड़ता है? अगर प्रकृति में कारण-कार्य का नियम अटूट है, कारण के पीछे कार्य को आना ही चाहिए, तो 'रैडियेशन' (शक्ति-प्रवाह—विकिरण) की प्रक्रिया में कारण तथा कार्य के बीच व्यवधान—विच्छेद—क्यों पड़ जाता है? इस व्यवधान से तो कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध टूट जाता है, टूट-टूट कर फिर नया विकिरण कैसे जारी हो जाता है? प्रो० प्लांक के सिद्धान्त के आधार पर जो नई खोज हुई है उसके अनुसार 'रैडियेशन' में अगर 'क' को हम 'ख' का कारण कहें, तो 'रैडियेशन' के प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि 'क' के पीछे 'ख' आता तो है, परन्तु यह बात निश्चित नहीं है, 'क' के पीछे 'ग' भी आ सकता है, 'घ' भी आ सकता है—ज्यादा-से-ज्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि 'क' के पीछे 'ख' के आने की ज्यादा सम्भावना है, 'प्रायियकता' (Probability) है, 'अनिवार्यता' (Inevitability) नहीं है। इस दृष्टि से अगर 'क' के पीछे 'ख' का आना अनिवार्य या अटूट नहीं है, तो कारण-कार्य का नियम उतना अटूट नहीं रहता जितना इसे समझा जाता है। इसी दृष्टि से आइन्स्टीन (1879-1955) आदि का मत है कि प्लैन्क के क्वान्टम के सिद्धान्त ने रैडियेशन (विकिरण) के प्रयोगों द्वारा कारण-कार्य के सिद्धान्त में कुछ बाधा उपस्थित कर दी है, जिसे हम निश्चित समझें

बैठे थे उसमें अनिश्चितता का अंश डाल दिया है। तभी हमने कहा कि 'क्वान्टम के सिद्धान्त' पर आधारित 'रेडियेशन' के सम्बन्ध में हाइजनबर्ग की यह खोज कारण-कार्य के प्राचीन-सिद्धान्त पर गहरा प्रहार करती है जिसने वैज्ञानिकों को यह सोचने पर विवश किया है कि भौतिक-जगत् में कहीं-न-कहीं कारण-कार्य का यान्त्रिक-नियम टूट जाता है, टूट जाता है इसलिए भौतिक-जगत् की व्यवस्था में किसी-न-किसी रूप में स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति (Free Will) को मान लेना ही उचित है। इस सम्बन्ध में भौतिक-विज्ञान के महा-विद्वान् सर जेम्स जीन्स 'The New World of Modern Physics' में लिखते हैं : "Just because we have to speak in terms of probabilities, we cannot predict with certainty which state will follow which; this is a matter which lies on the knees of gods—whatever gods there be." अर्थात्, कारण-कार्य के नियम के स्थान पर अनिश्चितता के सिद्धान्त के कारण हम नहीं कह सकते कि किस कारण के पीछे कौन-सा कार्य अवश्यम्भावी रूप में आयेगा। यह बात शायद परमात्मा के ही हाथ में हो, भले ही वह किसी भी तरह का परमात्मा हो। 'कारण-कार्य' तथा 'अनिश्चितता' के पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय में सर जेम्स जीन्स 'Modern Scientific Thought' के पृष्ठ 93 पर लिखते हैं : "a sequence of events which follows the laws of probability instead of the law of causation"—अर्थात्, घटना-चक्र ऐसा भी चलता है जिसमें कारण-कार्य के नियम की जगह अनिश्चितता भी दीख पड़ती है। कारण-कार्य के नियम के टूटने का यह मतलब नहीं कि यह नियम सर्वथा भंग हो जाता है, इसका इतना ही मतलब है कि जिनको हम कारण तथा कार्य समझे बैठे थे उन दो के बीच कोई ऐसा कारण आ बैठता है, जो हमारे माने हुए कारण से भिन्न हो सकता है, अचेतन कारण की जगह चेतन कारण हो सकता है।

विकासवाद में भी यह समस्या है कि अगर जीवन का प्रारम्भ अमीबा से था, तो इतनी सहस्रों, लाखों योनियाँ कैसे बन गईं? कुछ हद तक तो विकासवादी यह समाधान देने का प्रयत्न करते हैं कि प्राणी पर्यावरण के अनुसार अपने को बदलता रहता है, परन्तु उनके सामने जब यह समस्या आ खड़ी होती है कि विकास में जमीन-आसमान की-सी बदलाहट कैसे हो जाती है तो वे कहने लगते हैं कि कभी-कभी यह परिवर्तन एक योनि से दूसरी योनि में एकाएक हो जाता है, अकारण हो जाता है। इसे वे 'उत्परिवर्तन-परिवर्तन' या 'असातत्य-परिवर्तन' (Mutation or Discontinuous variation) का नाम देते हैं। 'निरन्तर-परिवर्तन' (Continous variation) का अभिप्राय तो यह है कि वह धीरे-धीरे लगातार होता गया, कुछ इस सन्तति में हुआ, कुछ अगली में हुआ,

होता-होता युगान्तर में बहुत बढ़ गया; 'उत्परिवर्तन' योनियों में उस परिवर्तन का नाम है, जो एकदम ऊर्ध्वगामी हो जाता है, कोई क्रम नहीं रहता, कारण-कार्य का सम्बन्ध टूट जाता है, आकस्मिक हो जाता है। विकासवादियों में से कुछ का कहना है कि जिस कोस्मिक-रेडियेशन (Cosmic radiation) का हमने ऊपर ज़िक्र किया उसी के कारण वन्दर के रज-वीर्य—'जीव-द्रव्य'—(Germ-plasm)—में ऐसा आकस्मिक आणविक-उत्परिवर्तन हो गया जिससे वन्दर से अकस्मात् मनुष्य बन गया। हमें वन्दर से मनुष्य तो नहीं बनाना, सिर्फ़ इतना स्पष्ट करना है कि विकासवाद के अनुसार भी भौतिक, जड़-जगत् की तरह प्राणी-जगत् में भी ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ कारण तथा कार्य के बीच में कोई अन्य शक्ति बैठी प्रतीत होती है जो भौतिक न होकर अभौतिक है, अभौतिक है तो स्पष्ट है कि जड़ न होकर चेतन है, जो कारण-कार्य के जड़, अन्धे नियम को तोड़ देती है।

(ख) **विज्ञान की इस नवीन-खोज का 'कर्म' के सिद्धान्त पर क्या प्रभाव है**—विज्ञान के जिस 'क्वान्टम-सिद्धान्त' तथा 'रेडियेशन' का हमने उल्लेख किया उसका यह तो अभिप्राय नहीं है कि कारण-कार्य का नियम काम ही नहीं करता, उसका इतना ही अभिप्राय है कि जिस प्रकार हम प्रकृति को यन्त्र मानने लगते हैं, शरीर को भी यन्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वह ग़लत धारणा है। यन्त्र तो एक ही दिशा में चलेगा, उसकी गति अविरुद्ध-गति होगी, चलता-ही-चला जायगा, रुकेगा नहीं। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'First Principles' में लिखा है कि प्रकृति के विकास के बुनियादी-नियमों में एक नियम है—'गति की निरन्तरता' (Law of Continuity of Motion)। जड़-प्रकृति में अपनी गति होगी तो निरन्तर रहेगी; रहे भी, न भी रहे—यह नहीं चलेगा। विज्ञान की नवीन-खोज यह है कि जड़-सृष्टि में कारण-कार्य का नियम भी है, कारण तथा कार्य के बीच में व्यवधान भी पड़ जाता है। अगर सृष्टि सिर्फ़ यन्त्र होती, तो यह व्यवधान नहीं पड़ सकता था। इसी प्रकार प्राणी-जगत् में मनुष्य को यन्त्र समझने से काम नहीं चलता। जड़-सृष्टि में कारण-कार्य के नियम के कारण—'अवश्यंभाविता'—'नियति' (Determinism) है—यह मानना पड़ेगा, कारण-कार्य का सूत्र टूट भी जाता है—इससे 'स्वतन्त्रता' (Freedom) भी माननी पड़ेगी भले ही इस स्वतन्त्रता का कारण परमात्म-शक्ति हो; ठीक इसी तरह मानव-जगत् में कर्म का सिद्धान्त कारण-कार्य का प्रतिविम्व है इसलिए मानव में 'भाग्यवाद' (Fatalism) मानना पड़ेगा, साथ ही मानव-जगत् में कारण-कार्य का सूत्र टूट भी जाता है, मनुष्य चाहे तो स्वतन्त्र रूप में भी कार्य कर सकता है, इसलिए 'पुरुषार्थवाद' (Free-willism) भी मानना पड़ेगा, भले ही इस स्वतन्त्रता का कारण आत्म-शक्ति हो।

4. भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद का समन्वय

(क) भाग्यवाद तथा कारण-कार्य का नियम—प्लेंक के क्वान्टम के तथा हाइज़नवर्ग के रेडियेशन के सिद्धान्त के वावजूद वैज्ञानिक-जगत् यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि कारण-कार्य का नियम खण्डित हो गया है। उनके कहने का अर्थ इतना ही है कि जैसे कभी यह समझा जाता था कि सृष्टि का चक्र देवी-देवताओं की इच्छा पर चल रहा है, खोज-वीन के पश्चात् पता चला कि देवी-देवताओं की इच्छा पर नहीं, कारण-कार्य के नियम के अधीन सव-कुछ है, वैसे ही कारण-कार्य का नियम जो खण्डित होता-सा प्रतीत होता है वह हमारे ज्ञान के सीमित होने के कारण है। ज्यों-ज्यों विज्ञान आगे वढ़ेगा कारण-कार्य के नियम का अखण्डित होना अवश्य सिद्ध होगा। रेडियेशन की वात को छोड़ दिया जाय, जो सृष्टि हम सव के सामने दीखती है उसमें कारण-कार्य का नियम अखण्ड तथा अवश्यंभावी दीखता है, कारण उपस्थित होने पर कार्य होता-ही-होता है, न हो तो संसार का व्यवहार चल ही नहीं सकता। अगर आम की गुठली वोने पर कीकर के पेड़ के उग आने की सम्भावना हो तो आम कौन वोयेगा—यही 'अवश्यंभाविता' (Determinism) है। जड़-सृष्टि में चल रहे इस भौतिकवादी नियम को आधार वना कर अध्यात्मवादी का कथन है कि यही कारण-कार्य का नियम चेतन-सृष्टि में चल रहा है, कर्म करोगे तो उसका फल अवश्य मिलेगा, अच्छा कर्म करोगे तो अच्छा फल, वुरा कर्म करोगे तो वुरा फल—**'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा'**—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'**—यह जैसे जड़-सृष्टि का नियम है वैसे चेतन-सृष्टि का भी नियम है, जड़ में इसे 'कारण-कार्य' का नियम, चेतन में 'कर्म' का नियम कह देते हैं, जड़ में इसे 'अवश्यंभाविता' कह देते हैं, चेतन में इसे 'भाग्यवाद' कह देते हैं। इस दृष्टि से हमारा जीवन हमारे हाथ में नहीं, हमारे भाग्य के हाथ में है—**'यल्लिखितं विधिना ललाट पटले तन्मार्जितुं कः क्षमः'**—विधि ने, भाग्य में जो लिख दिया उसे भोगे विना कोई गति नहीं।

(ख) पुरुषार्थवाद तथा कारण-कार्य का नियम—अगर कारण-कार्य का नियम अटल है, तो कर्म का नियम भी अटल होना चाहिए, 'कर्म' के वन्धन से वच निकलने का कोई रास्ता नहीं होना चाहिए। तव तो जो-कुछ हो रहा है—ठीक हो, ग़लत हो—ऐसा होना ही है, कुछ टल नहीं सकता, हमारे हाथ में कुछ नहीं है। इसी को आम वोल-चाल की भापा में 'कर्मों का लेखा', 'प्रारब्ध', 'भाग्य', 'दैव', 'माथे की लकीर' कहा जाता है। इस सिद्धान्त को मानने का परिणाम वड़ा भयंकर है। हमें हाथ-पर-हाथ रख कर वैठे रहना होगा, अपने को होनी पर छोड़ देना होगा। आत्मा की स्वतन्त्रता जिसके लिए हम क्षण-क्षण

तरसते हैं, जिसके लिए जातियाँ और देश सदियों तक जीवन-मरण के युद्ध में जूझते रहते हैं—वह स्वतन्त्रता एक मरु-मरीचिका की तरह कभी हाथ में न आने वाली वस्तु हो जायगी। पुरुषार्थ को परास्त करने के लिए उसके सामने भाग्य एक लम्बा-चौड़ा लेखा लेकर आ खड़ा होगा। इस भयंकर स्थिति का क्या समाधान है ?

इसका समाधान यह है कि पहले तो जैसा पहले दिखलाया जा चुका है विज्ञान की नवीन-खोज के अनुसार यह बात ही ग़लत सिद्ध हो रही है कि कारण-कार्य का नियम अटल है, परन्तु अगर व्यवहार में उसे अटल ही पाया गया है, तो भी जड़-सृष्टि के 'कारण-कार्य' के नियम तथा चेतन-सृष्टि के 'कर्म' के नियम में समानता के बावजूद असमानता भी है। 'कारण-कार्य' का नियम भौतिक-सृष्टि का नियम है, आग-पानी-हवा का नियम है, 'कर्म' का नियम उस सृष्टि का नियम है जहाँ 'चेतना' नाम की पाँच तत्त्वों से भिन्न एक सत्ता काम करती दिखलाई पड़ती है। भौतिक-जगत् कारण-कार्य के विश्वव्यापी महान् नियम के अधीन है, इधर-से-उधर नहीं हो सकता, चेतन-जगत् में 'चेतना' (Consciousness) नाम की एक स्वतन्त्र-सत्ता काम करने लगती है। इस 'चेतना' की अनुभूति हर-किसी को होती है। इस में सन्देह नहीं कि मैं चारों तरफ़ से बँधा हुआ हूँ, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इन बन्धनों से मुक्त भी हो सकता हूँ। कौन नहीं अनुभव करता कि ये बन्धन मेरे स्वाभाविक-बन्धन नहीं हैं। जब हम किसी रोगी को देखते हैं, तब पूछते हैं—'तुम रोगी क्यों हो, तुम्हें क्या हो गया ?' स्वस्थ-व्यक्ति को देख कर तो कोई नहीं पूछता—'तुम स्वस्थ क्यों हो, तुम्हें क्या हो गया ?' अस्वस्थ-व्यक्ति हर समय स्वस्थ बनने का प्रयत्न करता ही रहता है, भले ही स्वास्थ्य के पीछे भागता-भागता वह मर ही जाय। बन्धनों को तोड़ने के लिए, रुग्णता से मुक्त होने के लिए, दुःखों की उलझनों को काट कर सुख के लिए 'चेतना' की यह भाग-दौड़ क्या सिद्ध करती है ? क्या यह यह सिद्ध करती है कि हम बन्धनों से निकल ही नहीं सकते, या यह सिद्ध करती है कि बन्धनों से मुक्त होने के लिए ही हम पैदा हुए हैं ? हर प्राणी बन्धनों को तोड़ने के लिए हर समय झटके दिया करता है—वही झटके जिनका हम रेडियेशन के प्रकरण में इशारा कर आये हैं—स्वतन्त्र होना चाहता है, बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, बंधे रहना नहीं चाहता, बन्धनों को देखकर जिस-किसी उपाय से हो—सफल हो, असफल हो—उन्हें काटा करता है। इससे क्या यह पता नहीं चलता कि बंधनों में बंधे रहना नहीं, कारण-कार्य की रस्सियों में जकड़े रहना नहीं, इस उलझन में से निकल जाना मनुष्य का स्वभाव है। पानी गर्म कर दें तो पड़े-पड़े वह ठण्डा हो जाता है। क्यों हो जाता है ? क्योंकि पानी का स्वभाव ही शीत है। महान्-से-

महान् दुःख में पड़ा व्यक्ति भी, स्त्री-पुत्र के वियोग में पागल हो जाने वाला भी कुछ देर बाद फिर हंसने-खेलने लगता है। ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि 'आत्मा'—चेतना—सदा बंधन से मुक्त होने की दिशा में जा रही है, वह बंध नहीं रही, मुक्त हो रही है—धीरे-धीरे, परन्तु कितने ही धीरे हो—यह कर्मों का अनन्तकाल का रास्ता उसे मोक्ष की तरफ़, सच्चिदानन्द की तरफ़ ले जा रहा है। मनुष्य में ही नहीं, पशु-पक्षी तक में बन्धन से मुक्त होने की एक अमिट भावना, अमिट चाह है। आग-पानी-हवा में, भौतिक-जगत् के किसी तत्त्व में तो ऐसा नहीं। वे तो कारण-कार्य के नियम से ऐसे जकड़े हुए हैं कि करोड़ों वर्षों से इधर-से-उधर नहीं हिले, उनकी विशेषता ही उनका कारण-कार्य के नियम से बंधे रहना है। परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग ? ये जब से सृष्टि में आये तभी से उस अनन्त सच्चिदानन्द की तरफ़ मुँह उठाये आगे-ही-आगे बढ़े चले जा रहे हैं, उसकी खोज कर रहे हैं, हर बन्धन से विद्रोह कर रहे हैं, इनके गले में कर्मों के बड़े-बड़े मज़बूत रस्से पड़े हैं, परन्तु उन रस्सों को तोड़ने के लिए ये लगातार झटके-पर-झटके दिए जाते हैं, इस सबका कारण क्या है ? इस सबका कारण यही है कि यद्यपि 'चेतना' बन्धन में आ पड़ी है, तो भी इसका स्वभाव बन्धन में पड़े रहना नहीं है। 'कारण-कार्य' की थपेड़ खाकर आत्मा बन्धन में आ पड़ा है, 'कर्म' के चाकू से उन बन्धनों को काटने के लिए, 'कर्म' की अंगुली से कारण-कार्य की गाँठ को खोल कर स्वतन्त्र होने के लिए, काँटे-से-काँटे को निकालने के लिए ही उसे यह मानव-देह मिला है।

'कारण-कार्य' तथा 'कर्म' के नियम में यही भेद है। 'कर्म'—इसमें सन्देह नहीं 'कारण-कार्य' का ही नियम है, परन्तु इन दोनों में भेद यह है कि कारण-कार्य, जड़-जगत् का, 'कर्म' चेतन-जगत् का नियम है; 'कारण-कार्य' अन्धा नियम है, 'कर्म' सुजाखा नियम है; 'कारण-कार्य' प्रकृति का नियम है, 'कर्म' आत्मा का—चेतना का— नियम है; प्रकृति का स्वभाव ही कारण-कार्य के अटल नियम में जकड़े रहने का है, आत्मा का स्वभाव ही बन्धन से निकलने का, कर्मों की भारी-भारी बेड़ियों और हथकड़ियों को काट देने का है। अगर आत्मा—चेतना—एक स्वतन्त्र तत्त्व न होता, अगर यह पाँच महाभूतों की ही उपज होता, तब प्रकृति की तरह यह भी कारण-कार्य की बेड़ियों में जकड़ा रहता, तब जो हो रहा है वह अवश्यंभावी होता। आत्मा कर्मों से बंधा है—यह बात ठीक है, परन्तु यह बात भी उतनी ही ठीक है कि इसमें कर्मों को झटका देकर स्वतन्त्र काम करने की भी शक्ति है। जैसे आत्मा का बन्धन में बंधा होना सबके अनुभव की बात है, वैसे ही आत्मा का स्वतन्त्र-कर्तृत्व भी सबके अनुभव की बात है—इसे युक्ति से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। अपने को कर्म करने में स्वतन्त्र अनुभव करना ही 'पुरुषार्थवाद' है।

हमने कहा कि हम बंधे हैं परन्तु बन्धन काट सकते हैं, उलझे हैं परन्तु उलझन में से निकल सकते हैं, कर्म के चक्र में आ फंसे हैं परन्तु इस चक्र में से बाहर निकल सकते हैं, हम परतन्त्र हैं, कर्म के अधीन हैं, परन्तु स्वतन्त्र भी हैं, कर्म के स्वामी भी हैं, हम भाग्य के शिकार हैं परन्तु हमारे स्वभाव में पुरुषार्थ का पुट हर समय रहना भी है। पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त की सत्यता के सम्बन्ध में कर्म के बन्धन में से निकलने की तड़पन का होना—यह एक प्रबल युक्ति है। इसके सम्बन्ध में एक दूसरी युक्ति भी है। जो लोग भाग्यवाद की बात करते हैं उनका कहना है कि हमारे इस जन्म में जो-कुछ हो रहा है वह पिछले जन्म का परिणाम है, हम इस जन्म में स्वतन्त्र नहीं हैं। अगर यह बात ठीक हो, तो चलिये पिछले जन्म में चले जाते हैं, वहाँ हम फिर पूछते हैं कि उस जन्म में जो-कुछ दीखता है वह उसी जन्म का फल है या वह उससे पिछले जन्म का फल है। अगर कहा जाय कि वह तो उसी जन्म के कर्म का फल है, तो उस जन्म में पुरुषार्थ सिद्ध हो गया, अगर कहा जाय कि वह फल उससे पिछले जन्म के कर्मों से बंधा है तब अनवस्था दोष आ जाता है, हमें पीछे-पीछे ही जाते रहना पड़ेगा, अन्त में हम वहाँ पहुँच जाएँगे जहाँ से जन्म का प्रारम्भ हुआ। तब तो सब जन्मों में सिर्फ़ एक ही जन्म का फल मिल रहा है, जो असम्भव है। इस दृष्टि से भी आत्मा के स्वतन्त्र कर्म करने—'स्वतन्त्रः कर्त्ता'—के सिद्धान्त को मानना पड़ता है।

(ग) भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद का समन्वय—विलियम जेम्स (1842-1910) अमरीका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हुए हैं। उन्होंने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'अर्थ-क्रियावाद' (Pragmatism) कहा जाता है। उनका कहना यह था कि किसी सिद्धान्त की सत्यता या उपयोगिता को परखने के लिए यह देखना जरूरी है कि वह क्रियात्मक रूप में जीवन को कैसे प्रभावित करता है। अगर उस सिद्धान्त को स्वीकार करने से जीवन को क्रियात्मक लाभ होता है, तो वह स्वीकार्य होना चाहिये, अगर नहीं होता, तो वह कैसा ही रुचिकर क्यों न लगे, बेकार है। हमारे विचार में किसी सिद्धान्त की परख के लिये यह बहुत उपयोगी माप-दण्ड है। भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद की हमारे क्रियात्मक-जीवन के सम्बन्ध में परख की जाय, तो दोनों सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। अलग-अलग से इन दोनों से परेशानियाँ उठ खड़ी होती हैं, दोनों पर समन्वय रूप में विचार करें, तो एक की परेशानी दूसरे से दूर हो जाती है। जीवन में हम देखते हैं कि बहुत अधिक बातों में हम पराधीन हैं, अनेक बातें हमारे बस की नहीं, किसी बात में हम जी-तोड़ प्रयत्न करते हैं परन्तु असफल रह जाते हैं, कभी ऐसा भी होता है कि हम प्रयत्न बिल्कुल नहीं करते परन्तु फल अनायास हमारी झोली में आ टपकता है—यह एक तस्वीर है। इसके

विपरीत दूसरी तस्वीर यह है हमारे मार्ग में भीषण बाधाएँ आ खड़ी होती हैं, हर सम्भव परिस्थितियों में हमारी पराजय निश्चित है, परन्तु हम डटे रहते हैं, प्रयत्न में शिथिलता नहीं आने देते, और अन्त में हम सब बाधाओं को लांघ जाते हैं। वैदिक-विचारधारा यथार्थवादी (Realistic) विचारधारा है—जो हमारे अनुभव में आता है वही ठीक है, उसको वैसा ही मान लेने से जीवन की समस्या हल हो जाती है। जीवन में भाग्य भी दीखता है, पुरुषार्थ भी दीखता है, इसलिये यही मान लेना उपयुक्त है कि जीवन में दोनों का स्थान है, दोनों का समन्वय है। किसी बात में कर्मों के बन्धनों से विवश होकर हम अपने को उनसे जकड़ा हुआ अनुभव करते हैं, किसी बात में अपने पुरुषार्थ से हम उस जकड़न को काट डालने में भी अपने को समर्थ पाते हैं। तो, प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या कर्म के बन्धनों को काटा जा सकता है?

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले कि कर्म के बन्धनों को काटा कैसे जा सकता है, यह विचार करना आवश्यक है कि कर्म का बन्धन पड़ता कैसे है?

5. कर्म का बन्धन कैसे पड़ता है?

(क) इस जन्म के कर्म से बन्धन पड़ना—कर्म के बन्धन पड़ने का प्रत्यक्ष कारण इस जन्म का कर्म है। एक व्यक्ति ने चोरी की, दूसरे ने किसी की हत्या कर दी, तीसरे ने किसी की स्त्री का अपहरण कर लिया। ये सब इस जन्म के कर्म हैं। कर्म एक कारण है, इसका फल मिलना चाहिये—इस जन्म में मिले, नहीं मिला तो अगले जन्म में मिले। जबतक इस कर्म का फल नहीं मिलता तबतक यह कर्म तुम्हारे जीवन के बही-खाते में दर्ज रहेगा, जब इसका फल मिल जायेगा तभी बही-खाते में से इसे काटा जा सकेगा। इस जन्म में पहली बार तुमने जो कर्म किया उसे 'पुरुषार्थ' की श्रेणी में गिना जायगा, तुमने पहली बार वह कर्म किया—चोरी की, कत्ल किया, पर-स्त्री का अपहरण किया। इस जन्म में इन कर्मों को पहली बार करने के कारण कर्मों की रस्सी तुम्हारे गले में पड़ गई जिसका इसी जन्म में या अगले जन्म में तुम्हें फल भोगना पड़ेगा।

(ख) पिछले जन्म के कर्म से बन्धन पड़ना—'भाग्यवादी' यह कह सकता है कि तुमने जिस व्यक्ति की चोरी की उसने पिछले जन्म में तुम्हारी चोरी की थी, जिस व्यक्ति का तुमने कत्ल किया पिछले जन्म में उसने तुम्हारा कत्ल किया था, जिस व्यक्ति की स्त्री का तुमने अपहरण किया पिछले जन्म में उसने तुम्हारी स्त्री का अपहरण किया था। दूसरे शब्दों में, इस जन्म के ये कर्म नवीन-कर्म नहीं हैं, पिछले जन्मों के कर्मों के फल हैं, इनका फन्दा तुम्हारे गले में इस जन्म में नहीं पड़ा, पिछले जन्म में पड़ा था।

इस जन्म तथा पिछले अनेक जन्मों के कर्मों का फल सही-सही देने के लिये कोई दफ्तर होना चाहिये ताकि फल देने में कोई गलती न हो—इसकी क्या व्यवस्था है ?

6. लाखों-करोड़ों कर्मों का लेखा-जोखा कैसे रहता है ?

(क) कर्मों का लेखा-जोखा संस्कारों के रूप में रहता है—कितने ही कर्म हम इस जन्म में करते हैं, कितने ही पिछले जन्मों में किये होते हैं, इनका हिसाब कैसे रह सकता है ? जिनका तत्काल फल मिल गया उनका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु इतने जन्मों के इतने कर्म—उन सबका फल थोड़े ही मिल गया होता है, उनका हिसाब कैसे होता है ? कर्मों के सम्बन्ध में धारणा है—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'—जबतक कर्म का फल नहीं मिला, अच्छा या बुरा, तबतक वह बना रहता है, परन्तु यह व्यवस्था कैसे होती है कि यह कर्म रहा, यह फल रहा, इतने कर्मों की भीड़ में कोई कर्म फलने से छूट भी सकता है।

परन्तु नहीं, कर्मों के फल का यह अभिप्राय नहीं है कि एक-एक कर्म को चुन कर उसका अलग-अलग फल निर्धारित किया जाता है। जो-जो कर्म हम करते हैं उनके संस्कार बनते जाते हैं, ये संस्कार प्रत्येक कर्म के तात्कालिक फल हैं। उदाहरणार्थ, फ़र्श पर पानी लुढ़क गया। जिस मार्ग पर पानी लुढ़का वहाँ थोड़ी-थोड़ी धूल थी, वहाँ पर पानी ने रास्ता बना लिया। धूप पड़ने पर पानी तो सूख गया परन्तु जब दोबारा वहाँ पानी पड़ा तो वह उसी रास्ते पर बहा, इसलिए वहाँ बहा क्योंकि वहाँ संस्कार पड़ चुका था, पानी के बहने की लकीर पड़ चुकी थी। प्रत्येक वस्तु कम-से-कम बाधा—न्यूनतम-प्रतिरोध—(Least resistance) के मार्ग को चुनती है, इसलिये जिस मार्ग पर एक बार कर्म चल चुका हो वह मार्ग उसके लिये बाधा-रहित हो जाता है, अगली बार उस मार्ग से चलना सहज हो जाता है, होते-होते वह मार्ग ही स्वाभाविक हो जाता है। यह स्वभाव क्या है ? स्वभाव प्रत्येक कर्म का जोड़ है। इस जोड़ का क्या नतीजा निकलता है ? उदाहरणार्थ, पहली बार चोर ने डरते-डरते चोरी की थी, चोरी के मार्ग पर पहली बार चला था इसलिये भय तो लगा था परन्तु चोरी कर ली थी, इसलिये चोरी करने का संस्कार पड़ गया था, दूसरी बार भय कम लगा, तीसरी बार दिलेरी से चोरी की, चौथी बार पकड़ा गया और संस्कारों के पड़ते-पड़ते नतीजा यह हुआ कि जेल की काल-कोठरी में जा पहुँचा। पहली बार चोरी कर चुकने के बाद न पकड़े जाने पर यह समझना कि चोरी कर ली, फल से बच गये, ग़लत धारणा है, क्योंकि अन्त में जाकर जो काल-कोठरी में जा बैठे वह शुरू में की गई चोरी का ही संस्कार-पर-संस्कार पड़ते रहने पर जो जोड़ जमा हो गया उसी का यह प्रत्यक्ष फल हुआ।

'कर्म' क्या करते हैं ? कर्म 'संस्कार' डाल देते हैं। सारा वृक्ष, उसकी जड़, तना, टहनियाँ, पत्ते, फूल, फल सब बीज में सिमटे रहते हैं, सारे कर्म—एक-एक कर्म—'संस्कार' रूपी बीज में निहित रहते हैं। उदाहरणार्थ 100 पैसे एक रुपये में हैं, 100 रुपये एक नोट में, 100 नोट बैंक के एक ड्राफ्ट में बैठ जाते हैं। परमात्मा की व्यवस्था यह नहीं है कि एक हजार रुपयों की जगह उतने पैसों का ढेर थैली में भर कर रखा जाय, व्यवस्था यह है कि ज्यों-ज्यों राशि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसका स्थूल की जगह सूक्ष्म रूप सँभाल लिया जाता है। हाथी कितना बड़ा जानवर है, उसका फ़ोटो खींच लिया जाय, तो छोटे-से चित्र में उसकी नस-नाड़ी तक समा जाती है। एक कटोरी में केसर रख दिया जाय, तो केसर हटा लेने पर भी उस कटोरी में केसर की वास समाये रहती है। यही संस्कारों का हाल है। जो-जो कर्म हम करते हैं उनके संस्कार बनते जाते हैं, इन संस्कारों का जोड़ लगता रहता है, और ठीक अवसर पर टीक-से उनका भंडाफोड़ हो जाता है, उस समय संस्कारों के रूप में ये संचित-कर्म एकदम भोगे जाते हैं, इनका एक-एक का फल मिल जाता है, कोई कर्म बिना फल मिले बच कर निकल नहीं सकता। जो लोग पुनर्जन्म को मानते हैं उनके लिये तो यह समाधान जंच ही जाता है, जो नहीं भी मानते उनके लिये भी कर्म के संस्कारों का इस जीवन में, वर्तमान समय में मस्तिष्क में संस्कार पड़ते जाना उनकी शंकाओं का उत्तर दे देता है क्योंकि संचित-संस्कार ही अन्त में फलते हैं।

(ख) ये संस्कार 'सूक्ष्म-शरीर' में रहते हैं—भारतीय-दर्शन ने इस स्थूल-शरीर के भीतर एक सूक्ष्म-शरीर को माना है। आत्मा अभौतिक है, उसका भौतिक स्थूल-शरीर से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। माध्यम के तौर पर सूक्ष्म-शरीर बीच में आता है। यह इतना सूक्ष्म है कि अभौतिक के समान है, और क्योंकि यह प्रकृति के सूक्ष्म-तत्वों से बना है इसलिए यह भौतिक के समान भी है। अभौतिक होने के कारण इसका आत्मा से सम्बन्ध है, भौतिक होने के कारण इसका स्थूल-शरीर से भी सम्बन्ध है। स्थूल-शरीर के साथ इसका सम्बन्ध नाभि-प्रदेश से होता है। तभी जब अचानक कोई दुर्घटना होने लगती है तब पहले एकदम नाभि-स्थल पर घबराहट महसूस होती है। योग में जो सात चक्रों का वर्णन आता है वे चक्र सूक्ष्म-शरीर तथा स्थूल-शरीर के सम्पर्क के स्थल हैं। सूक्ष्म-शरीर आत्मा का शरीर को इस्तेमाल करने का साधन है। जैसे मोटर को चलाने के लिए पेट्रोल की टंकी को चाबी दी जाती है, वैसे शरीर को चलाने के लिए आत्मा सूक्ष्म-शरीर को कंपन (Vibrations) देता है। सूक्ष्म-शरीर की रचना 'महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्'—सांख्यकारिका की इस उक्ति के अनुसार 13 करणों तथा 5 सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्रों से हुई है—ऐसा सांख्य-शास्त्र (ईश्वर-कृष्णाकृत सांख्यकारिका, 40) में कहा है। 13 करण अर्थात्, साधन हैं—5 सूक्ष्म

ज्ञानेन्द्रियाँ; 5 सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ; 'अहंकार' 'मन', तथा 'बुद्धि'—ये तीन। 'करण' का अर्थ है—'साधन', 'उपकरण'। इन 13 करणों के अलावा 5 सूक्ष्मभूत—इस प्रकार इन 18 तत्त्वों (13+5) से सूक्ष्म-शरीर बना है। इन 18 तत्त्वों में से 5 सूक्ष्मभूत आश्रयरूप हैं, 13 करण आश्रित हैं क्योंकि महाभूतों को आधार बना कर ही ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि काम कर सकती हैं। सूक्ष्म-शरीर जन्म के साथ आता है ; मृत्यु स्थूल-शरीर की होती है, सूक्ष्म-शरीर की नहीं। सूक्ष्म-शरीर सदा आत्मा के साथ बना रहता है, तबतक आत्मा के साथ बना रहता है जबतक मुक्ति नहीं हो जाती। हमारे विचार, हमारे अनुभव, हमारे संस्कार—इन सबका संगृहीत रूप, सिमिटा हुआ रूप, बीज रूप में, इस सूक्ष्म-शरीर में रहता है। कर्मों के फल की जो समस्या थी—यह समस्या कि एक-एक कर्म का फल कैसे मिलता है, ये कर्म जबतक उनका फल नहीं मिलता किस बही-खाते में लिखे पड़े रहते हैं, इस समस्या का उत्तर सूक्ष्म-शरीर है। बीज में वृक्ष की तरह इसी सूक्ष्म-शरीर में सब-कुछ समाया रहता है, और कर्मों के ढेर को संस्कारों की शक्ल में लेकर आत्मा का यह सेवक जन्म-जन्मान्तरों तक आत्मा के लिये इन्हें ढोये फिरता है।

सूक्ष्म-शरीर की सत्ता का शास्त्रों में जो प्रमाण मिलता है उसके अलावा यह सबके अनुभव में भी आता है। जब हम सो जाते हैं तब स्वप्न में बिना इस स्थूल-शरीर के हम देखते हैं, सुनते हैं, डरते हैं, भागते हैं। यह बिना आँख के देखने वाला, बिना कान के सुनने वाला, बिना पाँव के भागने वाला सूक्ष्म-शरीर ही तो है। जाग्रत-अवस्था में भी कभी-कभी आँख से देखते हुए भी हम नहीं देखते, कान से सुनते हुए भी हम नहीं सुनते—क्यों नहीं देखते जब आँख खुली है, क्यों नहीं सुनते जब कान खुले हैं। यह भी इसलिये क्योंकि सूक्ष्म-शरीर कहीं और लगा है। यह तो अनिच्छा-पूर्वक सूक्ष्म-शरीर का अन्यत्र लगना है, इच्छा-पूर्वक भी हम सूक्ष्म-शरीर का स्थूल-शरीर से सम्बन्ध तोड़ सकते हैं। उदाहरणार्थ, नाक के सामने फूल लाया जाय और हम सूंघने की इन्द्रिय का प्रतिरोध करके न सूंघें, कान के पास विषय लाया जाय और हम सुनने की इन्द्रिय का प्रतिरोध करके न सुनें, आँख के पास विषय लाया जाय और हम इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके आँख खुली रहने पर भी वस्तु को न देखें—ऐसा हो सकता है। योगी लोग सूक्ष्म-शरीर को स्थूल-शरीर से जुदा कर अन्यत्र जा सकते हैं। शंकराचार्य ने इस सूक्ष्म-शरीर से ही पर-काया-प्रवेश किया था। मर जाने पर आँखें वही रहती हैं, कान वही रहते हैं, सब इन्द्रियाँ स्थूल-शरीर-सहित वही-की-वही रहती हैं, परन्तु उनसे काम नहीं चलता क्योंकि आत्मा सूक्ष्म-शरीर सहित वहाँ से विदा हो चुका होता है। क्लोरोफ़ार्म देकर जब आदमी की चीरा-फाड़ी की जाती है तब सांस चलता है, हृदय धड़कता है, परन्तु जीवन बना रहता है क्योंकि मृत-समान होने पर भी उस शरीर में आत्मा सहित सूक्ष्म-शरीर बना रहता है।

7. स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर में भेद

वैसे तो हम तृतीय अध्याय में लिख आए हैं कि सांख्य मतानुसार 'सूक्ष्म-शरीर' और 'कारण-शरीर' एक ही है, परन्तु कुछ शास्त्रों में 'स्थूल-शरीर', 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'कारण-शरीर'—ये तीन शरीर अलग-अलग भी माने गये हैं। जो इन तीनों को अलग-अलग मानते हैं, वे इन तीनों का आपस में जो सम्बन्ध वतलाते हैं उसे निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं। कुम्हार मट्टी से अनेक प्रकार के वर्तन वनाता है—घड़ा, सुराही, सकोरा आदि। मट्टी इन सवका 'कारण-शरीर' है जो इन सव में व्यापक है, एक-समान है। इसके वाद कुम्हार के मस्तिष्क में इन सव वर्तनों के भिन्न-भिन्न नक्शे मौजूद होते हैं, भिन्न-भिन्न तस्वीरें होती हैं, भिन्न-भिन्न आकृतियां होती हैं। कुम्हार के मस्तिष्क में वर्तमान इन वर्तनों की भिन्न-भिन्न आकृतियां अदृश्य हैं, सूक्ष्म हैं, वे सव इन वर्तनों के 'सूक्ष्म-शरीर' हैं, जो व्यापक न होकर सीमित हैं, एक-समान न होकर एक-दूसरे से भिन्न हैं। तीसरी अवस्था तव आती है जव इन सूक्ष्म आकृतियों के अनुसार स्थूल पदार्थ वन जाते हैं, कुम्हार छोटे-वड़े, लाल-काले घड़े, सुराहियां, सकोरे वना डालता है। यह वर्तनों का 'स्थूल-शरीर' है। मट्टी 'कारण-शरीर' है, आकृतियां 'सूक्ष्म-शरीर' हैं, घड़ा, सुराही, सकोरे 'स्थूल-शरीर' हैं। 'कारण-शरीर' सवका एक है, 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' सवके भिन्न-भिन्न हैं; 'कारण-शरीर' तथा 'सूक्ष्म-शरीर' अदृश्य हैं, 'स्थूल-शरीर' दृश्य हैं। सूक्ष्म-शरीर को लिंग-शरीर तथा आतिवाहिक-शरीर भी कहते हैं—आतिवाहिक इसलिये क्योंकि यह आत्मा को जन्म-जन्मान्तर में वहन का ले जाने का कार्य करता है।

ठीक मट्टी के उदाहरण को सामने रख कर प्राणी के तीन शरीरों को भी समझा जा सकता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि ये तीनों शरीर भौतिक हैं, प्रकृति से वने हैं। संसार के जितने पदार्थ है वे सांख्य-शास्त्रीय परिभाषा में 'प्रकृति' नहीं कहलाते, 'विकृति' कहलाते हैं—'विकृति' इसलिए क्योंकि वे 'प्रकृति' के 'विकार' हैं। इन सव 'विकारों'—'विकृति'—का मूल-कारण 'प्रकृति' है जो व्यापक है, अदृश्य है। जैसे घड़े, सुराही, सकोरे आदि का 'कारण-शरीर' मट्टी है, वैसे ही प्राणी के 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' का 'कारण-शरीर' प्रकृति है। इस दृष्टि से सव प्राणियों के 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूल-शरीर' का यह व्यापक तथा अदृश्य सत्व, रज, तम की साम्यावस्था-स्वरूप—**'सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'**—'प्रकृति' ही कारण होने की वजह से 'कारण-शरीर' है। 'कारण-शरीर' से जो 'प्रकृति' से निर्मित होने के कारण सव प्राणियों का एक-समान है, 'सूक्ष्म-शरीर' का निर्माण होता है। यह 'सूक्ष्म-शरीर' सवका भिन्न-भिन्न है। सांख्य कारिका (कारिका, 40) के अनुसार 5 तन्मात्र (पृथ्वी, अप्,

पड़ गया। उसने डाकू से गिड़गिड़ा कर कहा कि मेरी धन-सम्पदा बेशक ले लो, परन्तु मेरे प्राण छोड़ दो। किन्तु, निर्दय डाकू ने उसकी प्रार्थना अनसुनी कर दी और धन-दौलत लूटने के साथ उसकी हत्या भी कर डाली। बहुत-सा धन और माल हाथ लग जाने के कारण अब उस डाकू ने डकैती करना छोड़ दिया, और वह एक धनी मनुष्य की भांति रहने लगा। उसके कोई सन्तान नहीं थी। बुढ़ापे में उसके यहां एक सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। वह बेटा वृद्ध पिता को प्राणों से भी अधिक प्रिय था। बुड्ढे ने इस बेटे को पालने-पोसने और लिखाने-पढ़ाने में बहुत धन व्यय किया। विवाह योग्य हो जाने पर उसने एक सुन्दरी कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। बुड्ढे की मानो सभी कामनाएँ पूर्ण हो गईं। उसके हृदय में आशा का फव्वारा फूटने लगा। इसके कुछ काल उपरान्त उस लड़के को एकाएक ऐसा रोग हो गया कि उसे खटिया पकड़नी पड़ी। पिता ने बहुत धन खर्च करके बड़े-बड़े प्रसिद्ध वैद्यों से उसकी चिकित्सा कराई और चतुर पण्डितों से पूजा-पाठ करा कर उसे बचाने के लिए भरसक यत्न किया, परन्तु उसका कोई भी उपाय सफल नहीं हुआ। धीरे-धीरे सभी ने उसके जीने की आशा छोड़ दी।

इसी बीच एक दिन रोगी को कुछ आराम-सा मालूम हुआ। प्रसन्नता से उसके पिता का मुख-मण्डल खिल उठा। वह बेटे के पलंग पर एक ओर जा बैठा। पुत्र ने संकेत से बताया कि मैं पिता से कुछ गुप्त बात करना चाहता हूँ। तब नौकर-चाकरों और वैद्यों को दूसरे कमरे में भेज दिया गया। एकान्त पा कर पुत्र ने पिता से कहा—"बाबू जी, आपने मुझे पहचाना भी?" पिता ने समझा, लड़का बेहोशी में बक रहा है। उसने उसे दिलासा देकर कहा, "बेटा, यह क्या कहते हो? भला मैं तुम्हें पहचानूँगा नहीं? तुम तो मेरे प्राण हो।"

बेटे ने कहा, "मैं यह नहीं पूछता। आपको उस दिन की याद है जिस दिन आपने अमुक पहाड़ी रास्ते में अमुक बनिए को जान से मार कर उसका सर्वस्व लूट लिया था?" बुड्ढे के सिर पर मानो गाज गिरी। उसने अचकचा कर सोचा कि उससे यह बात किसने कह दी। उसने पूछा—"यह सब क्या कहते हो? वैद्य को बुलाऊँ?"

बेटे ने कहा, "देखिए, मुझे अब समय नहीं है। मरने से पहले मैं अन्तिम बात कह देना चाहता हूँ। मैं वही बनिया हूँ जिसे आपने बुरी तरह से मार डाला था। मैं इस जन्म में आपका बेटा हूँ। मैं जब से जन्मा हूँ, तब से लेकर आज तक मेरे लिए जितना रुपया-पैसा खर्च किया गया है उसका हिसाब करने से आपको यह मालूम हो जाएगा कि उस बनिए का जितना धन आपने लूटा था उतना ही यह खर्च हुआ है। अब मैं जाता हूँ। उस रुपये का व्याज प्राप्त

करने के लिए मैं अपनी छोटी आयु की स्त्री को छोड़ जाता हूँ। इसका पालन आपको जीवन भर करना है।"

बस, बेटे की आँखें सदा के लिए बन्द हो गई।

कोई-कोई मनुष्य जन्म से ही अन्धा, लूला, लंगड़ा या पागल उत्पन्न होता है। इसका कारण बताते हुए श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त लिखते है—"कर्मतत्व का पता लगाने से मालूम होता है कि आत्मापराध-रूपी वृक्ष का ही यह विषमय फल है। जो पाप-प्रवृत्ति से, प्रवंचना से, प्राकृतिक विधि का उल्लंघन करते हैं, अथवा व्याधित, पीड़ित, आर्त्त, भीत या शरणागत पर अमानुषिक अत्याचार करते हैं, अगले जन्म में उनकी ऐसी ही दुर्दशा होती है। कर्म-देवता उन्हें ऐसे वंश में ले जाते हैं, उन्हें ऐसी कोख में पहुँचा देते हैं, ऐसे बीज से जन्म दिलाते हैं जहाँ ऐसी व्याधि उत्तराधिकार-सूत्र से सन्तान में संक्रमित हो सकती है। इसके फलस्वरूप वह जन्म से ही अन्धा, बहरा, लंगड़ा, जड़ या उन्मत्त प्रकृति का होता है और जन्म-भर उस पुराने पाप के निशान को लादे रहता है।"

9. कर्म के बन्धन से कैसे बचा जा सकता है ?

'भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद' के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हमने प्रश्न उठाया था कि क्या कर्म के बन्धन को काटा जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर का स्थल अब आया है।

(क) **हमारा अनुभव साक्षी है कि हम कर्म के बन्धनों को काटने के लिए स्वतन्त्र हैं**—हम कर्म के बन्धन में क्यों, कैसे और कब पड़ते हैं ? हमने किसी की कोई चीज चुरा ली, उसने हमें पकड़ लिया, उसे क्रोध आया, उसने हमें थप्पड़ मारा, हमने बदले में मारा, उसे और क्रोध आया, कर्म का चक्र चल पड़ा, चलता चला गया। प्रश्न यह है कि क्या हम कर्म के चक्र की इस 'अवश्यं-भाविता' (Determinism) को कहीं काट सकते थे या नहीं ? वैदिक-विचार-धारा यह है कि हम इसे शुरू में भी काट सकते थे, बीच में भी काट सकते थे, अन्त में भी काट सकते थे, जब चाहते इस चक्र में से निकल सकते थे क्योंकि हम ईंट-पत्थर नहीं हैं; प्रकृति-तत्त्व नहीं हैं, आत्म-तत्त्व हैं; स्वतन्त्रता आत्म-तत्त्व का जन्म-सिद्ध गुण है। यह चक्र चला कैसे ? हमने किसी की चीज़ चुराई थी। अगर हम लोभ में न फँसते, दूसरे की चीज़ न चुराते, तो यह चक्र कैसे चलता ? चुरा लेने पर जब उसने हमें मारा तब हम क्रोध में आकर प्रतिक्रिया न करते, अपने अपराध को स्वीकार कर लेते, तो यह चक्र कैसे चलता ? चलते-चलते किसी भी क्षण हम क्रोध को छोड़ सकते थे। इसका अर्थ यही है कि किसी भी क्षण हम कर्म की 'अवश्यंभाविता' में से निकल सकते थे, कर्म के पड़ जाने वाले बन्धन को काट सकते थे। यह कहना कि जिस समय हमने पहले-पहल चीज़

काफ़ूर हो जाता है, और कर्म का जो बन्धन क्रोध के वशीभूत होकर पड़ने वाला होना है वह नहीं पड़ता। प्रत्येक मानसिक-संवेग की यही अवस्था है। मानसिक-विकार के बादल जो कर्मों की घनघोर घटा हम पर फैला देते हैं आत्मा-तत्त्व पर तभी तक छाये रहते हैं जबतक हम बुद्धि के प्रकाश से उन्हें छिन्न-भिन्न नहीं कर देते। जहां बुद्धि की आँख से देखा, वहीं संवेग समाप्त हो जाता है। काम-क्रोध आदि में अन्धापन उनका सहचारी गुण है, और अन्धापन तभी तक रहता है जबतक हम बुद्धि द्वारा संवेग का विश्लेषण करने में नहीं लग जाते।

ऊपर गीता के जिन दो श्लोकों का हमने उल्लेख किया है वे बड़े मार्मिक हैं। इनमें 'कर्म' के विषय में जो मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है वह संसार की किसी भी अध्यात्मपरक मनोवैज्ञानिक पुस्तक में नहीं मिलता। इसमें वर्णित 'संग', 'काम', 'क्रोध', 'संमोह', 'स्मृति-विभ्रम', 'बुद्धिनाश' तथा 'प्रणाश'—मनुष्य के विनाश की इस क्रमिक-शृंखला को समझ लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कर्म का बन्धन' कैसे पड़ता है, और इस शृंखला को काट देने से 'कर्म का बन्धन' कैसे कट जाता है।

(क) **संग तथा काम (संगात् संजायते कामः)**—'संग' का अर्थ है किसी वस्तु या व्यक्ति के सम्पर्क में आना। हम रास्ते चलते किसी का मकान देखते हैं, पास से निकल गई किसी की मोटर गाड़ी को देखते हैं, किसी सुन्दर स्त्री को देखते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति को देखना उनके संपर्क में आना है—यही 'संग' है। 'संग' में आने से दो बातें हो सकती हैं। या तो हमने देखा और समाप्त हो गया, देख कर अपने भीतर कोई चाह उत्पन्न नहीं हुई, तब तो 'कर्म' की शृंखला वहीं कट गई, आगे नहीं बढ़ी। या, देखने पर हमारे भीतर भी उस वस्तु या उस व्यक्ति के प्रति कामना उत्पन्न हो गई। कैसा अच्छा मकान है—मेरा भी ऐसा हो, कैसी बहुमूल्य मोटर है—मेरे पास भी ऐसी हो, कैसी सुन्दर स्त्री है—मेरे पास भी ऐसी हो। 'कामना' का अर्थ सेक्स नहीं, इच्छा है, चाह है, वासना है। सेक्स तो चाह या इच्छा का एक रूप है। 'कामना' एक व्यापक शब्द है, 'सेक्स' उसका सीमित रूप है। कामना 'सेक्स' ही का आधार नहीं, हर इच्छा का, हर चाह का आधार 'कामना' है। गीता का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण यह है कि किसी वस्तु या व्यक्ति के संग में आकर जो दो प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं, उनमें एक प्रतिक्रिया है—देखना और निस्संग हो जाना, दूसरी प्रतिक्रिया है—देखना और उसके प्रति कामना, इच्छा, चाह उत्पन्न हो जाना, उसमें डूब जाना। निस्संग हो जाने से कर्म की शृंखला आगे नहीं चलती, देख कर संग हो जाने से, कामना उत्पन्न हो जाने से कर्म की शृंखला आगे चल देती है। इसी को गीता में कहा है—'**संगात् संजायते कामः**'।

संग होने पर—किसी सुन्दर मकान को देखने पर, किसी की बहुमूल्य मोटर गाड़ी को देख कर, किसी सुन्दर स्त्री को देख कर, उसके प्रति कामना उत्पन्न न हो, मनुष्य निस्संग बना रहे—यह कैसे हो सकता है ! अगर गहराई से देखा जाय, तो अपने-आप में सुन्दर-असुन्दर, बहुमूल्य-मूल्यहीन कोई वस्तु नहीं होती, हमारी कामना का पुट ही उसे सुन्दर या असुन्दर बना देता है, हमारी कामना का पुट ही उसे बहुमूल्य या मूल्यहीन बना देता है। जिसका मन काला हो उसे सब काले दिखलाई देते हैं। जिस कलाकार की चित्र-कला को हम ऊटपटांग रेखाएँ कह कर टाल देते हैं उसी को दूसरा व्यक्ति चित्र-कला का आदर्श घोषित करता है, जिस व्याख्याता के पीछे उसकी पार्टी के लोग पागल होकर फिरते हैं, उसके व्याख्यान को दूसरी पार्टी के लोग पागल का बकवास कहते है। सचाई यह है कि अपने-आप में न कोई वस्तु सुन्दर है, न असुन्दर है, न बहुमूल्यवान् है, न निकम्मी है—हमारी कामना से ही वह सुन्दर है या असुन्दर है, बहु-मूल्यवान् है, या निकम्मी है। हमारा उसके प्रति संग, हमारी उसके प्रति कामना ही उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करती है। हम उसमें प्राण-प्रतिष्ठा न करें, उसमें कामना—वासना—का जाग न डालें, तो कर्म की शृंखला वहीं टूट जाती है। क्योंकि हम उसमें जान डाल देते हैं इसलिए यह शृंखला मनुष्य के विनाश के लिए आगे-आगे चलती चली जाती है। यह शृंखला आगे कैसे चलती है ?

(ख) **काम तथा क्रोध (कामात्क्रोधोऽभिजायते)**—जब हम संग हो जाने के बाद किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति कामना करते हैं, तब क्या कामना का पूर्ण हो जाना अवश्यंभावी है ? जैसे संग होने के बाद हमारे सामने दो रास्ते खुले थे—निस्संग हो जाना, या कामनाग्रस्त हो जाना, वैसे ही कामना के रास्ते पर चल पड़ने के बाद भी हमारे सामने दो रास्ते आ जाते हैं। पहला रास्ता तो यह है कि हमने कामना की, और कामना पूर्ण हो गई। ऐसे व्यक्ति विरले होते हैं जिनकी कामना पूर्ण हो जाती है, परन्तु अगर कामना पूर्ण हो गई, तब भी कर्म की शृंखला टूट गई, आगे-आगे न बढ़ी। परन्तु कितने लोग हैं जिनकी कामना पूर्ण हो जाती है ? जिस कामना को हम करते हैं उसी को करने वाले हज़ारों नहीं, करोड़ों हैं। उनकी कामनाएँ हमारे रास्ते में रुकावट बनकर खड़ी हो जाती हैं। कामना के रास्ते पर चल पड़ने का यह दूसरा पक्ष है। कामना जगी और उसके सामने रुकावट आकर खड़ी हो गई। अधिकांश व्यक्तियों के जीवन की यही कहानी है। जब कामना के सामने रुकावट आ जाती है, तब क्रोध आ जाना स्वाभाविक है—'**कामात् क्रोधोऽभिजायते**'—कामना के बाद रुकावट आती है और रुकावट से क्रोध जग जाता है। जहाँ भी रुकावट आती है वहाँ क्रोध होता ही है। नदी का सरस प्रवाह शान्त गति से बहता चला जा रहा है, रास्ते में चट्टान आ गई, एकदम सरसता टूट जाती है, पानी चट्टान से

टकराता है, झाग उठने लगती है, जल का आक्रोश सुनाई देने लगता है। क्रोध में भी तो मनुष्य अनाप-सनाप बकने लगता है, मुंह से झाग भी निकलने लगती है। जैसे व्यक्ति के जीवन में कामना पूरी न होने से वह क्रुद्ध हो जाता है, वैसे समाज भी अपने आदर्शों को क्रियान्वित होता हुआ न देख कर रोष से भर जाता है, क्रांतियाँ हो जाती हैं, शाहन्शाहों के तख्ते पलट जाते हैं। क्रोध के बाद कर्म-शृंखला की तीसरी कड़ी आती है जिसे गीता ने 'संमोह' कहा है—'क्रोधात् भवति संमोहः'।

(ग) **क्रोध तथा संमोह (क्रोधात् भवति संमोहः)**—क्रोध जब बढ़-चढ़ जाता है, तब 'संमोह' पैदा हो जाता है। 'मोह' का अर्थ है—किसी वस्तु पर जम जाना, अटक जाना, उसे पकड़ कर बैठ जाना। 'मोह' जब उग्र हो जाता है तब उसी को 'संमोह' कहते हैं। क्रोध का अर्थ है कि जिस बात को हम चाहते हैं वह नहीं हो रही, इसलिये हमें गुस्सा आ जाता है। गुस्से में हम आगा-पीछा भूल जाते हैं, और अपनी बात को और जोर से पकड़ बैठते हैं। ठीक हो, ग़लत हो—हम अड़ जाते हैं। यह अड़ जाना, अपनी बात को पकड़ बैठना, कुछ भी हो जाय उसे न छोड़ना ही 'संमोह' है। 'संमोह' क्रोध के बाद आता है। हम किसी समाज के मंत्री, प्रधान बनना चाहते हैं। हमारी इस कामना में अनेक रुकावटें आती हैं। इन रुकावटों को सामने खड़ा देख कर हमें क्रोध आता है। क्रोध का परिणाम यह होता है कि हमारा अपनी बात पर आग्रह दृढ़ हो जाता है। अब हम कहते हैं—कुछ भी हो जाय, ठीक हो, ग़लत हो, मैं मन्त्री बन कर ही रहूँगा, प्रधान बन कर ही रहूँगा। रुकावट मोह को पैदा करती है। कर्म की शृंखला के बन्धन में जकड़े जाने की यह तीसरी कड़ी है। अब तक हम कर्म के जिस मार्ग पर चल रहे थे, उसमें हर घड़ी हमारे सामने दो रास्ते खुले थे। संग का मार्ग, निस्संग का मार्ग; क्रोध का मार्ग, अक्रोध का मार्ग; हर समय हम कर्म के बन्धन को काट सकते थे; परन्तु जहाँ हम 'संमोह' के क्षेत्र में पहुँचे, फिर कर्म का बन्धन काटने का हथियार हाथ से गिर जाता है। क्यों गिर जाता है? क्योंकि इससे पहले हम सोच-समझ से काम ले सकते थे; संग के समय, कामना के समय, क्रोध के समय तक हम आगा-पीछा सोच कर आगे कदम रख सकते थे—'**अक्रोधात् जयेत् क्रोधं**' के रास्ते पर चल सकते थे, परन्तु जहाँ हमने 'संमोह' में प्रवेश किया वहीं सोच-समझ का हथियार हमारे हाथ से गिर गया। 'संमोह' के समय मनुष्य की जो मानसिक-अवस्था होती है उसे गीता ने 'स्मृति-विभ्रम' कहा है—'**संमोहात् स्मृति विभ्रमः**'। 'संमोह' कर्म-बन्धन की शृंखला में चौथी कड़ी है।

(घ) **संमोह तथा स्मृति-विभ्रम (संमोहात् स्मृति विभ्रमः)**—गीता का कथन है कि 'संमोह' से 'स्मृति-विभ्रम' हो जाता है। 'स्मृति' का काम क्या है?

जो वस्तु जैसी है उसे मस्तिष्क में वैसा अंकित कर देना 'स्मृति' का काम है। अगर यथार्थ में कुछ और है, और स्मृति में कुछ और है, तो वह 'यथार्थ' न होकर 'भ्रम' है। 'भ्रम' कहते ही उसे हैं जो यथार्थ न हो। 'मोह' का क्या काम है ? 'मोह' में हम वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं देखते, अपने भीतर उसका जो कल्पित रूप है उसे देखते हैं। एक स्त्री ने शिष्टाचार में किसी से दो बात कर दीं। स्त्री के मन में कुछ नहीं, परन्तु जिससे बात कीं वह व्यक्ति उन दो-चार शब्दों को सुनकर उसके मोह में फँस कर पागल हो गया। स्मृति यथार्थ को अंकित करती है, मोह अयथार्थ को अंकित कर लेता है। स्मृति तथा मोह का रास्ता उल्टा है। स्मृति एक तरफ़ ले जाती है, मोह उससे दूसरी तरफ़ ले जाता है—इसी को गीता ने स्मृति-विभ्रम कहा है। 'स्मृति' का काम बाह्य-वस्तु में जो यथार्थता है उसे देख कर स्मृति-पटल पर अंकित करना है, 'मोह' का काम देखने वाले के मानसिक-क्षितिज में जो चल-चित्र बन रहे हैं उन्हें बाह्यवस्तु में प्रक्षिप्त करना है जिसे गीता ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए यथार्थ के स्थान में अयथार्थ, अथवा भ्रम को देखने के कारण 'स्मृति-विभ्रम' कहा है। कर्म-बन्धन की श्रृंखला में 'स्मृति-विभ्रम' पाँचवीं कड़ी है। इसके बाद बुद्धिनाश की स्थिति आ जाती है।

(ङ) **स्मृति-विभ्रम तथा बुद्धिनाश (स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः)**—कर्म-बन्धन की श्रृंखला की छटी तथा अन्तिम कड़ी बुद्धिनाश है। स्मृति के आधार पर ही तो बुद्धि का भवन खड़ा होता है। बच्चे को पहले रटाया जाता है, बिना सोचे-समझे अक्षर याद कराये जाते हैं, पहाड़े रटाये जाते हैं, फिर इन्हीं के जोड़-तोड़ से बुद्धि का सारा काम चलता है। जैसे पहले ईंटें इकट्ठी की जाती हैं, चूना-बजरी जमा किया जाता है, तब कहीं नक्शे के अनुसार मकान बनने लगता है, वैसे पहले स्मृति से वह माल जमा कर लिया जाता है जिसके जोड़-तोड़ से बुद्धि काम करने लगती है। परन्तु अगर स्मृति का ही नाश हो जाय, तो बुद्धि का भवन कैसे खड़ा हो सकता है ? संग में इच्छा का पुट देने से काम; काम में बाधा पड़ने से क्रोध; क्रोध के उग्र हो जाने पर जो वस्तु नहीं मिल रही उसके लिए आग्रह—मोह; मोह से स्मृति-विभ्रम; स्मृति-विभ्रम से बुद्धिनाश—और बुद्धिनाश के बाद **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'**—बुद्धि ही न रही, तो मनुष्य का सर्वनाश—यह है कर्म की श्रृंखला का बन्धन !

मनुष्य किस प्रकार 'कर्म' की साँकल में बँध कर मूलतः स्वतन्त्र होता हुआ परतन्त्र की तरह व्यवहार करता है—इसका यह अत्यन्त मर्मभेदी वर्णन है, परन्तु कर्म के विषय में हमें यह बात गाँठ बाँध लेनी चाहिये कि आत्मा एक स्वतन्त्र शक्ति है, इसलिये मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र है इसलिये चाहे तो कर्म की गाँठ पड़ने ही न दे, परन्तु अगर कर्म करने की अपनी

स्वाभाविक-स्वतन्त्रता का उसने उपयोग नहीं किया, तब जगत् के सर्वव्यापी-सिद्धान्त कारण-कार्य के नियम के अनुसार उसे कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा, उससे मिन्नत-खुशामद करने से भी छुटकारे की कोई सम्भावना नहीं। कर्मों के सम्बन्ध में सर्वोत्तम सिद्धान्त यह है—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, फल भोगने में परतन्त्र है। उपहासास्पद बात यह है कि लोग अपने को कर्म करने में परतन्त्र होने की तरह व्यवहार करते हैं, परन्तु फल भोगने में स्वतन्त्र होना चाहते हैं। इसी ग़लत आधार पर संसार के अनेक मत मतान्तरों की दीवारें खड़ी हैं, और यही कारण है कि इस विश्व में मिथ्याचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

10. संसार में विषमता का कारण क्या कर्म है ?

'कर्म' के सिद्धान्त के सम्बन्ध में दो बड़े विकट प्रश्न किये जाते हैं। पहला प्रश्न अध्यात्मवादियों की तरफ़ से भौतिकवादियों के प्रति और दूसरा प्रश्न भौतिकवादियों की तरफ़ से अध्यात्मवादियों के प्रति है जिसका उत्तर अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिये प्रत्येक को देना आवश्यक है। अगर वे, अपने प्रति किये गये प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते, तो उन्हें अपने सिद्धान्त की युक्तियुक्तता पर विचार करना होगा। वे प्रश्न निम्न हैं :

(क) **अध्यात्मवादी-प्रश्न**—संसार में कोई प्राणी स्वस्थ उत्पन्न होता है, कोई जन्म का रोगी। किसी को आँखें हैं, कोई अन्धा ही जन्मता है; किसी को कोई कष्ट नहीं, कोई कष्ट में ही जीवन प्रारम्भ करता है। क्योंकि भौतिकवादी इसी जीवन को आदि तथा अन्त मानता है, इसलिये उसे इस बात का उत्तर देना चाहिए कि जन्म के प्रारम्भ में ही यह विषमता क्यों है ? जो बच्चा अभी जन्मा उसका क्या दोष था कि वह अन्धा जन्मा। इस उलझन में से निकलने का भौतिकवादी के पास क्या रास्ता है ? यदि कहा जाय कि सन्तान माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा उनके तथा 'आनुवंशिकता' (Heredity) द्वारा प्राप्त स्वस्थ अथवा अस्वस्थ जनन-द्रव्यों (Germplasm) को लेकर पैदा होती है, उसके बाद जैसे पर्यावरण (Environment) में रहती है उसी के अनुसार बनती-बिगड़ती है, तो प्रश्न वहीं-का-वहीं रहता है। सन्तान ने क्या किया था जो उसे रोगी माता-पिता के यहाँ जन्म मिला, माता-पिता अपने किये का दण्ड भुगतें, एक निर्दोष बच्चा क्यों दण्ड भुगतने के लिये उनके घर पैदा होता है ? इसका उत्तर अध्यात्मवादी तो पिछले जन्म तथा अगले जन्म की बात करके दे देता है, भौतिकवादी तो यही कह सकता है कि इसमें न पिछला सिलसिला है, न अगला सिलसिला है, यहीं की कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। परन्तु क्या ऐसा हो सकता है ? क्या भौतिकवादी-विज्ञान कारण-कार्य के नियम को छोड़ सकता है ? जो विज्ञान अभाव से भाव का होना और भाव से अभाव का हो

जाना नहीं मानता, वह इस जन्म में 'चेतना' के एकाएक, अकारण कष्टों का बोझ सिर पर लाद कर उत्पन्न होने तथा इस जन्म में किये अच्छे-बुरे कर्मों को यूं ही पटक कर अन्तर्धान हो जाने की बेतुकी बात को कैसे मान सकता है? विज्ञान जिसका आधार ही कारण-कार्य का नियम है, अपने को विज्ञान कहता हुआ 'कर्म' के उस सिद्धान्त से कैसे इन्कार कर सकता है, जो अगर कुछ है तो 'कारण-कार्य' का ही रूपान्तर है। यह कैसे हो सकता है कि 'चेतना'-जैसी एक महान्, अद्वितीय, विलक्षण सत्ता कुछ कष्टों को जन्म से ही अपने सिर पर लाद कर प्रकट हो जाय और कुछ देर अपनी झलक दिखा कर एकाएक आँखों से ओझल हो जाय, और जो उत्पात उसने इस जीवन में मचाये हैं उनका न यहाँ फल भोगे, न आने भोगे। यहीं होना, यहीं समाप्त हो जाना असम्भव है, तभी सम्भव है अगर कारण-कार्य का नियम दिल बहलाने की बात हो।

(ख) **भौतिकवादी-प्रश्न**—जो अध्यात्मवादी कहते हैं कि संसार में मनुष्य-मनुष्य के बीच विषमताओं का कारण पिछले जन्म के कर्म हैं उनसे भौतिकवादी का प्रश्न है कि क्या अमीर-ग़रीब के बीच जो विषमता पायी जाती है वह पिछले जन्म के कर्मों के कारण है? अगर यह पिछले जन्मों के कारण है तब तो यह आर्थिक-विषमता अनिवार्य है, कर्म का फल है, आज अमीरी-ग़रीबी को दूर करने के 'समाजवाद' (Socialism) तथा 'साम्यवाद' (Communism) के जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे सब बेकार हैं। अगर समाज की आर्थिक-विषमता अनिवार्य है, कर्मों का लेखा है, तब तो कर्मों का विचार पूंजीवाद विचार (Capitalistic idea) हुआ। हम देखते हैं कि आर्थिक-विषमता दूर हो जाती है, दूर हो रही है, फिर कर्मों का सिद्धान्त कहाँ ठहरता है? कर्मों के सिद्धान्त से तो आर्थिक-विषमता एक युक्तियुक्त स्थिति है।

11. विषमता का अध्यात्मवादी समाधान

अध्यात्मवादी के पास इस प्रश्न का उत्तर है। जब हम कहते हैं कि अमीर अमीर है अपने कर्मों के कारण, ग़रीब ग़रीब है अपने कर्मों के कारण—तब हम एक सचाई का प्रतिपादन कर रहे होते हैं। यह ठीक है कि धन की अमीरी-ग़रीबी समाज की व्यवस्था की बनाई हुई है। ऐसा समाज था जिसमें समाज की पूंजीवादी रचना थी, बच्चा पैदा ही मुँह में सोने का चम्मच लेकर होता था, आज हम ऐसे समाज का निर्माण कर रहे हैं जिसमें न कोई अमीर रहेगा, न ग़रीब रहेगा। परन्तु अमीरी-ग़रीबी आर्थिक ही नहीं होती। अमीरी-ग़रीबी का माप-दण्ड 'धन' समझा जाता है, परन्तु असली अमीरी-ग़रीबी 'धन' की नहीं, 'गुण' की है। धन से अमीर होता हुआ भी व्यक्ति गुण से ग़रीब हो सकता है, धन से ग़रीब होता हुआ भी व्यक्ति गुण से अमीर हो सकता है। अध्यात्मवादी

का कथन है कि गुण, स्वभाव, संस्कार जन्म से आते हैं, ये पिछले जन्म के कर्मों के परिणाम होते हैं। कुछ लोग दरिद्र होने के संस्कार लेकर पैदा होते हैं, कुछ लोग समृद्ध होने के संस्कार लेकर पैदा होते हैं। जो समृद्ध होने के संस्कार लेकर पैदा हुआ है—और यह संस्कार पिछले जन्म का ही सूक्ष्म-शरीर में निहित संस्कार हो सकता है—उसे सामाजिक-कुव्यवस्था के कारण भीख भी क्यों न माँगनी पड़े, वह सम्राट् की तरह बरतेगा, जो दरिद्र होने के संस्कार लेकर पैदा हुआ है, वह राजा के घर में ही क्यों न जन्म ले, वह भिखमंगों की तरह बरतेगा। यह ठीक है कि अमीरी-ग़रीबी सामाजिक-व्यवस्था का परिणाम है, यह मिट रही है, इसमें 'कर्म के सिद्धान्त' को घसीट लाना बेकार है, उसे घसीटने से मनुष्यकृत आर्थिक-विषमता को बल मिलता है, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक-विषमता के मिट जाने पर भी जन्म-जात विषमता तो बनी ही रहेगी—कोई प्रतिभाशाली जन्मेगा, कोई निपट मूर्ख जन्मेगा। ये विषमताएँ स्वभाव की हैं, पिछले जन्म के संचित संस्कारों की हैं—ये विषमताएँ ऐसी हैं जिनका समाज की व्यवस्था से सम्बन्ध नहीं होता, जो आत्मा के साथ जन्म से ही आती है, जन्म से आने के कारण इनका बीज पिछले जन्म के कर्म में निहित होता है।

12. सुकर्मी दुःखी और कुकर्मी सुखी क्यों दीखते हैं ?

कर्मों पर विचार करते हुए भौतिकवादी का एक बड़ा ज़बर्दस्त प्रश्न रह जाता है जिसका अध्यात्मवादी को उत्तर देना होगा। प्रश्न यह है कि अगर कर्मों का फल मिलता है, अच्छे कर्मों का अच्छा, बुरे कर्मों का बुरा, तो क्या कारण है कि सत्कर्मी लोग संसार में दुःखी पाये जाते हैं, कुकर्मी लोग सुखी पाये जाते हैं ? होना तो यह चाहिए था कि सत्कर्मी, सदाचारी—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करने वाले सुखी दिखलाई देते ; झूठे, अनाचारी, दुराचारी लोग दुःखी दिखलाई देते। अगर कर्म का सिद्धान्त सही सिद्धान्त है, तो यह उलटी गंगा क्यों बह रही है ? इसका क्या उत्तर है ?

(क) **सुकर्मी दुःखी तथा कुकर्मी सुखी हैं—यह धारणा ही ग़लत है**—सबसे पहली बात तो यह है कि यह समझना कि सत्कर्मी दुःखी होते हैं, कुकर्मी सुखी होते हैं—यह धारणा ही ग़लत है। कभी-कभी जो बाहर से दीखता है वह भीतर से नहीं होता। अपने को दुःखी दीखनेवाला भीतर से सुखी तथा मस्त होता है, अपने को सुखी दीखनेवाला वह ही जानता है कि भीतर से वह क्या है ? इसके अतिरिक्त सब सुकर्मी दुःखी हों, सब कुकर्मी सुखी हों—ऐसा भी नहीं होता। यह कहना ठीक होगा कि कुछ सुकर्मी दुःखी दीखते हैं, कुछ कुकर्मी सुखी दीखते हैं—प्रश्न का यही रूप ठीक होगा। साधारण तौर पर यह शंका

क्यों की जाती है कि सत्कर्मी दुःखी पाये जाते हैं, कुकर्मी सुखी पाये जाते हैं ? इसका एक कारण है। वह कारण क्या है ? वह कारण एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। छींक तो सबको आती है, परन्तु अगर कोई जुलूस में हाथी पर बैठा छींक रहा हो, तो सभी कहने लगते हैं—देखो, वह छींक रहा है। छींकता कौन नहीं, परन्तु जो हाथी पर बैठा है उसकी छींक की सब लोग चर्चा करने लगते हैं। इसी तरह कुछ सत्कर्मी, सदाचारी दुःखी होते हैं, कुछ कुकर्मी, दुराचारी सुखी भी होते हैं—सब नहीं, कुछ—परन्तु क्योंकि हमारी सुकर्म तथा कुकर्म की संकल्पना के साथ उनका दुःखी अथवा सुखी होना मेल नहीं खाता, इसलिए मानो वे हाथी पर बैठे सबको दीख रहे होते हैं, इसलिए उनके दुःख-सुख की अनावश्यक तौर पर चर्चा होने लगती है। उस चर्चा में कोई ऐसा तथ्य नहीं होता जिसके आधार पर एक नियम कल्पित कर लिया जाय या एक परिणाम निकाल लिया जाय।

(ख) कर्मों का फल शनैः-शनैः पकता है—भौतिकवादी का कहना है कि अगर 'कर्मों' का नियम 'कारण-कार्य' का ही आध्यात्मिक-जगत् में चल रहा नियम है, तो यह तो होना चाहिए कि अच्छे कर्मों का अच्छा फल हो, बुरे कर्मों का बुरा फल हो। अच्छे-बुरे से हमारा अभिप्राय सामाजिक अच्छे-बुरे से नहीं है। आज के सामाजिक-नियमों की पृष्ठ-भूमि में आज एक काम अच्छा हो सकता है, सामाजिक-नियमों में परिवर्तन हो जाने पर वही काम बुरा हो सकता है। किसी समय बाल-विवाह, सती हो जाना सत्कर्म था, आज ये असत्कर्म हैं। सामाजिक अच्छाई-बुराई को जो परिवर्तनशील है छोड़ भी दिया जाय, तो भी निरपेक्ष अच्छाई-बुराई भी रह जाती है। ईमानदारी, सचाई, दूसरे को दुःख न देना आदि निरपेक्ष-सत्कर्म हैं; बेईमानी, ठगी, धोखा देना, पर-पीड़ा आदि निरपेक्ष-कुकर्म है। भौतिकवादी का प्रश्न यह है कि जो लोग ईमानदार हैं, सच्चे हैं, दूसरों की सेवा में रत हैं, वे दुःख क्यों भोगते हैं, जो बेईमान हैं, झूठे हैं, दूसरों पर अत्याचार करते हैं, वे सुख क्यों भोगते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्म-व्यवस्था के व्याख्याकार मनु महाराज अपनी मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय के 174 वें श्लोक में लिखते हैं—

जब उसका जड़-मूल से विनाश हो जाता है (समूलस्तु विनश्यति)। मनु महाराज ने अपने अनुभव की बात लिखी है, दुनिया में जो-कुछ हो रहा है उसे देखकर यह लिखा है। मनु महाराज का कहना है कि कुकर्मी का फूलना-फलना कुछ ही दिनों का होता है, ऊपर से ऐसा दिखलाई देता है, भीतर से उसकी जड़ खोखली हो रही होती है। प्रत्येक कुकर्मी अपने दामन के भीतर झांक कर मनु महाराज के इस फ़तवे की गवाही दे सकता है।

इसी अनुभव को मनुस्मृति के एक दूसरे श्लोक में बड़े मनोरंजक-रूप में कहा गया है। चतुर्थ अध्याय के 172-173 वें श्लोकों मे लिखा है—

> नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव
> शनैराकृन्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।
> यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु
> न त्वेव तु कृतोऽधर्मःकर्तुर्भवति निष्फलः।

धर्म-अधर्म, सत्कर्म-असत्कर्म, अच्छाई-बुराई एक बीज के समान हैं। ज्यों ही इन बीजों को जीवन की भूमि में हम बोते हैं, त्यों ही अधर्म, असत्कर्म, बुराई के बीज के साथ उसकी जड़ को काटने वाला एक कीड़ा उसके साथ-साथ ऊपर आने लगता है। जैसे जमीन में गाड़ा हुआ बीज एकदम पौधा नहीं बन जाता, वह अंकुरित होता है, ज़मीन को काट कर उभरता है, तना बनता है, वैसे ही उस बीज के भीतर पड़ा हुआ उसकी जड़ को काटने वाला अधर्म, असत्कर्म, बुराई का कीड़ा एकदम नहीं, परन्तु शनैः-शनैः—धीरे-धीरे—जड़ को काटता जाता है, और अन्त में वह समय भी आ जाता है जब दुष्कर्मों के जीवन-वृक्ष की सब जड़ें कट जाती हैं, और वह धड़ाम से भूमिसात् हो जाता है। यदि देखने को लगता भी है कि उसे कुकर्म का फल नहीं मिला, तो यह भ्रम है क्योंकि कुकर्म की पुत्रों तक मार जाती है, पुत्र भी उस मार से बचे दीखते हों, तो पौत्र-प्रपौत्र उस का फल भोगते दीखते हैं। कुकर्म करने के बाद यह समझ बैठना कि इसका फल नहीं होगा—नासमझी है। मनु तो कर्म-फल के सम्बन्ध में इतने दृढ़-निश्चयी थे कि उन्होंने कुकर्मी के पुत्र-पौत्रों तक को नहीं छोड़ा।

यह समझ लेने की बात है कि जैसे कोई कुकर्म तत्काल नहीं किया जाता, बहुत समय पहले से उसकी नींव पड़ चुकी होती है, उसका प्लैनिंग हो चुका होता है, वैसे उसकी जड़ को काटने का काम भी तत्काल नहीं होता, बहुत समय पहले से—कुकर्म के बीज पड़ने के समय से ही—कुकर्मी की जड़ काटने का प्लैनिंग भी शुरू हो जाता है। यह हम पहले भी दर्शा आये हैं कि धर्म का तत्काल-फल तो उसका संस्कार पड़ जाना है—यह संस्कार कर्म का तत्काल-फल है, परन्तु संस्कार-पर-संस्कार पड़ते-पड़ते वह समय भी आ जाता है जब इन सब कुसंस्कारों के परिणामस्वरूप कुकर्म का प्रत्यक्ष-फल भी सामने आ जाता है।

कर्मों के फल के सम्बन्ध में वैदिक-विचारधारा की यही मीमांसा है।
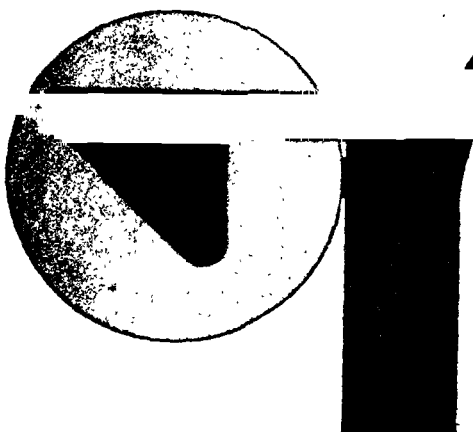
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गीता, 2 अध्याय, 47)

'निष्काम-कर्म' क्या है ? 'कर्म' के सिद्धान्त के बाद प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अगर कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है, तो क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे हम कर्म भी करें और कर्म के बन्धन में भी न पड़ें ? इस सम्बन्ध में वैदिक-समाधान यह है कि जब कामना-रहित कर्म किया जाता है, तब कर्म करने पर भी उसका बन्धन नहीं पड़ता। इसी भाव को गीता में 'निष्काम-कर्म' का नाम दिया है। यजुर्वेद के **'तेनत्यक्तेन भुंजीथाः'** का भी यही भाव है कि हम संसार में रहें, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, निष्काम होकर। गीता में सकाम का विवेचन करते हुए कहा है कि सकाम-भाव के परिणाम का मनोवैज्ञानिक-क्रम है—विषयों का ध्यान, संग, काम, क्रोध, मोह, स्मृति-विभ्रम तथा बुद्धि-नाश ; निष्काम का विवेचन करते हुए कहा है कि निष्काम-भाव के परिणाम का मनोवैज्ञानिक-क्रम है—राग-द्वेष से विमुक्त होना, इन्द्रियों से विषयों का उपभोग करते हुए इन्द्रियों का स्वतन्त्र-विचरण करने के स्थान में आत्मा के वश में रहना, इस प्रकार प्रसाद-गुण प्राप्त करके बुद्धि का स्थिर हो जाना। यह सम्पूर्ण वर्णन इतना मनोवैज्ञानिक है जैसा मनोविज्ञान की अन्य किसी पुस्तक में नहीं मिलता। इस मनोवैज्ञानिक-शृंखला का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

'निष्कर्मण्यता' तथा 'निष्कामता' में भेद है। 'निष्कर्मण्य' व्यक्ति काम ही नहीं करना चाहता, 'निष्काम-व्यक्ति' सम्पूर्ण शक्ति से काम में जुटा रहता है,

परन्तु फल में आसक्त नहीं होता। गीता ने इस विचार को रहस्यमय कहा है। है भी रहस्यमय क्योंकि यह कैसे हो सकता है कि हम काम भी करें और फल की आशा भी न करें। निष्काम-योग का कहना यह है कि कर्म करना तुम्हारे अधीन है, फल तुम्हारे अधीन नहीं है, जो बात तुम्हारे हाथ की नहीं है उसकी आशा कर बैठने का क्या मतलब ? जब हम कर्म के फल की बात करते हैं, तब यह सोचना होगा कि कर्म-फल में कौन-कौन से कारण सम्मिलित होकर फल को उत्पन्न करते हैं। जब हम कर्म करते हैं तब उसमें हमारा ही नहीं, दूसरों का कर्म भी शामिल हो जाता है, हमारे कर्म एक तरफ़ खींचते हैं, हमारे शत्रु के कर्म दूसरी तरफ़ जोर लगाते हैं। इन सबका 'योग-ऋण' (Plus-minus) होकर जो शेष रहेगा वही तो कर्म-फल होगा। हम केवल अपने कर्म की ही बात करते हैं, उसके जो विरोधी तत्व हैं उन्हें हिसाब में से निकाल देते हैं। कर्मों का लेना-देना बराबर करके जो शेष रहे, वही कर्म-फल है। यह जमा-घटाना हमारे हाथ नहीं; फिर फल के लिये ज़िद क्यों ?

इस पर प्रश्न उठता है कि क्या 'निष्काम-कर्म' सम्भव भी है ? बिल्कुल सम्भव है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर मरीज़ के बच्चे का इलाज करता है, जान लड़ा देता है, परन्तु बच्चा मर जाता है। क्या डॉक्टर रोने बैठ जाता है ? वकील मुवक्किल का मुकदमा बड़ी होशियारी से लड़ता है, परन्तु हार जाता है। क्या वकील रोने लगता है ? खिलाड़ी खेल में जूझ जाता है, परन्तु हार जाता है। क्या वह हाय-हाय करता है ? हाँ, अगर डॉक्टर का अपना बच्चा मर जाय, तो वह परेशान हो जाता है। जो मनःस्थिति डॉक्टर मरीज़ के प्रति, वकील मुवक्किल के प्रति धारण करता है, उसी को अपने प्रति धारण कर ले तो यही 'निष्कामता' है।

अष्टम अध्याय

निष्काम-कर्म का सिद्धान्त

(THE LAW OF DISINTERESTED ACTION)

पिछले अध्याय में हमने 'कर्म के सिद्धान्त' की विवेचना की है। हमारे सामने प्रश्न यह था कि कर्म के 'बन्धन' को कैसे काटा जाय। वैदिक-विचार-धारा के अनुसार 'कर्म' ही जीवन में सब उपद्रवों की जड़ है, यद्यपि 'कर्म' के बिना रहा भी नहीं जा सकता। इस समस्या पर गीता में गंभीर विवेचन किया गया है जिसका निष्कर्ष 'निष्काम-कर्म' का सिद्धान्त है। जैसे हम पहले लिख चुके हैं, 'कर्म' के सिद्धान्त पर पाश्चात्य-विचारकों ने सिद्धान्त-विशेष के रूप में विचार नहीं किया, भारतीय-विचारकों ने इस पर सिद्धान्त-विशेष के रूप में विचार किया है। कई विचारकों का तो यह कहना है कि जैसे न्यूटन ने भौतिक-जगत् में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज की, अन्य वैज्ञानिकों ने दूसरे-दूसरे वैज्ञानिक-सिद्धान्तों को खोजा, वैसे ही भारतीय अध्यात्म-शास्त्रियों ने 'निष्काम-कर्म' के सिद्धान्त को खोज निकाला। निष्काम-कर्म का सिद्धान्त वैदिक-सिद्धान्त है जिसे गीता में पूरी तरह खोलकर कहा गया है। हम यहाँ गीता प्रतिपादित निष्काम-कर्म के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए भारतीय-विचारकों ने इसका क्या-क्या स्पष्टीकरण दिया है उस पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

1. गीता-प्रतिपादित निष्काम-कर्म का सिद्धान्त

(क) **'निष्कर्मण्यता' तथा 'निष्कामता' में भेद**—वैदिक-विचारधारा का जीवन के प्रति दृष्टिकोण त्याग-पूर्वक भोग का दृष्टिकोण है। उपनिषद् तथा यजुर्वेद में कहा है—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'**—हम संसार को भोगें, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, निष्काम-भाव से। जीवन में सकाम-भाव से रहना और निष्काम-भावना से रहना—इन दोनों में महान् भेद है, और इस भेद को सम्मुख रखकर वैदिक-साहित्य का निर्माण हुआ है। इस प्रकार के साहित्य में गीता का सबसे ऊँचा स्थान है। गीता ने सदियों से भारतीय-जनता के जीवन को प्रभावित

किया है। गीता का आधार उपनिषद् हैं—'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः'। इन उपनिषदों के गूढ़ रहस्य को न समझ कर किसी समय भारत में निष्काम के स्थान पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पड़ी थी—'निष्कर्मण्यता', अर्थात् काम ही न करना। ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब-कुछ मिथ्या है—इस प्रकार की शिक्षा का प्रचार करके लोग कर्म-मात्र से मुँह फेरने लगे थे। उपनिषदों का अभिप्राय, वेदान्त का तात्पर्य, अध्यात्मवाद का सार यही समझा जाता था कि संसार छोड़ दो, भगवा पहन लो, कोई काम मत करो। इस अवस्था से तत्कालीन विचारक-समुदाय सोच में पड़ गया था। इसलिये उपनिषदों के, वेदान्त के, अध्यात्मवाद के ही शुद्ध, सत्य रूप को—कर्म त्यागने के स्थान में कर्म करने परन्तु कर्म में निहित वासना को त्यागने के सिद्धान्त को—'निष्कर्मण्यता' के स्थान में 'निष्काम-भाव' के वैदिक-सिद्धान्त को—प्रकट करने के लिये गीता का निर्माण हुआ। गीता ने वैदिक-संस्कृति की लुप्त होती हुई विचारधारा को फिर से सबके सामने लाकर रख दिया। उपनिषदों की, वेदान्त की, विशुद्ध-वैदिक-संस्कृति के 'अध्यात्मवाद की विचारधारा यह थी कि ब्रह्म सत्य है—परन्तु इस संसार से भी तो इन्कार नहीं किया जा सकता—हाँ, इस संसार के मुकाबिले में अन्तिम-सत्ता, यथार्थ-सत्ता शरीर की नहीं, आत्मा की है, प्रकृति की नहीं, परमात्मा की है। गीता ने कहा कि क्योंकि शरीर है इसलिए शरीर के लिए काम करो, परन्तु क्योंकि अन्तिम-सत्ता इसकी नहीं है, इसलिये इसमें लिप्त होने से बचे रहो; क्योंकि संसार है इसलिये इसका भी उपभोग करो, परन्तु क्योंकि अन्तिम-सत्ता इसकी भी नहीं है, इसलिये इस संसार में भी लिप्त होने से बचे रहो। उपनिषदों का, वेदान्त का, अध्यात्मवाद का अभिप्राय 'निष्कर्मण्यता' समझा जाता रहा है। असल में, इस समझ में भूल रही है। भारतीय अध्यात्मवाद का, वैदिक-संस्कृति का यह अभिप्राय कभी नहीं रहा। इसका अभिप्राय 'निष्कर्मण्य'-जीवन बनाने के स्थान में 'निष्काम'-जीवन बनाने से है। उपनिषदों के, वेदान्त के, अध्यात्मवाद के समझने में जो भूल हो रही थी उसे श्रीकृष्ण ने गीता में दूर कर दिया। 'निष्काम-भाव' का विचार वैदिक-संस्कृति की विचारधारा का एक मौलिक तथा वैज्ञानिक विचार है, और क्योंकि इस विचार को जितने स्पष्ट तौर पर गीता में समझाया गया है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं, इसलिये हम गीता के ही शब्दों में, इस अध्याय में 'निष्काम-कर्म' पर विचार करेंगे।

(ख) **श्रीकृष्ण का वैदिक-संस्कृति-सम्बन्धी अध्यात्मवाद**—महाभारत के युद्ध के समय सगे-सम्बन्धियों को भौतिक-ऐश्वर्य के लिये लड़ते देखकर, उन लोगों को जो बचपन में साथ-साथ खेले, साथ-साथ उठे-बैठे, भाई-भाई की तरह रहे, उन्हें सम्पत्ति के लिये एक-दूसरे के खून का प्यासा देखकर अगर

कोई जरा भी सोचने लगे, तो किस के हृदय में वैराग्य नहीं उत्पन्न हो जाता, कौन संसार को मिथ्या नहीं समझने लगता। सदियों पहले अर्जुन ने इस दृष्टि से सोचा, और जीवन से निराश होकर खड़ा हो गया, आज भी कोई उसी दृष्टि से देखे तो उसे जीवन में कोई तत्त्व नजर न आये। निराश अर्जुन में गीता ने आशा का संचार कर दिया, मैदान से भागते हुए अर्जुन को गीता ने मैदान में फिर-से ला खड़ा किया, तो क्या श्रीकृष्ण ने यह सब-कुछ अर्जुन को यह समझा कर किया कि संसार मौज मारने की जगह है, लड़ो और सगे-सम्बन्धियों को मार कर गुलछर्रे उड़ाओ? नहीं, अर्जुन की अध्यात्मवादी-विचारधारा को काटने के लिये श्रीकृष्ण ने प्रकृतिवादी-विचारधारा का उपदेश नहीं दिया। जैसे अर्जुन अध्यात्मवादी बातें करने लगा था, वैसे श्रीकृष्ण भी अध्यात्मवादी बातें ही करने लगे, उन्होंने भी यही कहा कि यह शरीर मट्टी का चोला है, जैसे कपड़े के मैला होने पर उसे उतार फेंकते हैं वैसे शरीर के पुराना हो जाने पर वह बदल दिया जाता है, आत्मा ही नित्य है, शरीर अनित्य है। कोरी अध्यात्मवादी-संस्कृति—'संसार असार है, यह-सब दो दिन का मेला है'—यह कह कर संसार से भाग खड़ी होती है, अर्जुन भी ऐसा ही करने लगा था, परन्तु वैदिक-संस्कृति ने जिस अध्यात्मवाद को जन्म दिया था वह संसार को असार भी कहती थी, और संसार को छोड़ कर भागती भी नहीं थी, शरीर को आत्मा का बदलने वाला चोला भी कहती थी, और हाथ-पर-हाथ धर कर बैठती भी नहीं थी। वैदिक-संस्कृति की इसी विचारधारा को श्रीकृष्ण ने खोल कर अर्जुन के सामने रखा और अध्यात्मवादी होते हुए भी उसे संसार से भागने के स्थान पर संसार में डटने का उपदेश दिया।

(ग) श्रीकृष्ण का अध्यात्मवाद एक रहस्य की व्याख्या है—संसार को असार मानना और फिर भी इसमें डटना—यह एक नवीन विचारधारा है। प्रकृतिवादी संसार को ही सब-कुछ मानते हैं, उनका संसार में डटना स्वाभाविक है। अध्यात्मवादी संसार को असार मानते हैं, उनका संसार से भाग खड़े होना भी स्वाभाविक है। परन्तु संसार को असार मानना और फिर भी इसमें डटे रहना—यह एक परस्पर-विरोधी-सी विचारधारा जान पड़ती है, तो भी इसमें कोई परस्पर विरोध नहीं, यह असली, यथार्थ तथा वैज्ञानिक विचारधारा है। यही वैदिक-संस्कृति की विचारधारा है, इसी का श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है। श्रीकृष्ण भी समझते थे कि लोग इस विचार-सरणी से चकरायेंगे, इसलिये उन्होंने गीता में कहा है कि यही विचार सही विचार है, यह रहस्यमय विचार है, यह उसी को समझ आता है जिसे गुरु अपना योग्य शिष्य समझकर इस विचार की दीक्षा देता है। गीता को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण ने इस विचारधारा की अर्जुन को वैसे ही मन्त्र-दीक्षा दी थी जैसे

आचार्य अपने अन्तेवासी को देता है या कोई वैज्ञानिक अपने नवीन आविष्कार की सूचना देता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं चेतदुत्तमम् ॥ गीता, 4—1,2,3

जिस मन्त्र की, रहस्य की मैंने तुझे दीक्षा दी है, वह 'अव्यय' है—नष्ट नहीं हो सकता। इस मन्त्र की सबसे पहले विवस्वान् ने मनु को दीक्षा दी थी, मनु ने इक्ष्वाकु को, और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा से यह मन्त्र, यह रहस्य आजतक चला आ रहा है। वैदिक-संस्कृति के इस रहस्य को बीच में लोग भूल गये थे, और इसी का यह परिणाम था कि जीवन के वास्तविक पथ से वे विचलित हो गये, भटक गए। कृष्ण महाराज अर्जुन को कहते हैं कि क्योंकि तू मेरा भक्त है, सखा है, इसलिए मैं तुझे उस रहस्य में दीक्षित करता हूँ। गीता के इस स्थल से यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को किसी बीज-मन्त्र की, किसी रहस्य की दीक्षा दी है, वह रहस्य वैदिक-संस्कृति का रहस्य है, वह विवस्वान् से चला आ रहा है, परम्परा से उसी विचारधारा में गुरु अपने शिष्य को दीक्षित करते रहे हैं, अगर वह बीच में लुप्त हो गया तो कोई पर्वा नहीं, उसकी श्रीकृष्ण फिर से अर्जुन को दीक्षा दे रहे हैं।

श्रीकृष्ण ने जिस रहस्य की अर्जुन को दीक्षा दी उसी का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—'**इमं विवस्वते योगम्**'—इस योग को विवस्वान् के प्रति पहले प्रकट किया गया था। फिर लिखा है—'**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः**'—वही योग आज मैंने तुझे बताया है। अर्थात्, श्रीकृष्ण ने वैदिक-संस्कृति के जिस रहस्य का अर्जुन के सम्मुख उद्घाटन किया उसका नाम 'योग-मार्ग' था। कृष्ण महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'योग-मार्ग' के रहस्य का उद्घाटन उन्होंने अवश्य किया, परन्तु यह कोई बिलकुल नई ही बात नहीं थी। यह तो वही वैदिक-संस्कृति का पुराना सन्देश था जो मानव-समाज को कभी विवस्वान् के द्वारा, कभी इक्ष्वाकु के द्वारा, कभी मनु के द्वारा, और कभी वैदिक-लोगों के अन्य अनेक अग्रगण्य नेताओं के द्वारा समय-समय पर मिलता रहा। मानव-समाज के प्रति दिये गए इसी रहस्यमय 'योग-मार्ग' की गीता में स्थान-स्थान पर व्याख्या है।

(घ) **योग-मार्ग तथा सांख्य-मार्ग**—'योग-मार्ग' क्या है—इसे समझने के लिए गीता में 'योग-मार्ग' तथा उसके विरोधी 'सांख्य-मार्ग' इन दोनों का वर्णन

किया गया है। किसी वात को समझने के लिए उसके विरोधी को समझ लेना उस वात के यथार्थ-वोध में सहायक होता है। सर्द को समझने के लिये गर्म को समझना, लम्वेपन को समझने के लिए छोटेपन को समझना, ऊँचाई को समझने के लिये नीचाई को समझना आवश्यक है। उस समय 'योग-मार्ग' का विरोधी मार्ग 'सांख्य-मार्ग' कहलाता था। 'योग-मार्ग' का दूसरा नाम 'कर्म-योग' और 'सांख्य-मार्ग' का दूसरा नाम 'कर्म-संन्यास' था। गीता में इन दोनों मार्गों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ गीता, 3—3

हे अर्जुन! संसार में दो ही मार्ग हैं—'ज्ञान-मार्ग' तथा 'कर्म-मार्ग'। 'ज्ञान-मार्ग' को 'सांख्य-मार्ग' कहते हैं, 'कर्म-मार्ग' को 'योग-मार्ग' कहते हैं। यह नहीं कि श्रीकृष्ण के समय ही जीवन-यापन के दो मार्ग थे। तव तो थे ही, परन्तु तव या अव, इन्हीं दो मार्गों से, इन्हीं दो दृष्टिकोणों से मानव-समाज का निर्वाह होता है। उपनिषद् में भी तो नचिकेता की कथा का उल्लेख करते हुए इन्हीं दो मार्गों का निर्देश किया गया है। गीता का कथन है कि इन दोनों मार्गों में से 'योग-मार्ग' ही उपादेय है, 'सांख्य-मार्ग' नहीं। 'सांख्य-मार्गी' कर्म-संन्यास का उपदेश देते हैं। उनका कहना है कि संसार निस्सार है, इसे सार समझ कर कर्म करना दुःख का कारण है, इसलिए इसे निस्सार समझ कर कर्म का परित्याग कर देना चाहिए, कुछ करना ही नहीं चाहिये, जव कुछ करेंगे ही नहीं तव दुःख कहाँ से होगा? अर्जुन को भी तो लड़ने के लिए कहा जा रहा था, लड़ो और साम्राज्य को जीत कर राजा वनो। अर्जुन ने कहा, यह संसार निस्सार है, जो आज हमारा भाई है वह कल हमारा शत्रु वन कर खड़ा हो जाता है, मैं इस संसार को पाकर क्या करूँगा, इसे पाने के स्थान में इसे छोड़ने में ही मनुष्य का भला है। अर्जुन 'सांख्य-मार्ग' पर चल पड़ा था। अर्जुन को 'सांख्य-मार्ग' पर, 'कर्म-संन्यास' की राह पर कदम वढ़ाते देख कर श्रीकृष्ण ने कहा, यह ग़लत रास्ता है, संसार की तरफ़ पीठ फेर देने से, कुछ भी कर्म न करने से दुनिया का कोई व्यवहार नहीं चल सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ गीता, 3—5

कर्म छोड़ कर कौन रह सकता है? कर्म करना तो हमारी प्रकृति में निहित है। हम चाहें, न चाहें, संसार में हम आ पड़े हैं, इससे इन्कार किया नहीं जा सकता, कर्म किये वग़ैर रहा नहीं जा सकता। जगत् सत्य हो, असत्य हो, यथार्थ हो, मिथ्या हो—जव हम चारों तरफ़ संसार से घिरे हैं, तव कैसे हो सकता है कि इसे विलकुल मिथ्या समझ कर हम काम छोड़ कर वैठ जायें?

परन्तु अगर काम करेंगे तो दुःख लगा रहेगा, इस दुःख से छुटकारा कैसे होगा ? यह समस्या अर्जुन की ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति की है, प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की जो जीवन के प्रश्न पर विचार करता है।

(ङ) *कर्म नहीं, कर्म के फल की आशा छोड़ना निष्काम-कर्म है*—श्रीकृष्ण ने इस समस्या का गीता में जो उत्तर दिया है वह वैदिक-संस्कृति का मानो बीज-मन्त्र है। गीता पूछती है, कर्म क्यों न करें, संसार से नाता क्यों तोड़ दें ? इसलिए न, क्योंकि मनुष्य संसार में लिप्त हो जाता है, कर्म मनुष्य को बाँध लेता है। गीता का कहना है कि अगर यही बात है तब ऐसा उपाय क्यों न निकालें जिससे 'कर्म' तो हो जाय, क्योंकि कर्म के बगैर हम रह ही नहीं सकते, परन्तु कर्म से उत्पन्न होने वाला 'बन्धन' पैदा न हो, संसार भी बना रहे और संसार से होने वाला लेप भी न हो, साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। गीता ने वैदिक-संस्कृति के जिस रहस्यमय सन्देश का वर्णन किया है, वह इस संस्कृति का बीज-मन्त्र है। वह बीज-मन्त्र यही है कि कर्म करते जाओ, परन्तु उसके बन्धन को मत पड़ने दो, संसार में रहो, इसलिये रहो क्योंकि तुम इसे छोड़ना चाहो तब भी छोड़ नहीं सकते, परन्तु इसमें रहते हुए इसके भोक्ता बनकर रहो, इसके भोग्य बनकर मत रहो, जीवन के चरखे पर शरीर-रूपी पूनी लेकर कर्म का सूत कातते जाओ, परन्तु उसमें गाँठ मत पड़ने दो—यह विचार-धारा है जिसका उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया है, इसी को गीता ने निष्काम-कर्म या दूसरे शब्दों में 'कर्म-योग' कहा है।

परन्तु क्या यह सम्भव है कि हम संसार में रहें और उसमें लिप्त न हों, कर्म करें और कर्म का बन्धन न पड़ने दें ? वैदिक-संस्कृति के अध्यात्मवाद का कहना है कि यह सम्भव ही नहीं है, यही जीवन का सही तथा विज्ञानसम्मत रास्ता है। कर्म करते हुए उसके बन्धन को न पड़ने देना, संसार में रहते हुए संसार से मुक्त रहना—इस मार्ग का उल्लेख करते हुए गीता का कथन है—

> **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
> **मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥** गीता, 2—47
> **योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।**
> **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥** गीता, 2—48
> **विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।**
> **निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥** गीता, 2—71

कर्म करो, फल की इच्छा मत करो। कर्म के फल की कौन आशा नहीं करता ? हरेक करता है। वह आशा करना 'संग' कहाता है, 'सकामभाव' कहाता है, उस आशा का त्याग देना 'निस्संग-कर्म' है, 'निष्काम-भाव' है। हे अर्जुन ! तू कर्म कर, परन्तु निःसंग होकर, निष्काम होकर, निर्लिप्त होकर—

बस, यही 'योग-मार्ग है। 'निःसंग-कर्म' करने का परिणाम यह होगा कि कर्म में सिद्धि हो, असिद्धि हो, सफलता हो, असफलता हो, मनुष्य में समता रहेगी, और समता रहेगी तो शान्ति रहेगी दुःख नहीं होगा।

'कर्म-संन्यास' या 'सांख्य-मार्ग' तो सीधा-सादा उत्तर देता है—संसार असार है, इसमें कर्म क्या करना, इसलिए कर्म का झगड़ा छोड़ो, कर्म छूट जायगा, तो कर्म-जन्य दुःख अपने-आप छूटेगा। इसके विपरीत, 'कर्म-मार्ग' या 'योग-मार्ग' यह कहता है कि संसार असार तो है, परन्तु इसकी सत्ता से भी तो इन्कार नहीं किया जा सकता, संसार है तो कर्म छोड़े भी छूट नहीं सकता। कर्म नहीं छूट सकता परन्तु हाँ, कर्म के साथ लगा हुआ कर्म-फल का जो मोह है, संग है, ममता है कामना है, अहंकार है मैंने किया अतः मुझे ऐसा फल मिले, वैसा फल मिले—यह भावना है—इसका त्याग किया जा सकता है। 'सांख्य-मार्ग' तथा 'योग-मार्ग'—दोनों का उद्देश्य एक है, दोनों कर्म के बन्धन में नहीं पड़ना चाहते—'सांख्ययोगौ पृथक् बाला: प्रवदन्ति न पंडिता:'—परन्तु 'सांख्य-मार्ग' कर्म के बन्धन को छोड़ने के लिए कर्म को छोड़ बैठता है, और 'योग-मार्ग' —वह मार्ग जिसका प्रारम्भ विवस्वान् के समय से हुआ था, जो इक्ष्वाकु और मनु का मार्ग था, जो समय-समय पर लुप्त होता रहा परन्तु वैदिक-संस्कृति की विचारधारा के वेग के कारण लुप्त होता-होता बार-बार प्रकट होता रहा, जिसका श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया—वह मार्ग जीवन के प्रति अर्थक्रियात्मक (Pragmatic) दृष्टिकोण को लेकर कहता है कि कर्म मत छोड़ो, कर्म-फल की आशा से दुःख होता है अतः उस आशा को त्याग दो। जीवन में कार्य करने की इस दृष्टि को, इस विचारधारा को निष्काम-कर्म, निस्संग-कर्म, निर्मम-भाव, निर्मोह-भाव, निरहंकार-भाव कहा गया है। यह हो सकता है कि जिस व्यक्ति को कर्म में से संग काट देने के लिए कहा जाय वह संग को छोड़ने के बजाय कर्म को ही छोड़ बैठे, परन्तु जब हमने यह भली प्रकार जान लिया कि कर्म तो हम से छूट ही नहीं सकता—और यही बात श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बार-बार समझाने का यत्न किया है—तब तो हमारे पास सिर्फ एक मार्ग रह जाता है और वह है संग को, फलाशा को, मोह को, कर्म-फल के साथ आसक्ति को छोड़ देना। श्रीकृष्ण इस बात को भली-भाँति समझते थे कि यदि संग को, आसक्ति को छोड़ने के लिए कहा जायगा, तो मनुष्य कर्म से ही उदासीन हो जायगा, उत्साह से कार्य न करेगा, इसीलिए उन्होंने कहा—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ गीता, 3—25

जैसे मूर्ख लोग कर्म-फल की आशा से, अत्यन्त उत्साह से किसी काम को करते हैं, वैसे विद्वान् लोग बिना कर्म-फल की आशा से, उस से भी दुगुने उत्साह

से काम में जुटे रहते हैं। 'निस्संग-भाव' का यह परिणाम नहीं होना चाहिए कि कर्म करने में शिथिलता आ जाय – तब तो 'योग-मार्ग' और कुछ नहीं रहेगा, 'सांख्य-मार्ग' ही हो जायगा। काम तो मनुष्य दुगुने उत्साह से करे, परन्तु काम करता हुआ ऐसे ही रहे मानो कुछ किया ही नहीं, किया और करके अलग हो गए, उस से चिपट कर न बैठ रहे—यही 'निष्काम-कर्म' है।

(च) **निष्काम-कर्म असम्भव नहीं, सम्भव है**—कर्म करते हुए उसके फल की आशा न करना कहने में सरल परन्तु करने में कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति फल की आशा से काम करता है। क्या कोई ऐसा उपाय है जिस से हम अपने भीतर फल की आशा न करने की भावना को, अनासक्ति को जन्म दे सकें? इसी का उत्तर देते हुए कृष्ण महाराज ने कहा कि जो लोग जीवन को यज्ञमय बना लेते हैं, वे अपने-आप 'निष्काम-कर्म' करने लगते हैं। गीता में लिखा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ गीता, 3—9
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ गीता, 3—13

जीवन को यज्ञ समझ कर चलो। यज्ञ का अभिप्राय है—'त्याग'। स्वार्थ की भावना को छोड़ देना ही यज्ञ है। यज्ञ करते हुए मनुष्य अपने को परमात्मा की महान् शक्ति के सहारे छोड़ देता है। मैं कुछ नहीं, तू ही सब-कुछ है, मेरा कुछ नहीं, सब तेरा-ही-तेरा है—'**इदन्नमम**'—यही भावना यज्ञ की आधार-भूत भावना है, यही भावना यज्ञ में जगमगा उठती है। जो भावना यज्ञ में होती है वही भावना अगर जीवन के प्रत्येक कार्य में अनुप्राणित हो जाय, तब तो प्रत्येक कार्य यज्ञ हो गया, जीवन ही यज्ञमय हो गया। यज्ञमय निःस्वार्थ जीवन बिताने वाले को गीता में 'आत्मरत'—'आत्मतृप्त'—'आत्मसंतुष्ट' कहा गया है—वह अपने में रमा हुआ है, आत्म में भरा हुआ है, अपने आत्मा में सन्तुष्ट है। स्वार्थमय-जीवन बिताने वाले को 'इन्द्रियाराम' कहा गया है, वह इन्द्रियों के साथ आराम करता है, आत्मा से दूर भागता है। स्वार्थ की भावना को छोड़ कर निस्संग, निष्काम, निर्मोह कार्य करना वैदिक-संस्कृति का रहस्यमय उपदेश है, उसका बीज-मंत्र है, और जीवन की गूढ़तम समस्या पर यही उसकी दार्शनिक, वैज्ञानिक विचारधारा है।

जीवन को यज्ञ समझना, अनासक्ति से संसार में रहना कोई अनहोनी बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के किसी-न-किसी पहलू में निष्काम, निस्संग, निर्मोह, निःस्वार्थ की अवस्था को अनुभव करता है। डॉक्टर मरीजों को दवाई देता है, कोई बच जाता है, कोई मर जाता है। जो मरीज मर जाते हैं उन के लिये डॉक्टर को किसी ने रोते नहीं देखा। डॉक्टरों के हाथों सैकड़ों रोज़ मरते

हैं परन्तु सभी डॉक्टर हँसते-खेलते देखे जाते हैं। उसी डॉक्टर के घर यदि उसका अपना बालक मर जाय, तो वह अपने को संभाल नहीं सकता, बिलख-बिलख कर रोने लगता है। जो बुद्धि वह दूसरों के लिये धारण कर सकता है वह अपने घर के लिये क्यों नहीं धारण कर सकता? उसमें निष्काम-भाव का, अनासक्ति का बीज है, तभी तो वह अपने हाथ से बीमारों को मरते देख कर भी यह कह कर कि मुझ से जो-कुछ हो सकता था मैंने किया, बिना रोये-धोये अपने काम में जुट जाता है। इसी निष्काम-भावना को जीवन में व्यापक बनाने से जीवन यज्ञमय हो जाता है। एक देवी का पति मर गया, दूसरी देवियाँ आकर उसे समझाती हैं, सब आकर कह जाती हैं—जीवन में हरेक को किसी-न-किसी दिन यह दिन देखना है, इसलिये चित्त को संभालो, अपने को विचलित मत होने दो—परन्तु उनके लिये जब वही दिन आता है, तब वे भी अपने को संभाल नहीं पातीं, विचलित हो उठती हैं। वे दूसरे से निस्संगता, निष्कामता, अनासक्ति की आशा करती हैं, तो उनसे भी तो वही आशा की जा सकती है। एक व्यापारी का माल लुट गया, हम उसे जाकर समझाते हैं, लेकिन अपने माल के लुट जाने पर हमारी भी तो वही दशा हो जाती है। यह सब क्यों होता है? यह इसलिए कि जब हम दुःखी नहीं होते तब तो हमने निष्कामता, निस्संग-भाव धारण किया होता है, जब दुःखी होते हैं तब सकामता, संग-भाव धारण किया होता है। दुनियाँ में रहते हुए दुनियाँ से अलग रहना, कर्म करते हुए भी मानो कर्म न करना, जाल में फँसते हुए भी जाल को काटते जाना, पानी में गोता लगा कर भी—**'पद्मपत्रमिवाम्भसा'**—पानी में न भीगना—यह कृष्ण का बताया हुआ जीवन का वैज्ञानिक गुर है, वैदिक-संस्कृति का मूल-मन्त्र है। इस प्रकार की भावना का उदय जीवन में यज्ञ-वृत्ति धारण करने से होता है, स्वार्थ-वृत्ति से नहीं, परार्थ-भाव से होता है, भोग-भाव से नहीं, त्याग-बुद्धि से होता है, भोग-बुद्धि से नहीं। यज्ञ में बार-बार जो 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण किया जाता है उसका भी यही अभिप्राय है। स्वाहा शब्द 'ओहाक् त्यागे' धातु के निष्पन्न हुआ है। 'स्वाहा', अर्थात् 'त्याग'—'इदन्न मम'—यह मेरा नहीं, भगवान् का है। जो अपने सब-कुछ किये को यज्ञ की भावना से 'स्वाहा' का उच्चारण कर भगवान् के चरणों में भेंट कर देता है, वह बेलाग़ हो जाता है, बेदाग़ हो जाता है, और उसके कर्म में से मनुष्य को दुःख पहुँचाने वाला संग का कांटा निकल जाता है। भगवान् के चरणों में सब कर्मों को भेंट चढ़ाने का उपदेश देते हुए गीता में लिखा है—

> **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**
> **असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥** गीता, 3—19
> **मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा**
> **निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥** गीता, 3—30

हे अर्जुन ! अनासक्त होकर, और यह सोचकर कि कर्म तुझे करना है, फल भगवान् के अर्पित करना है, जीवन-क्षेत्र में कदम बढ़ाये जा। याद रख, सकाम-भावना एक ज्वर है, बुखार है। 'विगत-ज्वर' होकर काम कर। सकाम-भावना एक ज्वर है तभी तो अनुकूल फल न मिलने पर मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है, अधीर हो जाता है। इस ज्वर से मुक्त होने का उपाय एक ही है, और वह है 'निष्काम-भावना' से कर्म करना, निष्कर्मण्यता के स्थान में जीवन में निष्कामता को उत्पन्न करना।

(छ) फल की आशा क्यों न करें?—इस प्रकरण में यह प्रश्न उठ खड़ा होना स्वाभाविक है कि जब हम कर्म करते हैं तब फल की आशा क्यों न करें? क्या सिर्फ़ इसलिये कि अनुकूल फल नहीं होगा, तो हमें दुःख होगा? सिर्फ़ उस दुःख से बचने के लिये? यह तो कायरता है। फल की आशा न करने का सिर्फ़ व्यावहारिक नहीं, कोई दार्शनिक, कोई वैज्ञानिक आधार भी होना चाहिये। यह दार्शनिक, यह वैज्ञानिक आधार क्या है? फल की आशा न करने का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे कर्म का फल ही नहीं मिलेगा। इसका आशय सिर्फ़ इतना है कि जो भी फल मिलेगा, यह ज़रूरी नहीं कि वह हमारी इच्छा के अनुकूल ही हो। फल हमारे अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी हो सकता है। फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता पर ही मनुष्य सुखी-दुःखी होता है। परन्तु सोचने की बात तो यह है कि कर्म करना तो अपने हाथ में हैं, फल तो अपने हाथ में नहीं है। फल का अनुकूल या प्रतिकूल होना, एक नहीं, अनेक कारणों के योग-ऋण (Plus-minus) का परिणाम है। फिर, जो चीज़ अपने हाथ में नहीं है, उसके लिये हम क्यों सुखी हों, क्यों दुःखी हों, और क्यों उसके साथ हम अपना ऐसा नाता जोड़ें जिससे ऐसा प्रतीत होने लगे कि वह अपने हाथ की चीज़ है। किसी कर्म के फल उत्पन्न होने में एक कारण नहीं, सैकड़ों कारण हो सकते हैं। संसार कितना विशाल है, उसमें कितने कारण मिल कर किसी कार्य को उत्पन्न करने में सहायक होते होंगे। कुछ कारणों का हमें ज्ञान है, कुछ का नहीं। इस विशाल-विश्व में हमीं तो नहीं, लाखों-करोड़ों प्राणी हैं। सभी को सम्मुख रख कर ही तो विश्व की विशाल-दृष्टि से काम हो रहा होगा, हमारी दृष्टि से ही तो विश्व का चक्र नहीं चल रहा। विश्व का संचालन करने वाली दृष्टि समन्वयात्मक दृष्टि है, उस में छोटे-से-छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े तक सभी प्राणी समा जाते हैं। हो सकता है, किसी और के दृष्टिकोण से हमारी इच्छा, और हमारे दृष्टिकोण से किसी और की इच्छा कट जाती हो, परन्तु यह जोड़-तोड़ हमारे बस की चीज़ तो नहीं, यह तो उसी के बस की है जिस के बही-खाते में हम सब का हिसाब दर्ज है। ऐसी अवस्था में वैज्ञानिक-दृष्टि से सम्भव मार्ग सिर्फ़ यह रह जाता है कि हम अपना कार्य करते चलें, और 'इदन्न

मम' कहकर 'फल' को विश्वात्मा के चरणों में रख दें, हम अपनी संकुचित-दृष्टि से न देखकर विश्वात्मा की विशाल-दृष्टि से देखें। इसी भाव को प्रकट करने के लिये श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को विराट्-स्वरूप का दर्शन कराया है।

(ज) विशाल-दृष्टि से देखने के लिये विराट्-स्वरूप के दर्शन—विराट्-स्वरूप के दर्शन कराने का यह अभिप्राय नहीं है कि कृष्ण महाराज ने मुंह खोला और उनकी दाढ़ों में कहीं रथ फंस रहे थे, कहीं भीष्म-द्रोण अटक रहे थे। विश्व के संचालन में जिस विशाल-दृष्टि से काम हो रहा है, जिस प्रकार करोड़ों प्राणियों के कर्मों का समन्वय हो रहा है, उसी की तरफ़ संकेत करके अर्जुन को कहा गया—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।। गीता, 11—5

संसार के संचालन में जिन सैंकड़ों, हज़ारों दृष्टिकोणों का, नाना तथा विविध कारणों का समन्वय करना पड़ता है, उसे जानने के बाद कोई व्यक्ति अपने को केन्द्र मान कर बात न करेगा, इसलिये श्री कृष्ण महाराज ने अर्जुन की आँखें खोलीं, और उसे 'विराट्-स्वरूप' का दर्शन कराया। अर्जुन को मानो दीखने लगा कि कर्म-चक्र में पड़ कर भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र, राजे-महाराजे सभी लोग मानो विश्व के नियामक की दंष्ट्रा में पिसते चले जा रहे हैं। अर्जुन की जो संकुचित-दृष्टि थी, जिस से वह किसी को भाई, किसी को भतीजा, किसी को चाचा और किसी को ताऊ समझे बैठा था, और जो-कुछ होने जा रहा था उसे देख कर आँसू बहा रहा था, वह विशाल-दृष्टि में परिणत हो गई और उसे मानो दीखने लगा कि कर्मों के चक्र को चलाने-फिराने वाला विश्व का सूत्रात्मा इस चक्र को किधर चलाने जा रहा है। इसी भाव को गीता में यूँ कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः ।। गीता, 11—32

उस समय जो पाप का प्रचण्ड वेग उठ खड़ा हुआ था उसका विश्व के संचालक को नाश तो करना ही था। अर्जुन कितना ही रोता, इस पाप का, अव्यवस्था का अन्त समय आ गया था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन का ज्ञान-नेत्र खोलकर उसे कारण-कार्य के अखण्ड, निर्दय, निर्मम नियम का संचालन दिखा कर मनुष्य की संकुचित-दृष्टि के स्थान पर विश्व की विशाल-दृष्टि का दर्शन करा दिया। श्रीकृष्ण के मुख-मण्डल की तरफ़ देखकर—जिस प्रकार श्रीकृष्ण पापमग्न समाज के अवश्यम्भावी विनाश का वर्णन कर रहे थे—अर्जुन को वह विनाश मानो श्रीकृष्ण के मुँह में ही झलकता हुआ दीखने लगा। अर्जुन को समझ पड़ गया

कि वह तो इस सम्पूर्ण-काण्ड में निमित्त-मात्र होगा, उसके बिना भी सब-कुछ होकर रहेगा। विश्व-नियामक-शक्ति के इस 'विराट्-रूप' के दर्शन करते ही अर्जुन के सन्देह दूर हो गये और 'निष्काम-कर्म' का सन्देश उसके भीतर इतना घर कर गया कि वह भीरुता और क्लीवता छोड़ कर, संसार की असारता देख कर उस से भागने के स्थान पर वीर-पुरुष की तरह युद्ध के लिये डट कर खड़ा हो गया। अब उसे ऐसा अनुभव होने लगा मानो कर्म में तन-मन से लगे होने पर भी वह कुछ नहीं कर रहा। गीता में इस मनोभाव को प्रकट करते हुए लिखा है—

> यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
> ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥
> त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
> कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ गीता, 4—19, 20

जो कर्म करता है, परन्तु कामना से नहीं करता, जो ज्ञान की अग्नि से 'कर्म' की अन्तर्निहित 'कामना' को दग्ध कर देता है, जला देता है, जो कर्म के फल की भावना को, संग को, मोह को, आसक्ति को छोड़ देता है, उसका आत्मा सदा तृप्त रहता है, उसे किसी दूसरे का आश्रय, सहारा ढूंढने की आवश्यकता नहीं रहती। वह कर्म करता है, परन्तु दिन-रात सब-कुछ करते हुए भी—**'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि'**—मानो कुछ नहीं करता—**'नैव किंचित् करोति सः'**।

2. 'कर्म' का व्यक्ति से तथा वर्तमान से एवं 'फल' का समष्टि से तथा भविष्य से सम्बन्ध है

'कर्म' तथा 'कर्मफल'—ये दो घटनाएँ हैं। कारण-कार्य के नियम के अनुसार यह युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि अगर हम 'कर्म' करें, तो 'फल' की आशा भी करें। संसार का सब कारोबार इसी आधार पर चलता है। 'कर्म' करके 'फल' की आशा करना ही वैज्ञानिक है। परन्तु सम्पूर्ण वैदिक-विचारधारा उल्टी दिशा में बहती है। वैदिक-विचार यह है कि 'कर्म' करो, और 'फल' की आशा में मत बैठो। गीता की तो टेक ही यह है। वहाँ कहा है—

> **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**
> **मा कर्मफल हेतुर्भूः मा ते संगोस्त्वकर्मणि**। गीता, 2य अध्याय, 47

वैदिक-विचारधारा में जीवन का गुर ही यह है—कर्म करो, फल की तरफ़ से चुप रहो, कुछ मत बोलो। इस प्रकार उल्टी गंगा बहते देख कर हर-कोई शंका कर सकता है कि कारण-कार्य के नियम के विरुद्ध यह सीख क्यों?

गहराई से देखा जाय, तो कर्म के सम्बन्ध में विश्व के सामने 'निष्काम-कर्म' के अलावा अब तक दूसरा कोई सिद्धान्त आया ही नहीं जिसे वैज्ञानिक कहा

जा सके। हम कारण-कार्य के नियम की दुहाई देकर कहते हैं कि हमने 'कर्म' किया तो 'फल' की आशा करनी ही चाहिये, परन्तु जरा और गहरे उतर कर देखें, तो हमारा आग्रह 'फल' की आशा पर इतना नहीं होता जितना इस बात पर होता है कि जैसे फल की आशा हमें होती है, वैसा ही, अर्थात् 'इच्छित-फल' हमें मिलना चाहिये, उसी की हम बाट जोहते हैं।

'कर्म' तथा 'कर्म-फल' के सम्बन्ध में दो बातें जान लेनी आवश्यक हैं :

(क) **कर्म का व्यक्ति से, फल का समष्टि से सम्बन्ध है**—पहली बात तो यह समझ लेने की है कि कर्म का 'व्यक्ति' से सम्बन्ध है, फल का 'समष्टि' से सम्बन्ध है। मैं इकला जो कर्म करता हूँ उसके फल में सिर्फ़ मैं ही नहीं, अनेक व्यक्ति बीच में कारण बन कर आ पड़ते हैं। कर्म 'व्यक्ति' करता है, फल में 'समष्टि' आ खड़ी होती है; कर्म 'एक' करता है, फल में 'अनेक' अपना दावा पेश करते हैं। हिटलर (1889-1945) ने जर्मनी को खड़ा कर दिया, सेना का ऐसा संगठन किया जैसा किसी अन्य देश में नहीं था, चारों दिशाओं से हमला बोल दिया। जर्मन लोगों को आशा बँधी कि विश्व भर पर उनका शासन छा जायगा। परन्तु वे भूल गये कि संसार में जर्मनी ही तो नहीं था, इंग्लैंड भी था, अमरीका भी था, रूस भी था, सब से बढ़ कर विश्व की संचालिका-शक्ति का अपना संकल्प भी था। कर्म हिटलर ने किया, फल निकलने में हिटलर का कर्म ही कारण नहीं बना, इंग्लैंड, अमरीका, रूस आदि का कर्म भी उसमें जुड़ गया, विश्व की संचालिका-शक्ति का भी उसमें योगदान हुआ, और इन सब के जोड़ के परिणामस्वरूप जो-कुछ सोचा भी नहीं गया था वह भी हो गया, भारत भी स्वतन्त्र हो गया। संकुचित तथा स्वार्थमयी दृष्टि से विचार करने के स्थान पर विस्तृत-दृष्टि से देखा जाय, तो निष्काम-कर्म का सिद्धान्त कारण-कार्य के नियम का खण्डन नहीं करता, परन्तु कर्म करते हुए अपने इच्छित-फल की आशा करने के कारण इस सिद्धान्त में जो कचाई रह जाती है उसे दूर कर देता है। हम समझ रहे होते हैं कि इस कर्म में हम ही इकले कारण हैं, परन्तु हमारे अलावा बीच में अनेक अवान्तर-कारण आ पड़ते हैं जिन सब को जोड़ कर ही परिणाम निकलता है।

(ख) **कर्म का वर्तमान से, फल का भविष्य से सम्बन्ध है**—कर्म हम वर्तमान में करते हैं, फल भविष्य में होगा, कम-से-कम कर्म कर चुकने के बाद होगा। जो बात बाद में, भविष्य में होने वाली है, उसके लिये वर्तमान में आशा बाँध लेना कैसे युक्ति-संगत हो सकता है? बाद में क्या-क्या नवीन-तत्त्व बीच में आ पड़ेंगे—यह कौन जानता है? इस समय जब हम कोई कर्म कर रहे हैं, तब कुछ अवस्थाओं, कुछ परिस्थितियों से हम बँधे हुए हैं, अब के बाद नई अवस्थाएँ, नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती जाती हैं, उनमें जुड़ती चली जाती हैं। फल जो

होगा वह कर्म करते हुए वर्तमान में जो परिस्थिति थी सिर्फ़ उसका ही परिणाम नहीं होगा, कर्म करते समय जो परिस्थितियां थीं तथा कर्म कर चुकने के बाद बाद उसमें जो नवीन परिस्थितियां जुड़ती चली गईं, उन सब का जोड़ होगा। ऐसी अवस्था में सिर्फ़ वर्तमान के आधार पर किये गए कर्म का हमारा इच्छित-फल कैसे मिल सकता है ? कर्म-फल में वर्तमान के साथ भविष्य भी तो जुड़ा हुआ है !

3. निष्काम तथा सकाम में भेद

निष्काम तथा सकाम कर्म में जो मनोवैज्ञानिक भेद है उसे समझ लेने से स्पष्ट हो जायगा कि वैदिक-विचारधारा और विशेपकर गीता में निष्काम-कर्म को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है। इन दोनों में भेद निम्न हैं—

(क) **निष्काम-कर्म आकांक्षा-रहित है ; सकाम-कर्म आकांक्षा-सहित है**— निष्काम-कर्म में कोई आकांक्षा नहीं होती, इसलिये जो फल मिल जाय बहुत है, मन उद्वेलित नहीं होता, प्रसन्न रहता है। सकाम-कर्म में आकांक्षाओं का अम्बार लगा होता है, इसलिये जो भी फल मिलता है क्षुद्र प्रतीत होता है, और इसीलिये मन उद्वेलित रहता है, खिन्न रहता है। ग़रीब आदमी थोड़ा होने पर भी मस्त क्यों रहता है, अमीर आदमी बे-इन्तिहा होने पर भी परेशान क्यों रहता है ? एक मज़दूर की क्या आकांक्षा है ? वह मेहनत करता है, रोटी-कपड़े के लिये, बच्चों की परवरिश के लिये पैसा मिल जाता है, इससे अधिक उसकी आकांक्षा नहीं, वह चादर तान कर सोता है। एक अमीर की क्या आकांक्षा है ? उसके पास जरूरत से ज़्यादा पैसा है, बड़ा भारी मकान है, मोटर है, बच्चे अमरीका में पढ़ रहे हैं, परन्तु दिन-रात यही उधेड़-बुन है कि 2 लाख की जगह 3 लाख क्यों नहीं, 3 लाख की जगह 4 लाख क्यों नहीं, इसी परेशानी में तिल-तिल घुलता है, न दिन कोचैन पड़ती है, न रात को। निष्काम-कर्मी की आकांक्षाएँ सीमित हैं, सकाम-कर्मी की आकांक्षाएँ असीमित हैं, निष्काम-कर्मी की कामनाएँ—ज़रूरतें—बँधी-बँधाई हैं, सकाम-कर्मी की कामनाएँ एक-के-बाद दूसरी बढ़ती चली जाती हैं, उसकी कामनाओं का कहीं अन्त नहीं। असल में, जिसकी की कामनाओं का कहीं अन्त नहीं वही ग़रीब है, भले ही वह अनन्त धन-राशि का मालिक हो; जिसकी कामनाएँ सीमा में बँधी हैं, वही अमीर है भले ही उसकी तिजोरी में दस पैसे भी न हों। *निष्काम-कर्म दिल की अमीरी है, सकाम-कर्म दिल की ग़रीबी है।*

आकांक्षा न होने का यह अर्थ नहीं है कि निष्काम-कर्मी की कोई इच्छा होती ही नहीं। इच्छा तो हर-किसी की होती है, परन्तु निष्काम-कर्मी आकांक्षाओं, इच्छाओं का दास नहीं होता, इच्छाओं को एक-दूसरी के बाद

बढ़ाता ही नहीं जाता। सकाम-कर्मी एक इच्छा करता है, वह पूरी नहीं होती कि दूसरी खड़ी कर लेता है, और इसी घुमरघेरी में उसका जीवन समाप्त हो जाता है। निष्काम-कर्म तथा साकाम-कर्म में यह पहला मूल-गत मनोवैज्ञानिक भेद है।

(ख) निष्काम-कर्म बाधा-रहित है; सकाम-कर्म बाधा-सहित है—जब हम किसी निश्चित-फल की आशा को मन में लेकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तब मन में एक नक्शा बाँध लेते हैं। हम यह कर्म करेंगे, तो यह फल होगा—इस बात को हम पहले से तय कर लेते हैं, नहीं होता तो माथा पीटने लगते हैं। हमने देहरादून से दिल्ली जाना है। दिल्ली जाने वाली गाड़ी पर चढ़ जाते हैं। हमारे बिना जाने कुछ लुटेरे भी गाड़ी के उसी डिब्बे में सवार हो जाते हैं। एक यात्री पिछले डिब्बे में अपनी बन्दूक लिये बैठा है। डोईवाला स्टेशन से पहले जंगल आने पर लुटेरों ने गाड़ी लूटना शुरू किया, हमारा सामान लूट लिया, यात्री ने गोली चला दी, अचानक एक यात्री को गोली लगी, लुटेरे सामान ले कर भाग खड़े हुए, जंगल में एक शेर था, वह लुटेरों पर झपट पड़ा, उसने उनके चीथड़े उड़ा दिये। इस घटना में कितनी कामनाओं का टाकरा हुआ। सब अपने-अपने मन्सूबे बाँध कर दिल्ली जा रहे थे। हमारा सामान लुट गया, निरपराध यात्री मारा गया, पुलिस ने बन्दूक वाले यात्री को पकड़ लिया, लुटेरे सामान ले कर भाग गये, शेर ने उन्हें खा लिया। हुआ क्या कोई कर्म जिसमें बाधा न आ पड़ी हो? सकाम-कर्मी अपनी रूप-रेखा बना कर चलता है, उसे पता नहीं दूसरे भी अपनी रूप-रेखा बना कर उसी मार्ग पर चल रहे हैं, इनमें से किसी को पता नहीं कि किसका कर्म किसके कर्म से टकरा जायगा, और कौन-सा फल निकल आयगा। क्योंकि उसे उसका मन में पहले से निश्चित किया हुआ फल नहीं मिलता इसलिये वह बाधा को पाकर व्याकुल हो उठता है, चिल्लाने लगता है—हाय रे, क्या सोचा था क्या हो गया! निष्काम-कर्मी भी किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कर्म में प्रवृत्त होता है, परन्तु अपने मन में फल को भगवान् के हाथों सौंप कर चलता है—मजबूरी से नहीं, मन ही ऐसा बना कर चलता है—जो सामने आता है उसके लिए विश्व की संचालिका-शक्ति के सामने सिर झुका देता है, कह उठता है—ऐ मेरे मालिक, तुझे यही मन्जूर था। वह अपने मार्ग की किसी बाधा को बाधा नहीं समझता क्योंकि वह अपने मन में यह निश्चय कर के चला ही नहीं कि इस कर्म का यह फल निश्चयपूर्वक होगा-ही-होगा। इस दृष्टि से देखा जाय, तो कर्म में निश्चिन्तता हो ही तब सकती है जब वह निष्काम हो, फल की आशा के बिना हो, फल की आशा को बाँध कर कर्म किया जायगा, तो कदम-कदम पर बाधा दिखलाई देने लगेगी, हर बाधा मनुष्य को व्याकुल करेगी। जो व्यक्ति फल को निश्चित किये बिना किसी

प्रयोजन को लेकर कर्म में प्रवृत्त होगा उसके मार्ग में जब कोई बाधा आयगी, तो वह हँस कर कहेगा—अच्छा, आप भी रास्ते पर पड़ी थी, बहुत अच्छा, आप से भेंट हो गई, ऐसा ही सही। यह सब सिर्फ़ मनोवृत्ति का खेल है।

(ग) **निष्काम-कर्म दुःख-रहित है ; सकाम-कर्म दुःख-सहित है**—निष्काम-कर्मी के दुःखी होने की कोई सम्भावना नहीं, सकाम-कर्मी को दुःख बिना बुलाये घेरे रहता है। जैसा हम अभी कह चुके हैं, सकाम-कर्मी का अर्थ है—इच्छाओं पर इच्छाओं का उपजते जाना, और उनके फलित होने की आशा बांधते जाना। इच्छा एक तो नहीं है, अनेक इच्छाएँ होती हैं, इन अनेकों में से कोई एक पूरी होती है, अनेक अपूर्ण रह जाती हैं। ये अपूर्ण इच्छाएँ मनुष्य के दुःख का कारण बन जाती हैं। आज पत्नी के पत्र की प्रतीक्षा थी, डाकिये की दिन भर इन्तिज़ार होती रही, जो भी आता दीखता डाकिया ही प्रतीत होता, जब डाकिया आया तब पत्र नहीं लाया, दिल उदास हो गया, रोना आ गया। हम दूसरों से आशा बाँधते रहते हैं, आशा पूरी नहीं होती, तो निराश होकर दुःखी होते हैं। निष्काम-कर्मी संसार को वर्तमान में जैसा वह है वैसा ही देखता है, अपनी आशाओं की पुट देकर, अपने रंगीन चश्मे से उसे नहीं देखता, इसलिए घटनाएँ जैसी हैं वैसी ही उन्हें देखता है, इसलिए उसे दुःख नहीं होता।

निष्काम-कर्म के सम्बन्ध में प्रायः यह शंका उठा करती है कि अगर कर्म करते हुए फल की आकांक्षा न की जाय, तो कर्म करने में मनुष्य प्रवृत्त नहीं होगा। मनुष्य कर्म करता ही इसलिए है ताकि फल मिले, फल की आकांक्षा न हो, तो कर्म कौन करेगा ? फल ही कर्म करने में प्रेरणा का सूत्र है। इसका उत्तर गीता में बड़ा अद्भुत दिया है। वहाँ कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

गीता, तृतीय अध्याय, 5

कर्म करना तो मनुष्य का स्वभाव है। कोई भले ही कह दे कि वह कर्म नहीं करेगा, तो भी कर्म तो उसे करना ही होगा, बिना कर्म किये मनुष्य रह ही नहीं सकता, ऊब जाता है। गीता का यह कहना कि कर्म तो मनुष्य से छूट ही नहीं सकता, एक गम्भीर सत्य का उद्घाटन करना है। यह शंका उठाना निरर्थक है कि निष्काम-कर्म की बात करेंगे, तो मनुष्य कर्म करना ही छोड़ देगा। निष्काम-कर्म की चर्चा करने से कर्म छूटने से रहा, कर्म तो मनुष्य को अपने स्वभाव से करना पड़ेगा, प्रश्न यही रह जाता है कि कर्म करे तो क्या सकाम-भाव से करे या निष्काम-भाव से करे। इस शंका का उत्तर देते हुए गीता का कहना है कि कर्म की मीमांसा में कितनी ही गहराई में हम क्यों न चले जायें, निष्काम-भाव से कर्म करने से ही मनुष्य को चैन, शान्ति तथा सन्तोष

मिल सकता है, सकाम-भाव के रास्ते पर चलने से बेचैनी, अशान्ति तथा असन्तोष के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता।

संसार में सर्वत्र कर्म हो रहा है—जड़ में कर्म हो रहा है, चेतन में कर्म हो रहा है। प्रकृति का कर्म जड़ का कर्म है, मनुष्य का कर्म चेतन का कर्म है। प्राकृतिक-जगत् में फूल खिलते हैं, नदियाँ बहती हैं, वर्षा पड़ती है, सूर्य का प्रकाश फैलता है—ये सब कर्म स्वाभाविक रूप में, निष्काम-भाव से हो रहे हैं। मानवीय-जगत् में भी कर्म हो रहा है, परन्तु मनुष्य प्रकृति के साथ एक-रसता बनाये रखने के स्थान में अपने कर्म में 'कामना' का, 'वासना' का, 'इच्छित-फल' का अड़ंगा लगा देता है। जैसे प्रकृति का कार्य स्वभाव से प्रवाहित हो रहा है, वैसे मनुष्य का कार्य स्वभाव से, बिना कामना, बिना वासना के क्या प्रवाहित नहीं हो सकता? डॉक्टर रोगी का इलाज करता है, रोगी मर जाता है, डॉक्टर रोता नहीं; वकील मुवक्किल का मुकद्दमा लड़ता है, मुवक्किल हार जाता है, वकील परेशान नहीं होता; खिलाड़ी खेलते हैं, हार भी जाते हैं, हार जाने पर भी खिलखिलाने लगते हैं। अगर ये सब कर्म निष्काम-भाव से हो सकते हैं, तो क्या निष्काम-भाव की यही मनोवैज्ञानिक-दशा हमारे सब कामों में नहीं आ सकती?

4. निष्काम-कर्म के सम्बन्ध में दो तथ्य

'कर्म' तथा 'कर्म-फल' के सम्बन्ध में जिन बातों का हमने उल्लेख किया है उनको समझ लेने के बाद दो तथ्य स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पहला तथ्य यह है कि अगर 'निष्काम-कर्म' ही जीवन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, तो यह मान लेना पड़ेगा कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है; दूसरा तथ्य यह मान लेना पड़ेगा कि अगर वह फल भोगने में परतन्त्र है, तो उसे कर्म करने के बाद उस सत्ता के प्रति अपने को 'समर्पित' (Surrender) कर देना होगा जो कर्म-फलों की नियन्ता है क्योंकि कर्म करना तो अपने हाथ में है, कर्मों का फल तो सब कर्मों का जोड़ करने वाली शक्ति के हाथ में है। हम अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से परीक्षा में बैठते हैं, प्रत्येक उत्तर-पत्र के अंक मिलते हैं, परन्तु अंकों का जोड़ तो हम नहीं करते, टेब्युलेटर करता है, और उस जोड़ के अनुसार पास-फ़ेल की घोषणा रजिस्ट्रार कर देता है; हमारी आकांक्षा से काम नहीं चलता, अपने को सब अंकों का जोड़ घोषित करने वाले रजिस्ट्रार के निर्णय के सामने सौंप देना पड़ता है, यही 'समर्पण' की भावना है।

(क) **मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है**—हमने देखा कि 'कर्म' तथा उसका 'प्रत्याशित-फल' एक-दूसरे से बँधे हुए नहीं हैं। कर्म करने पर हम जिस फल की आशा बाँध लेते हैं, वह किसी एक व्यक्ति के कर्म

का फल नहीं होता उसमें अनेक व्यक्ति या अनेक कारण हिस्सेदार होते
इससे स्पष्ट है कि फल भोगने में मनुष्य उन अनेक कारणों के अधीन होत
जो हमारे कर्म के साथ मुख्य या गौण रूप में जुड़े होते हैं। दूसरे शब्दों में,
भोगने में वह उन सब कारणों के अधीन होता है, परतन्त्र होता है। हां, यह
ठीक है कि कर्म करने में वह परतन्त्र नहीं होता, कर्म करने में स्वतन्त्र होता
जो लोग नियति को, भाग्य को ही हर बात का नियामक मान लेते हैं, वे
सकते हैं कि मनुष्य फल भोगने में ही नहीं कर्म करने में भी परतन्त्र है, पि
कर्मों से बंधा हुआ है, परन्तु यह बात एकांत सत्य नहीं है। अगर मनुष्य जो-
करता है वह पिछले से ही बंधा हुआ है, तो प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पि
किस से बंधा हुआ है? इस प्रकार पीछे-पीछे जाते-जाते अनवस्था दोष आ ज
है, इसलिये किसी स्थान पर तो मानना ही पड़ता है कि इस स्थल पर मन
ने स्वतन्त्र रूप से कर्म किया था। अगर वह किसी भी समय स्वतन्त्र रू
कर्म कर सकता है, तो हर समय स्वतन्त्र-कर्म क्यों नहीं कर सकता? इ
अतिरिक्त, अगर यह कहा जाय कि किसी एक समय ही उसने स्वतन्त्र कर्म कि
था, उसके बाद उस कर्म के कारण मनुष्य सदा के लिये परतन्त्र हो जाता
तो यह नहीं माना जा सकता क्योंकि सिर्फ़ एक 'कर्म' से इस जन्म या ज
जन्मान्तर के अनेक 'कर्म' तथा 'कर्म-फल' नहीं उपज सकते। इस दृष्टि
'निष्काम-कर्म' का अवश्यम्भावी परिणाम यह सिद्धान्त उठ खड़ा होता है कि
मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में परतन्त्र है; इसलिये परतन्त्र
क्योंकि कर्म करने के बाद जिस फल की आशा हम बाँध बैठते हैं, वह हमारे
हाथ की बात नहीं होती, उसके लिये हम परतन्त्र होते हैं। इसी को गीता ने
कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**'।

(ख) **फल भोगने में परतन्त्र होने के कारण 'आत्म-समर्पण' ही एक रास्ता रह जाता है**—अगर यह बात ठीक है कि कर्म करने के बाद इच्छित-फल की आशा को छोड़ देना हमारे लिये लाज़मी है, हम चाहें-न-चाहें—फल हमारे हाथ की बात नहीं है, तब इसके सिवाय हमारे पास क्या रास्ता रह जाता है कि हम अपने को उस शक्ति के हाथों सौंप दें जिसका काम 'कर्म' तथा 'फल'—इन दोनों को अंक गणित के अनुसार मिला देना है। यही मार्ग 'आत्म-समर्पण' का मार्ग है, इसी को कहते हैं—'मेरी नहीं, तेरी इच्छा पूर्ण हो'। जब तक हम कहते रहते हैं कि मैंने यह कर्म किया, मुझे यह फल मिले, तब तक 'कर्म' तथा 'फल' के बीच हम भगवान् की जगह अपने को खड़ा कर लेते हैं। कितनी हिमाकत है। कर्म का फल तेरी दृष्टि से होगा या समष्टि की दृष्टि से होगा? सृष्टि का नियन्त्रण 'वह' कर रहा है या 'तू' कर रहा है? तेरी दृष्टि कुएँ में तैरते मेंडक की दृष्टि है, तुझे अपने सिवाय कुछ नहीं दीखता, उसकी दृष्टि

विश्व के संचालक की, विराट् की दृष्टि है। कर्म का रहस्य निष्काम-कर्म है, और निष्काम-कर्म का अर्थ कर्म करके फल को अपने ऊपर नहीं, उसके ऊपर छोड़ देना है—इसी का दूसरा नाम 'आत्म-समर्पण' है।

जिन दो तथ्यों का हमने निरूपण किया वे निष्काम-कर्म के सिद्धान्त के अवश्यम्भावी निष्कर्ष हैं।

5. निष्काम-कर्म पर लोकमान्य तिलक का स्पष्टीकरण

लोकमान्य तिलक (1856-1920) पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह घोषित किया कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य-विषय 'ज्ञान' नहीं है, 'भक्ति' नहीं है, अपितु 'कर्म' है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषय को देखने के लिये उसका आदि देखना चाहिये, अन्त देखना चाहिये, और यह देखना चाहिये कि पुस्तक के बीच में बार-बार किस बात को दोहराया गया है। जो बात शुरू में कही गई हो, जो बात बीच-बीच में दोहराई गई हो, जो अन्त में कही गई हो, वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-विषय हो सकता है। इसी को मीमांसक कहते हैं--'**उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्**'—उपक्रम में, उपसंहार में, अभ्यास अर्थात् बार-बार दोहराने में जो बात कही जाय—'**लिंगं तात्पर्य-निर्णये**'—ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में उसी बात को प्रधानता दी जानी चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रश्न होता है कि गीता का प्रारम्भ कैसे हुआ, बीच में क्या बात कही गई, अन्त कैसे हुआ? कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने बुजुर्गों, गुरुओं, सगे-सम्बन्धियों को खड़े देखकर अर्जुन घबड़ा उठा, गांडीव उसके हाथ से गिर गया, वह संन्यास लेने के लिये तैयार हो गया, कर्म छोड़ बैठा। जब गीता का उपदेश हो चुका तब उसने श्रीकृष्ण से कहा—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव**'—हे अच्युत! मेरा मोह नष्ट हो गया, जैसा आप कहेंगे मैं वैसा करूँगा। अन्त में अर्जुन ने गांडीव धनुष पकड़ा, गुरुओं, सगे-सम्बन्धियों को मौत के घाट उतार दिया। जो अर्जुन कर्म छोड़ चुका था वह कर्म में प्रवृत्त हुआ, तब यह कैसे कहा जाय कि गीता में 'ज्ञान-योग' है, या 'भक्ति-योग' है? लोकमान्य तिलक का कहना है कि गीता का आदि, मध्य, अन्त इस बात के साक्षी हैं कि गीता का प्रतिपाद्य-विषय 'कर्म-योग' है, अन्य योगों का वर्णन अवान्तर रूप से किया गया है।

निष्काम-कर्म की वैज्ञानिकता की व्याख्या करते हुए श्री तिलक अपने 'गीता-रहस्य' के पृष्ठ 326 में लिखते हैं—"अपने फ़ायदे के सिवा इस संसार में जिन्हें दूसरा कुछ नहीं दीख पड़ता, और जो पुरुष केवल फल की इच्छा से ही कर्म करने में मस्त रहते हैं, उन्हें सचमुच फलाशा छोड़कर कर्म करना शक्य न

न जँचेगा; परन्तु जिनकी बुद्धि ज्ञान से सम और विरक्त हो गई है, उनके लिये कुछ कठिन नहीं है। पहले तो यह समझना ही ग़लत है कि हमें किसी काम का जो फल मिलता है वह केवल हमारे ही कर्म का फल है। यदि पानी की द्रवता और अग्नि की उष्णता की सहायता न मिले, तो मनुष्य कितना ही सिर क्यों न खपावे, उसके प्रयत्न से पाक-सिद्धि नहीं हो सकती—भोजन पकेगा ही नहीं, और अग्नि आदि इन गुण-धर्मों को मौजूद रखना या न रखना मनुष्य के वस की वात नहीं है। इसी से कर्म-सृष्टि के इन स्वयं-सिद्ध विविध व्यापारों का पहले यथा-शक्ति ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को उसी ढंग से अपने व्यवहार करने पड़ते हैं जिससे ये व्यापार अपने प्रयत्न के अनुकूल हों। इससे यह कहना चाहिये कि प्रयत्नों से मनुष्य को जो फल मिलता है वह केवल उसके ही प्रयत्नों का फल नहीं है, वरन् उसके कार्य तथा कर्म-सृष्टि के तदनुकूल अनेक स्वयं-सिद्ध-धर्म—इन दोनों के संयोग का फल है। परन्तु प्रयत्नों की सफलता के लिये इस प्रकार जिन नानाविध सृष्टि-व्यापारों की अनुकूलता आवश्यक है, कई वार उन सवका मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता और कुछ स्थानों पर तो होना शक्य भी नहीं है, इसे ही 'दैव' कहते हैं।···कर्म-सृष्टि के ज्ञात और अज्ञात व्यापारों का मानवी प्रयत्नों से संयोग होने पर जो फल होता है, वह केवल कर्म के नियमों से हुआ करता है, इसलिये हम फल की अभिलाषा करें या न करें, फल-सिद्धि में इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, हमारी फलाशा अलवत्त: हमें दुःखकारक हो जाती है। परन्तु स्मरण रहे, कर्म-सृष्टि के व्यापार स्वयं अपनी ओर से संगठित होकर भी काम नहीं करते। चने की रोटी को स्वादिष्ट वनाने के लिये जिस प्रकार आटे में थोड़ा-सा नमक भी मिलाना पड़ता है, उसी प्रकार कर्म-सृष्टि के इन स्वयं-सिद्ध व्यापारों को मनुष्यों के उपयोगी होने के लिये उसमें थोड़ा-सा मानवी प्रयत्न भी मिलाना पड़ता है। तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल होना तेरे अधिकार की वात नहीं है (गीता 2-47)—यह उपदेश जो अर्जुन को दिया गया है उसका रहस्य यही है। इस प्रकार फलाशा को त्याग कर कर्म करते रहने पर, आगे कुछ कारणों से कदाचित् कर्म निष्फल हो जाय, तो निष्फलता का दुःख मानने के लिये हमें कोई कारण नहीं रहता क्योंकि हम तो अपने अधिकार का काम कर चुके। उदाहरणार्थ, वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार हज़ारों रोगियों को दवाई दिया करते हैं। इस प्रकार निष्काम-बुद्धि से काम करने पर यदि कोई रोगी चंगा न हो, तो उससे वह वैद्य उद्विग्न नहीं होता, वल्कि शान्त-चित्त से यह शास्त्रीय नियम ढूंढ निकालता है कि अमुक रोग में अमुक औषधि से फ़ी सैंकड़े इतने रोगियों को आराम होता है, इतनों को नहीं होता। परन्तु इसी वैद्य का लड़का जव वीमार पड़ता है, तव उसे औषधि देते हुए यह फ़ी सैंकड़े वाली वात भूल जाती है और ममतायुक्त फलाशा से उसका

चित्त घबड़ा जाता है कि मेरा लड़का अवश्य अच्छा हो जाय। इसी से उसे या तो दूसरा वैद्य बुलाना पड़ता है, या दूसरे वैद्य की सलाह की आवश्यकता होती है। इस छोटे से उदाहरण से ज्ञात होगा कि कर्म-फल में ममता रूप आसक्ति किसे कहना चाहिये, और फलाशा न रहने पर भी निरी कर्त्तव्य-बुद्धि से भी कोई काम किस प्रकार किया जा सकता है।"

श्री तिलक-प्रतिपादित निष्काम-कर्म का यह वैज्ञानिक आधार है।

6. निष्काम-कर्म पर योगिराज श्री अरविन्द का स्पष्टीकरण

श्री अरविन्द (1872-1955) ने गीता पर 'Essays on the Gita' लिखे हैं। उनका कहना है कि गीता का प्रतिपाद्य-विषय कर्म-योग नहीं है। जो लोग गीता का प्रतिपाद्य-विषय 'कर्म-योग' कहते हैं, वे ऐसा पाश्चात्य-प्रभाव के कारण कहते हैं। पाश्चात्य-विचार के अनुसार समाज-सेवा, देश-सेवा, लोक-सेवा आदि हमारा कर्त्तव्य है, यही विचार लेकर वंकिमचन्द्र चटर्जी तथा लोकमान्य तिलक ने गीता की कर्म-परक व्याख्या की है, वस्तुतः गीता का प्रतिपाद्य-विषय कर्म नहीं है—ऐसा श्री अरविन्द का मत है।

हम कहते हैं कि मनुष्य को अपना 'कर्म' कर्त्तव्य समझकर करना चाहिये। सिपाही का यह कर्त्तव्य है कि वह लड़े, हुकुम पाते ही गोली मार दे चाहे उसके सामने वाला उसका बुज़ुर्ग हो, गुरु हो, रिश्तेदार हो; जज का कर्त्तव्य है कि वह अपराधी को जेल भेज दे, खूनी को फाँसी की सजा दे; वकील का कर्त्तव्य है कि अपने मवक्किल की पैरवी करने में पूरी कोशिश करे चाहे वह जानता हो कि उसका मवक्किल कसूरवार है। कहा जाता है कि यह 'कर्म-योग' है, परन्तु यदि मनुष्य की आन्तरिक-दृष्टि बदल जाय, सिपाही का हृदय टौलस्टौय जैसा हो जाय और वह समझने लगे कि किसी भी मनुष्य की जान लेना वैसा ही घृणित काम है जैसा किसी मनुष्य का मांस खाना, यदि जज को यह आन्तरिक-विश्वास हो जाय कि किसी मनुष्य को फांसी देना मानवता की दृष्टि से पाप है, यदि वकील की आँख खुल जाय और वह यह देखने लगे कि झूठ सदा पाप ही है, तब क्या होगा? क्या तब भी 'कर्म-योग' की दुहाई देकर सिपाही को लड़ना ही पड़ेगा, जज को अपना आन्तरिक-विश्वास दबाना ही पड़ेगा, वकील को झूठे मवक्किल की पैरवी करनी ही होगी? ऐसा 'कर्म-योग' किस काम का जो अन्तरात्मा को दबाये, और इस प्रकार के 'कर्म-योग' की गीता में हिमायत होगी—यह सम्भव नहीं है। बुद्ध ने राज छोड़ दिया, रामकृष्ण परमहंस ने घर-बार छोड़ दिया, विवेकानन्द ने भी सब-कुछ छोड़ दिया। क्या गीता बुद्ध को यह उपदेश देगी कि राज करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना उसका कर्त्तव्य था, इन्हें छोड़ कर उसने अच्छा नहीं किया, क्या गीता

परमहंस रामकृष्ण तथा विवेकानन्द को यह उपदेश देगी कि घर-गृहस्थी को छोड़ कर जो उन्होंने अपने को भगवान् के अर्पण कर दिया यह ठीक नहीं किया। जब किसी के अन्तरात्मा में उस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाय जैसी बुद्ध (563-483 ई० पू०), रामकृष्ण परमहंस (1834-1866), विवेकानन्द (1863-1902) के हृदय में उत्पन्न हो गई, तब सभी कर्त्तव्यों को त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पड़ता है।

अर्जुन के सम्मुख भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वह सिपाही था, इसलिये उसे युद्ध करने के लिए कहा जा रहा था। उसे कहा जा रहा था कि युद्ध करना उसका धर्म है। सामने कोई भी हो, गुरु हो, भाई हो रिश्तेदार हो—सिपाही का काम युद्ध में शस्त्र हाथ से फेंक देना नहीं। परन्तु क्या यह बात जँचती है कि अर्जुन की अन्तरात्मा उसे युद्ध से विरत कर रही हो, और श्रीकृष्ण उसे कह रहे हों कि तुम्हें युद्ध करना ही होगा क्योंकि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है? अर्जुन की तो कठिनाई ही यह थी कि भले ही युद्ध करना उसका कर्त्तव्य था किन्तु उसकी अन्तरात्मा की पुकार उसे युद्ध से विरत कर रही थी, ठीक ऐसे जैसे आँख खुल जाने पर वकील अपने झूठे मवक्किल की पैरवी करना छोड़ देता है, जैसे बुद्ध ने ज्ञान की आँख खुलने पर राज-पाट छोड़ दिया, परमहंस रामकृष्ण और विवेकानन्द ने घर-बार छोड़ दिया। अर्जुन को यह कहना कि तुम सैनिक हो, सैनिक का काम करो, काटो-मारो, चाहे पाप हो, चाहे पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो उसका विचार न करके निष्काम-भाव से अपना कर्म करो—श्री अरविन्द का कहना है कि ऐसी सीख किसी राज्य की ओर से हो सकती है, राजनीतिज्ञ ऐसा कह सकते हैं परन्तु कोई महान् धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य ही जीवन और कर्म के प्रश्न को जड़-मूल से हल करना हो, ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता। यदि इस प्रकार के नैतिक प्रश्न के विषय में गीता को यही बात कहनी होती, तो इसे संसार के महान् ग्रन्थों की सूची से अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कहीं रखना ही हो, तो राजनीति-शास्त्र की किसी लाइब्रेरी में रख देना होगा।

अगर 'कर्म-योग' गीता का प्रतिपाद्य-विषय नहीं है, तो श्री अरविन्द के विचार में गीता का प्रतिपाद्य-विषय क्या है? श्री अरविन्द का कहना है कि गीता राजनीति-शास्त्र का ग्रन्थ नहीं, बल्कि आध्यात्मिक-जीवन का ग्रन्थ है। श्री अरविन्द के अनुसार गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह 'मानव-कर्म' (Human action) नहीं, अपितु 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है। 'मानव-कर्म' क्या है, और दिव्य-कर्म' क्या है? मानव-कर्म को उन्होंने 'मानव-धर्म' कहा है, दिव्य-कर्म को उन्होंने 'दिव्य-धर्म' कहा है।

जिन्हें हम कर्त्तव्य-कर्म कहते हैं वे सब 'मानव-धर्म' हैं। समाज ने जिन कर्त्तव्यों को हमारे लिए निश्चित किया है, ये 'दिव्य-धर्म' नहीं, 'मानव-धर्म' हैं। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय के लिये क्षात्र-कर्म —ये सब 'दिव्य-धर्म' नहीं कहे जा सकते, ये सब 'मानव-धर्म' हैं। सिपाही युद्ध में जिसे सामने आते देखे उसी पर गोली दाग दे, वकील अपने सच्चे-झूठे मुवक्किल की जी-जान से पैरवी करे, जज हर अपराधी को जेल भेज दे—ये सब 'मानव-धर्म' हैं, 'दिव्य-धर्म' नहीं। 'मानव-धर्म' का अर्थ है—'सामाजिक-धर्म'। समाज ने अपनी आवश्यकताओं के लिये जो उचित समझा वह मनुष्य का कर्त्तव्य निश्चित कर दिया। समाज की आवश्यकता बदल जाय तो यह धर्म, यह कर्म भी बदल जाय। जो कर्म मानव-समाज की आवश्यकता के अनुसार बदल सकता है, आज वह कर्त्तव्य-कर्म है, आवश्यकता बदल जाने पर कल वह अकर्त्तव्य-कर्म हो सकता है, ऐसे कर्म के लिये गीता जैसा महान्-ग्रन्थ क्या यह उपदेश दे सकता है कि उसे आँख मींच कर करते जाओ, चाहे वह पुण्य का कर्म हो, चाहे पाप का, चाहे तुम्हारी अन्तरात्मा उसे करने की गवाही देती हो, चाहे न देती हो, चाहे वह बुजुर्गों, भाई-भतीजों के खून की नदियाँ बहाने का ही कर्म क्यों न हो? श्री अरविन्द कहते हैं कि गीता की यह शिक्षा नहीं हो सकती। श्री अरविन्द का कहना है कि गीता मानव को 'मानव-कर्म' के लिये नहीं, 'दिव्य-कर्म' के लिये प्रेरित करती है। 'दिव्य-कर्म' क्या है? इस विश्व का नियन्त्रण मनुष्य नहीं कर रहा, भगवान् कर रहा है, कोई दैवी-शक्ति कर रही है। उस दिव्य-शक्ति का विश्व के संचालन में जो उद्देश्य है उस उद्देश्य के साथ एकतानता उत्पन्न कर लेना, उस उद्देश्य को पूर्ण करने में अपनी शक्ति लगा देना ही 'दिव्य-कर्म' है। 'दिव्य-उद्देश्य' (Divine Purpose) को पूर्ण करने वाला कर्म 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है, और जब मनुष्य दिव्य-कर्म करने लगता है तब वह मानो स्वयं कर्म नहीं कर रहा होता, मनुष्य को माध्यम बना कर भगवान् ही कर्म कर रहा होता है, मनुष्य तो निमित्तमात्र होता है—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'। 'दिव्य-कर्म' का यह अर्थ नहीं है कि उसमें 'मानव-कर्म' आ नहीं जाता, या इन दोनों का सदा विरोध है। समाज-सेवा, अपने-अपने चातुर्वर्ण्य का पालन, समाज के निश्चित किए हुए कर्त्तव्य-कर्म—ये सब 'दिव्य-कर्म' के अंग हो सकते हैं, आजकल के युग में ये 'दिव्य-कर्म' के अंग हैं भी, इसीलिये ये चल भी रहे हैं, परन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जब 'दिव्य-कर्म' और 'मानव-कर्म' में विरोध उठ खड़ा हो। बुद्ध के जीवन में ऐसा अवसर आया, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द के जीवन में भी ऐसा अवसर आया। उस समय उन्होंने 'मानव-कर्म' को, उस कर्म को जिसे हम 'कर्त्तव्य-कर्म' कहते हैं, परे फेंक कर 'दिव्य-कर्म' को पकड़ा, अन्तरात्मा की पुकार सुनी, अपने भीतर बैठे परमात्मा के आदेश का

पालन किया, सांसारिक कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के मोह में नहीं पड़े। गीता का प्रतिपाद्य-विषय यही 'दिव्य-कर्म' है, यही 'निष्काम-कर्म' है।

तो फिर, अर्जुन की समस्या का श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से क्या हल हुआ? श्री अरविन्द कहते हैं कि गीता बड़े जोर से बतलाती है कि मनुष्य 'कर्म' का कर्त्ता नहीं है, कर्त्री प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी प्रकृति-शक्ति ही मनुष्य के द्वारा कर्म करती है। हमें यह साफ़-साफ़ देख लेना होगा, और सीख लेना होगा कि कर्म के कर्त्ता हम नहीं हैं, प्रकृति है। प्रकृति भी क्या है? प्रकृति से भी परे, प्रकृति का भी नियन्त्रण करने वाला, प्रकृति का आधार तथा इसका स्वामी एक चेतन है, प्रभु, इस सबका नियन्त्रण करने वाला पर-ब्रह्म। वह अपने जीवों के हृदय में विराजमान है, कर्मों का नियामक है, यह वही है जो कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में जीवित सेनाओं को भी उनके कर्मों के कारण पहले ही मार चुका है, जो अर्जुन को इस संहार में केवल यन्त्र या निमित्त-मात्र बनाये हुए है। अर्जुन क्योंकि दिव्य-शक्ति का निमित्तमात्र है, उसी का एक यन्त्र है, इसलिये उसका अपने कर्मों पर कुछ भी दावा नहीं है, अधिकार नहीं है, वह जो-कुछ करेगा अधिकार छोड़ कर करेगा, ये कर्म क्योंकि अर्जुन के नहीं, भगवान् के हैं, इसलिये इन कर्मों में कोई फलाकांक्षा नहीं हो सकती, ये निष्काम हैं। श्री अरविन्द के 'दिव्य-कर्म' का यही रूप है। 'दिव्य-कर्म'-शब्द गीता के चतुर्थ अध्याय के नवें श्लोक में आया है।

श्री अरविन्द के 'दिव्य-कर्म' के इस सिद्धान्त से हमें क्या सीख मिलती है? हमें इससे यह सीख मिलती है कि हम में से जिसके हृदय में भी दिव्य-चेतना जागृत हो जाय, उसका कर्म मानव-कर्त्तव्य या सामाजिक-व्यवहार के लिये अपने को न्यौछावर कर देना नहीं है, उसका कर्म दिव्य-चेतना के स्पन्दन के साथ अपने को एकरस कर देना है भले ही इस प्रकार 'मानव-कर्म' तथा 'दिव्य-कर्म' में संघर्ष ही क्यों न पैदा हो जाय। ऐसे ही संघर्ष में से बुद्ध, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गांधी गुज़रे और उन्होंने 'मानव-धर्म' की अपेक्षा 'दिव्य-धर्म' को प्रधानता दी।

श्री अरविन्द क्योंकि एक महान् आध्यात्मिक-विचारक हुए हैं इसलिये निष्काम-कर्म के सम्बन्ध में उनका विचार हमने यहाँ दे दिया है।

7. निष्काम-कर्म पर आचार्य विनोबा भावे का स्पष्टीकरण

आचार्य विनोबा भावे (जन्म—1895) के अनुसार गीता का कहना है कि 'कर्म' का रहस्य बड़ा गूढ़, गहन है। इस आशय के गीता के दो श्लोक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं—

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यं च विकर्मणः
अकर्मणश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः। गीता, 4—17

कर्म में हृदय की आर्द्रता न रही, तो 'स्व-धर्म'-रूपी कर्म सूखा रह जायगा, उस में निष्कामता रूपी फल-फूल नहीं लगेंगे। 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' (विशेष-कर्म) मिल जाता है, बाह्य के साथ जब आन्तर का मेल होता है, जब तेल और बत्ती के साथ ज्योति का मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। विनोबा कहते हैं कि 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' (विशेष-कर्म) का मेल होता है तब 'निष्कामता' आती है। बारूद में बत्ती लगाने से धड़ाका होता है। बारूद में एक शक्ति उत्पन्न होती है। 'कर्म' को बन्दूक की बारूद समझो। उस में 'विकर्म' की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक 'विकर्म' (विशेष-कर्म) आकर नहीं मिलता, तबतक वह 'कर्म' जड़ है, उस में चैतन्य नहीं। एक बार जहाँ 'विकर्म' की चिनगारी उस में गिरी कि फिर उस 'कर्म' में जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेब में पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहां उसमें बत्ती लगी कि शरीर की चिन्दी-चिन्दी उड़ी। 'कर्म' में 'विकर्म' के जुड़ते ही अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जाते हैं। 'कर्म' में 'विकर्म' डाल देने से 'कर्म' दिव्य दिखलाई देने लगता है। माँ बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर हाथ यों ही इधर-उधर फिर गया। दोनों हाथ फेरने में कितना अन्तर है? हाथ फिराने की यह क्रिया बिल्कुल क्षुद्र है, परन्तु उस में माँ का हृदय उँड़ेला हुआ है इसलिये बच्चे का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। दूसरे हाथ फेरने में कोई भावना नहीं, इसलिये उस से झुँझलाहट होती है।

(ख) कर्म तथा अकर्म—विनोबा का कहना है कि 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' का जोड़ मिल जाता है तब शक्ति-स्फोट होता है, और उस में से 'अकर्म' का निर्माण होता है। लकड़ी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह बड़ा लकड़ी का टुकड़ा, अन्त में चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है उस की। खुशी से उसे हाथ में ले लीजिये और सारे बदन पर मल लीजिये। इस तरह 'कर्म' में 'विकर्म' की ज्योति जला देने से अन्त में 'अकर्म' हो जाती है। 'कर्म' में 'विकर्म' उँडेल देने से 'अकर्म' हो जाता है—इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्त्ता रहते हैं। गीता कहती है कि मार कर भी तुम मारते नहीं। माँ बच्चे को पीटती है, इसलिये तुम तो जरा उसे पीट कर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके आँचल में मुँह छिपाता है। क्यों? क्योंकि माँ के 'कर्म' में 'विकर्म' छिपा हुआ है, इसलिये माँ का मारना न-मारना हो जाता है, 'कर्म' ही 'विकर्म' के कारण 'अकर्म' हो जाता है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम-भाव से है।

उस कर्म में उसका स्वार्थ नहीं है। 'विकर्म' के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है।

गीता कहती है कि 'स्व-धर्म' रूपी 'कर्म' को 'विकर्म' की सहायता से 'अकर्म' कर देना हमारा ध्येय है। इसका क्या अर्थ हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि 'कर्म' से गीता का अभिप्राय अन्य किसी कर्म से नहीं, 'स्व-धर्म' से है। यह 'स्व-धर्म' त्रास या कष्ट दे सकता है। अगर इस 'कर्म' को करने के लिये 'विकर्म' का पल्ला पकड़ लिया जाय, तो यह 'कर्म' ऐसा हो जाता है जैसे 'अकर्म' हो, 'कर्म' किया ही न हो। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये हम कह सकते हैं कि सूर्य उदय होता है, पर उसके मन में क्या कभी यह भाव आता है कि मैं अन्धेरा मिटाऊँगा, पंछियों को उड़ने की प्रेरणा दूंगा ? वह तो उदय होता है, बस, उसका अस्तित्वमात्र विश्व को गति देता है। उसका कर्म सहज-स्वभाव का होने के कारण अकर्म हो जाता है, उस में उसे कष्ट या त्रास नहीं होता। तभी गीता में कहा है कि मैंने 'कर्मयोग' का यह रहस्य पहले-पहल विवस्वान् को सिखाया। विवस्वान् का अर्थ है—सूर्य। सूर्य कर्म करता है, जो अकर्म हो जाता है। 'सूर्य ने मनु को सिखाया' का अर्थ है कि सूर्य से यह करने-न-करने का गुर मनुष्य ने सीखा क्योंकि मनु मानव का प्रतीक है। ज्ञानी यदि कहे कि मैं उपकार नहीं करूँगा तो उसके लिये यह असम्भव है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का कर्म, अकर्म की दशा को पहुँच गया है, उसके स्वभाव का अंग हो गया है।

(ग) **कर्म में अकर्म**—गीता कहती है कि कर्म के रहस्य को वह जानता है जो कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को जानता है। कर्म में अकर्म को जानने का क्या अर्थ है ? जिस तरकीब से दुनिया-भर के कर्म करते हुए भी वे सब गल कर बह जाएँ, वह कर्म का अकर्म हो जाना है। विनोबा कहते हैं कि सूर्य दिन-रात कर्म करता है, परन्तु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ नहीं करता। सन्त पुरुष का जीवन ऐसा ही होता है। वह कर्म करता है, परन्तु वह कर्म ऐसा होता है जैसे सूर्य का प्रकाश देना। 'कर्म' कर्म तो तब लगे जब उसे करने में भार हो, जब मालूम ही न हो कि मैंने कर्म किया, जब यह स्वभाव का अंग हो जाय, तब कर्म अकर्म हो जाता है और तब कर्म के रहस्य को जानने वाला कर्म में अकर्म को देख लेता है।

(घ) **अकर्म में कर्म**—गीता ने कहा कि कर्म के रहस्य को जानने वाला जहाँ कर्म में अकर्म को जान लेता है वहाँ अकर्म में कर्म को भी जान लेता है। इसका क्या अर्थ है ? विनोबा इस बात को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त देते हैं। किसी मनुष्य को गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूल से वह गुस्से हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलता नहीं। अब उसके अबोल का, कर्म-त्याग का कितना प्रचण्ड परिणाम होता है। माँ या बाप ने बच्चे

से बोलना बन्द कर दिया तो उसका परिणाम कितना जबर्दस्त होता है। उस बोलने के कर्म को छोड़ देने से, उस कर्म को न करने से, 'अकर्म' ही इतना प्रचण्ड 'कर्म' होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उतना परिणाम नहीं हो सकता। यह अकर्म में कर्म देख लेना है।

(ङ) **सकाम-कर्म तथा निष्काम-कर्म में भेद**—विनोबा भावे का कथन है कि सकाम-कर्म तथा निष्काम-कर्म—इन दोनों में पहला भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति की दृष्टि सदा 'फल' की तरफ़ रहती है, निष्काम-व्यक्ति की दृष्टि सदा 'कर्म' की तरफ़ रहती है। असली वस्तु तो 'कर्म' है। 'कर्म' जितनी तन्मयता से किया जायगा उतना ही तो 'फल' भरपूर होगा। क्योंकि सकाम-व्यक्ति की दृष्टि दो बातों पर रहती है, इसलिये उस में 'कर्म' के प्रति उतनी तन्मयता नहीं रह सकती जितनी निष्काम-व्यक्ति की रह सकती है क्योंकि उसके ध्यान का केन्द्र तो सिर्फ़ 'कर्म' होता है। सकाम-निष्काम में दूसरा भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति सदा स्वार्थ की दृष्टि से देखता है, 'उस की कामना'—यह मनोभाव उस में सदा प्रधान रहता है, इसीलिए स्वार्थ-दृष्टि में दूसरे का अहित भी हो सकता है। निष्काम-व्यक्ति कभी स्वार्थ-दृष्टि से नहीं देखता क्योंकि उसकी फल में आसक्ति ही नहीं होती, इसलिये उसके कर्म से दूसरे का अहित नहीं होता। सकाम-निष्काम में तीसरा भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति क्योंकि फलासक्त होता है इसलिये फल न मिलने पर वह दु:खी होता है, निष्काम-व्यक्ति क्योंकि फलासक्त नहीं होता इसलिये सिद्धि-असिद्धि में वह समरस रहता है, फल मिलने पर वह आपे से बाहर नहीं हो जाता, फल न मिलने पर सिर नहीं पीटने लगता।

विनोबा भावे का कहना है कि निष्काम-कर्म स्वत: एक फल है इसलिये निष्काम-व्यक्ति किसी अन्य फल की तरफ़ नहीं देखता, फल पर फल क्या लगेगा? निष्काम-कर्म स्वत: फल कैसे है? चित्रकार जब चित्र बनाता है तब अगर कोई उसे कहे कि चित्र मत बनाओ, तुम्हें जितने पैसे चाहियें हम देंगे, तो क्या वह चित्र बनाना छोड़ देगा? कवि को कहो कि कविता न करे, कविता के बदले पैसे ले ले, तो क्या वह पैसे लेकर कविता करना छोड़ देगा? चित्रकार चित्र बनाता है, कवि कविता करता है, वे इसे अपना 'कर्म' समझ कर करते हैं, किसी 'फल' की आसक्ति से नहीं, इसीलिये पैसे के लिये चित्र बनाने वाले की अपेक्षा चित्र के लिये चित्र बनाने वाला, पैसे के लिये कविता करने वाले की अपेक्षा कविता के लिये कविता करने वाला ज़्यादा मग्न रहता है। इनका अपने काम में मग्न रहना ऐसा ही है जैसे सूर्य का चौबीसों घण्टे संसार में प्रकाश फैलाना, चाँद का चाँदनी बखेरना, आकाश का जल बरसाना और हवा का शीतल पवन

बहाना, इस प्रकार के निष्काम-कर्म के सम्मुख सकाम-कर्म अपने-आप तुच्छ बन जाता है।

8. निष्काम-कर्म पर आचार्य रजनीश का स्पष्टीकरण

आचार्य रजनीश (जन्म—1930) का कहना है कि श्रीकृष्ण से पहले 'संन्यास' का अर्थ निषेधात्मक (Negative) समझा जाता था। यह विचार प्रचलित था कि 'कर्म' बन्धन का कारण है, कर्म से ही जन्म-मरण का चक्र चलता है, इसलिये सब 'कर्म' छोड़ दो, घर-बार छोड़ दो, निष्क्रिय हो जाओ। श्रीकृष्ण ने 'संन्यास' को एक नया अर्थ दिया। अर्जुन के मन में प्रचलित-संन्यासी की भावना प्रबल वेग से उठ रही थी, वह जीवन की समस्या का मुकाबिला करने के स्थान में उस से भाग जाना चाहता था, पलायनवादी-प्रवृत्ति (Escapism) का शिकार हो रहा था, सब-कुछ छोड़ कर 'अकर्म' में चला जाना चाहता था। श्रीकृष्ण ने कहा—संसार से भाग कर कहाँ जाओगे, संसार में तो कर्म करते हुए ही रहना पड़ेगा, संसार की परिस्थितियों से भागने के बजाय अन्दर की वासनाओं के संसार से भागोगे तब कर्म के बन्धन से छूटोगे। संसार से क्यों भागना चाहते हो? इसलिये भागना चाहते हो क्योंकि संसार में दुःख है, जहाँ दुःख है वहाँ से हट जाओ, जंगल में भाग जाओ, संन्यास ले लो, तो दुःख से छुटकारा हो जायगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि संसार में दुःख नहीं है, परिस्थिति से दुःख उत्पन्न नहीं होता, संसार से हट जाने से, परिस्थिति से भाग जाने से, कर्म ही छोड़ देने से दुःख दूर नहीं होगा। श्रीकृष्ण की 'बुनियादी खोज' (Basic discovery) यह है कि दुःख बाहर से नहीं आता, भीतर से आता है, अपने भीतर से, मन से आता है। दुःख इच्छाओं से, वासनाओं से आता है, इसलिये संसार का त्याग संन्यास नहीं है, वासना का त्याग संन्यास है। अगर जंगल में भाग जाने पर मन में दुकान की वासना लेकर जा बैठे तो जंगल में दुकान खुल गई, अगर दुकान में बैठ कर भी मन में से वासना का त्याग कर दिया तो दुकान भी जंगल हो जाती है। इसलिये कर्म को नहीं छोड़ना, वासना को छोड़ना है। यही श्रीकृष्ण की धर्म के सम्बन्ध में सब से बड़ी खोज है। अगर तुम तुम ही रहे, तो कहीं भी भाग जाओ, जंगल में जाओ, गुफाओं में जाओ, हिमालय की चोटी पर आँखें मूंद कर बैठ जाओ, जब आँखें खोलोगे दुःख तुम्हारे सामने खड़ा होगा। दुःख चित्त में निवास करता है, इसलिये सांसारिक-परिस्थिति बदलने से काम नहीं चलेगा, मानसिक-स्थिति बदलने से काम चलेगा—**'मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्ध मोक्षयोः'**।

यहाँ प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इच्छा—वासना—छूट गई, तो 'कर्म' ही छूट जायगा, क्योंकि सब कर्म इच्छा से प्रारम्भ होते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण की 'दूसरी

खोज' (Second discovery) आती है। वे कहते हैं कि इच्छाएं छूट जाएं तब भी 'कर्म' नहीं छूटता, 'कर्म' तो चलता ही रहता है। 'कर्म' तो मनुष्य का स्वभाव है, छूटता है तो सिर्फ़ बुरा कर्म छूटता है—'कर्म' के विषय में यह श्रीकृष्ण की दूसरी खोज है। इच्छा—वासना—दूर होने पर ग़लत ही छूटेगी, ठीक नहीं छूटेगी क्योंकि कर्म मनुष्य का स्वभाव है। कर्म मनुष्य में से वैसे फूटता है जैसे झरना सागर की तरफ़ बहता है, ठीक-कर्म जीवन में वैसे ही खिलता है जैसे वृक्ष में फूल खिलता है। सिर्फ़ 'कर्म' ही नहीं, ठीक-कर्म जीवन का स्वभाव है, अगर इच्छा—वासना—हमारे और कर्म के बीच में से हट जाय, तो ठीक-कर्म अपने-आप होता रहता है। ग़लत-कर्म जीवन का स्वभाव नहीं है। इच्छाओं, वासनाओं के कारण मनुष्य ग़लत-कर्म करने के लिये मजबूर हो जाता है।

आचार्य रजनीश के कथन का अभिप्राय यह है कि एक ही परिस्थिति में एक व्यक्ति दयानन्द, एक विवेकानन्द, एक गांधी, एक चोर, एक लुटेरा क्यों बन जाता है? असल बात यह है कि परिस्थिति इतना भेद नहीं डालती जितना भेद मन डालता है, इच्छाएँ डालती हैं, वासनाएँ डालती हैं। इस दृष्टि से संन्यासी तथा गृहस्थ में भेद क्या है? अगर कोई व्यक्ति किसी इच्छा को मन में संजो कर घर छोड़ दे तो भी वह गृहस्थी है, अगर कोई व्यक्ति घर में रहता हुआ इच्छाओं का त्याग कर दे तो गृहस्थी होता हुआ भी वह संन्यासी है; अगर कोई घर में रहता हुआ बिना इच्छाओं के, बिना वासनाओं के रह रहा है तो आश्रम में रहता है, अगर आश्रम में रहता हुआ वासनाओं से घिरा है तो आश्रम ही गृहस्थ बन जाता है। जब इच्छाएँ—वासनाएँ—छूट जाती हैं, तब फलाकांक्षा अपने-आप मिट जाती है, कुकर्म अपने-आप हट जाते हैं, कर्म की धारा मनुष्य के स्वभाव के कारण बनी रहती है। क्या आप सोच सकते हैं कि बिना फल के आप कोई बुरा काम कर सकते हैं? अगर चोर को भरोसा न हो कि रुपये मिलेंगे तो क्या वह चोरी करने जा सकेगा? असम्भव है। आप के जीवन में बुरा कर्म तत्क्षण गिर जायगा अगर आकांक्षा और फल की कामना गिर जाय। यही निष्काम-कर्म का रहस्य है।

'निष्काम-कर्म' को भारतीय-विचारकों ने एक विज्ञान का रूप दे दिया था। इस पर उन्होंने ऐसे ही विचार किया था जैसे भौतिकवादी-विचारक न्यूटन तथा गैलिलियो की खोजों पर विचार करते हैं। भेद इतना ही है कि न्यूटन तथा गैलिलियो की खोजें भौतिक-जगत् की खोजें हैं, वैदिक ऋषियों की खोजें आध्यात्मिक-जगत् की खोजें थीं। वैदिक ऋषि आध्यात्मिक-जगत् की खोजों को मानव-जीवन के लिये इतना ही आवश्यक तथा उपयोगी समझते थे जितना आवश्यक वर्तमान-युग में भौतिक-जगत् की खोजों को समझा जाता है।

9. 'निष्काम-कर्म'—'निस्संगता'—का मनोवैज्ञानिक-विवेचन
(सकाम-कर्म से पतन की दिशा की ओर)

हमने अभी कहा कि 'निष्काम-कर्म' को भारतीय-विचारकों ने एक विज्ञान का रूप दे दिया था। 'निष्काम-कर्म' के विज्ञान का रूप क्या था ? गीता में 'सकाम-कर्म' का सीढ़ी-दर-सीढ़ी मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करते हुए जो कहा है, उसका उल्टा समझ लेना 'निष्काम-कर्म' का मनोवैज्ञानिक आधार है। यद्यपि इस विषय पर हम 'कर्म' के अध्याय में संक्षेप से लिख आये हैं, तो भी यहां कुछ विस्तार से लिखेंगे। गीता में कहा है :

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

गीता, 2—62—63

उक्त श्लोकों में 'सकाम-कर्म' के परिणाम का सिलसिला दिखलाते हुए कहा है—पहले विषयों के प्रति वार-वार 'ध्यान' जाता है, फिर नीचे की तरफ़ गिरने का जो सिलसिला जारी होता है उसमें 'संग', 'काम', 'क्रोध', 'संमोह', 'स्मृति-भ्रंश', 'बुद्धिनाश' तथा 'प्रणाश'—इस क्रम से फिसलते-फिसलते मनुष्य आसमान से धरातल पर जा गिरता है। पतन की इस शृंखला को जान लेने से 'निष्काम-कर्म' अथवा 'निस्संगता' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गीता के इन दो श्लोकों में मानसिक-प्रक्रिया का जितना गहरा मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण किया गया है, इतना गहरा विश्लेषण विश्व की मनोविज्ञान की किसी पुस्तक में ढूंढने से भी नहीं मिलेगा। इस विश्लेषण को पढ़ कर समझ आ जाता है कि 'निष्काम' अथवा 'निस्संग' कर्म क्या है, और किस मनोवैज्ञानिक आधार पर हम कह सकते हैं कि 'निष्काम' अथवा 'निस्संग' कर्म का जीवन व्यतीत करना ही 'यथार्थ-जीवन-शास्त्र' (True Philosophy of Life) है। इन श्लोकों का एक-एक शब्द हर दूसरे शब्द के साथ मनोवैज्ञानिक-क्रम से, माला में पिरोये मनकों के समान, शृंखला में कड़ी के समान जुड़ा हुआ है। वार-वार 'ध्यान' के वाद 'संग' आयेगा ही, संग के वाद 'काम' आयेगा ही, काम के वाद 'क्रोध' आयेगा ही, क्रोध के वाद 'मोह' आयेगा ही, मोह के वाद 'स्मृति-नाश' होगा ही, स्मृति-भ्रंश के वाद 'बुद्धि-नाश' होगा ही, बुद्धि-नाश के वाद 'विनाश' होगा ही। 'निष्काम-कर्म'—'निस्संगता'—के मनोवैज्ञानिक आधार को समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि 'सकाम-कर्म' की सांकल में जुड़ी कड़ियाँ एक-दूसरे के साथ कैसे जुड़ी हुई हैं, तभी हम इस सांकल को तोड़ कर इसकी जकड़न से वाहर निकल सकते हैं। ये किस प्रकार एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं ?

(क) **ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते**—गीता संसार के विषयों से सर्वथा उपराम हो जाने का परामर्श नहीं देती, उसकी सबसे पहली स्थापना तो यह है कि संसार के विषयों की तरफ़ ध्यान देने से नहीं, अपितु बार-बार ध्यान देने से पतन का सिलसिला प्रारम्भ होता है। 'ध्यानात्' ग्रौर 'ध्यायतः' में भेद है। 'ध्यानात्' का ग्रर्थ है—ध्यान देने से; 'ध्यायतः' का ग्रर्थ है—बार-बार ध्यान देने से। गीता का कहना यह है कि संसार के विषयों की तरफ़ बार-बार ध्यान देने से 'संग-दोष' पैदा हो जाता है। गीता यह नहीं कहती कि संसार के विषयों को ही छोड़ दो। विषयों को छोड़ ही देना हो, तो विषय बनाये ही क्यों गये हैं? गीता का इतना ही कहना है कि विषयों का बार-बार ध्यान करना छोड़ दो क्योंकि बार-बार ध्यान करने से भी ये ग्रन्त तक हाथ में नहीं रहते। संसार के विषय मनुष्य के लिये संकट नहीं पैदा करते, उनका ही सदा ध्यान बना रहना मनुष्य को विनाश की तरफ़ ले जाता है। हम दिल्ली में रहते हैं, रोज प्रातः सैर को निकलते हैं, रास्ते में एक-से-एक बढ़ कर ग्रालीशान मकान देखने को मिलते हैं। सैर करते समय इन मकानों को देख कर हमारे मन में दो प्रकार की भावनाएँ उठ सकती हैं। एक भावना यह है कि हमने देखा, ग्रौर भूल गये; दूसरी भावना यह है कि हमने देखा ग्रौर सब-कुछ भूल कर मकान ही हमारे मन को पकड़ बैठा—हमारे पास भी ऐसा मकान हो, किस तरह हो, क्या-कुछ करें, हाय ऐसा मकान—इस जैसे मकान के बिना कैसे जीवन सुखी हो! एक भावना यह है कि हमने संसार के विषयों को देखा, देख कर ही छोड़ दिया—यह 'ध्यान' है; दूसरी भावना यह है कि हमने विषय को देखा, देखते रहे, ग्रौर हम में उसे पाने की इतनी तीव्र वासना जाग उठी कि हम उसी के ध्यान में रहने लगे—यह 'बार-बार का ध्यान'—गीता के शब्दों में 'ध्यायतः'—है। देखा ग्रौर ग्रनदेखा हो गया—इसमें 'संग-दोष' नहीं होता; देखा ग्रौर उसी के हो गये, बार-बार देखते रहे—इसमें 'संग-दोष' पैदा हो जाता है। 'संग-दोष'—ग्रर्थात्, हम उसी विषय के संग रहने लगे, उसी के ध्यान में रमने लगे, उसी के हो गये। जब मनुष्य विषयों का हो जाता है, विषयों के बार-बार ध्यान से उन्हीं के संग रहने लगता है, तब 'सकाम-कर्म' की ग्रागे की शृंखला चल पड़ती है, रोके नहीं रुकती।

संसार के विषय ग्रपने-ग्राप में कुछ नहीं कहते। ग्रपने-ग्राप में वे निर्दोष हैं। विषयों का ग्रपना रूप क्या है? जिसे एक व्यक्ति सुन्दर कहता है, दूसरा उसे कुरूप कहता है; जिस शराब को एक व्यक्ति मज़ेदार कहता है, दूसरा उसे कड़वा कहता है। एक बच्चा जिस गुड़िया के लिये हाय-तोबा मचा देता है, दूसरा उसकी तरफ़ देखता भी नहीं। संसार के विषय घटनाग्रों के रूप में हमारे सामने ग्राते हैं, बिलकुल खोखले, उनमें रस भर देना हमारे मन का काम

है। मन चाहे तो विषयों में रस डाले, चाहे तो न डाले। सारा खेल संसार के विषयों का नहीं, मन का है। हमारे सामने एक मकान है। मन कहता है—बड़ा सुन्दर है। अगर मन यहीं तक रुक जाता है—'मकान बड़ा सुन्दर है'—तब कर्म का जाल आगे तक नहीं फैलता। परन्तु अगर मन उसी के ध्यान में रम जाता है—'ध्यायतः' का अर्थ ही यह है—बार-बार उसके ध्यान में लग जाना, उसी का ध्यान बने रहना, उसी के सपने लेने लगना, उसी में मन का रस घोलने लगना—तब हम उसी विषय के संग हो लेते हैं, 'संग-दोष' उत्पन्न हो जाता है, यह 'संग-दोष' कर्म के जाल को आगे-आगे फैलाता जाता है। 'संग-दोष' से कर्म का जाल आगे की तरफ़ न फैले—इसका एक ही उपाय है, और वह उपाय है—'ध्यान' की मंज़िल में ही 'संग-दोष' की जड़ को काट देना, संसार के विषयों को देख भर लेना—वे हैं, उनकी सत्ता है, उनसे आँखें तो मीची नहीं जा सकतीं—परन्तु देख कर उनमें मन का रस न डालने लगना, उनके संग न हो जाना, 'निस्संग' रहना, ध्यान तो देना परन्तु बार-बार उन्हीं के ध्यान में न रहना। अगर हम उनके संग हो जायेंगे, उनमें रस उँडेलने लगेंगे, बार-बार उन्हीं में रमेंगे, तो इस 'संग-दोष' से गाड़ी विनाश के मार्ग पर आगे को चल देगी जिसे गीता ने कहा है—'संगात् संजायते कामः'।

(ख) **संगात् संजायते कामः**—मनोवैज्ञानिक-दृष्टि के अनुसार विषयों की तरफ़ ध्यान देने मात्र से मन निस्संग रहता है, उतने से मन का कुछ नहीं बिगड़ता, देखा और हट गये, परन्तु अगर हम विषय का बार-बार चिंतन करने लगें, तो यह पतन का पहला कदम है; विषयों को देखने के बाद देख भर लेने के स्थान में उनके संग हो लें, तो यह पतन का दूसरा कदम है। विषय 'ध्यान-कोटि' में ही रहें तो वे विचार-कोटि तक रहते हैं; 'संग-कोटि' में आ जायें, तो वे आचार-कोटि में आ जाते हैं। 'ध्यान' की कोटि पहली स्टेज है, 'संग' की कोटि दूसरी स्टेज है जिसमें विचार आचार में परिणत हो जाता है। दूसरे कदम के बाद पतन का तीसरा कदम है—विषय के प्रति कामना, लालसा उत्पन्न हो जाना। जितना हम विषय को क्रिया में परिणत करते हैं उतनी ही उसके प्रति कामना बढ़ती जाती है—मनुष्य कहता है, जी नहीं भरता—करे जाओ, करे जाओ की ध्वनि भीतर से उठने लगती है। 'कामना'—अर्थात्, 'वासना'—वह विषय हाथ से न छूट जाय, इस बात के लिये छटपटाने लगना। 'संग' से 'कामना' दृढ़ हो जाती है—कुसंगति से कुसंगति छूटना मुश्किल हो जाता है, छोड़ना चाहें तो भी नहीं छूटती। इसी को **'संगात् संजायते कामः'** कहा है। 'काम' का अर्थ यहाँ सेक्स-सम्बन्धी 'काम' नहीं है, सेक्स सम्बन्धी 'काम' भी तो 'कामना' के, 'इच्छा' के, 'वासना' के अनेक रूपों में से एक रूप ही तो है। 'काम'-शब्द व्यापक है, सेक्स का 'काम' उसके भीतर आ जाता है, परन्तु गीता

हैं। पतन की प्रक्रिया विषयों के प्रति 'ध्यान' तथा 'संग' से शुरू होकर 'काम'-'क्रोध'-'मोह'—इन 'संवेगों' में पहुँच जाती है। 'ध्यान' तथा 'संग'—इन दो का क्षेत्र मस्तिष्क का क्षेत्र है; 'काम'-'क्रोध'-'मोह'—इन तीन का क्षेत्र हृदय का क्षेत्र है। जब तक बात मस्तिष्क के क्षेत्र तक रहती है, तब तक अपने को आसानी से समझाया जा सकता है; जब बात हृदय के क्षेत्र तक पहुँच जाती है, तब मामला पेचीदा हो जाता है क्योंकि 'संवेग' मनुष्य के भीतर बहुत गहराई तक पहुँच जाते हैं। फिर भी बन्धन की रस्सी को काटा जा सकता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि 'संवेग' (Emotion) के प्रति अगर द्रष्टा-दृश्य की भावना धारण कर ली जाय, तो 'संवेग' मिट जाता है। 'संवेग' में द्रष्टा तथा दृश्य, कर्त्ता तथा कर्म—एक हो जाते हैं। हम इस पुस्तक में जगह-जगह और विशेष तौर पर पृष्ठ 91 पर लिख आये हैं कि आध्यात्मिक-दृष्टि ही यह है कि हम अपने भीतर द्रष्टा बन कर, कर्त्ता बन कर, शरीर रूपी यन्त्र का संचालक बन कर, उपभोक्ता बन कर, इस रथ का रथी बन कर विचरण करें। इस दृष्टि से रहना कितना ही कठिन हो, वास्तविक-दृष्टि यही है। ऐसी हालत में जब हम 'कामना' के, 'क्रोध' के, 'मोह' के जाल में फँसे होते हैं, तब अगर 'कामना' का, 'क्रोध' का, 'मोह' का, विश्लेषण करने लग जायें, इनके प्रति 'द्रष्टा' बन जायें, तो ये 'संवेग' अपने-आप गिर जाते हैं। 'संवेग' की प्रकृति ही यह है कि इसमें व्यक्ति अपने को भूल जाता है—तभी लोकाचार की भाषा में क्रोध कर चुकने के बाद व्यक्ति कहता है—'मैं आपे से बाहर हो गया था'। 'आपे से बाहर' का मतलब ही यह है—अपने को भूल जाना। 'कामना' के समय अपना-आपा स्मरण आ जाय, तो 'कामना' गिर जाती है, 'क्रोध' के समय अपना-आपा स्मरण आ जाय, तो 'क्रोध' गिर जाता है, 'मोह' के समय अपना-आपा स्मरण आ जाय, तो 'मोह' गिर जाता है। उत्थान का यही क्रम है—'कामना' को आगे कदम न रखने दो—अपने को 'द्रष्टा' बन कर देखो, 'क्रोध' को आगे न बढ़ने दो—अपने को 'द्रष्टा' बन कर देखो, 'मोह' को आगे न बढ़ने दो—अपने को 'द्रष्टा' बन कर देखो। जहाँ किसी भी 'संवेग' के ऊपर 'द्रष्टा' बन कर सोचना शुरू किया, वहीं 'संवेग' रफ़ूचक्कर हो जाता है—'संग' गया, 'कामना' गई, 'क्रोध' गया, 'मोह' गया, तो राग-द्वेष-वियुक्त होकर, विषयों में इन्द्रियों द्वारा विचरण करते हुए मनुष्य उनमें नहीं फँसता, उसका आत्मा अपने वश में रहता है, उसकी बुद्धि सजग रहती है, स्थिर रहती है, सकाम-कर्मी की तरह उसका 'बुद्धि-नाश' नहीं होता, वह निर्मम, निरहंकार होकर निष्काम, निस्संग जीवन व्यतीत करता है—इसी प्रकार वह प्रसादमय, प्रसन्न तथा शान्त बना रहता है, यही उत्थान का मार्ग है।

'निष्काम' का अर्थ है—'कामना'-रहित। 'कामना' का अर्थ है—'वासना'। 'वासना' का अर्थ है—'संग'—किसी वस्तु या भाव के साथ जुड़ जाना, बँध जाना, उसके बग़ैर न रह सकना। 'निष्काम'—'निस्संग' का अर्थ है—'वासना का त्याग देना'। जैसे हाथ पर ज़हर रख देने से वह शरीर में नहीं व्यापता, परन्तु हाथ में चीर लग जाने पर वह सारे शरीर को विषाक्त कर देता है, वैसे ही मनुष्य को वासना का चीर लगा हो, तो सम्पूर्ण-जीवन चाह-ही-चाह के विष से भर जाता है। संसार में ऐसे रहे जैसे बिना चीर लगे हाथ पर ज़हर रखा रहता है, ज़हर के संग होने पर भी उसका विष नहीं चढ़ता। कमल की जड़ पानी में दूर तक चली जाय, परन्तु उसका पत्ता पानी से न भीगे; नाव पानी पर रहे, नाव में पानी न घुसे, हम संसार में रहें, संसार हम में न घुसे। पानी नाव में घुस जायगा तो नाव डूब जायगी, संसार हम में घुस जायगा तो हम संसार-सागर में डूब जायेंगे। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—सब-कुछ करते हुए भी संसार में ऐसे रहे जैसे कुछ नहीं किया—'**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः** (गीता, 4—20)। कुछ नहीं करने का अर्थ है—तन से कर्म, मन से अकर्मअ—कर्म, अर्थात् वासना का न रहना। वाचस्पति मिश्र शांकर-भाष्य पर टीका लिख रहे थे। अन्तिम पृष्ठ आया तो बत्ती बुझने लगी। सोचा—बत्ती की तरफ़ ध्यान दूं, तो लिखना बन्द हो जायगा, न दूं तो बत्ती बुझ जायगी। यह बात उनकी पत्नी भामती ने जान ली। उसने चुपके-से दीये में तेल डाल दिया। मिश्र जी ने कहा—देवि, तूने बड़ा उपकार किया, तू कौन है? उसने कहा—मुझे नहीं जानते, मैं तुम्हारी पत्नी भामती हूँ। बोले—अच्छा, क्या चाहती हो? उत्तर दिया—पुत्र की कामना है। कहा—पुत्र से कब तक नाम चलेगा। टीका का नाम 'भामती' रख दिया जिससे पत्नी का नाम अमर हो गया। इतने बंधे थे, परन्तु इतने ही न भी बंधे थे। अगर नाली के पार जाना हो तो बीच में पत्थर रख कर उस पर से पार होते हैं, पत्थर पर ही नहीं खड़े रहते; संसार से पार जाना हो, तो विषयों का सहारा लेते हैं, विषयों में ही नहीं डूबे रहते, उनमें डूबे रहना ही वासना है। संसार से खेलो पर संसार तुमसे न खेले, संसार तुम्हारा हो पर तुम संसार के न हो, दुकान तुम्हारी हो पर तुम दुकान के न हो—यही निष्कामता है, यही निस्संगता है, यही ऋषियों का बताया हुआ वैदिक-संस्कृति का जीवन का सही मार्ग है।

तनावपूर्ण-जीवन की उलझन में फंस रहे आज के मानव के लिये 'निष्काम' तथा 'निस्संग' कर्म का यह संदेश वैदिक-विचारधारा का अमर सन्देश है, ऐसा सन्देश जो उसे जीवन की दलदल में से उबार सकता है।
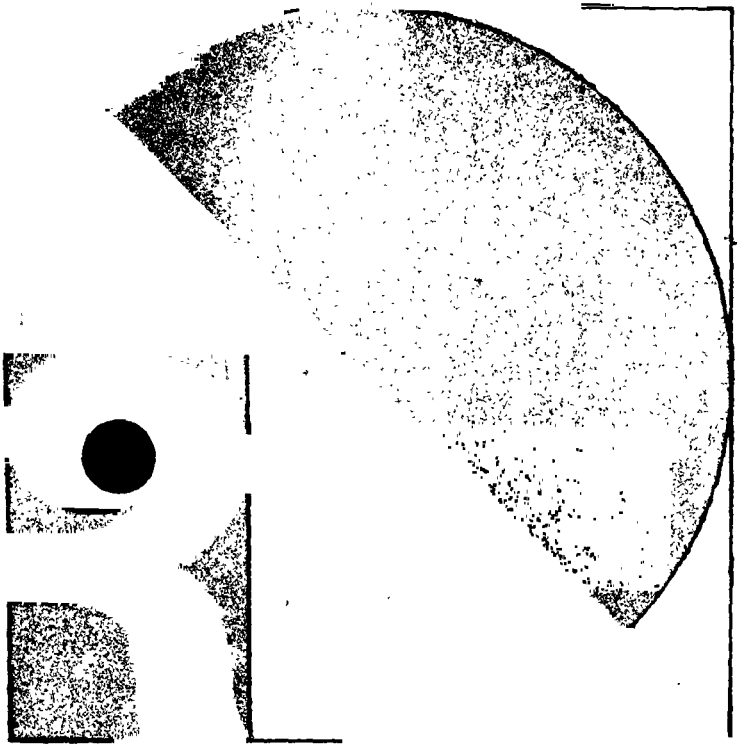
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः

(अथर्ववेद, का० 11, अनु० 3, व० 5, मन्त्र 3)

'शिक्षा' के सम्बन्ध में वैदिक-दृष्टिकोण का आधार मनोविज्ञान के वे सिद्धान्त हैं जिन्हें 'बाल-मनोविज्ञान' (Child Psychology) का अंग कहा जा सकता है। सबसे पहला सिद्धान्त यह है कि बालक के व्यक्तित्व का निर्माण संस्कारों से होता है। बचपन में जैसे संस्कार उस पर पड़ेंगे वैसा उसका व्यक्तित्व बनेगा। इसी सिद्धान्त को सम्मुख रख कर वैदिक-व्यवस्था में संस्कारों को दो भागों में बाँटा गया था—कुछ संस्कार प्रसव के पूर्व के (Pre-natal) थे, कुछ प्रसवोत्तर काल के (Post-natal) थे। मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक फ्रॉयड का कहना है कि जब बच्चा माँ की गोद में अंगूठा चूस रहा होता है, तभी से उस पर वे संस्कार पड़ रहे होते हैं जो उसके भावी जीवन का निर्माण करते हैं। वैदिक विचारधारा में इन संस्कारों को नियन्त्रित करने के लिए विशेष व्यवस्था थी जिसके लिए 'संस्कार-विधि'-नामक ग्रन्थ में इन संस्कारों का उल्लेख है।

आधुनिकतम शिक्षा-पद्धति में बालक को शिक्षा का केन्द्र माना जाता है, वैदिक शिक्षा-पद्धति में तो बालक को इतने प्रधान रूप में शिक्षा का केन्द्र माना जाता था कि उस शिक्षा-पद्धति का नाम ही 'गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति' था। बालक को माता-पिता के 'कुल' में से हटा कर गुरु के 'कुल' में भर्ती कर दिया जाता था। 'कुल' का अर्थ है—'परिवार'। बालक जहाँ रहे, परिवार के वातावरण में रहे—यह इस पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त था। गुरुकुल में बालक को ग्रहण करते हुए गुरु जनता के समक्ष घोषणा करता था कि वह बालक को इस प्रकार अपने पास रखेगा जैसे माता सन्तान को गर्भ में धारण करती है। गुरु तथा शिष्य का इतना निकट का सम्बन्ध हो सकता है—इसकी आज तक किसी शिक्षा-विज्ञ ने कल्पना नहीं की थी। ऊपर अथर्ववेद का जो मन्त्र दिया गया है उसका यही अर्थ है कि आचार्य 'उपनयन'-संस्कार के समय ब्रह्मचारी को माता की तरह मानो गर्भ में धारण करता है। इसीलिए गुरुकुल में बालक को भर्ती करते हुए जो संस्कार किया जाता है उसे 'उपनयन'-संस्कार कहते हैं। 'उप' का अर्थ है—निकट, 'नयन' का अर्थ है—ले जाना। गुरु तथा शिष्य में दूरी न रहे, वे एक-दूसरे के निकट आ जायें यह 'उपनयन'-संस्कार का अर्थ है। 'आचार्य'-शब्द का अर्थ है—जो विद्यार्थी को आचार सिखाये, सदाचारी बनाये। आचार्य का काम अपने शिष्य को जहाँ शास्त्रों में निपुण करना था, वहाँ उसे सदाचार की शिक्षा देना भी था। छात्र को वैदिक-शिक्षा-प्रणाली में 'ब्रह्मचारी' कहा गया है। 'ब्रह्मचारी'-शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यौगिक-भाव (धात्वर्थ) को सूचित करता है। 'ब्रह्म' का यौगिक अर्थ है—'महान्'। जो व्यक्ति छोटे से महान् होने के रास्ते पर चल पड़ा है वह 'ब्रह्मचारी' है। दूसरा अर्थ इस शब्द के रूढि-भाव को सूचित करता है। 'ब्रह्मचर्य' का रूढि अर्थ है—'वीर्य-रक्षा'— जो वीर्य-रक्षा करे, वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। वैदिक-शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को संयत जीवन में ढाल कर महान् बनने के रास्ते पर डाल देना था। शिक्षा के क्षेत्र में 'गुरु'-'कुल'-'आचार्य'-'ब्रह्मचारी'-'उपनयन' 'गुरुकुल'—ये सब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनमें से एक-एक में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार भरे पड़े है। इन विचारों से ही जीवन का निर्माण होता है, इसलिए अगले अध्याय में हम जीवन-शास्त्र पर चर्चा करेंगे।

नवम अध्याय

शिक्षा

(EDUCATION)

हम इस ग्रन्थ में मानव की आधारभूत समस्याओं पर वैदिक-दृष्टिकोण से विचार करते हुए उनके वैज्ञानिक आधार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। मानव की अनेक समस्याओं में 'शिक्षा' भी एक वड़ी भारी समस्या है। 'शिक्षा' की समस्या के सम्बन्ध में वैदिक-दृष्टिकोण क्या है—यह समझना इसलिये आवश्यक है क्योंकि 'शिक्षा' ही तो मनुष्य को मनुष्य वनाती है, नहीं तो वह निरा पशु रह जाता है। हम यहाँ इस वात की चर्चा करेंगे कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली क्या थी, और उसका वैज्ञानिक-आधार क्या था ?

1. 'वालक' शिक्षा का केन्द्र था

वैदिक-काल के शिक्षा-शास्त्रियों ने 'वालक' को शिक्षा का केन्द्र माना था। आज यह वात कहने को अत्यन्त सरल मालूम पड़ती है, परन्तु जो युरोप में शिक्षा के इतिहास को जानते हैं उन्हें मालूम है कि एक लम्वे-चौड़े युग में से गुज़रने के वाद शिक्षा-जगत् में यह कहा जाने लगा है कि शिक्षा का केन्द्र 'वालक' होना चाहिये, नहीं तो शिक्षक, स्कूल की विल्डिग, पढ़ाई-लिखाई के घंटे, पाठ्य-क्रम ही शिक्षा का मुख्य-विषय माना जाता रहा, वालक के विषय में—उसके विषय में जिसके लिए यह सव-कुछ था—शिक्षा-जगत् में कोई चर्चा ही नहीं थी। शिक्षा की वैदिक-विचारधारा में 'वालक' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है कि उसी के जन्म-सुधार के लिये सोलह संस्कारों की कल्पना की गई है। वैदिक ऋषियों का कथन है कि वालक पर निम्न तीन प्रकार के संस्कार प्रभाव डालते हैं जिन पर नियन्त्रण रखना शिक्षा का काम है—

(क) उसके अपने पिछले जन्म के संस्कार

(ख) माता-पिता के संस्कार

(ग) पर्यावरण द्वारा पड़ने वाले इस जन्म के संस्कार

बालक की शिक्षा क्या है, मानो 'संस्कारों' का ही एक खेल है, शिक्षा का प्रश्न संस्कारों का ही प्रश्न है। वैदिक शिक्षा-शास्त्री 'कर्म' तथा 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त को भी मानते थे, इसलिये वे संस्कारों को एक गम्भीर प्रश्न समझते थे क्योंकि मानव के निर्माण में सिर्फ़ पर्यावरण ही एकमात्र घटक-तत्त्व नहीं है, पर्यावरण के साथ-साथ माता-पिता के संस्कार, बालक के अपने पूर्व-जन्म के संस्कार—सभी हिस्सा लेते हैं, इसीलिये अच्छे-से-अच्छे पर्यावरण में व्यक्ति नीचे-से-नीचे भी गिर जाता है, बुरे-से-बुरे पर्यावरण में वह ऊँचे-से-ऊँचे भी उठ जाता है। यही कारण है कि जन्मभर बालक को ऐसे संस्कारों से घेर दिया जाता था जिनकी चोट से उसके व्यक्तित्व को बनाया जा सके।

संस्कारों से मानव के व्यक्तित्व का निर्माण कैसे हो जाता है—इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारत की अंग्रेज़ों के समय से चल रही शिक्षा-प्रणाली है। अंग्रेज़ों ने अपने शासन-काल में जब भारतीय-शिक्षा पर ध्यान दिया, तब उनके सामने पहला प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि शिक्षा द्वारा वे कैसे युवक उत्पन्न करना चाहते हैं। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये एक कमेटी बनाई गई जिसकी रिपोर्ट 1835 में लॉर्ड मैकाले (1800-1859) ने लिखी। उन्होंने इस रिपोर्ट में लिखा कि हमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने हैं जो शरीर से भारतीय हों, परन्तु रहन-सहन, वेष-भूषा, बोल-चाल, विचारों में अंग्रेज़ हों। शिक्षा के इस उद्देश्य के साथ 1835 में जिस प्रकार के संस्कारों के युवकों को उत्पन्न करने की नींव डाली गई, वह ईंट-गारे की नींव नहीं थी, लोहे और सीमेंट की नींव थी, जो अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी वैसी-की-वैसी खड़ी है। अंग्रेज़ चले गए परन्तु घर-घर अंग्रेज़ मौजूद हैं; इसलिये मौजूद है क्योंकि सवा सौ साल तक हमारे युवकों के मस्तिष्क पर जिन संस्कारों की चोट लगातार पड़ती रही उससे भारतीय-मस्तिष्क का अंग्रेज़-मस्तिष्क बन जाना स्वाभाविक था। अंग्रेज़ी शिक्षा के संस्कारों ने जिस प्रकार के युवक का निर्माण करना था वह अंग्रेज़ों के चले जाने के बरसों बाद भी वैसे-का-वैसा यहाँ मौजूद है।

2. प्रसव-पूर्व तथा प्रसवोत्तर काल के संस्कार

बालक की शिक्षा में संस्कारों के इतने महत्त्व को अनुभव करते हुए वैदिक शिक्षा-शास्त्रियों ने संस्कारों को दो भागों में बाँटा था। कुछ संस्कार प्रसव-पूर्व—Prenatal—तथा कुछ प्रसव के बाद—प्रसवोत्तर—Postnatal—संस्कार हैं। प्रसवपूर्व-संस्कार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन। क्योंकि माता-पिता के संस्कारों का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये गर्भाधान को एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है जिस पर वर्तमान समाज का बिल्कुल ध्यान नहीं है। गर्भाधान के समय माता-पिता को यह समझना चाहिए कि किसी

ऊँची आत्मा का आह्वान कर रहे हैं, सिर्फ़ विषय-भोग का परिणाम सन्तान को नहीं समझना चाहिये। विचारों में बड़ा बल है। यू० एन० ओ० की घोषणा है कि संसार के युद्ध मन की भूमि में लड़े जाते हैं। अगर इतने बड़े-बड़े युद्ध मन की भूमि में उपजते हैं, तो क्या सन्तान पर संस्कार उस समय नहीं डाले जाते जब उसका बीज वपन किया जाता है। जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश कर जाय और उसका शारीरिक-विकास होने लगे, तब 'पुंसवन-संस्कार' किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि माता ऐसा अन्न खाये, ऐसा रहन-सहन रखे जिससे बालक का शारीरिक-विकास ठीक दिशा की तरफ़ चल सके। पुंसवन के बाद सातवें-आठवें मास 'सीमन्तोन्नयन-संस्कार' किया जाता है। सीमन्त में माता अपने सिर में तेल लगाती है, कंघी करती है, मस्तिष्क पर विशेष ध्यान देती है। यह वह समय है जब गर्भस्थ-शिशु के मस्तिष्क का निर्माण होने लगता है। इस संस्कार का उद्देश्य यह है कि माता शिशु के मस्तिष्क के समुचित-विकास का विशेष ध्यान रखेगी। शिशु के उत्पन्न होने के अनन्तर जो संस्कार किए जाते हैं—प्रसवोत्तर-संस्कार—(Postnatal) वे हैं—अन्नप्राशन, निष्क्रमण, कर्णवेध आदि। ये संस्कार स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, और इन सब पर इतना बल वैदिक-शिक्षा-पद्धति में इसीलिये दिया जाता है क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण यह है कि बालक की शिक्षा तभी से प्रारम्भ नहीं होती जब वह छः या सात वर्ष का होने के बाद स्कूल में भर्ती होता है, परन्तु तब से शुरू होती है जिस दिन पहले-पहल उसकी नींव रखी जाती है, उसके बाद माता के गर्भ में जब तक वह रहता है उसकी शिक्षा जारी रहती है, प्रसव के बाद भी वह लगातार जारी रहती है। मनोविश्लेषणवाद के मूर्धन्य फ्रॉयड का कहना है कि जब बच्चा माँ की गोद में अँगूठा चूस रहा होता है तभी से उस पर वे संस्कार पड़ रहे होते हैं जो उसके भावी जीवन का निर्माण करते हैं। अगर वैदिक शिक्षा-शास्त्री यह कहते हैं कि जब शिशु माँ के गर्भ में होता है तभी माँ के संस्कारों से उसका भावी जीवन बन रहा होता है, इसलिए उसकी शिक्षा तभी से शुरू होनी चाहिये, तो वे कोई अचम्भे की बात नहीं कहते।

वैदिक शिक्षा-शास्त्रियों ने बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में निम्न छः पहलुओं पर विचार किया है—

(क) पर्यावरण (Environment)
(ख) शिष्य अथवा ब्रह्मचारी (Pupil)
(ग) गुरु अथवा आचार्य (Teacher)
(घ) अध्यापन के विषय (Curriculum)
(ङ) अध्यापन की विधि (Method of Teaching)
(च) शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति (Attainment of object of education)

3. शिक्षा का पर्यावरण

(क) **भौतिक-पर्यावरण (प्रकृति के साथ सम्पर्क)**—ऋग्वेद (5. 8. 14) में एक मन्त्र आया है—**'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रा अजायत'**—अर्थात्, पर्वत की उपत्यका और नदी के संगम में विप्र बनता है। वैदिक-ऋषियों के शिक्षा-केन्द्र प्रकृति के उन वैभवपूर्ण-स्थलों में होते थे जहाँ एक तरफ़ पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, दूसरी तरफ़ कल-कल रव करती हुई नदी की अजस्र-धारा बहती थी। इस प्रकार के भौतिक पर्यावरण में रह कर शिष्य का प्रकृति के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता था। आज शहर के विषैले वातावरण में शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण होता है, जहाँ उच्च-कोटि के मानव का निर्माण करने के स्थान में लाखों रुपया खर्च करके उच्च-कोटि की शिक्षा देने की इमारतों का निर्माण होता है। इसमें सन्देह नहीं कि आज के युग में शिक्षा-संस्थाओं के लिये पहाड़ों और नदियों को ढूंढना कठिन है, परन्तु शहरों के गली-कूचों में शिक्षा-संस्थाओं को चलाने से कोमल-मस्तिष्क बालकों के मस्तिष्क को शहरों के गन्दे संस्कारों के पड़ने से नहीं बचाया जा सकता। वैदिक-दृष्टि यही है कि शिक्षा-संस्थाओं को प्रकृति के शुद्ध वातावरण में रखने से ही बाल-मस्तिष्क को शुद्ध-संस्कारों में विकसित किया जा सकता है।

(ख) **मानसिक-पर्यावरण (कुल की भावना)**—घर में माता-पिता बालक की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दे सकते अतः उसे घर के बाहर किसी दूसरे के पास भेजना आवश्यक है जिसका काम ही बालक के चरित्र का निर्माण करना तथा उसे शिक्षित करना हो, परन्तु घर से बाहर भेज देने पर उसे घर का-सा, माता-पिता का-सा प्रेम न मिलने से उसका समुचित-विकास न हो सकेगा इसलिये उसका घर में रहना भी आवश्यक है—इस विरोध का हल करने के लिए वैदिक शिक्षा-शास्त्रियों ने 'गुरुकुल-पद्धति' का निर्माण किया था। 'गुरुकुल' का अर्थ है—गुरु का 'कुल'। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति पर वर्तमान युग के कुछ शिक्षा-शास्त्रियों की तरफ़ से सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि इस पद्धति में बच्चे को परिवार से तोड़ दिया जाता है, वह अपनी जड़ों को खो देता है। बच्चे को परिवार से तोड़ देने की बात पहले-पहल प्लेटो (427-347) ने उठाई थी। उसका कहना था कि समाज में एकता की भावना को लाने के लिए बच्चों का अदला-बदला हो जाना चाहिये, परन्तु बात अव्यावहारिक थी इसीलिये चल न सकी। यही आक्षेप गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर किया जाता है, परन्तु यह आक्षेप वही लोग करते हैं जो इस पद्धति के मूल-सिद्धान्तों को नहीं समझते। 'गुरुकुल'-शब्द में 'कुल'-शब्द का प्रयोग ही इसलिए किया जाता है क्योंकि शिक्षा का काम बच्चे को एक छोटे-से कुल, छोटे-से परिवार में से

निकाल कर एक बड़े परिवार में डाल देना है। आज इस बात की बड़ी दुहाई दी जाती है कि शिक्षा समाज से कटी नहीं होनी चाहिये, शिक्षा इस प्रक्रिया से बढ़नी चाहिए जिससे बच्चा समाज से कटा न रहे। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र में यह एक नया आविष्कार है, नई सूझ है, शिक्षा को यह नई देन है। होगी नई देन, क्योंकि चालू शिक्षा में बालक के छोटे, सीमित-क्षेत्र से विस्तृत-क्षेत्र में आगे-आगे बढ़ते जाने का कोई विचार नहीं था, परन्तु वेदों में प्रतिपादित गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का तो यह मुख्य स्तम्भ था कि बालक ने छोटे कुल से बड़े कुल में, छोटे समाज से बड़े समाज में प्रवेश करना है। कहाँ माता-पिता-सन्तान का छोटा-सा कुल या छोटा-सा समाज; कहाँ गुरु का अनेक शिष्यों से घिरा बड़ा-सा कुल, बड़ा-सा समाज! गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में बालक को परिवार से तोड़ा नहीं जाता, परिवार में ही पाला जाता है, परन्तु वैयक्तिक-परिवार में पालने के स्थान में सामाजिक-परिवार में पाला जाता है। आज के शिक्षा-विज्ञों की खोज यह है कि बच्चे को समाज से तोड़ कर नहीं रखना चाहिये; गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की खोज यह थी कि बच्चों को न परिवार से तोड़ कर रखना चाहिये, न समाज से तोड़ कर रखना चाहिये, बच्चे का विकास 'कुल' में होना चाहिये—पहले माता-पिता के 'कुल' में, फिर गुरु के 'कुल' में, फिर समाज के 'कुल' में। मूल-सिद्धान्त 'कुल' का है, 'परिवार' का है। 'कुल' का विचार इतना क्रान्तिकारी विचार है कि अगर शिक्षा के क्षेत्र में यह चरितार्थ हो जाय, तो यह 'शिक्षा' को आमूलचूल बदल सकता है, अगर समाज के क्षेत्र में चरितार्थ हो जाय, तो समाज को एक बिल्कुल नई दिशा दे सकता है। जिन्होंने **'सहनाववतु सह नौ भुनक्तु'** का राग गाया था, उन्होंने 'कुल' के विचार को ही शिक्षा तथा समाज में घटाने का प्रयत्न किया था।

(ग) **सामाजिक-पर्यावरण (समानता की भावना)**—जिन वैदिक शिक्षा-विज्ञों ने शिक्षणालय को 'कुल' या 'परिवार' का नाम दिया था, उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार को जन्म दिया था, ऐसा क्रान्तिकारी विचार जिसके आधार पर बिना रक्तपात किये समाजवाद का भवन अपने-आप उठ खड़ा हो। इस विचार की गहराई में जाते हुए अथर्ववेद (कां० 11, अनुवाक 3, व० 5, मन्त्र 3) में कहा है:

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।

—अर्थात्, बालक को शिक्षा देने के लिये स्वीकार करते हुए आचार्य उसे इस प्रकार सुरक्षित, संभाल कर रखता है, जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ में सुरक्षित, संभाल कर रखती है। क्या गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँचा चित्र खींचा जा सकता है? गर्भ माता के पेट में रहता है। माता श्वास लेती

है, गर्भ श्वास नहीं लेता; माता भोजन करती है, गर्भ भोजन नहीं करता; माता जल पीती है, गर्भ जल नहीं पीता; परन्तु माता के श्वास में उसका श्वास है, माता के भोजन में उसका भोजन है, माता के जल-पान में उसका जल-पान है। गुरु तथा शिष्य के निकटतम सम्बन्ध को समझाने के लिये माता तथा गर्भ के सम्बन्ध से अधिक सुन्दर दूसरी उपमा क्या दी जा सकती है? मैंने अपने पश्चिम के एक मित्र को यह मन्त्र सुनाया, तो वे अचम्भे में पड़ गये। उन्हें समझ ही नहीं आता था कि किसी शिक्षा-विज्ञ की शिक्षा के क्षेत्र में इतनी ऊंची उड़ान भी हो सकती है। मैंने उन्हें समझाया—हो ही नहीं सकती, थी भी। भारत का आचार्य आचार्य ही नहीं था, शिष्य का पिता भी था। बालक अपने जन्म के माता-पिता को छोड़ आता था, परन्तु उनका स्थान आचार्य ले लेता था, आचार्य उसका शिक्षक ही नहीं, पिता भी था, विद्या उसकी माता थी, गुरु के अन्य शिष्य उसके भाई थे। कहाँ समाप्त हुआ उसका परिवार? वह तो एक ऐसे परिवार की प्रक्रिया में पड़ गया जिसमें चलते-चलते वह अन्त में जाकर समाज के परिवार का अंग हो जायगा, जहाँ जन्म का कोई भेद-भाव नहीं रहेगा, जहाँ जैसे माता-पिता के परिवार में सब भाई-भाई और भाई-बहन थे, जैसे आचार्य के आश्रम में जन्म के भाई-भाई और भाई-बहन न होते हुए भी सब भाई-भाई और भाई-बहन थे, वैसे समाज के क्षेत्र में पहुँचने पर भी वह उसी जाग को लेकर जायगा जो उसने गुरु के आश्रम में पाया था, जिस जाग को वह समाज में छिटक कर जन-जन को भाई-भाई और भाई-बहन बना देगा—तब वहाँ समाजवाद के लिये न नारों की ज़रूरत होगी, न जुलूसों की, क्योंकि तब समाज का बच्चा-बच्चा 'कुल' या 'परिवार' की भावना को लेकर ही सामाजिक-जीवन में प्रवेश करेगा। कच्चा माल जब गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की कुल-भावना भावित मशीन में से पक्का माल बन कर बाहर निकलेगा तब उस पर छाप ही समाजवाद की—समानता की भावना की—होगी, वह और किसी तरह सोच ही नहीं सकेगा।

क्या आज तक किसी ने सोचा है कि 'कुल'-शब्द का प्रयोग, उस 'कुल'-शब्द का प्रयोग जिसका सम्बन्ध सिर्फ़ माता-पिता के परिवार से था, शिक्षणालय के साथ 'गुरुकुल'-रूप में क्यों किया गया? हो सकता है, 'स्कूल'-शब्द भी किसी समय संस्कृत के 'कुल'-शब्द से ही उपजा हो। 'कुल'-शब्द गुरु-शिष्य के निकटतम सम्बन्ध का सूचक है। आज शिक्षा के क्षेत्र में 'कुल' की भावना नहीं पनप पा रही, क्योंकि स्कूल-कालेज-यूनीवर्सिटियाँ वैदिक-दृष्टि के शिक्षणालय न रह कर फ़ैक्टरियाँ हो गई हैं जिनमें कुछ फ़ैक्टरियों के मालिक हैं, कुछ मज़दूर हैं। हम 'कुल' में हैं, या फ़ैक्टरी में हैं—यही शिक्षाशास्त्रियों की सबसे बड़ी परेशानी

है, जिसका हल न सरकार कर पा रही है, न सब विश्वविद्यालयों के वाइस चान्सलर ही कर पा रहे हैं।

4. शिष्य अथवा ब्रह्मचारी

शिक्षा प्राप्त करने के लिये जो बालक गुरुकुल में प्रविष्ट होते थे उन्हें तीन प्रक्रियाओं में से गुज़रना ज़रूरी था। वे तीन प्रक्रियाएँ थीं—आश्रमवास, उपनयन संस्कार तथा ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना। इन तीनों का अभिप्राय क्या है?

(क) **आश्रमवास**—गुरुकुल में प्रवेश का अभिप्राय है—गुरु के आश्रम में प्रविष्ट होना। 'आश्रम' का अर्थ है—जिसमें श्रम-ही-श्रम है, जिसमें आलस्य को स्थान नहीं, जिसमें हर समय सजग, सचेत रहना पड़ता है, जिसमें लगन-ही-लगन है, परिश्रम-ही-परिश्रम है, वैदिक-परिभाषा में जिसमें 'तपस्या' है। गुरुकुलवास को ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया है। आश्रम का मूलभूत भाव 'श्रम' या 'तपस्या' है। ब्रह्मचारी को गुरुकुलाश्रम में प्रवेश करते ही माता-पिता तथा आश्रम में उपस्थित जनता के समक्ष जो उपदेश दिये जाते हैं, उनका मूल आधार 'तपस्या' है। बालक को कहा जाता है—**'कर्म कुरु', 'दिवा मा स्वाप्सीः', 'क्रोधानृते वर्जय', 'उपरि शय्यां वर्जय'**—काम करते रहना, श्रम का जीवन बिताना, निठल्ले मत रहना, रात को सोना, दिन सोने के लिये नहीं काम करने के लिए है, क्रोध मत करना, झूठ मत बोलना, गदेलों पर मत पड़े रहना, तपस्या का जीवन बिताना। शिक्षा के जिस उद्देश्य को सामने रख कर वैदिक गुरुकुल-प्रणाली की नींव रखी गई थी उसका आधार 'तपस्या' था। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' के 26 मन्त्रों में 15 बार 'तप'-शब्द का प्रयोग हुआ है। **'स आचार्यं तपसा पिपर्ति', 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत'**—ब्रह्मचारी तप से जीवन की साधना करता है। तप कर ही कच्चा लोहा पक्का बनता है, भट्टी में तप कर ही सोना कुन्दन बनता है, तपस्या की आग में से गुज़र कर ही इन्सान इन्सान बनता है। समाज को हर देश और काल में ऐसे युवकों की आवश्यकता रहती है जिनका प्रारम्भिक-जीवन तपस्या की आग में से तप कर निकला हो, जो मोम की तरह मुलायम न हों, चट्टान की तरह कठोर हों, जो सर्दी-गर्मी, धूप-छाँह, आराम-बेआरामी—हर बात को बर्दाश्त कर सकते हों। वैदिक शिक्षा-प्रणाली को इस बात का गौरव है कि इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का, जिसने यह घोषणा की हो कि उसका उद्देश्य नवयुवकों को तपस्वी बनाना है, सिर्फ़ भारत में आविष्कार हुआ। आज हमारे बच्चे आराम का जीवन बिताते हैं, उनके शरीर कोमल हैं, कमज़ोर हैं, हर-एक को खाँसी-जुकाम सताता है, न सर्दी बर्दाश्त कर सकते हैं, न गर्मी। ऐसे युवक जीवन की चुनौतियों का कैसे सामना कर सकते हैं? जो व्यक्ति तख़्त पर सो

सकता है वह गद्देदार पलंग पर बड़े आराम से सो सकता है, परन्तु जो बचपन से ही गद्दों पर सोने का आदी है उसे तख़्त पर नींद नहीं आ सकती।

'तपस्या' के अतिरिक्त आश्रमवास का दूसरा लाभ ऊँच-नीच, अमीर-ग़रीब के भेद का मिट जाना है। आश्रम में आकर सब एक स्तर पर पहुँच जाते हैं—न कोई अमीर, न ग़रीब, न ऊँचा, न नीचा, सब बराबर, सब भाई-भाई। जब अमीरी-ग़रीबी शिक्षा-संस्था में चल रही हो, जब शिक्षा-संस्था में ही कोई गुप्त, कोई शुक्ल हो, तो यही लोग जब समाज में जायेंगे तब अमीरी-ग़रीबी, जात-बिरादरी को समाज मे क्यों न ले जायेंगे? शिक्षा-संस्था में आकर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रह सकता, 'गुरुकुल'-शब्द का आधारभूत तत्त्व ही यह है, अगर शिक्षण-संस्था में किसी प्रकार का भेद-भाव रहता है, तो वह कूड़े में फेंक देने लायक है। हम समाजवाद की बढ़-बढ़ कर चर्चा करते हैं, परन्तु स्मरण रखना होगा कि पत्तों पर जल छिड़कने से वृक्ष हरा नहीं होता, जड़ में जल देने से वृक्ष में छटा आती है, पत्ते हरे होते हैं, उसमें फूल खिलते हैं, फल लगते हैं। बचपन में ही समाजवाद का भाव डालना वृक्ष की जड़ को सींचना है।

(ख) **उपनयन संस्कार**—गुरुकुल में प्रविष्ट होते समय बालक का 'उपनयन-संस्कार' होता है। 'उपनयन' का अर्थ है—'उप', अर्थात् समीप, 'नयन', अर्थात, ले जाना। गुरु के समीप चले जाने को 'उपनयन' कहते हैं। 'उपनयन'-संस्कार के समय आचार्य शिष्य के प्रति कहता है—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तं अनुचित्तं ते अस्तु'

(पार० गृ०, 2-2-16)

आचार्य व्रत करके बालक को आश्वासन देता है कि तेरे हृदय को मैं अपने हृदय में लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त में लेता हूँ। गुरु तथा शिष्य एक-दूसरे के इतना निकट आने का प्रयत्न करते हैं कि वे एकमना हो जायें—**'मम वाचं एकमना जुषस्व'**। कितनी भारी ज़िम्मेदारी डाल दी गई है गुरु के ऊपर। मनुष्य में 'हृदय' तथा 'चित्त'—ये दो ही तो बहुमूल्य तत्त्व हैं। हृदय में उसकी भावनाएँ उठती हैं, चित्त से उसके विचार उठते हैं। गुरु शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि तेरा चित्त और तेरा हृदय (Head and Heart) मैं अपने हाथ में लेता हूँ, और आने वाले जीवन के लिये तेरे दिल और दिमाग़ को सही दिशा देने की ज़िम्मेवारी लेता हूँ। क्या शिक्षा का उद्देश्य इससे ऊँची उड़ान ले सकता है कि गुरु यह प्रतिज्ञा करे कि वह अपने शिष्य के दिल और दिमाग़—हृदय तथा मस्तिष्क—इन दोनों को ऐसे रास्ते पर डाल देगा जिससे वह जीवन के संघर्ष में छाती तान कर खड़ा हो सके? जिसका 'उपनयन'-संस्कार हो जाता है उसे 'द्विज' कहा जाता है। 'द्विज' का अर्थ है—दूसरी बार पैदा हुआ। पहली बार बालक माता-पिता से जन्म लेता है, यह शरीर का जन्म है; दूसरी

वार गुरुकुल में जाकर गुरु को माता वना कर—**'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'**—उसके गर्भ से जन्म लेता है, यह मानसिक-जन्म है। वैदिक-साहित्य को पढ़ कर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिक्षा के सम्बन्ध में ऋषियों की एक रटी-पिटी नहीं, परन्तु एक निश्चित धारणा थी। गुरु शिष्य को ऐसे धारण करता है जैसे माता अपने भीतर गर्भ को धारण करती है। इतनी गहरी निकटता है गुरु तथा शिष्य में। तभी उनका सम्बन्ध 'उपनयन' का है, निकटतम आने का है, तभी शिष्य को 'अन्तेवासी' कहा गया है, वह मानो गुरु के भीतर वसता है, वह गुरु का शिष्य ही नहीं, उसका पुत्र है—**'अंगादंगात्संभवसि हृदयादधि जायसे आत्मा वै पुत्र नामासि'**—Bone of my bones and Flesh of my flesh—शिष्य के प्रति पुत्रभाव को लेकर आचार्य उसे अपने आश्रम में लेता है—यही भावना गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की आत्मा है।

(ग) **ब्रह्मचर्य-व्रत**—वैदिक-शिक्षा में तीसरी प्रक्रिया जिसमें से शिष्य को गुज़रना होता था उसका ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करना था। 'ब्रह्मचर्य'-शब्द के यौगिक तथा रूढ़ि—दो अर्थ हैं। यौगिक अर्थ व्यापक होता है, रूढ़ि अर्थ व्याप्य होता है। यौगिक रूढ़ि से वहुत आगे निकल जाता है, उसका अर्थ रूढ़ि से वहुत अधिक होता है। 'ब्रह्मचारी'-शब्द का यौगिक अर्थ है—**'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी'**। जो 'ब्रह्म' में विचरण करे वह ब्रह्मचारी है। 'ब्रह्म'-शब्द के भी यौगिक तथा रूढ़ि—दो अर्थ हैं। 'ब्रह्म'-शब्द वृहि वृद्धौ—इस धातु से वना है। जो महान् हो उसे ब्रह्म कहते हैं। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचारी'-शब्द का यौगिक अर्थ यह है कि जो वालक जीवन में महान् होने की अभिलाषा को मस्तिष्क तथा हृदय में लेकर गुरु के आश्रम में आता है वह ब्रह्मचारी है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में प्रत्येक वालक को जो गुरुकुल में प्रविष्ट होता है 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है, सिर्फ़ विद्यार्थी नहीं, क्योंकि प्रत्येक के सामने जीवन में महान् होने का, वड़े होने का संकल्प शिक्षा के प्रारम्भ होने के दिन से ही रख दिया जाता है। इस शब्द का एक रूढ़ि अर्थ भी है, और वही अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। रूढ़ि अर्थ में शरीर की भौतिक-शक्ति को—वीर्य को—नष्ट न होने देना, शुद्ध चाल-चलन रखना, सदाचार का जीवन व्यतीत करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचारी'-शब्द के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक—ये दो अर्थ हैं। वैदिक शिक्षा की वैदिक-विचारधारा के अनुसार गुरुकुलों का लक्ष्य वचपन से ही वालक के सामने दो उद्देश्य स्पष्ट रूप में रख देना था। वालक को आध्यात्मिक-संस्कृति के रंग में रंगना होगा—यह वैदिक-शिक्षा का पहला उद्देश्य था जो 'ब्रह्मचारी'-शब्द के यौगिक-अर्थ में निहित है; वालक को अपने शरीर की भौतिक-शक्ति का संचय करना होगा, वीर्य को नष्ट नहीं होने देना होगा, सदाचार का जीवन विताना होगा—यह वैदिक-शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था, जो

'ब्रह्मचारी'-शब्द के रूढ़ि अर्थ में निहित है। है किसी देश में ऐसी शिक्षा-प्रणाली जो बालक के शिक्षणालय में भर्ती होने के दिन ही यह घोषणा कर दे कि हमारी शिक्षा का लक्ष्य बालक के जीवन को आध्यात्मिक-संस्कृति की दिशा का मोड़ देना है, हमारी शिक्षा का लक्ष्य बालक को किताबी शिक्षा के साथ-साथ उसे सदाचारी बनाना है, ब्रह्मचारी बनाना है, उसके चरित्र का निर्माण करना है। वैदिक-शिक्षा-पद्धति में वीर्य-रक्षा पर बल दिया जाता था, इसे गुरुकुल-शिक्षा का मुख्य ध्येय समझा जाता था—आज शिक्षा के क्षेत्र में इस बात की सिर्फ़ चर्चा सुनने में आती है कि बालकों को इस विषय का ज्ञान दिया जाय या न दिया जाय, दिया जाय तो कैसे दिया जाय। वैदिक दृष्टिकोण में प्रत्येक आचार्य के लिए हर बालक को इस विषय का सही-सही ज्ञान देना आवश्यक था।

5. गुरु अथवा आचार्य

शिक्षा देने वाले को वैदिक विचारधारा में 'आचार्य' कहा गया है। इस विचारधारा में जहाँ विद्यार्थी को 'ब्रह्मचारी' कहा गया है, वहाँ शिक्षक को गुरु अथवा 'आचार्य' कहा गया है। 'आचार्य' का अर्थ है—'**आचारं ग्राहयतीति आचार्यः**'—इतना ही नहीं कि ब्रह्मचारी को ज़बानी तौर पर सदाचार की शिक्षा दे, अपितु—'ग्राहयति'—शिष्य के जीवन में सदाचार को ढाल दे, उसे ऐसी परिस्थिति में रखे कि शिष्य आचार को अपने-आप ग्रहण कर ले। वेदों में 'ब्रह्मचारी' और 'आचार्य'—शिक्षा के ये दो बिन्दु हैं, इन दोनों को मिलाने वाली रेखा 'सदाचार' है; अगर आचार नहीं तो आचार्य आचार्य नहीं, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी नहीं, शिक्षा शिक्षा नहीं। इस दिशा में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली वर्तमान युग के लिए पुरानी होती हुई भी एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जिसे अगर ईमानदारी से क्रियात्मक रूप दिया जाय, तो हमारे शिक्षा-जगत् में जो कूड़ा-कर्कट जमा हो गया है वह उसे एकदम साफ़ कर सकती है। किसी भी समाज की सबसे बड़ी कमज़ोरी चरित्र का अभाव है। वह शिक्षा क्या जो सिर्फ़ फ़ीसें जमा करके बालकों को इम्तिहान में पास करने भर का ठेका लेती है, उनके चरित्र-निर्माण का डंके की चोट ठेका नहीं लेती। ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ शिक्षण-संस्थाएँ नहीं, अच्छी-खासी दुकानें हैं। आज हमारी सब शिक्षण-संस्थाएँ दुकानदारी बन गई हैं। चरित्र को तो शिक्षा का अंग ही नहीं समझा जाता। एक नई फ़िलोसफ़ी ने जन्म ले लिया है—प्राइवेट लाइफ़ अलग है, पब्लिक लाइफ़ अलग है। शिक्षक भी इस बात का दावेदार है कि घर में यह जूआ खेले, शराब पीये, कुछ भी करे, उसकी प्राइवेट लाइफ़ में दखल देने का किसी को अधिकार नहीं। जब शिक्षक के लिए चरित्र का माप-दण्ड यह है, तब विद्यार्थी के लिए उसके जीवन का यही माप-दण्ड क्यों न होगा ?

कहा जाता था, आत्म-विद्या को 'परा'-विद्या कहा जाता था। 'अपरा'—जो परले-जगत् की विद्या न हो; 'परा'—जो परले-जगत् की विद्या हो। शौनक आजकल के सायंस के प्रोफ़ेसरों जैसा था, अंगिरस् अध्यात्मवादी योगियों जैसा था। शौनक 'अपरा-विद्या' (Scientific knowledge) को पा चुका था, 'परा-विद्या' (Spiritual knowledge) को पाने के लिए अंगिरस् ऋषि के पास आया था क्योंकि वैदिक-शिक्षा की यह धारणा थी कि भौतिक-ज्ञान आत्म-ज्ञान के विना अधूरा है।

(ख) **छान्दोग्योपनिषद् में नारद का वर्णन**—छान्दोग्योपनिषद् (7-1) में नारद का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार वह सनत्कुमार आचार्य के पास गया और उनसे कहा— मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद, पित्र्य, राशि, देव-विद्या, निधि-शास्त्र, वाक्योवाक्य, एकायन, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, देव-जन-विद्या—इन सब विद्याओं को पढ चुका हूँ, परन्तु—'**सो ऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्**'—हे भगवन्! इतना सब पढ़ कर मैं '**मन्त्रवित्**' तो हो गया हूँ, '**आत्मवित्**' नहीं हुआ। नारद भी भौतिक विद्याओं को सीख कर आत्म-ज्ञान के लिए आचार्य सनत्कुमार के पास आया था क्योंकि वैदिक-शिक्षा की यह धारणा थी कि भौतिक-ज्ञान आत्म-ज्ञान के बिना अधूरा है।

(ग) **अपरा-विद्या, मन्त्र-विद्या, काम-रति, अविद्या एक-समान हैं; एवं परा-विद्या, आत्म-विद्या, आत्म-तृप्ति-विद्या—ये एक-समान हैं**—उपनिषद् के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अपरा-विद्या तथा मन्त्र-विद्या का अर्थ भौतिक-विज्ञानों से था, परा-विद्या तथा आत्म-विद्या का अर्थ आध्यात्मिक-विज्ञान से था। यही कारण है कि शौनक कहता है कि अपरा-विद्या वह पढ़ चुका है, परा-विद्या पढ़ना चाहता है; इसी प्रकार नारद कहता है कि मन्त्र-विद्या वह पढ़ चुका है, आत्म-विद्या पढ़ना चाहता है। उपनिषदों के अनुसार 'अपरा' तथा 'मन्त्र' को 'अविद्या' का नाम दिया गया है; 'परा' तथा 'आत्म-ज्ञान' को 'विद्या' का नाम दिया गया है। तभी ईशोपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र में कहा है :

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृत मश्नुते।

—अर्थात् जो 'अविद्या' को जानता है वह 'मृत्यु' को तर जाता है, जो 'विद्या' को जानता है वह 'अमर' हो जाता है। मृत्यु के साथ किससे लड़ा जाता है? औषधियों के ज्ञान से ही तो, भौतिक-विज्ञान से मृत्यु से लड़ते हैं, परन्तु उससे अमृत तो नहीं हाथ आता। अमृत की प्राप्ति होती है आत्म-ज्ञान से। इसीलिये उपनिषद् ने अपरा को, मन्त्र-ज्ञान को जिससे अमरत्व प्राप्त नहीं होता 'अविद्या' कहा है; परा को, आत्म-ज्ञान को जिससे अपने अमरत्व का वोध होता

है 'विद्या' कहा है। हमारे शास्त्रों की ये उल्टी प्रतीत होने वाली परिभाषाएँ स्थिति का यथार्थ-बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। उपनिषदों के इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए गीता ने 'आत्म-रत', 'आत्म-तृप्त' तथा 'आप्त-काम' शब्दों का प्रयोग किया है। गीता (3-17) में कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

—अर्थात्, जो व्यक्ति 'आत्मरत' है, 'आत्मतृप्त' है, वही पहुँचा हुआ मानव है। 'आत्म-रत' तथा 'आत्म-तृप्त' के विरोधी शब्दों का प्रयोग करते हुए गीता ने 'कामकामी'-शब्द का (2-70) प्रयोग किया है जिसका उल्टा शब्द बनता है—'आप्त-काम'।

हमारा यह सब-कुछ लिखने का इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार शिक्षा का कार्य भौतिक-विज्ञानों के अध्ययन तक ही समाप्त नहीं हो जाता, इनका अध्ययन तो जरूरी है ही क्योंकि इनके बिना संसार का व्यवहार नहीं चल सकता, परन्तु इस सब ज्ञान को शास्त्रों में अपरा कहा है, मन्त्र-ज्ञान कहा है, कामकामी-ज्ञान कहा है, अविद्या कहा है। क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण समन्वयात्मक दृष्टिकोण है, इसलिए अपरा के साथ परा का, मन्त्र-ज्ञान के साथ आत्म-ज्ञान का, अविद्या के साथ विद्या का जानना आवश्यक है—इन दोनों के समन्वित होने से ही जीवन पूर्ण होता है, नहीं तो मनुष्य या निरा भौतिकवादी रह जाता है या निरा अध्यात्मवादी रह जाता है, और इस प्रकार 'निरा' रहने के कारण वह अपूर्ण रह जाता है।

7. अध्यापन की विधि

अध्यापन की विधियों को मुख्य तौर पर सब जगह दो भागों में बाँटा गया है। एक है—'आगमन-पद्धति' (Inductive method), दूसरी है—'निगमन-पद्धति' (Deductive method)। अनेक दृष्टांत देकर किसी तथ्य का निरूपण करना आगमन-पद्धति कहलाता है; शुरू में ही तथ्य का प्रतिपादन कर उसे भिन्न-भिन्न दृष्टांतों में घटा कर दिखलाना निगमन-पद्धति कहलाता है। भारतीय शास्त्रों में अध्यात्म-विद्या के रहस्यों को समझाने के लिए आगमन तथा निगमन—इन दोनों पद्धतियों का आश्रय लिया गया है। शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिए किसी उपयोगी कौशल (Craft) से उसे जोड़ देना भी शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अध्यात्म-विद्या को हृदयंगम कराने के लिए गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में जहाँ आगमन तथा निगमन पद्धति का सहारा लिया जाता था वहाँ इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर गो-पालन को शिक्षा के साथ जोड़ दिया गया था।

(क) **आगमन-पद्धति के दृष्टान्त**—प्राचीन शिक्षा-शास्त्री 'ज्ञान' तक पहुँचने के लिए पाँच क्रम वतलाते थे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इसे 'पंचावयव' कहा जाता था। पंचावयव की इसी पद्धति को आजकल प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हर्वार्ट (1776-1841) के शिक्षा देने के पंच-सोपान (Five Steps of Herbart) कहा जाता है। इसी पद्धति को आधार बना कर (छान्दोग्य, 6-12) श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने **'सदेवेदमग्र आसीत्'**—संसार प्रारम्भ में सत् ही था—**'तत्त्वमसि'**—तू वही है—इन तथ्यों का आगमन-पद्धति से उपदेश देते हुए कहा—देखो, सामने वट-वृक्ष है, उसका फल ले आओ। वह फल ले आया। कहा—इसे तोड़ डालो। तोड़ दिया। पूछा—इसमें क्या देखते हो? कहा—भगवन्! छोटे-छोटे वीज। कहा—इनमें से एक दाने को तोड़ दो। तोड़ दिया। इसमें क्या देखते हो? उत्तर मिला—कुछ भी नहीं। गुरु ने कहा—हे सोम्य! जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है, जिसे अणु-रूप में तू कुछ नहीं देख पा रहा है उसी से यह महान् वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है। फिर गुरु ने नमक की डली श्वेतकेतु के हाथ में दे कर कहा—इसे पानी के घड़े में डाल दो। अगले दिन पूछा—वह डली दीखती है? उत्तर मिला—नहीं दीखती। फिर कहा—पानी पीयो। शिष्य ने पानी पिया। दायें से पीओ, वायें से पीओ, वीच में से पीओ। सव जगह नमक-ही-नमक मिला, वह नमक जो दीख नहीं रहा था। इन दृष्टान्तों से उद्दालक ने श्वेतकेतु को समझाया कि ब्रह्म जो दीख नहीं रहा वह विश्व के कण-कण में मौजूद है।

(ख) **निगमन-पद्धति के दृष्टान्त**—निगमन-पद्धति का अर्थ है, तथ्य को पहले से ही वतला देना। जव उद्दालक ने श्वेतकेतु को शास्त्र का हवाला देकर कहा—**'सदेव सोम्य अग्र आसीत्'**—तव शुरू में उसने निगमन का ही आश्रय लिया।

(ग) **शिक्षा में कौशल को जोड़ देना**—अमरीका के शिक्षा-शास्त्री जॉन ड्यूई (1859-1952) का नाम शिक्षा के प्रगतिशील विचारों के साथ जुड़ा हुआ है। उनकी शिक्षा-पद्धति को 'योजना-पद्धति' (Project method) कहा जाता है। इस पद्धति में वालकों को कोई योजना दी जाती है जिसको उन्हें पूर्ण करना होता है। इसके विवरण में तो हम नहीं जाना चाहते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा के साथ किसी उपयोगी, महत्त्वपूर्ण योजना को जोड़ देने की पद्धति उपनिषद्काल में भी पायी जाती थी। विद्याभ्यास करते हुए गौ की सेवा करना शिष्य का मुख्य कार्य था। छान्दोग्य (4-4-5) में सत्यकाम जावाल की कथा आती है। वहाँ लिखा है कि गुरु ने कुछ गोएं उसके सुपुर्द कर दीं। जव तक वे दुगुनी हो गई तव तक वह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका था। 'योजना-पद्धति' को आधार वना कर ही महात्मा गांधी (1869-1948) ने

बुनियादी तालीम की नींव डाली थी और उसमें मुख्यतया कृषि को योजना का आधार बनाया था। आचार्य के आश्रम में रह कर ब्रह्मचारी गो-पालन को योजना का केन्द्र बनाते थे। गो-सेवा का इतना महत्त्व है कि यदि आज भी इसे शिक्षा के साथ जोड़ दिया जाय, तो विद्यार्थियों को लाभ ही हो सकता है।

8. शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति

अब तक हमने शिक्षा-प्रणाली के साधनों पर प्रकाश डाला—कैसी शिक्षा हो, कैसा शिष्य हो, कैसा आचार्य हो, परन्तु इन सब साधनों को जुटा कर हम वैदिक शिक्षा-पद्धति से शिक्षा पाये हुए युवक से क्या आशा करते हैं? जैसे गुरुकुल में भर्ती करते समय आचार्य ब्रह्मचारी के सम्मुख एक पुरोगम रखते हुए कहता है—**'कर्म कुरु'**, **'दिवा मा स्वाप्सीः'**, **'क्रोधानृते वर्जय'**, **'उपरि शय्यां वर्जय'** आदि, वैसे शिक्षा समाप्त कर चुकने के बाद युवक से जो आशा की जाती है उसका उल्लेख करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् (प्रपा० 7, अनु० 11, कं० 1, 2, 3, 4) में लिखा है—

'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।···सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्।···मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।···एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषद्, एतदनुशासनम्'।

शिक्षा-संस्था में अध्ययन समाप्त करने के बाद जब ब्रह्मचारी घर को लौटता है, तब आचार्य उसे उपदेश देते हुए—जिसे आजकल 'दीक्षान्त-भाषण' कहा जाता है—कहता है कि गुरु के पास तुमने जो-कुछ सीखा उससे तुमसे यह आशा की जाती है कि तुम जीवन में सत्य का आचरण करोगे, धार्मिक-जीवन बिताओगे, माता-पिता की सेवा करोगे, अपने बड़ों का सम्मान करोगे। अब विश्वविद्यालयों ने भी दीक्षान्त-भाषण देते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् के इन्हीं वाक्यों का उच्चारण करना शुरू कर दिया है। परन्तु क्या हमारी शिक्षा सचमुच ऐसे युवक तैयार कर रही है? बार-बार सिर्फ़ यही रटा जा रहा है कि शिक्षा का उद्देश्य युवक-युवतियों को रोटी कमाने लायक बनाना है। रोटी कमाने लायक बनाना है—यह तो ठीक है, परन्तु शिक्षा का उद्देश्य इन्सान को इन्सान बनाना पहले है। चौदह-सोलह साल जबतक विद्यार्थी शिक्षणालय में रहता है, हम उसे नहीं बतलाते कि जीवन क्या है, सत्य क्या है, धर्म क्या है, जीवन का लक्ष्य क्या है, इम्तिहान पास करा लेने के बाद दीक्षान्त-भाषण के समय तैत्तिरीयोपनिषद् के वाक्य उसे सुना देते हैं। यह शिक्षा नहीं, शिक्षा की विडम्बना है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में आचार्य ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट करते हुए उसके सामने एक निश्चित प्रोग्राम रखता था, और शिक्षा समाप्त कर गुरुकुल

से लौटते हुए उसे उस चुनौति का सामना करने के लिये होशियार करता था जो जीवन में उसके सामने आने वाली थी। आचार्य का कहना था कि रोटी तो तुम कमाओगे ही, पेट तो तुम भरोगे ही, परन्तु याद रखना —जो-कुछ करना इन्सान बने रहना, इस संस्था में इन्सानियत के जो गुण सीखे हैं उन्हें मत भूलना।

9. चुनौती

भारत मे शिक्षा के क्षेत्र में जो आँख उठा कर देखता है उससे यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि हमारी शिक्षा-पद्धति असफल हो चुकी है। वैदिक शिक्षा-पद्धति के लिए यह अवसर एक चुनौती का अवसर है। चुनौती का रूप क्या है? चुनौती का रूप यह है कि देश में प्रचलित शिक्षा-पद्धति इसलिये असफल हो चुकी है क्योंकि शिक्षा-संस्थाएँ एक फ़ैक्टरी का रूप धारण कर चुकी हैं, शिक्षक लोग अपने को फ़ैक्टरी के वेतनभोगी उच्च-कोटि के मज़दूर समझने लगे हैं। मजदूर की मनोवृत्ति कम-से-कम काम करके ज़्यादा-से-ज़्यादा पैसा खींचने की होती है। सब फ़ैक्टरियों में यही हो रहा है, शिक्षा की फ़ैक्टरी में भी यही होने लगा है। विद्यार्थी भी शिक्षा-संस्थाओं को फैक्टरियाँ समझने लगे हैं, वे भी यूनियनें बनाते हैं, घेराओ करते हैं, हड़तालें करते हैं। पढ़ने-लिखने के लिये श्रम करने का, गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र के सम्बन्ध का, शिष्य के गुरु या गुरु के शिष्य के निकट आने का, तपस्या का, ब्रह्मचर्य का, सदाचार का, चरित्र-निर्माण का शिक्षा में कहीं स्थान नहीं रहा। इस स्थिति में लड़खड़ा रही हमारी शिक्षा-पद्धति को अगर कोई पद्धति बचा सकती है, तो वह गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति ही है जिसके मूल-तत्त्वों का यहाँ उल्लेख किया गया है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति से अभिप्राय किसी शिक्षा-संस्था-विशेष से नहीं है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं। उन सिद्धान्तों को क्रियान्वित किये बिना कोई संस्था गुरुकुल नहीं कही जा सकती। जब तक देश की शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध 'कुल' की भावना पर खड़ा नहीं होता, गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र की-सी भावना नहीं जगती, वे एक-दूसरे के निकट नहीं आते, जब तक विद्यार्थी श्रम, तपस्या के लिये तैयार नहीं होते, जब तक ब्रह्मचर्य शिक्षा का आधार नहीं बनता, चरित्र-निर्माण और सदाचार शिक्षा के अभिन्न अंग नहीं बनते, जब तक शिक्षकवर्ग **'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः'** की जिम्मेवारी अपने कन्धों पर नहीं लेते, दूसरे शब्दों में, जब तक गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूल-सिद्धान्त देश की शिक्षा-प्रणाली में ओत-प्रोत नहीं हो जाते, उस पर छा नहीं जाते, तबतक हम 1835 में मैकाले ने जहाँ खड़ा किया था वहीं खड़े रहेंगे।
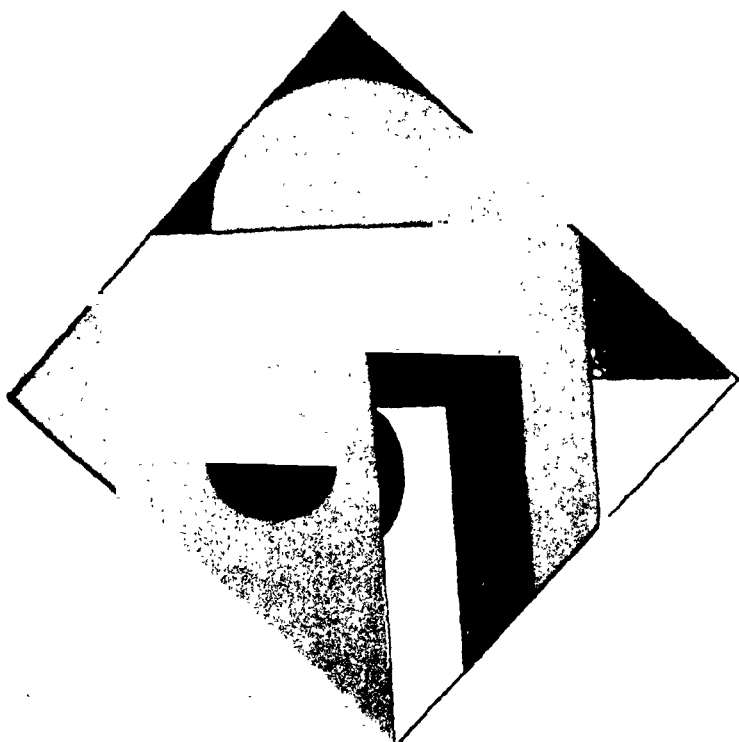
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

(कठ, 3—3, 4)

'जीवन' के विषय में दो दृष्टियाँ प्रचलित हैं—एक शुद्ध-भौतिकवादी-दृष्टि है, दूसरी शुद्ध-अध्यात्मवादी-दृष्टि है । शुद्ध-भौतिकवादी लोग कहते हैं कि यह जीवन ही आदि है, यही अन्त है—इस तथ्य को ध्यान में रख कर जीवन बिताना चाहिये; शुद्ध-अध्यात्मवादी लोग कहते हैं कि यह जीवन मिथ्या है, यथार्थ-जीवन इहलोक का जीवन नहीं, परलोक का जीवन ही यथार्थ-जीवन है, उसी की तैयारी में इस जीवन को अर्पित कर देना उचित है । बेकन का जो पाश्चात्य भौतिक-विचारधारा का मुख्य स्तम्भ था, कथन है कि यह संसार ही सत्य है, यही सब-कुछ है, यह मान कर ही हमें जीवन-पथ का निर्माण करना है ।

परन्तु क्या उस जीवन को ही आदि तथा अन्त माना जा सकता है? संसार में हर वस्तु 'सापेक्ष' (Relative) है, दूसरे का अंग है; 'निरपेक्ष' (Absolute) तो एक ही हो सकता है जिसके आसरे सब टिका है; अगर वह भी 'सापेक्ष' हो, उसे भी आसरे की आवश्यकता हो, तो अनवस्था-दोष आ जाता है। हमारा पार्थिव-जीवन भी सापेक्ष है, अंग है, हिस्सा है, कड़ी है—किस की? यह उस जीवन का अंग है जिसे हम आध्यात्मिक कहते हैं। इस दृष्टि से न शुद्ध-भौतिकवादी दृष्टिकोण सही है, न शुद्ध-अध्यात्मवादी दृष्टिकोण सही है। हमारा भौतिक-जीवन आध्यात्मिक-जीवन का अंग है—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों मिल कर जीवन की शृंखला को पूर्ण करते हैं, अलग-अलग होकर ये दोनों अधूरे रह जाते हैं। वैदिक दृष्टिकोण यह है कि भौतिक-जीवन भी सत्य है, आध्यात्मिक-जीवन भी सत्य है, दोनों को सत्य मान कर ही जीवन-पथ पर यात्रा हमें लक्ष्य तक पहुँचा सकती है।

अगर पार्थिव-जीवन को आध्यात्मिक-जीवन का अंग न माना जाय, तो जीवन में सार्थकता नहीं रहती, यह निरर्थक हो जाता है। किसलिए जीयें? क्या सिर्फ़ खाने-पीने के लिए? खाना-पीना तो पशु भी करते हैं, फिर मानव-जीवन की सार्थकता क्या है? आध्यात्मिक-जीवन के साथ भौतिक-जीवन की डोर बंधी हो, तभी जीवन की दिशा निश्चित तथा असन्दिग्ध हो सकती है, अन्यथा मानव-जीवन जी लेने और मर जाने के सिवाय कुछ नहीं रहता।

आध्यात्मिक-जीवन का यह अर्थ नहीं है कि पार्थिव-जीवन की उपेक्षा की जाय। पार्थिव-जीवन आध्यात्मिक-जीवन के लिये आवश्यक है, परन्तु साधन के तौर पर, उपकरण के तौर पर। शरीर आत्मा का साधन है, उपकरण है—यह जान कर जीना ही जीवन की सम्पूर्णता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए कठोपनिषद् में कहा है—शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ उसमें जुते घोड़े हैं, ये घोड़े संसार के विषयों की तरफ़ दौड़ रहे हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है—और इस रथ पर सवारी करने वाला आत्मा है। जब यह सिलसिला उल्टा हो जाता है, लगाम इन्द्रियों के हाथ में आ जाती है, तब आत्मा भोक्ता होने के स्थान में इन्द्रियाँ भोक्ता हो जाती हैं। सही जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का समन्वय है।

दशम अध्याय

जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण

(SPIRITUAL OUTLOOK ON LIFE)

1. इहलौकिक-जीवन पारलौकिक-जीवन से बंधा हुआ है

डॉ० राधाकृष्णन* भारत तथा ग्रीस के पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय में लिखते हैं कि ग्रीस के विद्वान् युसेत्रियस (315 ईस्वी) ने अपने लेखों में एक परम्परागत कथानक का उल्लेख किया है। इस कथानक के अनुसार अरस्तु के शिष्य एरिस्टोक्सेनस कहा करते थे कि एक समय भारत से सन्तों की एक मण्डली ग्रीस पहुँची थी जिसकी सुकरात से भेंट हुई थी। इस भेंट में सन्तों ने सुकरात से पूछा कि जीवन की समस्या के विषय में उसकी क्या सीख है? सुकरात ने उत्तर दिया कि वह सिखाता है कि यह जीवन क्या है, इस जीवन की समस्याएँ क्या हैं, हमें दुनिया में किस प्रकार रहना चाहिए, हमारा इस पार्थिव-जीवन में एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, हमें कैसे वरतना चाहिये। एरिस्टोक्सेनस का कहना है कि यह उत्तर सुन कर भारत की मण्डली का एक सन्त खिलखिला कर हँस पड़ा। उसने कहा—जो व्यक्ति इस भौतिक-जीवन के साथ बँधे हुए उस अभौतिक, दिव्य-जीवन को नहीं जानता वह इस भौतिक-जीवन के सम्बन्ध में क्या सीख दे सकता है? भारतीय सन्त ने पूछा—क्या तुम्हें इस पार्थिव-जीवन के अतिरिक्त उस दिव्य-जीवन का भी पता है, वह जीवन जो लौकिक न होकर पारलौकिक है, जो भौतिक न होकर

---

* Dr. Radhakrishnan on India and Greece: Eusebius (315 A.D.) speaks of a tradition which he attributes to Aristoxenus, the well-known writer and pupil of Aristotle that certain learned Indians actually visited Athens and conversed with Socrates. When asked by them to explain the scope of his philosophy Socrates is stated to have replied: "an enquiry into human affairs". Thereupon, Aristoxenus tells us, one of the visiting Indians burst into laughter saying: "How can a man grasp human things without mastering the Divine."

आध्यात्मिक है, जो इस दुनिया के साथ बंधा न होकर, इससे अलग है, स्वतन्त्र है, जो इस लोक के जीवन से जीवित न होकर उस लोक के जीवन से जीवित होता है, जिसके साथ बंधा होकर ही यह पार्थिव-जीवन जीवन कहलाता है—क्या तुम्हें उस दिव्य-जीवन का पता है? अगर तुम्हें उस पारलौकिक-जीवन का पता नहीं, तो तुम इहलौकिक-जीवन के विषय में क्या बतला सकते हो। इस संसार का जीवन तो तभी सार्थक हो सकता है जब वह उस जीवन की एक कड़ी हो, उसके साथ शृंखला में बंधा हो। अन्यथा अगर इहलौकिक-जीवन सिर्फ़ इस लोक का है, यहाँ शुरू होता यहीं समाप्त हो जाता है, किसी शृंखला की कड़ी नहीं है, तब तो मनुष्य का जीवन पैदा होना और मिट्टी में मिल जाना—इसके सिवाय कुछ नहीं रहता। फिर इस पार्थिव-जीवन के विषय में सीख क्या, इस जीवन की समस्याओं का समाधान क्या?

2. इहलौकिक-जीवन के सम्बन्ध में वैदिक-दृष्टिकोण

जीवन के सम्बन्ध में वैदिक-दृष्टिकोण यह है कि हमारा यह जीवन तभी सार्थक कहा जा सकता है जब यह इस भौतिक-जीवन के आगे जो-कुछ है उसकी तैयारी समझा जाय। अगर यह जीवन अपने-आप में स्वतन्त्र है, किसी भावी-जीवन की तैयारी नहीं है, तो यह व्यर्थ-सा हो जाता है। इस दृष्टि से यह जीवन एक अंग है किसी अंगी का, भाग है किसी पूर्ण का, कड़ी है किसी शृंखला का।

3. यहाँ प्रश्न खड़ा हो जाता है कि अंग, भाग आदि शब्द सही हैं या अंगी, पूर्ण आदि शब्द सही हैं

जब हम कहते हैं कि यह जीवन अंग है भावी-जीवन का, पार्थिव-जीवन अंग है दिव्य-जीवन का, यह 'अपूर्ण' अंग है उस 'पूर्ण' का जिससे यह बंधा है, जो इसे जीवन प्रदान करता है, जिसकी वजह से यह जीवित है, तब प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या अंग, भाग आदि शब्द वास्तविक हैं या अंगी, पूर्ण आदि शब्द वास्तविक हैं? क्या यथार्थ-सत्ता अंग की है या अंगी की है, वास्तविक-सत्ता इस अपूर्ण की है या पूर्ण की है जो इस अंग का, अपूर्ण का स्रोत है, जिस पारलौकिक से इस इहलौकिक का प्रवाह बहता है। दूसरे शब्दों में, क्या यह सापेक्ष भौतिक-जगत् यथार्थ है या निरपेक्ष अभौतिक-जगत् यथार्थ है, अंग्रेज़ी में कहें तो क्या Relative की, Part की यथार्थ-सत्ता है, या Absolute की, Whole की यथार्थ-सत्ता है, या क्या ये दोनों शृंखला की तरह कड़ी के रूप में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं?

4. ठीक इस बिन्दु पर आज की वैदिक तथा पश्चिम की भौतिक विचारधारा का दृष्टिकोण भिन्न हो जाता है

(क) **पश्चिम की भौतिक-विचारधारा का दृष्टिकोण**—पाश्चात्य-विचारकों के अनुसार हम जो-कुछ भी जानते हैं वह 'सापेक्ष' का ज्ञान है, Relative का ज्ञान है, इस संसार का ही ज्ञान है। सापेक्ष से हमारा मतलब इस संसार—इस 'अंग' से—'अवयव' से है। उनका कथन है कि यह सापेक्ष-संसार ही हमारे ज्ञान में आता है, इससे परे जो-कुछ है उसका ज्ञान हम नहीं कर सकते। इस संसार से परे बहुत-कुछ है इसमें सन्देह नहीं। हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने संसार को दो भागों में बाँटा है—ज्ञात (Known) तथा 'अज्ञात' (Unknown)। वह जो अज्ञात-जगत् है उसकी दृष्टि से ज्ञात-जगत् 'अंग' कहा जा सकता है, 'अवयव' कहा जा सकता है, परन्तु बेकन (1561-1626) का, जो पाश्चात्य-भौतिक-विचारधारा का मुख्य स्तम्भ था, यह कथन है कि हम यह मानने को विवश हैं कि यह सापेक्ष कहा जाने वाला संसार ही सत्य है, निरपेक्ष कहा जाने वाला संसार असत्य है, है ही नहीं, उसकी कोई सत्ता नहीं, यही सत् है, यही सब-कुछ है क्योंकि उसकी सत्ता होने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं।

(ख) **भारत की वैदिक-विचारधारा का दृष्टिकोण**—भारत का वैदिक-दृष्टिकोण यह नहीं है। वैदिक-दृष्टिकोण यह है कि ज्ञात के पीछे अज्ञात है; सापेक्ष (Relative) के पीछे निरपेक्ष (Absolute) है; अंग तथा अवयव के पीछे अंगी है, निरवयव है; भाग, हिस्से या अपूर्ण के पीछे वह पूर्ण है जिसका अपूर्ण भाग है, जिसका अपूर्ण हिस्सा है, जिसकी दृष्टि से कुछ भी अपूर्ण है—इस सबके पीछे पूर्ण है, सारा है—Absolute या Whole है।

ये दोनों दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं, परस्पर-विरोधी हैं। अगर पाश्चात्य-दृष्टिकोण सही है, तब तो हमारे जीवन का दायरा यह भौतिक-संसार ही रह जाता है, इसी के साथ हम बंध जाते हैं, इसकी समस्याएँ ही हमारी समस्याएँ रह जाती हैं, यह संसार ही हमारे जीवन का लक्ष्य रह जाता है। परन्तु अगर भारत का वैदिक-दृष्टिकोण सही है, यह दृष्टिकोण कि यह संसार तो एक लम्बी-चौड़ी सांकल की सिर्फ़ कड़ी है, हर कड़ी दूसरी कड़ी से बँधी हुई है, इहलौकिक की पारलौकिक के साथ गाँठ जुड़ी हुई है, तो जीवन का सारा दृष्टिकोण बदल जाता है, तब हमारा ध्यान इस जीवन पर तो रहता ही है, उस से तो हम हट नहीं सकते, परन्तु हमारी नज़र इस पर रहती हुई भी उस पर रहती है, ठीक ऐसे जैसे नदी पार करते हुए हम इस किनारे को तो ध्यान में रखते ही हैं, परन्तु टिकटिकी उस किनारे की तरफ़ लगी रहती है जहाँ हमने जाना है। प्रश्न यह है कि पाश्चात्य तथा भारत के वैदिक-दृष्टिकोणों में से कौन-सा दृष्टिकोण सही है ?

5. वैज्ञानिक-दृष्टिकोण से विचार करें तो हमारा ज्ञान अंगी का, निरपेक्ष का, सम्पूर्ण का ज्ञान है

ज्यों-ज्यों हम विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करते जाते हैं यह सिद्ध होता जाता है कि हमारा ज्ञान अंगी का, निरपेक्ष का, पूर्ण का, Absolute का, Whole का ज्ञान है; अंग का, सापेक्ष का, अपूर्ण का, Relative का, Part का ज्ञान नहीं है। अंग्रेज़ी में एक उक्ति है—'We know the relative because we know the absolute; the less we know the absolute, the less we know the relative'—अर्थात् इस सापेक्ष का, संसार का ज्ञान हम उतना ही कर सकते हैं जितना हम निरपेक्ष के समीप होते हैं, भले ही निरपेक्ष को हम जानते हों या न जानते हों।

केनोपनिषद् (2 खंड, 3) में कहा है : **'यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्'**—इस सापेक्ष को जान कर जो कहने लगता है कि मैं सब-कुछ जान गया, वह कुछ नहीं जाना, जो इसे जान कर कह उठता है कि मैं कुछ नहीं जान पाया, वही सत्य को जान जाता है। देखने को यह अपूर्ण जगत् पूर्ण जान पड़ता है, परन्तु यथार्थ में पूर्ण तो वह ही है जिसमें से पूर्ण को भी निकाल लिया जाय, तो शेष भी पूर्ण ही बच रहे—**'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'**—इस जगत् में से तो चुटकी भर भी निकाल लें, तो अपूर्ण हो जाता है।

6. अगर हमारा जीवन निरपेक्ष से नहीं जुड़ा हुआ तो हमारे जीवन में निम्न दोष होने अवश्यम्भावी हैं :

(क) **जीवन की सार्थकता न होना**—अगर हमारा जीवन सम्पूर्ण से, निरपेक्ष से जुड़ा हुआ नहीं है, अगर वह जीवन के अधूरे भाग में ही चक्कर काट रहा है—और सिर्फ़ इहलौकिक-जीवन बिताना अधूरे जीवन में ही विचरना है—सम्पूर्ण के साथ अपने सम्बन्ध को काट देना है—तो यह निश्चित है कि हमारे जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता। जीवन की सार्थकता तो तभी सिद्ध होती है जब वह सम्पूर्ण को अपने सामने रखे। व्यक्ति के शरीर को अगर एक सम्पूर्ण इकाई मान लिया जाय, तो शारीरिक-उन्नति के लिए सिर्फ़ भुजाओं का व्यायाम करना बेमाने होगा जबतक सम्पूर्ण-शरीर के सब अंगों को पुष्ट करने का प्रयत्न न किया जाय; **परिवार** को अगर इकाई मान लिया जाय, तो पारिवारिक-उन्नति के लिए परिवार के सिर्फ़ एक अंग को—सिर्फ़ एक बच्चे को—लायक बना देना पारिवारिक-सफलता का सूचक नहीं है ; **समाज** को अगर इकाई मान लिया जाय, तो समाज के केवल एक वर्ग का कल्याण तथा सुरक्षा करना

सरकार को सार्थक नहीं बना सकता; विश्व को अगर इकाई मान लिया जाय, तो विश्व के केवल एक देश का उन्नतिशील हो जाना पर्याप्त नहीं है। व्यक्ति, परिवार, समाज, विश्व को उन्नत करने के लिए इनके एक-एक अंग को एक-दूसरे से अलग करके विचार करना हमारे सम्पूर्ण उद्योग को निरर्थक बना देता है। हमें अपना लक्ष्य सार्थक बनाने के लिए अंग को, अवयव को सामने नहीं रखना होगा, अंगी को, सम्पूर्ण को—सारे-के-सारे को—'पूर्णस्य पूर्णमादाय'—को सामने रखना होगा तभी हमारा कार्य-क्रम सार्थक हो सकता है। यह जीवन भी तभी सार्थक हो सकता है जब यह आने वाले जीवन के परिपेक्ष्य में ढल रहा हो।

उसे दिशा का ही भ्रम हो, तो वह लक्ष्य ढूंढने में ही लग जाता है, असन्दिग्ध होकर निश्चित दिशा की तरफ़ नहीं चल पड़ता। कभी कहता है—यह मार्ग ठीक है, कभी कहता है, वह मार्ग ठीक है। कभी सचाई के गीत गाने लगता है, कभी कहता है कि झूठ बोलने में क्या हर्ज है; कभी हिंसा, कभी अहिंसा, कभी ईमानदारी, कभी बेईमानी, जीवन की कोई असन्दिग्ध विचारधारा नहीं रहती। इस सन्देहमय-जीवन के दो परिणाम हैं—एक तो मनुष्य हर समय सन्देह में पड़ा रहता है, वह निश्चित रूप से तय नहीं कर पाता कि जीवन के कंटकाकीर्ण मार्ग में सत्य क्या है, सही रास्ता क्या है। अगर यही जीवन सब-कुछ है, परमार्थ है ही नहीं, तो एक विचारधारा बनती है, वह भौतिकवादी-दृष्टिकोण से सोचने लगता है; परन्तु अनिश्चय में यह भी तो सन्देह हो सकता है कि यह भौतिक-जीवन अन्तिम-अवस्था नहीं है, यह आगे के दिव्य-जीवन की इधर की कड़ी है, इस दृष्टि से वह अध्यात्मवादी-दृष्टिकोण से भी सोचने लगता है। यह अनिश्चय की स्थिति उसके जीवन को डाँवाडोल कर देती है। दूसरा परिणाम यह होता है कि जीवन का कोई स्थिर-लक्ष्य सामने न होने के कारण कभी वह चाँद की तरफ़ भागने लगता है, कभी ग्रह-उपग्रहों की तरफ़, कभी हिमालय की चोटी को नापने लगता, कभी समुद्र की थाह लेने लगता है। ऐसे कामों में पड़ जाता है जो कहने को चमत्कारी हैं, परन्तु जिनका कुछ मतलब नहीं निकलता, इस दौड़-धूप में उसके हाथ कुछ नहीं लगता, बहुत-कुछ लगने के बाद भी उसके हाथ ख़ाली-के-ख़ाली रह जाते हैं।

क्योंकि हम अंग को, सापेक्ष को, महान् जीवन के इस छोटे-से भाग को ही देख कर जीवन की उलझन में फँसे पड़े हैं, इसलिए सापेक्षता में उलझे रहने के कारण आज के विश्व के जीवन में न तो सार्थकता है, न निश्चयता है, न न असन्दिग्धता है, सिर्फ़ दौड़-धूप है, यह दौड़-धूप किसलिये है, हम कहाँ भागे जा रहे हैं—इसका किसी को पता नहीं।

प्रश्न यह है कि क्या जीवन का यही तथ्य है, यही तथ्य कि पूर्ण की कोई सत्ता ही नहीं, जो दीखता है वही सब-कुछ है, इसके सिवा कुछ नहीं, Absotute जैसे, Whole जैसे किसी तत्त्व की सत्ता नहीं, यह जीवन किसी आने वाले जीवन की शृंखला में कोई कड़ी नहीं, यही जीवन आदि है, यही अन्त है। पाश्चात्य-दृष्टिकोण यही है। परन्तु पाश्चात्य-दृष्टिकोण जिस पूर्ण की सत्ता से उन्मुख हो रहा है, उसकी सत्ता पर भी पाश्चात्य-विचारकों ने ही स्वयं प्रकाश डाला है। पाश्चात्य-जगत् में ही बेकन जैसे ऐसे विचारक हुए हैं जो इस भौतिक-जीवन तथा भौतिक-जगत् को ही सब-कुछ मानते हैं, इसका आगे के जीवन या जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ते; पाश्चात्य-जगत् में ही ऐसे भी विचारक हुए हैं जो भारत के इस वैदिक-विचार की पुष्टि करते हैं कि यह

जीवन और यह जगत् यहीं बस नहीं हो जाते, ये सिर्फ़ अंग हैं किसी अंगी के, भाग हैं किसी भागीदार के, अपूर्ण हैं किसी पूर्ण के। वह कैसे ?

7. भौतिक-जीवन अभौतिक से, सापेक्ष निरपेक्ष से बँधा हुआ है

(क) कुछ साल हुए एक मनोवैज्ञानिक ने एक परीक्षण किया। उसने एक बड़ा-सा काग़ज़ लेकर उसमें एक छेद कर दिया। तीन व्यक्ति परीक्षण करने बैठे। एक व्यक्ति जिसे हम 'क' कह सकते हैं, काग़ज़ लेकर दूसरे व्यक्ति 'ख' को काग़ज के छेद में से तीसरे व्यक्ति 'ग' का एक-एक अंग दिखलाने लगा। कभी आँख दिखलाई, कभी मुख दिखलाया, इस प्रकार 'ग' के चेहरे के हर-एक अंग को वह दिखलाता गया। जब उसके चेहरे के सब अंगों को—एक-एक करके—वह दिखला चुका, तब 'क' ने दूसरे व्यक्ति 'ख' से कहा कि तुमने 'ग' के आँख, नाक, कान, सिर आदि सब अंग देख लिए, अब इस व्यक्ति के सम्पूर्ण चेहरे की कल्पना करो। जिसे ये सब अंग दिखलाये गए थे, अगर वह चित्रकार था, आर्टिस्ट था, तब उसे कहा गया कि इस व्यक्ति के सब अंग तुमने अलग-अलग देख लिये हैं, अब इस व्यक्ति के सम्पूर्ण चेहरे को चित्रित करो। यद्यपि इन लोगों ने छिद्र में से उस व्यक्ति के हर-एक अंग को अलग-अलग-से देख लिया था, तब भी न तो उस चेहरे की कोई सम्पूर्ण रूप में कल्पना कर सका, न उस चेहरे का कोई चित्र बना सका। यद्यपि उस व्यक्ति—'ग'—की आँख, उसका कान, नाक आदि सब-कुछ छिद्र में से दिखला दिया गया था, तो भी जब उस व्यक्ति—'ग'—को इन देखने वालों—'ख'—के सामने लाया गया तब उनमें से कोई उसे पहचान न सका। इस प्रयोग से क्या सिद्ध होता है ? इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा चेहरा चेहरे के भिन्न-भिन्न अंगों का जोड़ मात्र नहीं है, इन अंगों के अतिरिक्त भी कुछ है, दूसरे शब्दों में अंगों के मिल जाने से ही अंगी नहीं बन जाता, इनके मिलने के बाद वह अंगों से कुछ अधिक, कुछ भिन्न भी हो जाता है, अवयव ही मिल कर अवयवी को, Parts ही मिल कर Whole को नहीं बना देते, अवयवों या Parts के मिल जाने के बाद अवयव या Whole अपने घटक-तत्त्वों से कुछ भिन्न हो जाता है, उसकी अपने अंगों या अवयवों से भिन्न सत्ता बन जाती है।

इस प्रयोग से सिद्ध है कि अवयव या अंग की, Part की, अवयवी या अंगी या Whole के दृष्टिकोण से ही सत्ता है, पूर्ण की दृष्टि से ही अपूर्ण की सत्ता है, अर्थात्—अवयवी या अंगी की जिसे हमने निरपेक्ष कहा है, उसकी, अंगों के अतिरिक्त अपनी स्वतन्त्र-सत्ता है, अवयवी या अंगी अवयवों या अंगों का सिर्फ़ जोड़ ही नहीं है, जोड़ से अतिरिक्त भी वह स्वतन्त्र-कुछ है। दूसरे शब्दों में, अवयवी को, अंगी को, निरपेक्ष को जानने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि

हम अवयवी, अंगी या निरपेक्ष के टुकड़े करके उसे अलग-अलग जान लें, इन्हें अलग-अलग जान लेने के बाद भी निरपेक्ष इनसे भिन्न बना रहता है; अगर हम सापेक्ष को, Relative को, अपूर्ण को जान लेते हैं, तब भी सब-कुछ नहीं जाना जाता; Absolute, पूर्ण -- इन अपूर्णों से अतिरिक्त स्वतन्त्र-रूप में बना रहता है, नहीं तो व्यक्ति के अंगों को—उसके सापेक्ष-ज्ञान को—पा लेने के बाद, इन सापेक्षों के जोड़ की कल्पना की जा सकती थी, चित्रकार उसका चित्र बना सकता था जो उक्त प्रयोग के आधार पर हमने देखा कि वह नहीं बना सका।

(ख) इतना ही नहीं कि उक्त प्रयोग से सापेक्ष के अतिरिक्त निरपेक्ष की सत्ता सिद्ध है, एक विचारक का तो कहना है कि निरपेक्ष-सत्ता का सब को अनजाने भी ज्ञान रहता है—यह हमें बरबस मानना पड़ता है। डेकार्ट एक पाश्चात्य-विचारक हुआ है जिसका हम अन्यत्र ज़िक्र कर आये हैं। उसका कहना है कि क्योंकि हमारा ज्ञान सापेक्ष है इसलिये हम सबको निरपेक्ष का ज्ञान भी है। उसका कहना है कि किसी को थोड़ा ज्ञान होता है, किसी को उससे ज़्यादा, और तीसरे किसी को उससे भी ज्यादा, इस प्रकार ज्यादा-ज्यादा की शृंखला बनती चली जाती है। जब हम कहते हैं—'ज्यादा ज्ञान'—तब हम किसी 'ज्ञान' की अपेक्षा से कम-ज्यादा कह रहे होते हैं। अगर हम सबका ज्ञान सापेक्ष है, तो प्रश्न होता है कि यह सापेक्षता कहाँ शुरू होती है ? सापेक्षता वहीं से तो शुरू होगी जहाँ निरपेक्षता होगी, अपूर्णता तभी तो जन्मेगी जब पूर्णता होगी। हम कहते हैं—आधी रोटी, आधी का ज्ञान तभी तो होगा जब पूरी का ज्ञान होगा। पूरा पहले होगा, तभी आधा या चौथाई हो सकता है, पूर्ण पहले होगा तभी अपूर्ण का ज्ञान हो सकता है। हम सब जानते हैं कि हम सब का ज्ञान अपूर्ण है, परन्तु जबतक हमें अनजाने भी पूर्ण का ज्ञान नहीं है, तबतक हम कैसे कह सकते हैं कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है ? सापेक्ष का ज्ञान होना, अपूर्ण का ज्ञान होना सम्भव ही तभी हो सकता है जब हमें निरपेक्ष का, पूर्ण का ज्ञान हो। डेकार्ट का कथन है कि वही निरपेक्ष का ज्ञान ईश्वरीय-ज्ञान है जो हमारे अनजाने हमारे भीतर निहित है। यह विचार योग-दर्शन में अधिक स्पष्ट रूप में कहा गया है। पतंजलि मुनि का कथन है—**'सः सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। हम गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु ज्ञान तो अपने से अधिक ज्ञानी से लिया जाता है, हमारा ज्ञान सापेक्ष है हम से किसी अधिक ज्ञानी की अपेक्षा से। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की शृंखला में जो गुरुओं-का-गुरु है, जहाँ ज्ञान का स्रोत है, वह आदि-गुरु परमात्मा है, उसी की अपेक्षा में सबके ज्ञान की छोटी-बड़ी धारा बह रही है।

(ग) अगर हम सापेक्ष को निरपेक्ष से बँधा हुआ न समझें, तो एक विकट-समस्या खड़ी हो जाती है—सबसे बड़ी समस्या कि यह अद्भुत्-जीवन सर्वथा

निरर्थक—अर्थहीन—वेकार हो जाता है। क्या हम नहीं देखते कि घास तक का पत्ता-पत्ता सार्थक है। हर वस्तु किसी प्रयोजन को लिये खड़ी है। शरीर में आँख, कान, नाक आदि अंग हैं—इन अंगों का काम भी अपना-अपना निश्चित है। आँख देखने के लिये है, कान सुनने के लिये, नाक सूंघने के लिये है। ये सब अंग इस शरीर के लिये हैं, तो क्या शरीर आत्मा के लिये नहीं है! जिधर नजर उठायें, हर वस्तु किसी प्रयोजन को हल कर रही है। ऐसा कहीं नहीं है कि कोई वस्तु है परन्तु उसका कोई प्रयोजन, कोई अर्थ नहीं है। अर्थहीन और वेकार यहाँ कुछ नहीं है। अगर हमारा यह मानव-जीवन सापेक्ष नहीं है, अगर यह किसी अन्य जीवन—उच्च-जीवन—से वंधा हुआ नहीं है, अगर यह जीवन जीवन की शृंखला में एक कड़ी नहीं है, तो यह पैदा होना, नष्ट हो जाना, सर्वथा निरर्थक और निष्प्रयोजन हो जाता है। आज एक सज्जन जो ८५ वर्ष के थे इसी दुविधा में पड़े हुए थे। जीवन के ८५ वर्ष विता दिये, अव वह समय निकट आता दीख रहा है जव यह लीला समाप्त हो जायगी, खेल खत्म हो जायगा। उन्हें इस प्रश्न ने आ घेरा है कि यह-सव क्या था? हम पैदा हुए और नष्ट हुए—वस, क्या इन दो छोरों में ही सव तमाशा निपट जाता है? जव पत्ता-पत्ता किसी प्रयोजन को लेकर खड़ा है, तो यह अद्भुत्-वस्तु—ऐसी वस्तु जिसका कोई सानी नहीं—यह क्या अर्थहीन है, निरर्थक, निष्प्रयोजन है? नहीं, प्रयोजन-गर्भित इस विश्व में मानव-जीवन का यह अन्त नहीं हो सकता। अवश्य यह एक कड़ी है किसी शृंखला की, यही प्रयोजन है इस कड़ी का कि जीवन की इस महान् लम्वी सांकल को दृढ़ वनाये, और यह जीवन अगले आने वाले जीवन के विकास की दिशा को प्रगति दे।

(घ) यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जीवन के विकास की क्या दिशा है, जीवन जहाँ से भी चला हो, वहाँ से चल कर किधर जा रहा है? जीवन की इस दिशा को जान कर ही हम यह समझ सकते हैं कि जीवन की लम्वी शृंखला में क्या-क्या कड़ियाँ हैं, और हम—व्यक्ति रूप में—इस शृंखला में कौन-सी कड़ी हैं। सृष्टि में जीवन सव जगह व्याप्त हो रहा है। पत्थर में भी जीवन है, वृक्ष, वनस्पति में भी जीवन है, कीट-पतंग, पशु-पक्षी में भी जीवन है, मनुष्य में भी जीवन है। इन सवका जीवन विकास की शृंखला में एक-एक कड़ी है। पत्थर घटता-वढ़ता है—थोड़ा-सा भी घटने-वढ़ने में सदियाँ ले लेता है, इसका जीवन सिर्फ़ घटने-वढ़ने तक सीमित है। वनस्पति में जीवन का विकास कुछ अधिक दिखलाई पड़ता है। वह पत्थर की तरह विल्कुल जड़ नहीं है, एक ही जगह गड़ा रहता है, परन्तु थोड़े ही समय में घट-वढ़ जाता है, उगता है, वढ़ता है, सूख जाता है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी में जीवन का और अधिक विकास हो जाता है, मनुष्य में जीवन इन सवसे अधिक विकसित हो जाता है। कीट-पतंग,

पशु-पक्षी नैसर्गिक-जीवन व्यतीत करते हैं, बुद्धि का विकास उनमें नहीं हो पाता, मनुष्य नैसर्गिक-जीवन से बहुत आगे बढ़ जाता है। जीवन के इस विकास की आत्मा क्या है ? जीवन के विकास की इस आत्मा को जान लेने से ही समझ पड़ जायगा कि हमारा अपना वैयक्तिक-जीवन इस महान्-शृंखला में कड़ी के रूप में किस जगह खड़ा है। अगर हम सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दीख पड़ेगा कि ज्यों-ज्यों जीवन आगे-आगे विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों भौतिक (Material) से आध्यात्मिक (Spiritual) अपने को अलग करता जाता है। पत्थर में भौतिक तथा आध्यात्मिक इतने घुले-मिले हैं कि उन्हें जुदा देखा ही नहीं जा सकता। पत्थर में ऐसी-कुछ सत्ता है जो पत्थर से अलग है—यह नहीं दीखता, यद्यपि उसके घटने-बढ़ने से हम कह सकते हैं कि उसमें जीवन की वह कड़ी है जिसे घटना-बढ़ना—बस, इतना ही कह सकते हैं। वृक्ष-वनस्पति में एक ऐसी सत्ता प्रकट होने लगती है जो भौतिक (Material) से अपने को अलग करने लगती है। वृक्ष का पौधा उगता है, उसमें कोपलें फूटती हैं, वह फलता-फूलता है। अगर उसके भीतर वृक्ष के भौतिक-शरीर के अतिरिक्त कोई चेतन-सत्ता न हो, तो वह उग नहीं सकता, फल-फूल नहीं सकता। जो सत्ता पत्थर में सोई पड़ी थी वह मानो वृक्ष-वनस्पति में जाग उठती है। इस सत्ता के जागने का क्या अर्थ है ? इसके जागने का यह अर्थ है कि इसने अपने को भौतिक से अलग करना शुरू कर दिया यद्यपि इसको अभी इस बात का भान होना शुरू नहीं होता कि भौतिक जुदा है, जीवन की यह आध्यात्मिक-सत्ता जुदा है। भौतिक तथा आध्यात्मिक का पृथकीकरण पशु-पक्षी-जगत् में और अधिक विकसित हो जाता है, परन्तु मनुष्य में आकर यह आध्यात्मिक-सत्ता अपने को भौतिक से स्पष्ट रूप में अलग समझने लगती है, समझने ही नहीं, देखने भी लगती है। यह मनुष्य में ही दीखता है कि वह कह उठता है—'मेरा शरीर'। जीवन का एक स्तर ऐसा है जिसमें भौतिक तथा आध्यात्मिक—प्रकृति तथा आत्मतत्त्व—इतने एकात्म हो रहे होते हैं कि उन्हें अलग-अलग समझना कठिन है, परन्तु ज्यों-ज्यों जीवनी-शक्ति का विकास आगे-आगे होता जाता है त्यों-त्यों इन दोनों की पृथक्ता स्पष्ट होने लगती है, यहाँ तक कि मनुष्य में आकर हम स्पष्ट तौर से यह देख लेते हैं कि प्रकृति पृथक् है, आत्म-तत्त्व पृथक् है। मनुष्य का यह शरीर जो आत्मा का अधिष्ठान है, उसमें आकर इस शरीर में बैठी कोई सत्ता शरीर को 'दृश्य' तथा अपने को 'द्रष्टा' अनुभव करने लगती है, उसकी दृष्टि में शरीर एक वस्तु (Object) है, और शरीर का इस्तेमाल करने वाला आत्मा एक कर्त्ता (Subject) है; शरीर 'भोग्य' है, आत्मा 'भोक्ता' है। मनुष्य के जीवन में विकास पाकर यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक अलग है, आध्यात्मिक अलग है। ये दोनों अलग ही नहीं, भौतिक साधन है, आध्यात्मिक साध्य

है; भौतिक भोग्य है, आध्यात्मिक भोक्ता है; भौतिक यन्त्र है, आध्यात्मिक यान्त्रिक है; भौतिक नियुक्त है, आध्यात्मिक नियन्ता है। अगर जीवन का विकास इस दिशा में हो रहा है तो यह कहना युक्तिसंगत है कि जीवन की सार्थकता इसी में है कि हम शरीर को साधन मान कर, यन्त्र मान कर जीवन के कार्य-क्रम का निर्माण करें, इससे उल्टा चलने का यत्न न करें।

परन्तु वस्तु-स्थिति क्या है ? वस्तु स्थिति यह है कि हम शरीर को साधन बना कर जीवन का कार्य-क्रम नहीं बनाते। हम जीवन का कार्य-क्रम बनाते हैं इस ग़लत आधार पर कि यह शरीर ही आदि है, यही अन्त है; दूसरे शब्दों में, इस जीवन से ही हम शुरू करते हैं, इस जीवन में ही समाप्त करते हैं; हम इस जीवन को आध्यात्मिक-जीवन की कड़ी न मान कर यहीं से इसकी शुरूआत करते हैं, यहीं इसका अन्त कर देते हैं। अगर सापेक्ष निरपेक्ष से जुड़ा हुआ है, अपूर्ण पूर्ण की शृंखला में एक कड़ी है, तो यह भौतिक-जीवन भी आध्यात्मिक-जीवन को पाने की एक कड़ी है, यह स्वयं शृंखला नहीं है।

8. शरीर तथा आत्मा का एक-दूसरे से भिन्न होने का यह अर्थ नहीं है कि शरीर की उपेक्षा की जाय

हमने जो-कुछ कहा उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि शरीर कुछ नहीं, यह भौतिक-जगत् कुछ नहीं, आत्मा-परमात्मा ही सब-कुछ हैं। वैदिक-दृष्टिकोण एकांकी नहीं है। शरीर है, संसार है, परन्तु शरीर ही सब-कुछ नहीं है, यह भौतिक-संसार ही सब-कुछ नहीं है—वैदिक-विचारधारा का बस इतना ही मन्तव्य है। वैदिक-विचारधारा यथार्थ-सत्ता के दोनों छोरों को पकड़ती है—इस छोर को भी, उस छोर को भी। यह छोर दीखता है इसलिये इसे पकड़ कर बैठ जाना आसान है, यही-कुछ हो भी रहा है, इसीलिए जो यात्री भव-सागर को पार करने के लिए इसी किनारे को पार समझ कर आराम से बैठ जाते हैं उन्हें अपने लक्ष्य की याद कराते रहना प्रत्येक विचारक का काम है। खाना खाओ, पानी पीओ, रहने के लिये मकान बनाओ, बाल-बच्चों को पालने के लिए साधन जुटाओ, मौज-बहार करो—यह बतलाने के लिए किसको ज़रूरत पड़ती है ? ज़रूरत इस बात की पड़ती है कि खाना ही न खाते जाओ, पेट फट जायगा; पानी ही न पीते जाओ, उल्टी हो जायगी; साधन ही न जुटाते जाओ, स्वयं साधन बन जाओगे; इस किनारे पर ही न बैठे रहो, जिस यात्रा पर निकले हो वह यात्रा ही अधूरी समाप्त हो जायगी। उपनिषद् में कहा है—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'**—संसार का भोग करो, परन्तु भोग ही न करते रहो; संसार भोग के लिये ही रचा गया है, परन्तु संसार के भोग में ऐसे लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुध-बुध ही भूल जाओ। आत्मा शरीर के बिना, परमात्मा

प्रकृति के बिना अपने चैतन्य-स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता, इसलिये आत्म के लिए शरीर का और परमात्मा के लिए प्रकृति का विकास उतना आवश्य है जितना किसी कर्त्ता के लिये, कारीगर के लिए उसके साधन का, उपकर का उत्तम-से-उत्तम होना आवश्यक है।

9. भौतिक-जीवन आध्यात्मिक-जीवन की शृंखला में एक कड़ी है- उस दिशा में प्रजापति की खोज

छान्दोग्य उपनिषद् (अष्टम प्रपाठक, 7वां खण्ड) में एक उपाख्यान अ है जिसमें भौतिक-जीवन को आध्यात्मिक-जीवन का बड़े रोचक ढंग से बतलाया गया है। कहते हैं कि एक बार प्रजापति ने ढिंढोरा पिटवा दिया मुझे एक ऐसी सत्ता का पता है जो 'विजर' है, 'विमृत्यु' है, 'विशोक' 'विजिघित्स' है, 'अपिपास' है। संसार में हम क्या देखते है? मनुष्य जरा-मृत्यु, शोक, भूख-प्यास सताते हैं, इन्हीं को मिटाने के लिए हर म दौड़ा-धूपा करता है। 'विजर' का अर्थ है—जिसमें 'जरा' न हो—'जरा' अ बुढ़ापा। 'विमृत्यु' का अर्थ है—जिसमें 'मृत्यु' न हो; 'विशोक' का अर्थ है जिसमें 'शोक' न हो, दुःख न हो; 'विजिघित्सा' का अर्थ है—जिसमें 'जिघि —'भूख'—न हो; 'अपिपास' का अर्थ है—जिसमें 'पिपासा'—'प्यास' न हमारी जानकारी में तो बुढ़ापा, मौत, दुःख, भूख, प्यास—यही सब-कुछ दे में आता है, परन्तु प्रजापति ने घोषणा कर दी कि उसे एक ऐसी हस्ती का पत जो इन सब उपद्रवों से बरी है, और साथ ही यह भी कहा कि जो उसे जा चाहे, मेरे पास आये, 101 वर्ष तक मेरे पास बैठ कर साधना करे, मैं उसे रहस्य का पता दूंगा।

प्रजापति का यह ढिंढोरा दिग्दिगन्त में गूंज उठा। मानव-समाज ने सु देवों ने भी सुना, असुरों ने भी सुना। देव और असुर कोई जाति-विशेष नह मनुष्यों में ही कुछ देव होते हैं, कुछ असुर—राक्षस—होते हैं। देवों के निधि को उपनिषद् ने 'इन्द्र' का नाम दिया है; असुरों के प्रतिनिधि 'विरोचन' का नाम दिया है। 'इन्द्र' का अर्थ है—'इदि परमैश्वर्ये'—जो ई ईश्वरीभाव की लगन वाला हो, ईश्वर की तलाश में फिर रहा हो; 'विरो का अर्थ है जो व्यक्ति रुचि के, लालसा के, चमक-दमक के, दुनियावी-भा पीछे भाग रहा हो। दो तरह के ही इन्सान तो दुनिया में मिलते हैं—ईश्व तलाश वाले या दुनिया के सुख-भोग की तलाश वाले; इनमें से पहल उपनिषद् ने 'इन्द्र' कहा, दूसरों को 'विरोचन' कहा। इन दोनों प्रकार के ने प्रजापति की घोषणा को सुना, और अपने प्रतिनिधि 'इन्द्र' तथा 'विर को प्रजापति के पास भेज दिया, इस मैन्डेट के साथ भेजा कि जाओ, प्र

ने जो यह नई खोज की है, इन्सान की ऐसी हस्ती का पता लगाया है जिसको पाकर न वह बूढ़ा होता है, न मरता है, न दुःखी होता है, न उसे भूख लगती है, न प्यास लगती है, जाओ प्रजापति की उस खोज का पता लगा कर आओ।

इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के दरबार में पहुँचे और 32 वर्ष तक प्रतीक्षा करते रहे ताकि प्रजापति अपनी खोज के विषय में कुछ कहे। 32 वर्ष के बाद प्रजापति ने उनसे कहा—तुम एक-दूसरे की आँखों में देखो। आँखों में जो पुरुष दीखता है वही अजर, अमर, अशोक है, उसका नाम 'आत्मा' है, यही मेरी खोज है। उन दोनों ने पूछा—भगवन्, यह जो जल में अपनी परछांई के तौर पर दीखता है, दर्पण में प्रतिबिम्ब के तौर पर दीखता है—यह क्या है? प्रजापति ने कहा—जो आँखों में दीखता है, जो जल में दीखता है, जो दर्पण में दीखता है, यह वही 'आत्मा' है।

फिर प्रजापति ने उन दोनों से कहा—पानी के बर्तन में तुम दोनों अपने को देखो, और आत्मा के विषय में जो समझ न पड़े वह मुझसे पूछो। उन्होंने पानी का बर्तन लाकर उसमें देखा। प्रजापति ने पूछा—क्या दीखता है? उन्होंने कहा—हमें अपना पूर्ण रूप दीखता है, लोम से नख तक, अपना प्रतिरूप दीखता है। प्रजापति ने फिर उन दोनों से कहा—सुन्दर अलंकार और वस्त्र धारण करके, साफ़-सुथरे होकर, पानी के बर्तन में देखो। उन दोनों ने सुन्दर अलंकार और सुन्दर वस्त्र धारण किए, और पानी के बर्तन में देखने लगे। प्रजापति ने उनसे पूछा—क्या दीखता है? उन्होंने कहा—भगवन्, जैसे हम सुन्दर अलंकार, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए हैं, साफ़-सुथरे हैं, इसी प्रकार हम दोनों के बिम्ब भी सुन्दर अलंकार वाले, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और साफ़-सुथरे दीखते हैं। प्रजापति ने कहा—यह जो तुम देख रहे हो, जागते हुए, जब शरीर जागृतावस्था में है, यह आत्मा का जाग्रत-स्थान है।

प्रजापति ने अपनी बात एक पहेली में कह दी। यह नहीं कहा कि यह शरीर ही आत्मा है, यह कहा कि जब शरीर जाग रहा होता है, जाग्रतावस्था में होता है, तब आत्मा का आसन, आत्मा की बैठक, आत्मा का स्थान शरीर की जाग्रतावस्था में होता है। शरीर जाग गया, तो आत्मा जागते हुए शरीर को चौकी बना कर हमारे सामने जा बैठा।

प्रजापति ने पहेली में जो बात कही थी उसका अर्थ इन्द्र तथा विरोचन ने यही समझा कि यह शरीर ही आत्मा है, यही अजर-अमर है, दुःख रहित है। 32 वर्ष की तपस्या के बाद यह बात हाथ लगी। दोनों बड़े प्रसन्न हुए, समझते थे कि बहुत गहरी कोई खोज होगी, परन्तु यह जान कर कि इतनी आसान बात थी, खुशी से घर लौट पड़े।

उन दोनों को इस प्रकार पहेली का गूढ़ अर्थ जाने और लौट जाते देख कर प्रजापति अपने हृदय में कहने लगे—ये दोनों 'आत्मा' को उपलब्ध किये बिना, जाने बिना जा रहे हैं। इन दोनों में से जो शरीर को ही आत्मा समझ कर उसकी सेवा में जुट जायगा वह धोखा खायेगा, पछतायेगा। देखें, इनमें से कौन मेरी पहेली के गूढ़ अर्थ को समझता है, जो समझेगा वह जरूर वापस लौट आयगा।

विरोचन तो विरोचन ही था, शरीर को रोचमान रखने में, सजाने-बजाने, कंघी-पट्टी करने तथा रुचि के अनुसार मनमौजी जीवन बिताने में उसका चित्त था। उसने असुरों की अपनी मण्डली में जाकर कहा कि प्रजापति तो हमारा ही चेला मालूम पड़ता है, हम शरीर को ही सब-कुछ मानते हैं, वह भी कहता है कि शरीर ही आत्मा है, शरीर की ही सेवा करो। अगर प्रजापति की यही खोज है तो दुनियां की मौज-बहार लूटो, आनन्द करो और गुलछर्रे उड़ाओ।

इन्द्र घर को लौट तो पड़ा, परन्तु रास्ते में ही संकल्प-विकल्प में उलझ गया। उसे लगा कि प्रजापति ने आत्मा के विषय में जो पहेली कही थी वह उसे ठीक-से नहीं समझा। वह सोचने लगा—जैसे जल में दीखने वाली छाया शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत हो जाती है, साफ़-सुथरी दीखती है, इसी प्रकार शरीर के अंधे होने पर अंधी, लँगड़े-लूले होने पर लंगड़ी-लूली भी तो हो जाती है, शरीर के नष्ट हो जाने पर यह भी नष्ट हो जाती है। ऐसी हालत में आँख में प्रतिबिम्ब रूप में, जल में छाया रूप में, दर्पण में परछांई रूप में दीखने वाले को हम अजर, अमर, दुःख रहित, भूख-प्यास रहित कैसे मान सकते हैं। मुझे प्रजापति की बात समझने में कोई भूल हो गई प्रतीत होती है। यह सब सोचता-सोचता इन्द्र अपनी देवों की मण्डली में जाने के स्थान में फिर प्रजापति के पास लौट आया।

प्रजापति ने कहा—हे इन्द्र ! तुम तो विरोचन के साथ सब-कुछ सुन-सुना कर चले गये थे, अब फिर क्यों लौट आये ? इन्द्र ने कहा—भगवन् ! आँख, जल या दर्पण में दीखनेवाली छाया जैसे शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत हो जाती है, वैसे अंधे होने पर अंधी, काणे होने पर काणी हो जाती है, विकलांग होने पर लूली-लँगड़ी हो जाती है, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट भी हो जाती है। ऐसी हालत में अगर यह शरीर ही आत्मा है तो यह अजर, अमर, दुःखहीन, भूख-प्यास हीन कैसे हो सकता है ? आप तो कहते थे, आत्मा जरा-मरण, दुःख-भूख-प्यास रहित है।

प्रजापति ने कहा—ठीक, तुम कुछ-कुछ मेरी पहेली को समझते नज़र आते हो। तुम अगर जरा-मरण रहित आत्मा को जानना चाहते हो, तो अभी 32

वर्ष और मेरे पास रह कर तपस्या करो, तब देखूंगा कि तुम मेरी खोज को समझने योग्य हुए हो या नहीं। इन्द्र फिर प्रजापति के आश्रम में रह कर तपस्या करने को कटि-बद्ध हो गया।

32 वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश दिया कि स्वप्नावस्था में जो महिमाशाली होकर विचरता है, दूर-दूर की दौड़ लगाता है, भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर लेता है, बैठे-बिठाये राजा, सेठ, साहूकार हो जाता है, वही आत्मा है। इन्द्र को यह बात कुछ-कुछ जँची क्योंकि शरीर के लँगड़ा होने पर भी स्वप्नावस्था में वह दोनों पैरों से दौड़ लगाता है, पंख न होने पर भी आसमान में उड़ता है, अन्धा होने पर भी दुनिया को देखता और बहरा होने पर भी संगीत का आनन्द उठाता है। अवश्य यह हस्ती जो स्वप्नावस्था में प्रकट होती है जरा-मरण, दुःख, भूख-प्यास से रहित होगी क्योंकि यह संसार के बन्धनों से मुक्त प्रतीत होती है। यह सोच कर इन्द्र अपनी संगत के लोगों की तरफ़ चल पड़ा, परन्तु कुछ दूर जाकर उसे फिर सन्देहों ने आ घेरा। वह सोचने लगा, यह ठीक है कि शरीर के वध से उसका वध नहीं होता, शरीर के लँगड़ा होने से वह लँगड़ा नहीं होता, शरीर के काणा होने से वह काणा नहीं होता, परन्तु स्वप्न में ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई उसे मारने के लिए उसका पीछा कर रहा है, उसे दुःख होता है, दुःख में रोने लगता है। प्रजापति का तो कहना है कि आत्मा को कोई दुःख नहीं होता, वह भयभीत नहीं होता, परन्तु स्वप्नावस्था में जो हस्ती हमारे सामने प्रकट होती है वह तो दुःखी भी होती है, कष्ट सामने देख कर रोती-चिल्लाती भी है, भयानक दृश्य देख कर भयभीत भी होती है, ऐसी हस्ती 'आत्मा' कैसे हो सकती है? यह सब सोच कर इन्द्र फिर रास्ते से वापस लौट आया।

प्रजापति ने उसके लौट आने पर उससे पूछा—इन्द्र, तुम क्यों लौट आये? इन्द्र ने कहा—भगवन्, यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाय तो स्वप्न देखनेवाला अन्धा नहीं होता, शरीर काणा हो जाय तो स्वप्न देखने वाला काणा नहीं होता, न शरीर के वध से यह मरता है, परन्तु स्वप्न में ऐसा तो उसे अनुभव होता है जैसे कोई उसे मार रहा है, कभी-कभी वह रोने भी लगता है, ऐसी हालत में उस स्वप्न-द्रष्टा को मैं 'आत्मा' कैसे मान सकता हूँ? प्रजापति ने उत्तर दिया—हे इन्द्र! तूने ठीक शंका की, तू 32 वर्ष और मेरे आश्रम में रह कर तपस्या कर, तब तेरी समझ में ठीक-ठीक आ जायेगा कि जरा-मरण से, दुःख से, भूख-प्यास से रहित अखण्ड आत्मा का स्वरूप क्या है?

इन्द्र 64 वर्ष तपस्या कर चुका था, 32 वर्ष और प्रजापति के आश्रम में तपस्या करता रहा। इस प्रकार जब तपस्या में 96 वर्ष बीत गये तब प्रजापति ने जो कहा उसका सार यह था—

मनुष्य तीन अवस्थाओं में से गुजरता रहता है— जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था। जाग्रतावस्था तो वह है जिसमें मनुष्य शरीर में निवास करता दीखता है, जिसे विरोचन ने पहेली को न समझ कर 'आत्मा' मान लिया, और असुरों में जाकर घोषित कर दिया कि शरीर ही 'आत्मा' है। स्वप्नावस्था वह है जिसमें मनुष्य स्वप्न में निवास करता दीखता है, जिसे पहेली को गूढ़ रखने के लिए प्रजापति ने 'आत्मा' कह दिया, परन्तु जिसे इन्द्र ने 'आत्मा' मानने से इन्कार कर दिया। शरीर की इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था है जिसे सुषुप्ति-अवस्था कहा जाता है। सोने के बाद जहाँ पहुँच कर यह हस्ती 'समस्त' हो जाती है, बिखरी नहीं रहती, सिमिट जाती है, न जागने की हालत की तरह देखती, सुनती, चलती, फिरती है, न सोने की हालत की तरह बिना आँखों को खोले देखती, बिना कानों के सुनती, बिना टाँगों के चलती, बिना वाणी के बोलती, बिना किसी साधन के सब काम करती है, जहाँ पहुँच कर इसमें कोई क्रिया नहीं होती, जहाँ से लौट आने पर प्रातःकाल मनुष्य कहता है—बड़ा आनन्द आया, वह हस्ती, वह सत्ता ही 'आत्मा' है, उसमें न जरा है, न मृत्यु, न भूख है, न प्यास, उसमें किसी प्रकार का दुःख नहीं।

इन्द्र को यह बात बहुत रुचिकर जँची। उसे समझ आने लगा कि शरीर आत्मा नहीं है, स्वप्नावस्था में जो शक्ति काम करती है वह भी 'आत्मा' नहीं है, सुषुप्ति में किसी ऐसी शक्ति की ज़रूर झलक आ जाती है जो सोकर उठने पर अनुभव करती है कि बड़े आनन्द से सोया। सुषुप्तावस्था से लौटने पर जो कहता है—बड़ा आनन्द आया—वह किस आनन्द को स्मरण कर रहा है ? यह सब-कुछ इन्द्र को समझ पड़ने लगा, परन्तु फिर उसे सन्देहों ने आ घेरा। वह सोचने लगा कि सुषुप्तावस्था में तो उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि 'यह मैं हूँ', उस समय तो वह अपने को भी नहीं जानता। जब उसे अपना ही ज्ञान नहीं रहता तब तो वह शून्य हो जाना चाहिये। तब तो वह रह ही नहीं जाना चाहिये, जो रह ही नहीं जाता, उसे 'आत्मा' कैसे कहा जा सकता है ? इन संकल्प-विकल्पों से घिर जाने पर इन्द्र फिर प्रजापति के पास लौट आया। प्रजापति ने पूछा—अब क्यों लौटे, तो इन्द्र ने अपना सन्देह फिर सामने रख दिया। उसने कहा कि सुषुप्तावस्था में तो हमारे भीतर की हस्ती को अपना भी ज्ञान नहीं रहता, वह तो जड़वत् हो जाती है, मानो रहती ही नहीं, फिर उसे कैसे अजर, अमर कहा जा सकता है ?

प्रजापति ने कहा—इन्द्र ! तुम सत्य के बहुत निकट पहुँच चुके हो, अभी 5 वर्ष और तपस्या कर लो, तब तुम्हें आध्यात्मिक पहेली खोल कर समझा देंगे। इन्द्र ने 5 वर्ष और तपस्या की, और प्रजापति की असाधारण खोज का

रहस्य जानने के लिए पूरे 101 वर्ष इस ज्ञान को पाने के अर्पण कर दिये। तव प्रजापति ने कहा—इन्द्र, तुम सुषुप्ति में से जव जाग्रतावस्था में आते हो, तव तुम्हें स्मरण रहता है कि इस वीच वड़े आनन्द में रहे। अगर उस सुषुप्ति की अवस्था में तुम जड़ हो गये होते, तुम्हारी सत्ता ही न रही होती, तुम होते ही नहीं, तव —'वड़े आनन्द में रहा'—यह प्रतीति कैसे होती ? इन्द्र, तुम्हारा यह अनुभव करना कि सुषुप्ति के 5-6 घण्टे तुमने आनन्द से विताये, ऐसे आनन्द से कि उसकी याद अवतक वनी हुई है, इसीलिये होती है क्योंकि तव तुम अपने 'आत्म-रूप' में, 'स्व-रूप' में पहुँच गये थे। सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव 'आत्मा' की एक झलक है, जिसकी यह झलक है वही 'आत्मा' है, वही अजर-अमर है। उसकी झलक हर-किसी को होती है, उसकी आनन्दमय-झलक का होना ही सिद्ध करता है कि वह है, केवल है ही नहीं, आनन्द उसका स्वभाव है।

इन्द्र की समझ में यह तो आ गया कि 'आत्मा'-नाम की कोई आनन्द-स्वभावी सत्ता है, परन्तु प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि वह कहाँ है, कहाँ उसका वास है ? इसका उत्तर माण्डूक्य उपनिषद् में दिया गया है—

माण्डूक्य उपनिषद् के ऋषि का कहना है कि आत्मा की झलक ही नहीं, आत्मा मानो प्रत्यक्ष दीखता है। अपने विचार को स्पष्ट करने के लिए ऋषि ने दो शव्दों का प्रयोग किया है। एक है—'अवस्था', दूसरा है—'स्थान'। ऋषि का कहना है कि 'अवस्था' शरीर की होती है, 'स्थान' आत्मा का होता है। शरीर की जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ हैं, तीन हालात हैं। जव शरीर की जाग्रत-अवस्था होती है, तव आत्मा का जाग्रत-स्थान होता है ; जव शरीर की स्वप्न-अवस्था होती है, तव आत्मा का स्वप्न-स्थान होता है ; जव शरीर की सुषुप्ति-अवस्था होती है, तव आत्मा का सुषुप्ति-स्थान होता है। इसका क्या अभिप्राय है ? इसका यह अभिप्राय है कि जव शरीर जाग रहा होता है, काम-काज में लगा होता है, तव आत्मा भीतर से वाहर आकर, कोठे पर आकर वैठ जाता है, वहाँ अपना स्थान वना लेता है। शरीर जाग गया। क्यों जाग गया ? क्योंकि आत्मा वाहर आकर वैठ गया। वाहर आकर वैठ गया का मतलव क्या है ? शरीर स्वयं तो मिट्टी का ढेला है, वह अपने-आप कुछ नहीं कर सकता, आँख की पलक नहीं मार सकता, जवतक कोई दूसरी शक्ति उसे हाथ में पकड़ कर उसमें गति का संचार नहीं कर देती। संसार में जितना भौतिक-पदार्थ है वह जैसे-का-तैसा पड़ा रहे अगर कोई चेतन-शक्ति उसमें गति उत्पन्न न कर दे। कल्पना कीजिये कि एक शहर है, सैकड़ों मकान वने हुए हैं, सड़कों पर विजली के खम्भे लगे हैं, विजली का तार भी खिंचा है, परन्तु उस शहर में उन मकानों में रहने वाला एक भी आदमी नहीं है, न ही विजली की तारों में विजली आ रही है। अगर इन मकानों में कोई रहने वाला नहीं

है, अगर बिजली की तारों में बिजली नहीं है, तो भले ही इस सारे शहर पर लाखों क्या करोड़ों रुपये खर्च हो गये हों, यह सारा-का-सारा खेल मट्टी का ढेर है। हां, अगर इन मकानों का इस्तेमाल करने वाले आ जायें, तारों में बिजली की करेंट आ जाय, तो इस मट्टी के ढेर में जान आ जाय, यह मुर्दा जी उठे। यह मुर्दा कैसे जी उठता है ? जिस शक्ति से यह जी उठेगा वही तो इसकी 'आत्मा' है, वही तो इस शहर की 'जाग्रत-अवस्था' है, और इस शहर को जिन्दा कर देने वाली शक्ति का 'जाग्रत-स्थान' है। वह शक्ति मानो प्रत्यक्ष रूप धारण कर हमारे सामने आ खड़ी हो जाती है। इसीलिये माण्डूक्य उपनिषद् के ऋषि का कहना है कि जब भी संसार जाग रहा होता है, यह शरीर या यह विश्व जब क्रियाशील हो रहा होता है, तब इस जागने में ही इसके 'आत्मा' का मानो प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। प्रत्यक्ष इसलिये हो जाता है क्योंकि अगर इस मट्टी में जान डाल देने वाली शक्ति को खींच लिया जाय, तो फिर करोड़ों की लागत से बनी ये 20-25 मंजिल की इमारतें सिर्फ़ मट्टी-की-मट्टी रह जाती हैं। जिस शक्ति से इनमें इस प्रकार जान पड़ जाती है उसे क्या अप्रत्यक्ष कहा जा सकता है ? प्रत्यक्ष क्या उसी को कहते हैं जो आँखों से ही दीखे ? यह क्या प्रत्यक्ष से कम है जो आँखों से न दीखती हुई भी देखने से भी ज़्यादा दीख जाती है, अनुभव में दीख जाती है ?

शरीर की जाग्रतावस्था में इसके पीछे बैठा आत्मा एवं विश्व की जाग्रतावस्था में इसके पीछे बैठा परमात्मा जाग्रत-स्थान में आ बैठता है; शरीर की स्वप्नावस्था में यह आत्मा एवं विश्व की स्वप्नावस्था में परमात्मा स्वप्न-स्थान में चला जाता है, शरीर की सुषुप्तावस्था में यह आत्मा एवं विश्व की सुषुप्तावस्था में परमात्मा सुषुप्त-स्थान में चला जाता है। 'अवस्था' आत्मा एवं परमात्मा की नहीं, शरीर तथा विश्व की है, 'स्थान' शरीर तथा विश्व का नहीं, मानो आत्मा एवं परमात्मा का है। शरीर जिस-जिस अवस्था में जाता है, आत्मा एवं परमात्मा उस-उस अवस्था में जीवन का संचार करने के लिये उस-उस स्थान में अपनी शक्ति का प्रकाश करते हैं। इस दृष्टि से माण्डूक्य उपनिषद् ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि आत्मा एवं परमात्मा का स्थान कहाँ है, उनका वास कहाँ है। उपनिषद् में प्रकरण आत्मा के सम्बन्ध में है, उत्तर आत्मा एवं परमात्मा—दोनों पर घटित हो जाता है।

यह ठीक है कि आत्मा दीखता नहीं, हमारी आँखों से नहीं दीखता, हमारे मन से भी पकड़ में नहीं आता। आँखों से नहीं दीखता, मन की पकड़ में नहीं आता, तो क्या हुआ, क्या इतने से मान लें कि उसकी शरीर से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ? हमारी हर इन्द्रिय का अपना-अपना स्वतन्त्र काम है। आँख का काम विषय को देखना है, कान का काम शब्द को सुनना है,

त्वचा का काम वस्तु का स्पर्श करना है, जीभ का काम रस लेना है। अगर कोई अन्धा सिनेमा देखने जा बैठे और कहे कि मैं कानों से सिनेमा देखूँगा, या कोई बहरा संगीत-सम्मेलन में चला जाय और कहे कि मैं आँखों से सुनूँगा, तो क्या यह हो सकने वाली बात है? आँख का काम देखना है, सुनना नहीं, कान का काम सुनना है, देखना नहीं। आँख-कान तथा अन्य इन्द्रियों का जो-कुछ भी काम है वह भी स्वतन्त्र नहीं, वह मन के अधीन है। अगर आँख खुली है और मन साथ नहीं दे रहा, तो खुली आँख से भी हम देख नहीं पाते; अगर कान खुले हैं और मन साथ नहीं, तो खुले कानों से भी हम सुन नहीं पाते। ठीक इसी तरह मन का काम भी आत्मा को देखना नहीं, इन्द्रियों को देखना और इन्द्रियों से काम लेना है। इन्द्रियों का मुख सामने है, विषयों की तरफ़, इन्द्रियों की पीठ पीछे है, इन्द्रियों की पीठ पर प्रहार करने के लिये मन बैठा है जो इन्द्रियों को आगे चलाता है। इन्द्रियाँ विषयों को देखती हैं, मन को नहीं, क्योंकि मन इन्द्रियों की पीठ के पीछे है, उन्हें चला जो रहा है। ठीक इसी तरह मन की आँखें इन्द्रियों की तरफ़ हैं, मन की पीठ पर, उसे चलाने के लिये आत्मा बैठा है जो मन को चला रहा है। जैसे इन्द्रियाँ मन को नहीं देख पाती, विषयों को देखती है, मन आत्मा को नहीं देख पाता, इन्द्रियों को देखता है, इसी प्रकार आत्मा मन को देखता है, मन को चलाता है, आत्मा के पीछे कुछ नहीं, सिर्फ़ परमात्मा है। मन न हो, तो इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं, आत्मा न हो तो मन काम नहीं कर सकता। इस सारे व्यूह में शक्ति का संचार आत्मा द्वारा हो रहा है जिसे मन देख नहीं सकता क्योंकि मन में आत्मा को देखने की शक्ति नहीं है, ठीक ऐसे जैसे आँख में सुनने की और कान में देखने की शक्ति नहीं है।

वैदिक-संस्कृति की आध्यात्मिक खोज, जिस खोज का छान्दोग्य तथा माण्डूक्य उपनिषदों में उल्लेख है यही है कि मानव में दो सत्ताएँ हैं—एक उसका 'शरीर', दूसरी उसकी 'आत्मा'। इस खोज के दो रूप हैं। इस खोज का पहला रूप यह है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है, हमारा शरीर ही अन्तिम सत्ता नहीं है, शरीर के नष्ट हो जाने से सब नष्ट नहीं हो जाता, शरीर के नष्ट हो जाने पर जो बच रहता है वह आत्मा है, इन दोनों को अलग-अलग समझ लेना आवश्यक है। इस खोज का दूसरा रूप यह है कि शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है, शरीर भंगुर है, नाशवान् है, आत्मा अभंगुर है, नाशरहित है। अनित्य का यह अर्थ नहीं है कि है ही नहीं। जो 'है', दीखता है, जो ही दीखता है— उसे 'नहीं' है, कौन कह सकता है। 'शरीर है'— यह तो स्पष्ट है, अन्धे को भी दीखता है, परन्तु यह होता हुआ भी अनित्य है, टिकाऊ नहीं है। हममें यह 'शरीर' और सृष्टि में यह 'भौतिक-जगत्'—ये दोनों हर समय बदल

रहे हैं, इस क्षण जो है, दूसरे क्षण वह नहीं रहता। इसीलिये संस्कृत में हमारे पांचभौतिक देह के लिये 'शरीर' तथा पांचभौतिक विश्व के लिये 'जगत्'—'संसार'—ये शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'शरीर' का अर्थ है जो क्षरण होने वाला हो, क्षीण हो रहा हो, पल-पल जो सर रहा हो ; 'जगत्' का अर्थ है जो गति कर रहा हो—'गच्छतीति जगत्'—पल-पल जिसके अणु-परमाणु बदल रहे हों; 'संसार'-शब्द का भी यही अर्थ है—'संसरतीति संसारः'—जो सरण कर रहा हो, चलायमान हो, टिक न रहा हो। शरीर तथा संसार को अनित्य कहने का यही अर्थ है कि न शरीर टिकने वाला है, न संसार टिकने वाला है, दोनों बदल रहे हैं, ऐसे बदल रहे हैं जैसे नदी की धारा क्षण-क्षण बदलती जाती है, इस क्षण जो जल-धारा सामने है, दूसरे क्षण वह नहीं है, न होते हुए भी दीखती यही है। रेलगाड़ी दौड़ी चली जा रही है, हर सैकण्ड रास्ता नाप रही है, बदलते रास्ते पर है परन्तु टिकी मालूम पड़ती है। शरीर के अणुओं के विषय में वैज्ञानिकों का कहना है कि शरीर की कोशिकाएँ (Cells) इस तेज़ी से बदल रही हैं कि सात साल में सब पुरानी कोशिकाएँ बदल कर नयी बन जाती हैं। दूसरे शब्दों में, सात साल के भीतर हमारा पुराना शरीर नहीं रहता, नया शरीर बन जाता है, पुराना मर जाता नया उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से सत्तर बरस का व्यक्ति जीते-जी सात बार मर जाता, सात बार नया शरीर धारण कर लेता है। विश्व के अणु-परमाणु तो इनसे भी तेज़ी से बदलते हैं। इसी लगातार बदलाहट को ही शास्त्रों में 'अनित्य' कहा है। शरीर इन्हीं अर्थों में अनित्य है, संसार भी इन्हीं अर्थों में अनित्य है, परन्तु जो भी अनित्य है वह किसी नित्य के सहारे, जो भी बदल रहा है वह किसी न बदलने वाले के सहारे टिका हुआ है। माला के मनके गिने जा रहे हैं, परन्तु उन्हें न गिने जाने वाले सूत्र ने सँभाल रखा है; चक्की चक्कर काट रही है, परन्तु वह स्थिर कीली के सहारे घूम रही है; गाड़ी का पहिया गोलाई में घूम रहा है, परन्तु वह न घूमने वाली धुरी पर टिका हुआ है। चलने वाला चल नहीं सकता जबतक वह अचल के साथ न टँगा हो, घूमने वाला घूम नहीं सकता जबतक वह स्थिर के साथ न बँधा हो, अनित्य अनित्य नहीं हो सकता, अस्थिर अस्थिर नहीं हो सकता, नाशवान् नाशवान् नहीं हो सकता, जबतक अनित्य को नित्य का, अस्थिर को स्थिर का, नाशवान् को अविनाशी का सहारा न हो। अनित्य, अस्थिर, नाशवान् इस शरीर के पीछे नित्य, स्थिर तथा अविनाशी जो तत्व है, वही शरीर में आत्मा है, विश्व में परमात्मा है जिसके विषय में प्रजापति ने घोषणा की थी कि उसे जानने से मनुष्य नित्य हो जाता है, जरा-मृत्यु, भूख-प्यास, कष्ट-दुःख को तर जाता है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि अगर हमने ये दोनों बातें जान लीं—यह जान लिया कि शरीर तथा आत्मा अलग-अलग दो तत्व हैं—शरीर में

आत्म-तत्व तथा विश्व में 'परमात्म-तत्व'—और यह जान लिया कि शरीर तथा जगत् अनित्य एवं आत्मा तथा परमात्मा नित्य हैं—तो इसका व्यावहारिक रूप में हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है ?

अगर गहराई से सोचा जाय, तो हमारी हर समस्या का मूल-स्रोत एक है। वह मूल-स्रोत यह है कि हम अस्थिर को स्थिर चाहते हैं, नाशवान् को अविनाशी चाहते हैं, अनित्य को नित्य चाहते हैं। अगर हमें समझ पड़ जाय कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है, जगत् अलग है, परमात्मा अलग है, शरीर को जीवन आत्मा देता है, आत्मा को जीवन शरीर नहीं देता, संसार को जीवन परमात्मा देता है, परमात्मा को जीवन संसार नहीं देता, शरीर तथा संसार अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं, आत्मा तथा परमात्मा नित्य हैं, तो हमारा जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही वदल जाय। दृष्टिकोण किस प्रकार वदल जाय ? 'शरीर' स्वयं में कुछ नहीं, यह एक प्रकार का साधन है, उपकरण है—आत्मा का। आत्मा शरीर का मालिक है, इसके द्वारा वह संसार के विषयों का उपभोग करता है। अगर शरीर साधन है, तो साधन के प्रति जो दृष्टि होनी चाहिये वही दृष्टि शरीर के प्रति होना ही यथार्थ-दृष्टि है। कठोपनिषद् में कहा है—

> **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु**
> **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। 3। 3**
> **इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्**
> **आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। 3। 4**

शरीर एक रथ है, इस पर रथ का मालिक आत्मा वैठा है। बुद्धि रूपी साईस इस रथ को चला रहा है जिसके हाथ में मन रूपी लगाम है। लगाम को इधर फेरो तो रथ इधर और उधर फेरो तो उधर चल देता है। लगाम इन्द्रिय रूपी घोड़ों के मुख में बँधी हैं, और ये घोड़े लगाम के इशारे पर संसार के विषय-रूपी मार्ग पर दौड़े चले जा रहे हैं। यह दृष्टिकोण कव वनता है ? यह दृष्टिकोण तव वनता है जव हम यह मथ लेते हैं कि हम अलग हैं, शरीर अलग है, हम मालिक वन कर इस शरीर-रूपी रथ को जहाँ चाहें चला रहे हैं। आज स्थिति उल्टी है। आत्मा मालिक नहीं, इन्द्रियाँ शरीर की मालिक वनी हुई हैं, और वे जहाँ चाहती हैं इस रथ को चला रही हैं। वैदिक ऋषियों की—प्रजापति की—शरीर तथा आत्मा के विषय में जो खोज थी उससे शरीर मालिक नहीं नौकर वन जाता था और उसी दृष्टिकोण से जीवन का चक्र चलता था।

हमारी मुसीवत का कारण क्या है ? हम धन जमा करते हैं, धन अनित्य है, टिकने वाला नहीं है, परन्तु हम उसे नित्य वनाना चाहते हैं ; हम मकान वनाते हैं, मकान अनित्य है, परन्तु हम उसे नित्य वनाना चाहते हैं; हमारे सव सम्वन्ध अनित्य हैं, पिता के लिये पुत्र, पुत्र के लिये पिता, पति के लिये पत्नी,

पत्नी के लिये पति, ये सब रिश्ते हैं, इनसे इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु ये सब अनित्य है, इन्हें अनित्य जान कर चलने से जब ये टूटते हैं तब दुःख नहीं देते, इन्हें नित्य मान कर चलने से जब ये टूटते हैं—और टूटते ये किसी-न-किसी दिन अवश्य हैं—तब हमें दुःख-सागर में डुबो देते हैं। अनित्य कहने का यह अर्थ नहीं है कि धन की, मकान की, सम्पत्ति की, पिता-पुत्र-पति-पत्नी के रिश्तों की कोई सत्ता नहीं है, इनकी सत्ता है, परन्तु इनकी सत्ता उतनी ही है जितनी बहते पानी में नदी के उस प्रवाह की सत्ता है जो हमारे सामने से बह कर आगे चला जा रहा है। यह दृष्टिकोण यथार्थ-दृष्टिकोण है, यही व्यावहारिक-दृष्टिकोण है, यही आत्मा को नित्य और शरीर को अनित्य जानने का दृष्टिकोण है, यही छान्दोग्योपनिषद् के प्रजापति की घोषणा का दृष्टिकोण है, यही जीवन का सोलह आने सही दृष्टिकोण है।

परन्तु इस दृष्टिकोण को पा लेना सहज काम नहीं है। प्रजापति ने इस खोज की घोषणा की थी, परन्तु इन्द्र को इसे जीवन में उतारने के लिये 101 वर्ष लगे थे। कहने को इस खोज को दो मिनटों में कहा जा सकता है, परन्तु करने को इसके लिये 101 वर्ष भी थोड़े हैं। आदमी धन कमाने में लगता है, तो—'मिलेगा'—इस आशा में जीवन बिता डालता है, परन्तु आध्यात्मिक-जगत् के रस का पाने के लिये वह मिनटों में या फालतू समय में सब-कुछ पा लेना चाहता है। प्रजापति का कहना है कि इस खोज को ठीक-से पाने में 101 बरस का भी समय काफ़ी नहीं हैं।

10. पंचकोशों का विचार जीवन की सापेक्षिकता का विचार है

हमने कहा था कि जीवन सापेक्षिक है? किस दृष्टि से सापेक्षिक है? प्रजापति के शब्दों में, भौतिक-जीवन तभी तक जीवन है, जबतक वह आध्यात्मिक-जीवन का अंग है, उसके साथ बंधा हुआ है, शृंखला की एक कड़ी है। जब तक हम विरोचन की तरह शरीर को ही आत्मा समझते रहते हैं, इसे एक कड़ी समझ कर इसे शृंखला में नहीं जोड़ते, तब तक हम अजर-अमर आत्मा के क्षेत्र में नहीं पहुँच पाते, मरणधर्मा-शरीर के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहते हैं। एक तरह से शरीर को ही सब-कुछ समझ लेना और शरीर से आगे न देखना मृत्यु है, शरीर के भीतर वास करने वाले आत्मा को पा लेना जीवन है; इस भौतिक-जगत् को ही सब-कुछ समझ लेना और भौतिक-जगत् से आगे न देखना मृत्यु है, भौतिक-जगत् के भीतर बस रहे परमात्मा को पा लेना—'ईशावास्यमिदं सर्वं'—जीवन है। शरीर तथा आत्मा की जीवन की दृष्टि से पारस्परिक-सापेक्षिकता का तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द वल्ली, 2 य अनुवाक) में पंचकोशों के रूप में बड़ा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। उपनिषद् का कहना है कि हमारे भीतर पांच कोश हैं—अन्नमय-कोश,

प्राणमय-कोश, मनोमय-कोश विज्ञानमय-कोश तथा आनन्दमय-कोश। आत्मा का निवास अन्नमय-कोश में हो सकता है, प्राणमय-कोश में हो सकता है, मनोमय-कोश में हो सकता है, विज्ञानमय-कोश में हो सकता है, आनन्दमय-कोश में हो सकता है। जो प्राणी सिर्फ़ खाने-पीने में रमा रहता है, अन्न के उपभोग में ही रमा रहता है—'स एव एष पुरुषोऽन्नरसमयः'—वह 'अन्नमय-कोश' में जीता है, भौतिक-जीवन ही उसका जीवन है, आध्यात्मिक-जीवन के लिये वह मृत-समान है। यह अवस्था पशु-योनि में तथा अनेक मनुष्यों में भी पायी जाती है। कई व्यक्ति खाने-पीने के जीवन से ऊपर उठ जाते हैं, उनके लिये उपनिषद् का कहना है कि वे 'प्राणमय-कोश' में जीने लगते हैं—'एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'। 'अन्नमय' के 'अन्न'-शब्द तथा 'प्राणमय' के 'प्राण'-शब्द में भाव की बहुत निकटता है। 'अन्न'-शब्द बना है—अद् भक्षणे धातु से, 'प्राण'-शब्द बना है—अन् प्राणने धातु से। 'अद्' तथा 'अन्' में बहुत समीपता है। अन्नमय-जीवन वाला, पशु हो या मनुष्य हो, यही समझे रहता है कि मैं शरीर ही हूँ, प्राणमय-जीवन वाला अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर ही नहीं हूँ, मैं शरीर से अतिरिक्त हूँ। शरीर में शरीर से अतिरिक्त किसी सत्ता की अनुभूति 'प्राण' से ही तो होती है। 'प्राण' शरीर नहीं है, शरीर में बाहर से आता है, एक तरह से अदृश्य आत्मा का दृश्य प्रतिनिधि 'प्राण' ही है। जब मनुष्य में अपने अन्नमय होने की अपेक्षा, खाने-पीने वाले जीव होने की अपेक्षा अपने अस्तित्व की शरीर से अतिरिक्त होने की अनुभूति जाग उठती है, तब हम कह सकते हैं कि वह 'अन्नमय'-सत्ता से 'प्राणमय'-सत्ता में जीने लगा, और तब वह उस जीवन के प्रति सजग हो जाता है जिसके प्रति अबतक मृत-समान था। यह स्थिति पशु में नहीं आती, अनेक मनुष्यों में भी नहीं आती, परन्तु आती मनुष्य में ही है। जब आत्मा तृतीय-स्तर पर क्रियाशील हो जाता है तब इस स्थिति को उपनिषद् ने 'मनोमय-कोश' कहा है—'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'। मन तो मनुष्य-मात्र में है, परन्तु हम मन से काम नहीं लेते, मन हमसे काम लेता है। जब आत्मा का 'मनोमय-कोश' में निवास होता है तब व्यक्ति का मानसिक-जीवन जग जाता है, वह जीवन जो अबतक सोया पड़ा था, मानो मृत-समान था। 'मनोमय-कोश' का जीवन 'प्राणमय-कोश' से ऊपर का, परन्तु 'विज्ञानमय-कोश' से नीचे का जीवन है। मन की गति विद्या तथा अविद्या, ज्ञान तथा अज्ञान—दोनों दिशाओं में चलती है, परन्तु जब जीवन की वह स्थिति आ जाय जब अविद्या तथा अज्ञान उसमें से गिर जाय, विद्या और ज्ञान ही रह जाय, तब व्यक्ति जीवन के चतुर्थ-स्तर में प्रवेश करता है जिसे उपनिषद् ने 'विज्ञानमय-कोश' कहा है—'तस्माद्वा एतस्मात् मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'—अर्थात्, 'मनोमय-कोश' के बाद,

पत्नी के लिये पति, ये सब रिश्ते हैं, इनसे इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु ये सब अनित्य हैं, इन्हें अनित्य जान कर चलने से जब ये टूटते हैं तब दुःख नहीं देते, इन्हें नित्य मान कर चलने से जब ये टूटते हैं—और टूटते ये किसी-न-किसी दिन अवश्य हैं—तब हमें दुःख-सागर में डुबो देते हैं। अनित्य कहने का यह अर्थ नहीं है कि धन की, मकान की, सम्पत्ति की, पिता-पुत्र-पति-पत्नी के रिश्तों की कोई सत्ता नहीं है, इनकी सत्ता है, परन्तु इनकी सत्ता उतनी ही है जितनी बहते पानी में नदी के उस प्रवाह की सत्ता है जो हमारे सामने से बह कर आगे चला जा रहा है। यह दृष्टिकोण यथार्थ-दृष्टिकोण है, यही व्यावहारिक-दृष्टिकोण है, यही आत्मा को नित्य और शरीर को अनित्य जानने का दृष्टिकोण है, यही छान्दोग्योपनिषद् के प्रजापति की घोषणा का दृष्टिकोण है, यही जीवन का सोलह आने सही दृष्टिकोण है।

परन्तु इस दृष्टिकोण को पा लेना सहज काम नहीं है। प्रजापति ने इस खोज की घोषणा की थी, परन्तु इन्द्र को इसे जीवन में उतारने के लिये 101 वर्ष लगे थे। कहने को इस खोज को दो मिनटों में कहा जा सकता है, परन्तु करने को इसके लिये 101 वर्ष भी थोड़े हैं। आदमी धन कमाने में लगता है, तो—'मिलेगा'—इस आशा में जीवन बिता डालता है, परन्तु आध्यात्मिक-जगत् के रस का पाने के लिये वह मिनटों में या फालतू समय में सब-कुछ पा लेना चाहता है। प्रजापति का कहना है कि इस खोज को ठीक-से पाने में 101 बरस का भी समय काफ़ी नहीं है।

10. पंचकोशों का विचार जीवन की सापेक्षिकता का विचार है

हमने कहा था कि जीवन सापेक्षिक है? किस दृष्टि से सापेक्षिक है? प्रजापति के शब्दों में, भौतिक-जीवन तभी तक जीवन है, जबतक वह आध्यात्मिक-जीवन का अंग है, उसके साथ बंधा हुआ है, शृंखला की एक कड़ी है। जब तक हम विरोचन की तरह शरीर को ही आत्मा समझते रहते हैं, इसे एक कड़ी समझकर इसे शृंखला में नहीं जोड़ते, तब तक हम अजर-अमर आत्मा के क्षेत्र में नहीं पहुँच पाते, मरणधर्मा-शरीर के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहते हैं। एक तरह से शरीर को ही सब-कुछ समझ लेना और शरीर से आगे न देखना मृत्यु है, शरीर के भीतर वास करने वाले आत्मा को पा लेना जीवन है; इस भौतिक-जगत् को ही सब-कुछ समझ लेना और भौतिक-जगत् से आगे न देखना मृत्यु है, भौतिक-जगत् के भीतर बस रहे परमात्मा को पा लेना—'ईशावास्यमिदं सर्वं'—जीवन है। शरीर तथा आत्मा की जीवन की दृष्टि से पारस्परिक-सापेक्षिकता का तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्द वल्ली, 2 य अनुवाक) में पंचकोशों के रूप में बड़ा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। उपनिषद् का कहना है कि हमारे भीतर पांच कोश हैं—अन्नमय-कोश,

प्राणमय-कोश, मनोमय-कोश विज्ञानमय-कोश तथा आनन्दमय-कोश। आत्मा का निवास अन्नमय-कोश में हो सकता है, प्राणमय-कोश में हो सकता है, मनोमय-कोश में हो सकता है, विज्ञानमय-कोश में हो सकता है, आनन्दमय-कोश में हो सकता है। जो प्राणी सिर्फ़ खाने-पीने में रमा रहता है, अन्न के उपभोग में ही रमा रहता है—**'स एव एष पुरुषोऽन्नरसमयः'**— वह 'अन्नमय-कोश' में जीता है, भौतिक-जीवन ही उसका जीवन है, आध्यात्मिक-जीवन के लिये वह मृत-समान है। यह अवस्था पशु-योनि में तथा अनेक मनुष्यों में भी पायी जाती है। कई व्यक्ति खाने-पीने के जीवन से ऊपर उठ जाते हैं, उनके लिये उपनिषद् का कहना है कि वे 'प्राणमय-कोश' में जीने लगते हैं—**'एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'**। 'अन्नमय' के 'अन्न'-शब्द तथा 'प्राणमय' के 'प्राण'-शब्द में भाव की बहुत निकटता है। 'अन्न'-शब्द बना है—अद् भक्षणे धातु से, 'प्राण'-शब्द बना है—अन् प्राणने धातु से। 'अद्' तथा 'अन्' में बहुत समीपता है। अन्नमय-जीवन वाला, पशु हो या मनुष्य हो, यही समझे रहता है कि मैं शरीर ही हूँ, प्राणमय-जीवन वाला अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर ही नहीं हूँ, मैं शरीर से अतिरिक्त हूँ। शरीर में शरीर से अतिरिक्त किसी सत्ता की अनुभूति 'प्राण' से ही तो होती है। 'प्राण' शरीर नहीं है, शरीर में बाहर से आता है, एक तरह से अदृश्य आत्मा का दृश्य प्रतिनिधि 'प्राण' ही है। जब मनुष्य में अपने अन्नमय होने की अपेक्षा, खाने-पीने वाले जीव होने की अपेक्षा अपने अस्तित्व की शरीर से अतिरिक्त होने की अनुभूति जाग उठती है, तब हम कह सकते हैं कि वह 'अन्नमय'-सत्ता से 'प्राणमय'-सत्ता में जीने लगा, और तब वह उस जीवन के प्रति सजग हो जाता है जिसके प्रति अबतक मृत-समान था। यह स्थिति पशु में नहीं आती, अनेक मनुष्यों में भी नहीं आती, परन्तु आती मनुष्य में ही है। जब आत्मा तृतीय-स्तर पर क्रियाशील हो जाता है तब इस स्थिति को उपनिषद् ने 'मनोमय-कोश' कहा है—**'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'**। मन तो मनुष्य-मात्र में है, परन्तु हम मन से काम नहीं लेते, मन हमसे काम लेता है। जब आत्मा का 'मनोमय-कोश' में निवास होता है तब व्यक्ति का मानसिक-जीवन जग जाता है, वह जीवन जो अबतक सोया पड़ा था, मानो मृत-समान था। 'मनोमय-कोश' का जीवन 'प्राणमय-कोश' से ऊपर का, परन्तु 'विज्ञानमय-कोश' से नीचे का जीवन है। मन की गति विद्या तथा अविद्या, ज्ञान तथा अज्ञान—दोनों दिशाओं में चलती है, परन्तु जब जीवन की वह स्थिति आ जाय जब अविद्या तथा अज्ञान उसमें से गिर जाय, विद्या और ज्ञान ही रह जाय, तब व्यक्ति जीवन के चतुर्थ-स्तर में प्रवेश करता है जिसे उपनिषद् ने 'विज्ञानमय-कोश' कहा है—**'तस्माद्वा एतस्मात् मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'**—अर्थात्, 'मनोमय-कोश' के अन्दर

उसके भी भीतर आत्मा का एक और कोश है जो विज्ञानमय है। 'विज्ञानमय-कोश' के बाद आत्मा का 'आनन्दमय-कोश' आता है जब आत्मा ब्रह्मानन्द में, प्रभु के प्रसाद में बसने लगता है जिसका वर्णन करते हुए उपनिषद् ने कहा है—**'तस्मात् वा एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः'**।

आत्मा के ये पाँच कोश मानव की जीवन में स्थितियाँ हैं। सबसे पहली स्थिति वह है जिसमें शरीर-ही-शरीर दीखता है। खाना-पीना, इन्द्रियों के विषयों का भोग—इसके सिवाय जीवन में कुछ नहीं दीखता। यह 'अन्नमय-कोश' की स्थिति है। जीवन की दूसरी स्थिति वह है जिसमें शरीर से पृथक् आत्म-सत्ता की प्रतीति होने लगती है। यह 'प्राणमय-कोश' की स्थिति है। जीवन की तीसरी स्थिति वह है जब मनुष्य की सोई हुई मानसिक-शक्तियाँ जग जाती हैं। यह 'मनोमय-कोश' की स्थिति है। जीवन की चौथी स्थिति वह है जब उसे संसार के यथार्थ-सत्य का भान हो जाता है। यह 'विज्ञानमय-कोश' की स्थिति है। अन्त में जीवन की वह स्थिति आ जाती है जब मनुष्य संसार की नश्वरता को देख लेता है, उसे आत्म-शक्ति तथा परमात्म-शक्ति का भान हो जाता है, वह अपने में शरीर से तथा जगत् में प्रकृति से अपने को पृथक् जान कर आत्म-स्वरूप में आ जाता है—यह 'आनन्दमय-कोश' की स्थिति है। 'अन्नमय-कोश' में वह एक कोश के लिए जीवित है, अन्य चार कोशों के लिए मरा हुआ है। 'प्राणमय-कोश' में वह दो कोशों के लिए जीवित है, अन्य तीन कोशों के लिये मरा हुआ है, 'मनोमय-कोश' में वह तीन कोशों के लिये जीवित है, अन्य दो कोशों के लिये मरा हुआ है, 'विज्ञानमय-कोश' में वह चार कोशों के लिये जीवित है, एक कोश के लिये मरा हुआ है, 'आनन्दमय-कोश' में पहुँच कर वह सब तरह जीवित-ही-जीवित है—यही जीवन की सापेक्षता तथा निरपेक्षता है। जिसे हम जीवन कहते हैं वह उससे उच्च-जीवन की दृष्टि से मृत्यु है, जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह उससे निम्न-जीवन की दृष्टि से जीवन है।

कोशों पर श्री अरविन्द ने कुछ अद्भुत विचार प्रकट किये हैं। वे इतने अद्भुत हैं कि, और कुछ नहीं तो विचार की दृष्टि से ही, उनका यहाँ ज़िक्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। कोशों पर इस दृष्टि को भी जान लेना उचित है।

श्री अरविन्द का कहना है कि आत्म-तत्त्व अपने को प्रकृति द्वारा ही प्रकट कर सकता है, और किसी तरह नहीं, इसलिये प्रकृति को छोड़ने से उसका काम नहीं चल सकता। जब आत्म-तत्त्व प्रकृति को माध्यम बना कर अपने स्वरूप को प्रकट करने का प्रयास करता है, तब सृष्टि विकास के मार्ग पर चल पड़ती है। आत्मा के विकास की इस प्रक्रिया में सबसे पहली अवस्था तब आती है जब जड़-जगत् में किसी भी स्थान पर चेतना का आविर्भाव हो जाता है। यह चेतना क्या है? यह आत्म-तत्त्व का, प्रकृति-तत्त्व को माध्यम बना कर, अपने

को प्रकट करने का प्रयत्न है, इसी का नाम 'देह' का उत्पन्न हो जाना है। जितना अन्नमय जगत् है, उद्भिज जगत्, वृक्ष-लता-ओषधि-वनस्पति—ये सब इस दृष्टि से आत्म-तत्त्व के प्रथम-प्रकाश हैं, और इतने अंशतक जीवित हैं जितने अंशतक प्राण न लेने पर भी उगने-बढ़ने-फूलने-फलने वाले देह को जीवित कहा जा सकता है। इनमें भोजन का आदान-प्रदान, जीना-बढ़ना-मरना पाया जाता है, परन्तु आत्म-तत्त्व का यह प्रकाश अत्यन्त प्रारम्भिक, अत्यन्त निम्न-स्तर का प्रकाश है क्योंकि इसमें अभी प्राण का प्रकाश नहीं हुआ होता। यह आत्म-तत्त्व का 'अन्नमय-कोश' है। इस प्रकाश के बाद, प्रकृति को माध्यम बना कर, आत्म-तत्त्व के प्रकट होने की दूसरी अवस्था वह आती है जब देह में 'प्राण' का विकास हो जाता है। यह अवस्था वृक्ष-लता-ओषधि में नहीं, कीट-पतंग-पशु में पायी जाती है। इनमें आत्म-तत्त्व का प्रकाश वृक्ष आदि की तरह देह तक न रुक कर प्राण तक चला गया है। यह आत्म-तत्त्व के प्रकाश की द्वितीय अवस्था है, परन्तु यह भी निम्न अवस्था है। यह आत्म-तत्त्व का 'प्राण-मय-कोश' है। इसके बाद आत्म-तत्त्व और गतिशील होता है, और जब वह वेग प्रबल हो जाता है, तब 'मन' प्रकट होता है, यह आत्म-तत्त्व के प्रकाश की, अपने को प्रकट करने की तीसरी अवस्था है। यह अवस्था मनुष्य में दिखलायी देती है। यह आत्म-तत्त्व का 'मनोमय-कोश' है। श्री अरविन्द का कहना है कि प्रकाशोन्मुखी आत्म-तत्त्व अभी तक इस तीसरी अवस्था तक ही पहुंचा है, अभी चौथी अवस्था और आने वाली है। जैसे आत्म-तत्त्व के अभी तक के प्रकाश में 'देह' प्रकट हुआ, फिर 'प्राण' प्रकट हुआ, फिर 'मानस' प्रकट हुआ, वैसे अब चौथा तत्त्व 'अतिमानस' प्रकट होगा। सृष्टि में 'देह' का प्रकट होना एक महान् घटना थी, उसके बाद जब 'प्राण' प्रकट हुआ तब दूसरी महान् घटना घटी, फिर जब 'मानस' प्रकटा तब तीसरी महान् घटना घटी, और अब जब 'अतिमानस' प्रकट होगा तब तो आत्म-तत्त्व के प्रकट होने में महानतम घटना घटेगी। यह आत्म-तत्त्व का 'विज्ञानमय-कोश' होगा। श्री अरविन्द का कहना था कि जैसे वनस्पति एक विशेष योनि है, पशु एक दूसरी योनि है, मनुष्य एक तीसरी योनि है, वैसे अतिमानस के प्राणी एक भिन्न ही प्रकार के व्यक्ति होंगे, उनमें जरा-मरण नहीं होगा, उनका यही शरीर एक दिव्य-शरीर हो जायगा। 'मानस' जो प्रकट हो चुका है, तथा 'अतिमानस' जो अभी प्रकट होगा—इन दोनों में मौलिक भेद क्या होगा? हमारा मन ज्ञान के लिये प्रयास तो करता है, परन्तु प्रयास करता हुआ भी अज्ञान से बंधा रहता है, ज्योति की खोज तो करता है, परन्तु ज्योति के लिये अपने को पूर्णतया खोल नहीं पाता। अतिमानस के प्रकट हो जाने पर अज्ञान के साथ इसका बन्धन टूट जायगा, ज्योति से भर जाने के लिये यह लगातार खुला रहेगा। जैसे मनुष्य के लिये मनन न करना असम्भव है,

जैसे पशु-पक्षी के लिये प्राण न लेना असम्भव है, जैसे वनस्पति के लिये भोजन छोड़ देना असम्भव है, वैसे जिसमें अतिमानस प्रकट हो जायगा उसमें अज्ञान असम्भव हो जायगा। श्री अरविन्द के अनुसार उनकी इस खोज का आधार तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लिखित पांच कोशों का वर्णन है। श्री अरविन्द के कथन का अभिप्राय यह है कि अभी तक सृष्टि अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश तक विकसित हुई है, चौथे विज्ञानमय-कोश का विकास होना अभी बाकी है। अन्नमय-कोश वनस्पतियों में, प्राणमय पशु-पक्षियों में, मनोमय मनुष्यों में विकसित हो चुका है। अब विज्ञानमय-कोश का विकास होना है, इसी को श्री अरविन्द ने 'अतिमानस' कहा है। श्री अरविन्द का कहना है कि जैसे पारदर्शक शीशे में से उसके पीछे जो-कुछ है वह दीख जाता है, वैसे उन्हें मानस के आगे अतिमानस, विकसित होता हुआ स्पष्ट दीख रहा है। अतिमानस के विषय में श्री अरविन्द की यह नई धारणा है कि यह तत्त्व अभी तक प्रकट नहीं हुआ, आगे होगा। दूसरे शब्दों में, प्रकृति के माध्यम से आत्म-तत्त्व के उत्तरोत्तर प्रकाश की दिशा 'विज्ञानमय-कोश' की जागृति है। ये कोश, इस शरीर में, एक के भीतर एक छिपे हुए, एक-दूसरे से सूक्ष्म, कोई सूक्ष्म-शरीर नहीं हैं। शरीर का नाम ही कोश है। 'अन्नमय-कोश' का अर्थ है यह अन्नमय स्थूल-शरीर। वनस्पतियाँ 'अन्नमय-कोश' तक ही रह जाती हैं, इससे आगे उनका विकास नहीं हो पाता। 'प्राणमय-कोश' का अर्थ है, वह शरीर जो अन्न से तो बना है, क्योंकि वह अन्नमय-शरीर के ही द्वितीय-विकास का नाम है, परन्तु जिसमें अन्न के अतिरिक्त 'प्राण' एक नवीन-तत्त्व प्रकट हो गया है। पशु-पक्षी अन्नमय की प्रक्रिया में से तो गुज़र ही चुके हैं, परन्तु इनका शरीर 'अन्नमय-कोश' नहीं, 'प्राणमय-कोश' कहलाता है, क्योंकि प्राण एक तत्त्व के रूप में वनस्पतियों में नहीं प्रकट हुआ, परन्तु पशु-पक्षियों में प्रकट हो गया है। 'मनोमय-कोश' का अर्थ है वह शरीर जो अन्न और प्राण से तो बना है, परन्तु जिसमें 'मन' एक नवीन तत्त्व प्रकट हो गया है। मनुष्य का शरीर 'मनोमय-कोश' है क्योंकि मन एक तत्त्व के रूप में वनस्पति, पशु-पक्षी में नहीं, मनुष्य के शरीर में प्रकट हुआ है। 'विज्ञानमय-कोश' का अर्थ है वह शरीर जिसमें 'देह', 'प्राण' तथा 'मन' के अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व—'विज्ञान' या श्री अरविन्द के शब्दों में 'अतिमानस'—प्रकट हो गया है या होगा। जो तत्त्व अभी तक प्रकट नहीं हुआ उसकाबीज एक-दूसरे में निहित है। विज्ञानमय का मनोमय में, मनोमय का प्राणमय में, प्राणमय का अन्नमय में बीज है—हाँ, 'अन्न', 'प्राण', 'मन' विकसित हो चुके हैं, 'विज्ञान' विकसित होना है या किसी-किसी में हो चुका है। जब आत्म-तत्त्व प्रकृति को माध्यम बना कर उस तत्त्व को उत्पन्न कर लेगा जिसके द्वारा अज्ञान असम्भव हो जायगा, तो वह अवस्था उसकी जीवन-यात्रा की अन्तिम मंजिल होगी, और

उस समय उसका भौतिक-शरीर ही 'विज्ञानमय' हो जायगा। इस प्रकार आत्म-तत्त्व अन्त तक प्रकृति के सहारे आगे-आगे बढ़ता जायगा, प्रकट होता जायगा, अपने-आप को प्रकृति में हो-होकर उसमें से निकलता जायगा, और अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिये प्रकृति को अपना साधन बनाता जायगा। श्री अरविन्द ने अपनी विचारधारा को जो दिशा पकड़ी है उसपर चलते हुए अगर हम तैत्तिरीयोपनिषद् के पांचों कोशों को ध्यान में रखें, तो इस परिणाम पर पहुंचना अवश्यंभावी हो जाता है कि 'विज्ञानमय-कोश' के बाद विकास की एक ऐसी मंजिल भी आ पहुंचेगी जब 'आनन्दमय-कोश' का विकास होगा, जिस विकास के परिणामस्वरूप जैसे 'विज्ञानमय-कोश' के विकास के कारण अज्ञान असम्भव हो जायगा, वैसे 'आनन्दमय-कोश' के विकास के परिणामस्वरूप निरानन्दता असम्भव हो जायगी।

उक्त विवरण का अभिप्राय यह है कि अन्नमय-कोश प्राणमय के लिये है, प्राणमय अन्नमय के लिये नहीं; प्राणमय मनोमय के लिये है, मनोमय प्राणमय के लिये नहीं; मनोमय विज्ञानमय के लिये है, विज्ञानमय मनोमय के लिये नहीं; विज्ञानमय आनन्दमय के लिये है, आनन्दमय विज्ञानमय के लिये नहीं। आध्यात्मिक-विकास की यही दिशा है। जब हम आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विज्ञान को, विज्ञान की अपेक्षा मन को, मन की अपेक्षा प्राण को, प्राण की अपेक्षा अन्नमय स्थूल-शरीर को अधिक महत्त्व देने लगते हैं तब हम आत्म-तत्त्व के विकास के मार्ग पर न चल कर उल्टे मार्ग पर चलने लगते हैं। हमें भिन्न-भिन्न कोशों को आगे-आगे जाने का साधन समझ कर चलना है, अन्नमय को प्राणमय का, प्राणमय को मनोमय का, मनोमय को विज्ञानमय का और विज्ञान-मय को आनन्दमय का साधन समझना है—अगले-अगले के विकास में सहायक समझना है, इससे उल्टा नहीं।

कोशों के विषय में जो-कुछ हमने लिखा है उससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन क्या है, मृत्यु क्या है, जागना क्या है, सोना क्या है। हम जो जीवन बिता रहे हैं उसे गीता ने स्वप्न कहा है, यह सोया हुआ जीवन है। हम जाग नहीं रहे, सो रहे हैं, समझते हैं कि जाग रहे हैं। शरीर में जीना जीना नहीं, तैत्तिरीयोपनिषद् के शब्दों में यह मरना है क्योंकि वास्तविक जीने के लिये शरीर से आगे बढ़ कर प्राण में जीना होगा, मन में जीना होगा, विज्ञान में जीना होगा, आनन्द में जीना होगा। हमारा शरीर में ही जीना जागना नहीं है, एक प्रकार का सोना है। गीता का कथन है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। लोग अपने को जगा समझते हैं, वे जगे नहीं सोये हुए हैं। जो उसको पा लेता है, उसे जिसे पा लेने पर मनुष्य न जरा को गिनता है, न मृत्यु को गिनता है, न भौतिक-कष्ट को गिनता है, न मानसिक-दुःख को गिनता

है, वही वास्तव में जगा है, बाकी सब जगे हुए भी सोये पड़े हैं। आखिर जागना और सोना, जीना और मरना सापेक्षिक-शब्द हैं, जिसे हम जागना समझते हैं वह सांसारिक-दृष्टि से भले ही जागना हो, आध्यात्मिक-दृष्टि से वह सोना है, जिसे हम जिन्दा समझते हैं, वह शारीरिक-दृष्टि से भले ही जिन्दा हो, आध्यात्मिक-दृष्टि से वह मरा हुआ है। इसीलिये वेद ने अपने को जागता समझने वालों को झकझोर कर कहा है—**'उत्तिष्ठत, जाग्रत'**—उठो जागो, **'प्राप्य वरान् निबोधत'**—अपने से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के चरणों में सिर नवा कर 'आत्म-बोध' की तैयारी करो। जीवन के रहस्य को समझ कर चलने के लिये यही जीवन का सही रास्ता है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः
यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।

(श्वेताश्वतर, 5—10)

'पुनर्जन्म' का दार्शनिक-आधार क्या है? वेदान्त दर्शन के सूत्र **'व्यतिरेकः तद्भाव अभावितत्वात् न तु उपलब्धिवत्'** की व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि देह तथा आत्मा में 'व्यतिरेक' है, भेद है, क्योंकि देह तथा आत्मा में **'तद्भाव'**—'मैं वही (देह ही) हूँ'—इस प्रतीति का अभाव है। पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट का भी कथन है कि क्योंकि 'मैं सोचता हूँ'—इसलिये मैं देह से अतिरिक्त हूँ। अगर मैं अपनी स्वतन्त्र-सत्ता के विषय में सन्देह करता हूँ, तब भी मानना पड़ता है कि सन्देह करने वाला 'मैं' हूँ। इस 'मैं' को ही 'आत्मा' कहते हैं। यह 'आत्मा' कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है? क्या 'आत्मा' अभाव से पैदा होता है? अभाव से तो कुछ पैदा हो नहीं सकता—**'नासतो विद्यते भावः'**, जो असत् है उसकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अगर आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ, तो मानना पड़ेगा कि वह मर भी नहीं सकता क्योंकि **'नाभावः विद्यते सतः'**—जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता। परन्तु एक प्रश्न रह जाता

है, और वह यह है कि मर तो सभी जाते हैं, फिर आत्मा का अभाव क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यही है कि सत् वस्तु का अभाव नहीं हो सकता, रूपान्तरण हो सकता है। दार्शनिक-दृष्टि से यह रूपान्तरण ही 'पुनर्जन्म' है। उपनिषद् ने ठीक ही कहा है—आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, जिस शरीर में यह युक्त हो जाता है वैसा ही उसे कहने लगते हैं। यह एक चोला छोड़ कर दूसरा चोला ले लेता है—यही 'पुनर्जन्म' है।

'पुनर्जन्म' के विषय में अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं—(1) यह विचार सार्वत्रिक है, (2) मनुष्य में अमरता का विचार पाया जाता है, (3) कारण-कार्य के नियम के आधार पर पुनर्जन्म मानना पड़ता है, (4) कई ऐसे मेधावी बालक पाये जाते हैं जो जन्म से ही अद्भुत बुद्धि को लाते हैं, (5) किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता, (6) पुनर्जन्म की स्मृति की भी अनेक घटनाएं पायी जाती हैं। पुनर्जन्म के विपक्ष में जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे सारहीन हैं। सबसे प्रबल युक्ति तो यह दी जाती है कि अगर पुनर्जन्म होता है, तो पिछले जन्म की स्मृति होनी चाहिए। पहले तो अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं जिनमें पुनर्जन्म की स्मृति पायी गई है, परन्तु इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों का न पाया जाना युक्तिसंगत ही नहीं, उचित भी है। जब इसी जन्म की बचपन की घटनाएँ हमें याद नहीं रहतीं, तब पिछले जन्म की याद न रहे, तो आश्चर्य क्या है? इसके अतिरिक्त अगर वह स्मृति बनी रहे, तो जीवन ही दूभर हो जाय, इस जीवन का बना-बनाया खेल ही जाता रहे। इस सिद्धान्त के पक्ष तथा विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों का इस अध्याय में अब तक मिली आधुनिकतम सामग्री के आधार पर विवेचन किया गया है।

एकादश अध्याय

पुनर्जन्म

(REINCARNATION)

1. प्रश्न का स्वरूप

(क) **भारत में कभी नचिकेता ने यह प्रश्न उठाया था**—हम सब जानते हैं कि प्राणी उत्पन्न होता है, कुछ काल तक जीवित रह कर मर जाता है। यह जीना और मरना क्या है? क्या जीवन कहीं से आने का द्वार है, और मरण, कहीं से आकर, कुछ समय यहाँ रह कर, कहीं चले जाने का द्वार है? सदियाँ गुज़र गईं, यह प्रश्न कठोपनिषद् में नचिकेता ने स्वयं मृत्यु को सम्बोधित करके उठाया था। अगर हम यहाँ ही पैदा होते हैं, कहीं से आते नहीं, यहीं समाप्त हो जाते हैं, कहीं जाते नहीं, यह शरीर ही आदि है, यही अन्त है—चार्वाक के कथनानुसार '**भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः**'—यह देह समाप्त हो गया, तब यह जीने-मरने का झंझट अपने-आप जाता रहा—अगर यह बात ठीक है, तो जीवन के प्रति दृष्टिकोण एक तरह का हो जाता है; परन्तु अगर यह बात ठीक है कि हम इस जीवन में किसी दूसरी जगह से आते हैं, इस देह-रूपी चोले से कुछ देर काम लेकर किसी दूसरी जगह दूसरे चोले को धारण करने चले जाते हैं, हम इस देह के बनने पर जन्म नहीं लेते, देह के नष्ट हो जाने पर नष्ट नहीं हो जाते, तब जीवन के प्रति दृष्टिकोण दूसरा हो जाता है। क्योंकि इस प्रश्न का हल जीवन की सम्पूर्ण दार्शनिक-विचारधारा को बदल देता है, इसलिये नचिकेता ने यह प्रश्न उठाया था—'**येयम् प्रेते विचिकित्सा, अस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके एतत् विद्याम् अनुशिष्टस्त्वयाहम्**'—मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि कई कहते हैं कि देह के अतिरिक्त आत्मा है, कई कहते हैं कि देह ही आत्मा है, न यह कहीं से आता है, न कहीं चला जाता है, देह ही जनमता, देह ही मरता है—यह समस्या है जिसे हर-कोई हल करना चाहता है, इसी समस्या का हल मैं जानना चाहता हूँ। सैंकड़ों बरस गुजर गये नचिकेता ने यम से—स्वयं मृत्यु से—उक्त संदर्भ में इसका हाल जानना चाहा था।

(ख) पश्चिम में कभी वृद्ध राजा एडविन के सामने यह प्रश्न उठाया गया था—श्री बीड लिखते हैं कि एक बार नार्थम्ब्रिया के वृद्ध राजा एडविन के राज्य में पौलीनस नाम का एक ईसाई पादरी प्रचार करने के लिए पहुँचा। मन्त्रियों के सामने राजा ने यह प्रश्न उठाया कि इस प्रचारक के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए ? राजा के एक पुराने सलाहकार ने उत्तर दिया—महाराज, आपने अभी देखा होगा कि इस भवन में एक चिड़िया ठण्डी हवा से बचने के लिए बाहर से आ घुसी और आग के सामने पंख फड़-फड़ाती हुई दूसरी खिड़की से निकल गई। मानव भी ऐसा ही है। यह कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है—इसका कुछ पता नहीं। अगर पौलीनस का धर्म इस समस्या पर प्रकाश डाल सके, तो वह अवश्य महान् होगा, और उसकी शिक्षा को स्वीकार करना उचित होगा। उस वृद्ध की सलाह को मान लिया गया और पौलीनस को प्राणी कहाँ से आया है, कहाँ चला जाता है—इन प्रश्नों का ईसाई मत के अनुसार हल बतलाने को कहा गया।

यह समस्या पूर्व की ही नहीं, पश्चिम की ही नहीं, विश्व भर के लोगों की है, और सब कहीं अपने-अपने ढंग से इस समस्या का हल ढूंढने का प्रयत्न किया गया है। जिस हल को सबसे अधिक स्वीकार किया गया है वह हल 'पुनर्जन्म' कहलाता है।

.2 प्रश्न का उत्तर—क्या आत्मा देह से अलग है ? अलग है तो कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है ?

आत्मा कहाँ से आता है—इस समस्या को हल करने के लिये जिन गुत्थियों को सुलझाना आवश्यक है उन्हें प्रश्न-रूप में कहा जाय, तो वे निम्न हैं—

(क) **क्या आत्मा की देह से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र-सत्ता नहीं, क्या देह ही आत्मा है ?**

(ख) **क्या देह की तरह आत्मा भी माता-पिता के रज-वीर्य से ही उत्पन्न होता है ?**

(ग) **क्या आत्मा परमात्मा का ही अंश है ?**

(घ) **क्या आत्मा को परमात्मा अभाव से उत्पन्न कर देता है ?**

(ङ) **क्या आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है, वह उत्पन्न नहीं होता—नष्ट नहीं होता, उसका पुनर्जन्म होता है ?**

हम यहाँ इन पाँचों प्रश्नों पर अलग-अलग से विचार करेंगे—

(क) **क्या आत्मा की देह से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है, क्या देह ही आत्मा है**—पूर्व तथा पश्चिम के उच्च-कोटि के विचारकों ने देह से

अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता को सिद्ध करने के लिए सबसे प्रबल युक्ति यह दी है कि हम में से प्रत्येक को इस बात की अनुभूति होती है कि मैं स्वयं स्वतन्त्र रूप में देह से एक पृथक् सत्ता रखता हूं। वेदान्त-दर्शन (3. 3. 54) में कहा है : **'व्यतिरेकः तद्भाव अभावितत्वात् न तु उपलब्धिवत्'**—अर्थात्, देह तथा आत्मा में 'व्यतिरेक' है—भेद है—क्योंकि देह तथा आत्मा में 'तद्भाव'—मैं वही (देह ही) हूँ—का 'अभाव' है, मुझे यह अनुभूति नहीं होती कि मैं देह ही हूं। 'उपलब्धि-वत्'—अर्थात्, जैसे इन्द्रियों से ज्ञान उपलब्ध होता है, तब हम यह नहीं कहते कि 'इन्द्रियाँ' और 'ज्ञान' एक ही वस्तु हैं, हम इन्हें भिन्न-भिन्न समझते हैं, वैसे ही जब 'आत्मा' को 'शरीर' का ज्ञान होता है, तब यह स्वयं-सिद्ध हो जाता है कि 'आत्मा' तथा 'शरीर' एक ही वस्तु नहीं है। 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' में भेद होता है, वे एक नहीं दो वस्तुएँ होती हैं, इसीलिये 'आत्मा' जो 'ज्ञाता' (Subject) है, वह शरीर नहीं हो सकता क्योंकि शरीर आत्मा का 'ज्ञेय' (Object) है, आत्मा शरीर को अन्य विषयों की तरह 'मेरा शरीर'—इस प्रकार उपलब्ध करता है, अनुभव करता है। आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता के के सम्बन्ध में पश्चिमी-विद्वान् डेकार्ट की युक्ति का भी हम सृष्ट्युत्पत्ति के अध्याय में उल्लेख कर आये है। उसका कहना भी यह है कि 'मैं सोचता हूं'—इसलिये 'मैं हूँ'—'Cogito, ergo sum'। अगर मैं अपनी सत्ता के विषय में सन्देह करता हूँ तो क्योंकि सन्देह करना भी 'सोचना' ही है—इस सन्देह करने के कारण भी मानना पड़ता है कि सन्देह करनेवाला 'मैं हूँ'। देह तो सन्देह नहीं करता, सन्देह करने वाला तो देह से अतिरिक्त ही कोई होना चाहिये। अगर देह से अतिरिक्त विचार करने या सन्देह करने वाली कोई सत्ता है, तो उसी को आत्मा कहते हैं।

शरीर तथा आत्मा का भेद समझने के लिए संस्कृत के 'स्वस्थ'-शब्द को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। 'स्वस्थ' का क्या अर्थ है? 'स्व' का अर्थ है—'अपने-आप में'; 'स्थ' का अर्थ है—'ठहरा हुआ'। जो अपने-आप में स्थित हो, उसे 'स्वस्थ' कहते हैं। अस्वस्थ-व्यक्ति कौन होता है? 'अ' का अर्थ है—'नहीं'। जो अपने-आप में, अपने स्वरूप में न हो, उसे 'अ-स्वस्थ' कहते हैं। मनुष्य जब पूर्ण-स्वस्थ होता है, तब उसे शरीर का भान बिल्कुल नहीं होता, तब वह शरीर को भूला हुआ रहता है। जब वह अस्वस्थ होता है, तब उसे हर समय शरीर ही याद आता है। दाँत में दर्द न हो तो दाँत का ख्याल नहीं आता, कब्ज़ न हो तो पेट की याद नहीं आती, दाँत में दर्द हो तो दाँत की तरफ़ ध्यान गड़ा रहता है, कब्ज़ हो तो हर समय पेट ही याद आता है। 'स्वस्थ'-व्यक्ति शरीर को भूल जाता है, तभी उसे 'स्व-स्थ'=अपने-आप में, स्वरूप में स्थित हो जाना कहते हैं; 'अ-स्वस्थ'-व्यक्ति शरीर को नहीं भूल

सकता, शरीर के साथ बँधा रहता है— अपने स्वरूप को खो देता है। अपने स्वरूप में—'आत्म-तत्त्व' में आ जाना, शरीर को भूल जाना, शरीर की तरफ़ से ध्यान हट जाना ही 'स्वास्थ्य' है; हर समय शरीर का ध्यान बने रहना, कभी नाक की तरफ़ ध्यान जाता हो, कभी पेट की तरफ़ ध्यान जाता हो—यही रोग का चिह्न है। इस स्थिति को पाने के लिए किसी साधना की आवश्यकता नहीं, हर-किसी को इस स्थिति का अनुभव है। नाक सब के है, परन्तु जो कहता फिरे कि उसे नाक है, वह रोग है ; हाथ सब के होते हैं, परन्तु जो अनुभव करता रहे कि उसके दो हाथ हैं, वह रोगी है। 'स्वास्थ्य' का अर्थ है—शरीर को भूल जाना, शरीर का ध्यान ही न आना, शरीर का ध्यान आता रहे, तो यही रोग का चिह्न है। अगर 'स्व' में 'स्थित' हो जाने की प्रतीति हर-किसी को होती है, तो यह कह देने में क्या हर्ज है कि आत्मा के देह से अतिरिक्त होने की प्रतीति हर स्वस्थ-व्यक्ति को, और हर अस्वस्थ-व्यक्ति को भी होती है, जाने-अनजाने सब को होती है। 'स्व-स्थ'—अर्थात्, अपने-आप में, अपने स्वरूप में जाकर जो सुख अनुभव करता है, उस स्वरूप से हट कर जो दुःख अनुभव करता है, वह शरीर कैसे हो सकता है ? वही तो 'आत्मा' है।

इसके अतिरिक्त, अगर देह ही आत्मा है, तो प्रश्न होता है कि देह तो जड़ तत्त्वों का बना हुआ है, इसमें कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाईड्रोजन आदि का सम्मिश्रण ही तो है, इनके सम्मिश्रण से 'चेतना' जैसी विरोधी वस्तु कैसे पैदा हो गई, यह देह कैसे कहने लगा—'मैं हूँ'—यह 'मैं-पना'—'I-ness'—जड़ देह में कैसे आ टपका। मकान नहीं कहता—'मैं', मकान में पड़ा फ़र्नीचर नहीं कहता—'मैं', कोई मशीन नहीं कहती—'मैं', फिर इस देह में 'मैं'-'मैं' कहता कौन डोलता फिरता है ? अगर कोई व्यक्ति कुर्सी पर बैठा कुर्सी को 'मैं'-'मैं' कहता सुन ले, तो कितना ही भौतिकवादी या चार्वाक क्यों न हो, कुर्सी छोड़ कर भाग खड़ा होगा, उसका दम खुश्क हो जाय। फिर इस पाँच तत्त्वों के पुतले में से जो 'मैं'-'मैं' की ध्वनि निकलती है, उससे कोई परेशान क्यों नहीं होता ? तभी विचारकों ने 'मैं' की अनुभूति का होना आत्मा के देह से स्वतन्त्र होने में सबसे बड़ा प्रमाण माना है—अकाट्य-प्रमाण। इसलिए मानना पड़ेगा कि देह से पृथक् आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है। देह के अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता को न मानना ही तो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है, अगर आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है तो पुनर्जन्म न मानने की एक कठिनाई चली जाती है।

(ख) **क्या देह की तरह आत्मा भी माता-पिता के रज-वीर्य से ही उत्पन्न होता है**—भौतिकवादियों का आत्मा की सत्ता के विषय में कथन है कि आत्मा की अलग-से कोई स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है, देह ही आत्मा है। 'देह ही आत्मा है'—इसके विषय में हमने अभी ऊपर समाधान दिया कि देह आत्मा

नहीं हो सकता क्योंकि इसमें से 'मैं' की ध्वनि निकलती है। भौतिकवादियों से अगर पूछा जाय कि अगर आप भौतिकवाद को ही मानते हो, तो आत्मा पैदा कैसे हुआ—इस बात का क्या उत्तर है ? उनका कहना है कि जैसे माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग से देह उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही रज-वीर्य के संयोग से ही आत्मा भी उत्पन्न हो जाता है। रज-वीर्य का संयोग या तो माँ के गर्भाशय में हो सकता है, या कहीं बाहर गर्भाशय-जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर देने पर 'परखनली' (Test tube) में हो सकता है। परन्तु माँ का गर्भाशय अथवा परखनली तो भौतिकवाद की दृष्टि से, जो चेतना को नहीं मानते, एक जड़ मशीन का ही पुर्ज़ा है। अगर माता के गर्भ अथवा परखनली के माध्यम से उत्पन्न होने वाले प्राणी को भी कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि का सम्मिश्रण ही समझा जाय, तो जड़ से जड़ का निर्माण कैसे हो सकता है ? क्या एक घड़ी दूसरी घड़ी को पैदा कर सकती है ? अगर जड़ जड़ होने की वजह से जड़ को पैदा नहीं कर सकता, तो जड़ होने की वजह से वह चेतन को तो किसी तरह भी नहीं पैदा कर सकता क्योंकि चेतन जड़ का विरोधी गुण है। अगर कहा जाय कि चेतन शरीर में आत्मा का निवास है, इसलिये चेतन ने चेतन को पैदा कर दिया जैसे दीपक से दीपक जलता है, तब तो रज-वीर्य से—जो जड़ तत्त्व हैं—जड़ से भिन्न चेतन-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया जिसे भौतिकवादी (जड़वादी) स्वीकार नहीं करते।

परन्तु इतना कह देने मात्र से मामला हल नहीं हो जाता, भौतिकवादी भले ही कह लें कि रज-वीर्य से सन्तान हो जाती है और 'आनुवंशिकता' (Heredity) से माता-पिता के संस्कार सन्तान में आ जाते हैं, परन्तु प्रश्न उठ जाता है कि माता-पिता के रज-वीर्य एवं आनुवंशिकता के नियम से सन्तान की माता-पिता के साथ समानता का तो हल मिल जाता है, किन्तु सन्तान में माता-पिता की तुलना में विषमता कहाँ से आ जाती है ? जैसा माता-पिता का रज-वीर्य होगा वैसी ही सन्तान होगी। परन्तु क्या ऐसा नहीं देखा जाता कि माता-पिता से सन्तान सर्वथा भिन्न भी होती है, पर्यावरण के कारण नहीं, जन्म से ही कुछ अपने भिन्न संस्कार लेकर वह आती है। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वक्ता पिट (1708-1788) की बुद्धि-लब्धि (IQ) 160 थी, वौलटेयर (1698-1778) की 180, कोलरिज (1772-1834) की 175, वेन्थम (1748-1832) और मैकाले (1800-1859) की 180, गेटे (1749-1832) की 185 तथा जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) की 190 थी। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 6 वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू किया था, मैकाले ने तीन वर्ष की आयु में पढ़ना शुरू कर दिया था और सात वर्ष की आयु में कविता लिख डाली थी, गेटे ने सात वर्ष की आयु में प्रहसन लिखा था, पास्कल (1623-1662) ने वचपन में युक्लिड

के 32 अध्याय बिना किसी की सहायता के स्वयं कर डाले थे। अत्युत्कृष्ट प्रतिभाशाली ये बालक कहाँ से इतनी विशाल प्रतिभा लेकर आये थे, माता-पिता के रज-वीर्य के कारण तो इनमें प्रतिभा के ये लक्षण मौजूद नहीं थे। बायरन (1788-1824) लंगड़ा था, मिल्टन (1608-1674) अन्धा था—ये महान् कवि बन गये, फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट (1882-1945) की दोनों टाँगें बेकार थीं, वह अमरीका का राष्ट्रपति बन गया—यह सब क्या माता-पिता के रज-वीर्य के कारण या सामाजिक-पर्यावरण के कारण हुआ। तब तो सभी लंगड़े और अन्धे कविता किया करते, टाँगों के अपाहिज राष्ट्रों के राष्ट्रपति होते। प्रत्येक प्राणी जहाँ माता-पिता के रज-वीर्य के कारण उनसे कुछ लेता है वहाँ अपना भी बहुत-कुछ लाता है। वह अपना स्वभाव लाता है, अपने संस्कार लाता है, अपना व्यक्तित्व लाता है, अपने विगत-कर्मों का भोग लाता है। क्रोधी माता-पिता के घर जन्म से ही कोई योगी पैदा हो जाता है, योगी माता-पिता के घर जन्म से ही कोई भोगी पैदा हो जाता है। इन विषमताओं को हम सामाजिक या पर्यावरणजन्य (Social or Environmental) नहीं कह सकते। ये विषमताएँ जन्म से आती हैं, अपने-आप से आती हैं, अपने स्वतन्त्र-व्यक्तित्व से आती हैं। इसलिये, पहले तो हमने कहा कि देह से अतिरिक्त आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है, अब हम कहते हैं कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता ही नहीं, आत्मा कहीं से—माता-पिता के रज-वीर्य से नहीं—अपने ही किसी खज़ाने से कुछ अपनी अच्छी या बुरी कमाई लेकर भी आता है, ऐसा न होता तो बच्चा माता-पिता का डुप्लिकेट होता, उसका अपनापन अनेक अवस्थाओं में माता-पिता से सर्वथा विभिन्न न होता। जिन विषमताओं का कारण सामाजिक प्रभाव में नहीं ढूँढा जा सकता, उनके विषय में भौतिकवादियों के पास कोई उत्तर नहीं है। रज-वीर्य से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है—यह सिद्धान्त भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है—किन्तु युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता।

(ग) **क्या आत्मा परमात्मा का ही अंश है ?**—आत्मा के विषय में जड़-वादियों (Materialists) का जो दृष्टिकोण था वह हमने देखा। इस विषय में अध्यात्मवादियों (Spiritualists) का क्या दृष्टिकोण है ? अध्यात्मवादियों में पहला स्थान उनका है जो यह कहते हैं कि चेतन-शक्ति के सिवाय और कुछ नहीं। उदाहरणार्थ, वेदान्ती जगत् का विस्तार एक ब्रह्म से ही मानते हैं। इन का कहना है कि माया की उपाधि के साथ 'ब्रह्म' ही 'ईश्वर' के रूप में संसार की रचना करता है, 'जीव' के रूप में वह प्राणी-जगत् को बनाता है, जीव ब्रह्म का ही अंश है। जैसे जड़-वादी देह को आत्मा मानते हैं, वैसे ब्रह्म-वादी जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं—**'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**। परन्तु यह बात कहाँ तक युक्तिसंगत है ? अंश की सदा अंशी से उत्पत्ति होती है, जिसकी उत्पत्ति होती

है उसका नाश भी होता है। इसके अतिरिक्त, अंश सदा सीमित-वस्तु का हो सकता है, असीमित-वस्तु का अंश हो तो वह असीमित नहीं रह जाती। अगर आत्मा की उत्पत्ति तथा नाश हो सकता है, तो वह पार्थिव होना चाहिये, अगर वह पार्थिव है तो वह देह ही है, और यह हम देख चुके हैं कि आत्मा देह नहीं है। इसके अतिरिक्त, परमात्मा को जो मानते हैं वे उसे असीमित मानते हैं, असीमित के अंश नहीं हो सकते, इसलिये आत्मा की परमात्मा से उत्पत्ति नहीं हो सकती। न आत्मा का प्रकृति से उत्पन्न होना बनता है, न परमात्मा से उत्पन्न होना बनता है। ऐसी अवस्था में आत्मा को परमात्मा तथा प्रकृति से अलग मानने को वाधित होना पड़ता है। इसके अलावा, अगर यह मान भी लिया जाय कि आत्मा परमात्मा का ही अंश है, तो भी यह सिद्धान्त पुनर्जन्म के विरुद्ध नहीं पड़ता क्योंकि वेदान्ती भी पुनर्जन्म को तो मानते ही हैं।

(घ) **क्या आत्मा को परमात्मा ने अभाव में उत्पन्न किया**—अध्यात्म-वादियों में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म के लोग भी आ जाते है। उनकी मान्यता यह है कि परमात्मा ने अभाव से आत्मा को उत्पन्न कर दिया। अभाव से भाव का उत्पन्न हो जाना युक्तिसंगत नहीं है। यह कह देना कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है इसलिये वह जो चाहे कर सकता है—यह माना नहीं जा सकता। परमात्मा भी अपने नियमों से बंधा हुआ है, और ऐसी भी बातें हैं जिन्हें इन धर्मों के लोग भी मानेंगे कि वह नहीं कर सकता। परमात्मा अपने जैसा दूसरा परमात्मा नहीं पैदा कर सकता, वह आत्मघात नहीं कर सकता, वह अभाव से भाव नहीं पैदा कर सकता। आत्मा है—इस बात को ये अभाव-वादी मानते हैं, सिर्फ़ इतना मानते हैं कि किसी समय यह नहीं था, परमात्मा ने उसे पैदा किया। अगर नहीं था, तो नहीं हो सकता, नहीं ही रहेगा, अगर है तो मानना पड़ेगा कि पहले भी था—यह अटल नियम है—**'नासतो विद्यते भावः'**—जो असत् है वह असत् ही रहेगा, सत् नहीं हो सकता। अगर वह पैदा किया गया, तो वह नष्ट भी होगा, परन्तु आत्मा को अभाव से पैदा करने वाले यह भी मानते हैं कि वह नष्ट नहीं होगा—कर्मों के अनुसार या स्वर्ग में जायगा या नर्क में जायगा, जायगा ही नहीं, स्वर्ग अथवा नर्क में सदा बना भी रहेगा। यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है। पहले तो यह बात ही युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती कि आत्मा को अभाव से पैदा किया गया, फिर अगर पैदा कर ही दिया गया तो यह बात युक्तिसंगत नहीं कि वह पैदा होकर नष्ट नहीं होता ; अगर यह मान लिया जाय कि वह नष्ट नहीं होगा, तो यह बात ग़लत हो जाती है कि वह पैदा किया गया है। यहूदियों, ईसाइयों तथा मुसलमानों को युक्ति के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि अगर आत्मा का नाश नहां होता, तो उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती क्योंकि जिस की उत्पत्ति होती है उसका नाश

भी होता है। अगर यहूदी, ईसाई, मुसलमान यह मान लें कि आत्मा पीछे से चला आ रहा है, इसका नाश भी नहीं होता, आगे भी चला जाता है, तो उन्हें पुनर्जन्म मानना पड़ गया, ऐसी हालत में आत्मा के सम्बन्ध में उनमें तथा वैदिक-सिद्धान्त में कोई भेद न रहा।

(ङ) **क्या आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, वह उत्पन्न नहीं होता—नष्ट नहीं होता, उसका पुनर्जन्म होता है**—अध्यात्मवादियों में तीसरा पक्ष उन लोगों का है, जो अध्यात्मवादी होने के कारण देह को तो आत्मा मानते ही नहीं; वेदान्तियों की तरह आत्मा को परमात्मा का अंश भी नहीं मानते; यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों की तरह आत्मा को परमात्मा का अभाव से पैदा किया हुआ भी नहीं मानते; वे यह मानते हैं कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है, वह न पैदा हुआ है, न नष्ट होता है, सदा बना रहता है, अच्छे-बुरे कर्म करता है, उनका फल भोगता है—इसी से संसार चलता है। इस पक्ष के लोग तीन अनादि-अनन्त सत्ताओं को मानते हैं—परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति। न परमात्मा पैदा होता है, न नष्ट होता है; न आत्मा पैदा होता है, न नष्ट होता है; न प्रकृति पैदा होती है, न नष्ट होती है। अगर इनमें से कोई एक भी कभी न था, तो सृष्टि का कारोबार नहीं चल सकता; अगर इनमें से कोई एक भी कभी न रहे तब भी सृष्टि का कारोबार न चल सके। क्योंकि सृष्टि व्यक्त या अव्यक्त रूप में सदा रहती ही है इसलिये ये तीनों भी सदा रहते हैं—आत्मा 'भोक्ता' के रूप में, प्रकृति 'भोग्य' के रूप में, परमात्मा 'नियन्ता' के रूप में। अगर आत्मा न हो तो प्रकृति बेकार क्योंकि वह तो है ही इसलिये कि उसका भोग किया जाय; अगर प्रकृति न हो तो आत्मा तथा परमात्मा दोनों बेकार क्योंकि दोनों निठल्ले क्या करें; अगर परमात्मा न हो तो विश्व का नियमन कौन करे क्योंकि आत्मा में इतनी शक्ति नहीं कि इस विशाल-सृष्टि का नियमन कर सके, प्रकृति जड़ है, उसमें चेतना नहीं, फिर वह नियमन कैसे करे ? जड़-वादियों का यह कहना कि सृष्टि का नियमन अपने-आप होता रहता है—ठीक नहीं। नियमन किया जाता है, होता नहीं। मनुष्य चोरी करके स्वयं जेलखाने नहीं चला जाता, न चोरी का कर्म उसे स्वयं जेलखाने में लाकर पटक देता है, वह तो चोरी करके बच निकलना चाहता है, हत्या करके कोई स्वयं जाकर फाँसी पर नहीं लटक जाता, न स्व-संचालित-यन्त्र बन कर वह कत्ल करते ही फाँसी पर जा लटकता है, वह तो फाँसी से बचने की कोशिश करता है। इसलिये किसी सत्ता का कर्म करने में स्वतन्त्र होना, किसी सत्ता का कर्म करने में सहायक होना, और किसी सत्ता का कर्म के फल में नियामक होना आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रकरण में हमें 'आत्मा' से वास्ता है। यह हमने देख लिया कि आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता है, वह पैदा नहीं होता—अनादि है, वह नष्ट नहीं

होता—अविनश्वर है, यह मान लेने से ही संसार का चक्र चल सकता है, जो हमारे-आपके-सबके जानने में चल रहा है। अगर आत्मा को अमर न माना जाय, तो दुनिया का धन्धा चल ही नहीं सकता, चले तो किसके लिये चले। अगर वह है ही नहीं जिसके लिये सृष्टि का प्रवाह चल रहा है, तो सब बेकार है। क्योंकि सृष्टि का प्रवाह अनादि है, अनन्त है, इसलिये आत्मा भी अनादि है, अनन्त है।

वैज्ञानिक-दृष्टि से भी आत्मा को अमर मानना लाज़मी है। विज्ञान का कथन है कि कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, रूप बदल लेती है—इसे 'ऊर्जा-संरक्षण' (Conservation of Energy) का सिद्धान्त कहा जाता है। भौतिक-पदार्थ भी नष्ट नहीं होते, रूप ही बदला करते हैं। बरफ़ का पानी बना, पानी की भाप बनी, भाप का बादल बना, बादल का फिर पानी बना—जितना पदार्थ पहले था उतना-का-उतना रूप बदलता गया, परन्तु नष्ट नहीं हुआ—यह भौतिकी तथा गणित से सिद्ध किया जा चुका है। अगर यह सिद्धान्त ठीक है, तो जैसा भौतिक-पदार्थों पर ठीक है, वैसा ही अध्यात्मिक-सत्ता पर भी ठीक है। इस सिद्धान्त के अनुसार अगर आत्मा उत्पन्न नहीं होता, वर्तमान में उसकी सत्ता है, तो यह रूप ही बदल सकता है, नष्ट नहीं हो सकता। इस रूप बदलने का नाम ही 'पुनर्जन्म' है। हमने प्रश्न उठाया था—'क्या आत्मा देह से अलग है' ? इसका उत्तर हमने देख लिया—'हाँ, अलग है'। प्रश्न का दूसरा भाग यह था—'अलग है, तो यह कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है ?' इसका उत्तर भी हमने देखा—'आत्मा अमर है'—Immortal—है, यह पीछे से आता है, देह धारण करता है, फिर इसे छोड़ कर जीवन-यात्रा में आगे निकल जाता है। 'आत्मा है'—'आत्मा अमर है'—अगर ये दोनों बातें ठीक हैं, तो यही पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार-स्तम्भ है।

इसके अतिरिक्त आत्मा के अमर होने का विचार संसार के विचारों के इतिहास में इतनी देर से चला आ रहा है कि हम यह माने बग़ैर नहीं रह सकते कि इसकी विश्व ने उपयोगिता को स्वीकार किया है, नहीं तो क्यों हर व्यक्ति को अमरता की आशा बंधी रहती है, क्यों यह विचार सार्वत्रिक है—हर देश-काल में पाया जाता है ? इस विचार की जीवन में व्यावहारिक उपयोगिता को देख कर ही तो इसे मानव-समाज ने अबतक पाल-पोसकर संभाल कर रखा हुआ है।

3. पुनर्जन्म का विचार सार्वत्रिक है

पुनर्जन्म के विचार का मनुष्य के चिन्तन में इतना ऊँचा तथा प्रबल स्थान है कि यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पढ़े-बेपढ़े—दुनिया के हर क्षेत्र में पाया जाता है। वैसे तो, सारी दुनिया किसी विचार को मानती है—यह कह देने से

कोई विचार सत्य नहीं हो जाता, परन्तु इतना जरूर है कि अगर किसी विचार को सारी दुनिया मानने लगे, तो इसका यह मतलब अवश्य निकलता है कि विश्व के नागरिकों को उस विचार से अपनी समस्याओं का अधिकतम हल निकलता प्रतीत होता है। संसार का दो-तिहाई हिस्सा इस सिद्धान्त को मानता रहा है। इस दृष्टि से, हम संक्षेप में, पुनर्जन्म के विचार की सार्वत्रिकता पर कुछ प्रकाश डालेंगे—

(क) **भारत से विभिन्न देशों में पुनर्जन्म का विचार**—कुछ विद्वानों का यह मत है कि भारत में पुनर्जन्म के विचार के जन्म लेने से भी पहले ईजिप्ट में इस विचार का जन्म हुआ। यद्यपि यह विचार ठीक नहीं है, तो भी यह स्थल इस विवाद को खड़ा करने का नहीं है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि ईजिप्ट के अध्यात्मशास्त्री इस विचार को गुप्त-विद्या के तौर पर अपने शिष्यों को देते थे। आम जनता को इस विचार की शिक्षा नहीं दी जाती थी, इसे सर्व-साधारण से प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखा जाता था। ग्रीक दार्शनिक पाइथो-गोरस, जो ईसा से छटी शताब्दी पहले हुआ, उसने ईजिप्ट के अध्यात्मशास्त्रियों से पुनर्जन्म के गुप्त-सिद्धान्त की दीक्षा ली, और अपने देश में आकर इस सिद्धान्त का अपने शिष्यों में प्रचार किया। पाइथोगोरस तथा भारतीय-शास्त्रों की शिक्षा में अभूतपूर्व समानता है। जैसे उपनिषदों तथा वेदान्त में अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश एवं सांख्य में कारण-शरीर, लिंग-शरीर, सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर आदि का वर्णन है, वैसे ही पाइथोगोरस की शिक्षाओं में Sheaths (कोशों) का वर्णन है—ये Sheaths अनेक प्रकार के सूक्ष्म-शरीर हैं। इसी समानता को देख कर अन्य विद्वानों का मत है कि पाइथोगोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भारत में जाकर शिक्षा प्राप्त की थी। जो कुछ हो, पाइथोगोरस के बाद प्लेटो (427-347) ने, जो ग्रीक-विद्वान् था, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'फ़ीडो' (Phaedo) में आत्मा की जीवन-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि मनुष्य का एक पार्थिव-शरीर होता है जो मृत्यु का ग्रास हो जाता है, एक उसमें अजर-अमर सत्ता होती है जो अनिश्वर है, अमर है। प्लेटो का कहना था कि हमारा सम्पूर्ण-ज्ञान स्मरणात्मक है: 'All knowledge is remembrance'—अर्थात्, हमारा 'ज्ञान' केवल 'स्मृति' है। इस जन्म में नवीन-ज्ञान प्राप्त करने का अभिप्राय केवल पूर्वजन्म में अनुभव किये हुए संस्कारों को फिर-से जागृत करना है। प्लॉटिनस तथा प्रोक्लस के न्यू-प्लेटोनिज्म में भी पुनर्जन्म का विचार पाया जाता है। ड्रूइड लोग पुनर्जन्म को मानते थे। यहाँ तक कि वे लोग बच्चे के उत्पन्न होने पर उसके चारों ओर इकट्ठे होकर रोते थे, और मरे बच्चे के चारों ओर खड़े होकर हँसते थे क्योंकि उनका विचार था कि जीवन आत्मा की कैद है, मरना

कैद से छूटना है। यहूदी लोग जॉन दि बैप्टिस्ट को दूसरा इलिजा मानते थे, और ईसा को जॉन दि बैप्टिस्ट का द्विरागमन मानते थे। कई लोग ईसा को किसी अन्य प्राचीन पैग़म्बर का अवतार कहते थे। ईसा से तीसरी शताब्दी बाद तक ईसाई लोग आत्मा को अनादि तथा अनन्त—अजर तथा अमर—मानते रहे। सेण्ट ऑगस्टाइन ने 415 ईस्वी में अपने ग्रन्थ 'Confessions' में लिखा है—'Did I not live in another body before entering my mother's womb'—क्या अपनी माता के गर्भ में आने से पहले मैं किसी अन्य शरीर में नहीं था ? 538 ईस्वी में ईसाइयों के जस्टीनियन-सम्प्रदाय ने 'चर्च-कौन्सिल' करके पुनर्जन्म के विरुद्ध फ़तवा दिया और यह घोषणा की कि जो ईसाई आत्मा के 'प्रागस्तित्व' (Pre-existence) में विश्वास करेगा वह ईसाइत में से बहिष्कृत समझा जायगा। इस फ़तवे के बावजूद अनेक ईसाई पुनर्जन्म में विश्वास करते रहे।*

पाश्चात्य-जगत् के अनेक वैज्ञानिक तथा विचारकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, ब्रूनो (1548-1600)—जिसने कहा था कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द नहीं घूमता, पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है, पुनर्जन्म में विश्वास करता था। उसका कथन था कि जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु नष्ट हो गई, तो वैज्ञानिक-दृष्टि से हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसकी जगह एक नवीन-वस्तु ने जन्म लिया है। ब्रूनो को इसलिए जीते-जी जला दिया गया क्योंकि वह कहता था कि सूर्य नहीं घूमता, पृथ्वी घूमती है। शोपनहार (1788-1860) एक महान्-विचारक था। वह उपनिषदों का इतना भक्त था कि कहा करता था कि इनकी शिक्षा ने मुझे जीवन में शान्ति दी है, इनकी शिक्षा से ही मुझे मृत्यु-समय में शान्ति मिलेगी। वह भी पुनर्जन्म पर आस्था रखता था। टैनीसन (1850-1892), रौबर्ट ब्राउनिंग (1812-1889), वर्ड्सवर्थ (1770-1850) आदि आँग्ल-कवियों ने अपनी कविताओं में पुनर्जन्म के गीत गाये हैं।

(ख) **भारत में पुनर्जन्म का विचार**—जैसा पहले कहा जा चुका है, कई पाश्चात्य-विचारक पुनर्जन्म के विचार का उद्भव-स्थान ईजिप्ट मानते हैं, वहाँ से चल कर यह ग्रीस, रोम तथा युरोप में फैला; कई विचारक इसका उद्भव-स्थान भारत को मानते हैं। जो कहते हैं कि यह विचार ईजिप्ट से फैला, उनका कहना है कि पाइथोगोरस, जिससे यह विचार युरोप में गया, ईजिप्ट से इस विचार की दीक्षा लेकर आया था; जो कहते हैं कि यह विचार भारत से फ़ैला उनका कहना है कि पाइथोगोरस इस विचार को भारत से ले गया था।

---

* देखो—Reincarnation and Law of Karm—**लेखक** William Walker Atkinson (पृ० 61)

अनेक पाश्चात्य-लेखकों का कथन है कि पुनर्जन्म का विचार भारत में बहुत पीछे आया, पहले ईजिप्ट में इस विचार का श्री-गणेश हुआ। ऐसा कहने वाले भूल में हैं क्योंकि भारत के अर्वाचीन-साहित्य में ही नहीं, वेदों में भी पुनर्जन्म का विचार बड़े स्पष्ट रूप में पाया जाता है। वेदों की प्राचीनता में पश्चिमी-विद्वानों को भी सन्देह नहीं। वेदों में पुनर्जन्म के कुछ मन्त्र निम्न हैं :

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणम् इह नो धेहि भोगम्
ज्योक् पश्येम सूर्यम् उच्चरन्तम् अनुमते मृडया नः स्वस्ति।
पुनर्नो असुम् पृथिवी ददातु पुनर्द्यौः देवी पुनरन्तरिक्षम्
पुनर्नः सोमः तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्ति॥

ऋग्वेद (8, 1, 23, 6—7)

असुनीते ! हे परमेश्वर—जो जीव कोएक देह से दूसरे देह में ले जाता है—हमें फिर अगले जन्म में पुनः आँख, पुनः प्राण तथा पुनः अन्य भोग प्राप्त हों। हम पुनः सूर्य की ज्योति को उदय होता हुआ देखें—इत्यादि।

पुनर्मा एतु इन्द्रियम् पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च। अथर्व (7, 6, 67, 1)

वैसे तो भारत का सारा साहित्य पुनर्जन्म के विचार से ओत-प्रोत है, परन्तु हमने ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों का उद्धरण इसलिए दिया है ताकि यह विचार कि भारत-भूमि में इस विचार का बीज ईजिप्ट से उड़ कर यहाँ आ उगा—इस पर प्रकाश पड़े। भारत में इस विचार की जड़ इतनी मजबूत थी कि अलैग्जैंडर (356-323 ई० पू०) ने अपनी आँखों से कई हिन्दुओं को इसी विचार के कारण बड़े शान्त-भाव से आग में अपने शरीर की आहुति देते देखा। सती-प्रथा में भी यही विचार काम कर रहा था। ज़बर्दस्ती किसी को जला डालना तथा अपने-आप आग में कूद पड़ना—इन दोनों में ज़मीन-आसमान का भेद है।

अब हम पुनर्जन्म के सम्बन्ध में पहले इसके पक्ष में, फिर विपक्ष में दी जाने वाली मुख्य-मुख्य युक्तियों पर कुछ लिखेंगे। विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों के साथ उनके उत्तर पर भी विचार करना आवश्यक होगा।

4. पक्ष में पहली युक्ति—अमरता का विचार

'पुनर्जन्म' के विचार का आधारभूत विचार 'अमरता' का विचार है। जब हम 'अमरता' (Immortality)-शब्द का प्रयोग करते हैं तब दो विचार उसमें सन्निविष्ट होते हैं। पहला यह कि मेरी 'सत्ता' है, दूसरा यह कि इस 'देह को छोड़ने के बाद भी मैं रहूँगा'। हम पहले कह आये हैं कि 'मेरी सत्ता है' —इसमें सबसे बड़ा प्रमाण हर प्राणी को अपने होने की अनुभूति है। इस देह में कोई बैठा है जो अपने को 'मैं' कह कर पुकारता है। निर्जीव, जड़ वस्तु

ने कभी अपने को 'मैं' कहकर नहीं पुकारा। 'मैं'—'I-ness'—की अनुभूति ही आत्मा की सत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इतना ही नहीं कि हर प्राणी को आत्मानुभूति होती है, साथ ही यह भी अनुभूति होती है कि मैं नष्ट नहीं होऊँगा। मृत्यु सबको आती है, जबसे सृष्टि का प्रवाह चला, हर-कोई जो जन्मा है मर गया है, परन्तु मरना कोई नहीं चाहता। कितना ही कोई बूढ़ा हो जाय, अंग काम न करें, रोगी हो, अपाहिज हो, कितने ही कष्ट में हो, वह जीना चाहता है, अमर होना चाहता है। शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है—**अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडं वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुंचत्याशा पिंडम्**'। यह ठीक है कि कभी-कभी कोई इतने कष्ट में पड़ जाता है कि मर जाना भी चाहता है, पश्चिम में इस बात के लिए आन्दोलन भी चल रहा है कि जो अत्यन्त असाध्य-रोग से पीड़ित हो, उसे आत्मघात की इजाज़त दी जाय, उसे वैध कर दिया जाय, परन्तु आत्मघात की इच्छा भी सिद्ध करती है कि मनुष्य में अमर होने की इच्छा है। मरने की इच्छा करने वाला व्यक्ति मरना नहीं चाहता, दुःख से छूटना चाहता है। उसका दुःख हटा लिया जाय तो फिर मरने की इच्छा नहीं रहती, जीने की इच्छा वैसी-की-वैसी बनी रहती है। आत्मघात की इच्छा का यह भी अर्थ है कि 'आत्मा' इस देह से स्वतन्त्र है, उसकी देह के अतिरिक्त स्वतन्त्र-सत्ता है, शुद्ध अर्थों में वह कष्ट देने वाले देह को, इस कैद को छोड़ कर स्वतन्त्र होना चाहता है। अमर-जीवन की इस इच्छा को योग-दर्शन में '**आत्माशीः**' कहा है। योग-दर्शन के साधनपाद का नवाँ सूत्र है : '**स्वरसवाही विदुषः अपि तथारूढ़ः अभिनिवेशः**'। इसकी व्याख्या करते हुए व्यास-भाष्य में लिखा है—"**सर्वस्य प्राणिनः इयम् 'आत्माशीः'—आत्मनि प्रार्थना। मा 'न भूवम्'—मा अभावी भूवं, भूयासम्, जीव्यासम् इति।**"—अर्थात्, अविद्वान्-से-विद्वान् तक सब प्राणी अपने लिये यह आशीश् माँगते हैं कि मैं स्व-रस में बहता रहूँ, मुझे 'अभिनिवेश'—अर्थात्, मृत्यु का भय न पकड़े, 'मा'—मत, 'न भूवम्'—मेरा अभाव न हो, 'भूयासम्'—मैं बना रहूँ। योग-दर्शन का कहना है कि हर-कोई जीना चाहता है—यही अनुभूति आत्मा की अमरता में बड़ा पुष्ट प्रमाण है। यही कारण है कि संसार भर के धर्म आत्मा को उत्पन्न हुआ भले ही मानते हों, यह कोई धर्म नहीं मानता कि आत्मा नष्ट हो जाता है, वे आत्मा को 'अनादि' भले ही न मानते हों, 'अमर' अवश्य मानते हैं। तभी उन्होंने मर जाने के बाद स्वर्ग-नरक की कल्पना की है। जड़वादी इस बात का भले ही कोई मनमाना हल निकाल लें, परन्तु स्वतन्त्र विचार करने पर यह समझ नहीं आता कि जब इस जीवन भर हम कर्म करते हैं, उनका फल भोगते हैं, तो अपने सैकड़ों कर्मों का फल भोगे बग़ैर हम कैसे नष्ट हो जाते हैं। जिन लोगों ने कहा—'**नाभुक्तं क्षीयते कर्म**'—बिना फल भोगे

कर्म की हानि नहीं होती—उन्होंने एक ऐसे सत्य की घोषणा की जो सबके अनुभव की बात है। कारण-कार्य का अखण्ड-नियम इस बात की मांग करता है कि कर्मों का फल मिलना चाहिये, अब नहीं मिला तो फिर-कभी मिलना चाहिए। यही कारण है कि मनुष्य में 'अमरता' का विचार—न मरने का विचार—सदा बने रहने का विचार—मृत्यु को धक्का दे देने का विचार—बना हुआ है। परन्तु अगर आत्मा 'अमर' है, तो क्या सम्भव है कि यह कभी पैदा हुई हो ? यह नियम है कि जो मरता है वह पैदा भी होता है, ठीक इसी प्रकार यह मानना पड़ेगा कि जो मरता नहीं वह पैदा भी नहीं होता, जो अमर है वह अनादि भी है। आत्मा के 'अनादि' होने में सबसे प्रबल-युक्ति यही है कि वह 'अमर' है; जो वस्तु समाप्त नहीं हो सकती वह प्रारम्भ कैसे हो सकती है ? आत्मा की 'अमरता' को सिद्ध करने के जितने प्रमाण हैं वे सब आत्मा की 'अनादिता' को सिद्ध करने के लिए दिये जा सकते हैं। दीर्घ-जीवन की आशा, प्रकृति में किसी तत्त्व का अत्यन्ताभाव न हो सकना, जो वस्तु नष्ट होती दीखती है वह नष्ट नहीं होती, सिर्फ़ रूप बदलती है—इन सब प्रमाणों से अगर आत्मा 'अमर' है, तो अमर होने के कारण वह 'अनादि' भी है। अगर आत्मा 'अनादि' है और 'अमर' भी है, तो इस जन्म के देह धारण करने से पहले वह क्या करता था, देह त्यागने के बाद वह क्या करता रहेगा ! इसका उत्तर सिवाय इसके क्या हो सकता है कि हम जड़वादी या चार्वाक हो जायें, और हाथ पटक कर कह दें कि न आत्मा जैसी कोई वस्तु है, न पैदा होती है, न मरती है, यह-सब ढकोसला है, देह ही को मूर्ख लोग आत्मा कह देते हैं। परन्तु इतना-कुछ कह देने से तो बात नहीं निपटती। जैसा हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, आत्मा तो है, जड़वादी को, चार्वाक को भी बरबस मानना पड़ेगा कि अगर आत्मा है, तो इस उलझन में से तभी छुटकारा मिलता है अगर उसे आत्मानुभूति के आधार पर अमर माना जाय, अमर माना जाय तो अनादि भी माना जाय, अनादि-अमर दोनों माना जाय, तो पुनर्जन्म भी माना जाय।

5. पक्ष में दूसरी युक्ति—कारण-कार्य का नियम

हो सकता है कि कई लोग कहें कि हम आत्मानुभूति की युक्ति को नहीं मानते, हमें अपने अमर होने का कोई विचार नहीं आता, हमें तो यही अनुभव होता है कि **'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—मर गए तो हर-गंगा। आत्मा, कर्म, कर्म का फल, अच्छा-बुरा, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म—ये-सब झगड़े तभी उठ खड़े होते हैं अगर आत्मा को माना जाय, हम तो आत्मा को ही नहीं मानते। परन्तु प्रश्न यह है कि वे क्या मानते हैं ? क्या इतना तो मानते हैं कि संसार का नियन्त्रण 'कारण-कार्य के नियम' (Law of Cause and

Effect) से हो रहा है ? कोई कारण ऐसा नहीं जिसका कार्य नहीं, कोई कार्य ऐसा नहीं जिसका कारण नहीं। जीवन का प्रारम्भ करते ही हम में भिन्नता पायी जाती है। किसी का स्वभाव जन्मते ही क्रोधी, किसी का शान्त, किसी की रुचि एक खास ढंग की, किसी की दूसरे ढंग की, किसी की योग्यता बचपन में ही गणित में, किसी की संगीत में, किसी की कला में—यह जन्मजात-भेद क्यों होता है ? इस भेद के तीन ही कारण हो सकते हैं। या तो 'आनुवंशिकता' (Heredity) से यह भेद आ रहा हो, या 'पर्यावरण' (Environment) से यह भेद उत्पन्न हो गया हो, या 'पिछले-जन्म' (Previous life) में इस भेद का कारण छिपा हो। वंश से तो यह भेद आता नहीं दीखता क्योंकि क्रोधी माता-पिता की शान्त, साधारण-बुद्धि के माता-पिता की चमत्कारी बुद्धि वाली सन्तान देखने में आती है; पर्यावरण भी इस भेद का कारण नहीं है क्योंकि अभी तो बच्चों पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ने ही नहीं पाया। फिर जन्म-जात इस भेद का कारण क्या है ? पुनर्जन्म के मानने से यह समस्या अपने-आप हल हो जाती है। इस जन्म से पहले कोई समय था जब इस भेद का, विषमता का, स्वभाव, रुचि तथा योग्यता का सूत्रपात हुआ था। इतना ही नहीं कि एक ही माता-पिता की दो सन्तानें जन्म से ही भिन्न-भिन्न स्वभाव, रुचि तथा योग्यता की पायी जाती हैं, जुड़वाँ बच्चों में भी यह विषमता रहती है। इस विषमता का क्या कारण है ? ऐसी विषमता किसी एक परिवार में ही नहीं, विश्व भर में मौजूद है। संसार में करोड़ों प्राणियों में दो प्राणी भी ऐसे नहीं दीखते जो जन्म से ही एक ही साँचे में ढले प्रतीत होते हों। जब अभी 'वंश' का प्रारम्भ नहीं हुआ था, 'पर्यावरण' के प्रभाव का प्रारम्भ नहीं हुआ था, संसार में पहले-पहल जो बच्चे जन्मे थे, उनमें भिन्नता कहाँ से आई ? जन्म-जात भिन्नता के अलावा, जन्म लेने के बाद हम लगातार कर्म करते हैं, कई कर्मों का फल दीखता है, कई का नहीं दीखता। जिन कर्मों का फल नहीं दीखता, और हम बिना कर्म-फल के भोगे अचानक दुनिया छोड़ कर चल देते हैं, उनका क्या होता है ? अगर कारण-कार्य का नियम ठीक है, तो जड़वादी को, चार्वाक को इन प्रश्नों का उत्तर देना होगा, जो बिना पुनर्जन्म को माने नहीं दिया जा सकता।

हम जीवन में क्या देखते हैं ? व्यापारी व्यापार शुरू करता है, बही-खाता खोलता है, कुछ रकम जमा करता है, दिन भर जमा-खर्च के दोनों खानों में अलग-अलग रकमें भरता जाता है, शाम को उनका जोड़ कर उनका शेष निकाल लेता है। अगले दिन गत-शेष से खाता फिर शुरू हो जाता है। इस प्रकार यह बही चलती चली जाती है। क्या जीवन की बही बिना किसी जमा के शुरू होती है, बिना गत-शेष के बन्द हो जाती है ? हम नदी के तट पर खड़े हैं। नदी का

पानी पीछे से चला आ रहा है, हमारे सामने से होकर आगे चला जा रहा है। पीछे और आगे का कारण-कार्य का सम्बन्ध जो हर-किसी घटना के साथ बँधा हुआ है, क्या संसार की महानतम-घटना—इस जीवन के सम्बन्ध में टूट जाता है ? यह नहीं माना जा सकता।

6. पक्ष में तीसरी युक्ति—अद्भुत-मेधावी बालकों का होना

अभी जिस युक्ति पर हमने विचार किया उसी के साथ बँधी हुई यह तीसरी युक्ति है। सब प्राणियों में तो विषमता है ही, परन्तु कोई-कोई मानव जन्म से ही इतने अद्भुत मेधावी होते हैं कि उस विलक्षणता का पुनर्जन्म के सिवाय कोई हल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में विलियम वाकर एटकिनसन ने अपनी पुस्तक 'री-इनकारनेशन' में पृष्ठ 189 पर कुछ दृष्टान्त दिये हैं। उदाहरणार्थ, पास्कल जब 12 वर्ष का था, तब प्लेन जियोमेट्री तथा कैलक्युलस (Plane Geometry and Calculus) को बिना पढ़े, बिना सीखे, युक्लिड की सब शक्लें रत्तीभर बिना ग़लती के ठीक-ठीक खींच सकता था, एक ग्वाला जिस का नाम मेंगिया मेलो था पाँच वर्ष की आयु में बड़ी-बड़ी राशियों का ऋण-योग, गुणा-भाग परिकलन-मशीन (Calculating machine) की गति के वेग से कर लेता था। मोज़ार्ट चार वर्ष की आयु में सिद्ध-हस्त गायक की तरह पियानो बजा लेता था, आठ वर्ष की आयु में कविता कर लेता था, थेरेसा मिलानौलो चार वर्ष की आयु में वायोलिन को ऐसे बजा लेती थी कि प्रसिद्ध संगीतज्ञ बेलियट का कहना था कि उसने पिछले किसी जन्म में यह सीखा होगा। अपने देश में भी रामानुजम नाम के एक व्यक्ति हुए जो जन्म से ही बड़ी-बड़ी राशियों का बिना कागज़-पत्तर के हल बता देते थे। इन उदाहरणों के अलावा अमरीका के डाक्टर एस० स्क्रिपचर ने कुछ दृष्टान्तों का संग्रह किया है जो बड़े दिलचस्प है। 10 वर्ष का एक बालक था बिडर। वह सात-सात, आठ-आठ राशियों का लघुत्तम पता लगा लेता था। मौखिक ही बड़ी-बड़ी राशियों का 'उत्पादक' (Factor) निकाल लेता था। उसे कहा गया, 17861 के उत्पादक बताओ, तो तत्क्षण उसने उत्तर दिया—337 × 53 ; परन्तु जब उसे पूछा गया कि यह कैसे किया, तो विधि वह नहीं बता सकता था। श्री मेयर '*Human Personality*'-नामक पुस्तक में एक पादरी वाटले का उसके अपने विषय में उद्धरण देते हुए लिखते हैं : "मुझ में गणित की विचित्र शक्ति थी। जब मैं तीन वर्ष का था, तब कागज़-पेंसिल से प्रश्न हल करने वालों की अपेक्षा मस्तिष्क में ही सब प्रश्न हल कर लेता था, कभी अशुद्धि नहीं होती थी। जब मैं पढ़ने की आयु का हुआ, तब यह शक्ति जाती रही।" एक बालक सैफ़्फ़ोर्ड था जो छः वर्ष की आयु में गणित के कठिन-से-कठिन प्रश्न हल कर लेता था। बड़ा होने पर उसे एक कालेज में ज्योतिष-

शास्त्र का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया, परन्तु पीछे जाकर उसमें यह शक्ति न रही। एक छः वर्ष का बालक था वानग्रार। वह बड़े-बड़े प्रश्न हल कर लेता था, परन्तु यह नहीं जानता था कि ये प्रश्न हल कैसे हुए। कुछ वर्षों के बाद उसकी यह प्रतिभा लुप्त हो गई। इन उदाहरणों में हम देखते हैं कि जन्म के समय कुछ वर्षों तक यह प्रतिभा उन में रही, उसके बाद जाती रही। जाती क्यों रही ? यही कहा जा सकता है कि पिछले जन्म से आयी थी, इस जन्म के दूसरे झंझटों के कारण जाती रही। इन घटनाओं का पुनर्जन्म के सिवाय क्या समाधान दिया जा सकता है ? अगर बहुत दिमाग़ लड़ाया जाय और वर्तमान प्रचलित मनोवैज्ञानिक-शब्दावली का प्रयोग किया जाय, तो यही कहा जा सकता है कि इन बालकों के 'अवचेतन' (Sub-conscious) में से इन प्रश्नों का हल निकलता होगा। परन्तु 'अवचेतन' में यह मशीन कहाँ से आ बैठी ? 'अवचेतन'-शब्द का प्रयोग करने मात्र से तो मामला वैज्ञानिक नहीं हो जाता। यही मानना पड़ता है कि 'अवचेतन' में भी पिछले जन्म के संस्कार जमा पड़े थे, वे उद्बुद्ध हो गये। जिस समस्या को मनोवैज्ञानिक 'अवचेतन' से हल करते है, उसे वैदिक-मनोवैज्ञानिक 'सूक्ष्म-शरीर' से हल करते थे ; 'सूक्ष्म-शरीर' के विचार का सम्बन्ध पुनर्जन्म के साथ जुड़ा हुआ है क्योंकि पुनर्जन्म में पिछले जन्म का सूक्ष्म-शरीर ही सब संस्कारों को लेकर अगले जन्म में जाता है।

7. पक्ष में चौथी युक्ति—किसी वस्तु का क्षय न होना

विज्ञान का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि भौतिक-जगत् में शक्ति का क्षय नहीं होता, शक्ति रूपान्तरित होती रहती है, नष्ट नहीं होती। जो नियम भौतिक-जगत् में घटता है, वही नियम आध्यात्मिक-जगत् में क्यों नहीं घटेगा ? भौतिक-जगत् में न तो भौतिक-तत्वों का ही नाश होता है, न भौतिक-शक्ति का ही नाश होता है। प्रत्येक भौतिक-पदार्थ अपने मूल-तत्व के परमाणुओं के संयोग से बनता है, उन परमाणुओं के वियोग से वह रूपान्तरित होता जाता है, नष्ट नहीं होता। चेतना भी शरीर में आकर प्राणी का रूप धारण कर लेती है, इस शरीर को छोड़ कर रूपान्तरित हो जाती है, दूसरा रूप, दूसरा चोला धारण कर लेती है, नष्ट नहीं होती। विज्ञान का कथन है कि उत्पत्ति तथा नाश निरर्थक शब्द हैं। जो वस्तु आज एकदम उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है उसका 'पूर्ण-कारण' मौजूद है, चाहे वह बादलों को बनानेवाले वाष्प की तरह अदृश्य ही क्यों न हो। विज्ञान का यह भी कथन है कि संसार में 'भौतिक-द्रव्य' (Matter) तथा 'ऊर्जा' (Energy) की मात्रा घटती-बढ़ती नहीं, उनकी सिर्फ़ शक्ल बदल जाती है, परिवर्तन हो जाता है, उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं होता। नष्ट होती हुई चीज़ आँखों से ओझल होती है, वास्तव में वह प्रकृति में रूपान्तर में

उपस्थित रहती है। इसे 'ऊर्जा-संरक्षण' (Conservation of Energy) का नियम कहा जाता है। जैसे भौतिक-जगत् का 'कारण-कार्य का नियम' (Law of Causation) आध्यात्मिक-जगत् में 'कर्म का सिद्धान्त' कहा जा सकता है, वैसे ही भौतिक-जगत् का 'ऊर्जा-संरक्षण' का नियम आध्यात्मिक-जगत् में 'पुनर्जन्म' का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

विज्ञान की अनेक खोजों में से यह भी एक बड़ी खोज है कि जो 'अस्ति' है वह 'नास्ति' नहीं हो सकता, जो 'नास्ति' है वह 'अस्ति' नहीं हो सकता, सिर्फ़ रूप बदल सकता है। कोई समय था जब युरोप में ईसाइयत का बोलबाला था, विज्ञान का श्री-गणेश नहीं हुआ था। यह समझा जाता था कि परमात्मा ने कहा—'हो जा'—बस, अभाव से भाव हो गया ; परमात्मा ने कहा—'नष्ट हो जा'—बस, भाव से अभाव हो गया। विज्ञान ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। विज्ञान का कहना है कि 'भौतिक-द्रव्य' (Matter) तथा 'ऊर्जा' (Energy)—इन दोनों में से किसी को न तो अभाव से पैदा किया जा सकता है, न इन में से किसी का नाश हो सकता है, इनका सिर्फ़ रूप बदल सकता है। उदाहरणार्थ, जब दीया जल रहा है, तब उसका तेल समाप्त होता दीखता है, परन्तु वह नष्ट नहीं हो रहा होता, धूएँ तथा कालिस में बदल रहा होता है। जो-जो बदलाहट हो रही होती है उस सब को पकड़ कर तोल लिया जाय, तो तेल-सहित दीये में और धूएँ तथा कालिस सहित दीये में माशा भर का भी फ़र्क नहीं होता। इस सिद्धान्त को सांख्य, वेदान्त तथा उपनिषद् ने 'सत्कार्यवाद' का नाम दिया है, इसी को विज्ञान ने 'ऊर्जा-संरक्षण' (Conservation of Energy) का नाम दिया है। इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर सहस्रों वर्ष पूर्व गीता ने कहा था—

नासतो विद्यते भावः नाभावः विद्यते सतः
उभयोरपि दृष्टोन्त स्त्वनयोः तत्व दर्शिभिः।

गीता, द्वितीय अध्याय, 16

—अर्थात्, असत् का सत् नहीं होता, सत् का असत् नहीं होता। विद्वानों ने सत् तथा असत् के ओर-छोर को देख कर यही निर्णय किया है।

इसी सत्कार्यवाद (Conservation of Energy) के सिद्धान्त को आत्मा पर घटाकर गीता ने पुनर्जन्म के विषय में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। द्वितीय अध्याय, 12

—अर्थात्, ऐसा कभी नहीं था जब मैं नहीं था, ऐसा भी कभी नहीं था जब तू नहीं था, ऐसा भी कभी नहीं था जब युद्ध के लिये सामने खड़े हुए ये राजा-महाराजा नहीं थे, ऐसा कभी नहां होगा जब तू, मैं या ये नहीं रहेंगे।

गीता ने कितने उत्तम शब्दों में आत्मा की जीवन-यात्रा का वर्णन किया है। जीवन तथा मृत्यु एक यात्रा है। इस यात्रा में पड़ाव के बाद पड़ाव, स्टेशन के बाद स्टेशन आते चले जाते हैं, जिसने जिस पड़ाव या स्टेशन तक जाना है, वहाँ पहुँच कर वह उतर जाता है, मर नहीं जाता, अगले पड़ाव के लिये चल देता है; इस यात्रा में जो सह-यात्री होते हैं उनके साथ उतने समय का ही नाता रहता है जबतक यात्रा चलती रहती है, उसके बाद यात्री जिस नई यात्रा के लिये निकल पड़ता है उसमें उसे नये संगी-साथी मिल जाते हैं, पुराने भूल जाते हैं, यही जीवन तथा मृत्यु की कहानी है, अन्त तक जीवन-ही-जीवन है, मृत्यु सिर्फ़ पुनर्जन्म का नाम है।

8. पक्ष में पाँचवीं युक्ति—जीव-विज्ञान की साक्षी

पुनर्जन्म की स्थापना को पुष्ट करने के लिये यह सिद्ध करना आवश्यक है कि आत्मा इस जन्म से पहले विद्यमान रहता है। इस दिशा में 'जीव-विज्ञान' (Biology) का कथन महत्वपूर्ण है। जीव-वैज्ञानिकों का कथन है कि इस आश्चर्यजनक-शरीर की रचना केवल जड़ प्रकृति ने नहीं कर दी। इस अद्भुत-रचना को देखकर मानना पड़ता है कि शरीर के उत्पन्न होने से पूर्व कोई-न-कोई शक्ति शरीर से पृथक् अवश्य होनी चाहिये, जो किसी निश्चित उद्देश्य से प्राकृतिक-पदार्थों को जोड़ लेती है। सांख्य-कारिका में लिखा है—**'संघात परार्थत्वात्'**—जो 'संघात' है, जो वस्तु किन्हीं प्राकृतिक-पदार्थों के जोड़ से बनी है, उसे किसी दूसरे ने बनाया है, स्वयं नहीं बनी, और किसी दूसरे के लिये—उसके उपभोग के लिये बनी है, अपने ही लिये नहीं बनी। बिस्तर को बिस्तर नहीं बनाता, बिस्तर बिस्तर के लिये नहीं बनता, बिस्तर पर बिस्तर नहीं सोता, बिस्तर को बनानेवाला बिस्तर से पहले होता है—यह नहीं होता कि बिस्तर पहले बन गया, बिस्तर बनानेवाला पीछे आया। बिस्तर की तरह ही यह शरीर है। यह भी 'संघात' है, प्राकृतिक-पदार्थों के मेल से बना है। प्राकृतिक-पदार्थों ने ही प्राकृतिक-पदार्थों का संग्रह करके शरीर की रचना कर दी हो—यह नहीं माना जा सकता। इस कार्य के लिये शरीर से भिन्न ही नहीं, अपितु शरीर से पहले किसी शक्ति को मानना पड़ेगा जो किसी निश्चित उद्देश्य से शरीर की रचना करती है। बया घोंसले को बनाता है, उस में रहता है, अपना उद्देश्य पूरा कर लेता है, फिर उसे छोड़ कर उड़ जाता है, इसी तरह कोई चेतन-शक्ति है जो अपने उपभोग के लिये इस शरीर-रूपी घोंसले को बनाती है, काम निकल जाने पर उड़ जाती है। क्योंकि इस जन्म में काम पूरा नहीं होता, इसलिये फिर दूसरे घोंसले बना लेती है, दूसरा शरीर धारण कर लेती है। यह तो वैज्ञानिक मानते हैं कि शरीर में जब चोट लगती है, तब शरीर के भीतर

बैठी कोई अज्ञात-शक्ति स्वयं उसका इलाज करती रहती है। डॉक्टर भी कहते हैं कि शरीर के भीतर की 'जीवनी शक्ति' (Vital force) शारीरिक रोगों को दूर करने का प्रयत्न करती रहती है। औषधि का काम उस शक्ति के प्रयत्न में सहायता पहुँचा देना मात्र है। जड़ वस्तु के टूट-फूट की मरम्मत जड़ वस्तु ही नहीं कर सकती, शरीर के टूट-फूट की मरम्मत शरीर के द्वारा ही नहीं हो सकती, वह भीतर से किसी चेतन-शक्ति के द्वारा होती है—इस चेतन-शक्ति की सत्ता शरीर से पहले माननी पड़ती है, शरीर के नष्ट हो जाने पर यह चेतन-शक्ति बनी रहती है—यह भी मानना पड़ता है, क्योंकि विज्ञान ही कहता है कि शक्ति कभी नष्ट नहीं होती, सिर्फ़ रूपान्तरित होती है। यही तो पुनर्जन्म है। प्लेटो ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए मानो गीता की भाषा में कहा है—आत्मा अपना कपड़ा अपने-आप बुन कर उसकी मरम्मत करता रहता है, उसके फट जाने पर नया कपड़ा बना लेता है। गीता ने भी तो कहा है—'**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि, तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही**' (2-22)। क्योंकि जीव-विज्ञान (Biology) के कथनानुसार शरीर के भीतर, शरीर से भिन्न कोई जीवनी-शक्ति माननी पड़ती है, जो अपने निश्चित उद्देश्य से, शरीर का निर्माण करती रहती है, उसकी टूट-फूट की मरम्मत भी करती रहती है, और क्योंकि उसका उद्देश्य इस एक जन्म में पूरा नहीं हो पाता, वह अपना काम अधूरा छोड़ कर चल पड़ती है, इसलिये इस शरीर से पहले और इस शरीर के बाद उस की सत्ता का मानना युक्ति-संगत है—यही पुनर्जन्म है।

9. पक्ष में छठी युक्ति—विकासवाद की साक्षी

तितली तथा रेशमी कीड़े के दृष्टान्त को देख कर पुनर्जन्म का सिद्धान्त बहुत अच्छी तरह समझ आ जाता है। तितली एक ही जन्म में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है, उसका पहला रूप दूसरे रूप से भिन्न होता है। तितली के विकास को देख कर ऐसा मालूम होता है मानो हमारे सामने उसने एक ही जीवन में कई चोले बदल डाले। उसके दृष्टान्त को देख कर कहा जा सकता है कि मनुष्य का यह जीवन मानो अगले जीवन की पूर्वावस्था है, जो उसे आगे ले जाता है, इसी प्रकार यह जीवन इस जीवन से पूर्व के जीवन की उत्तरावस्था है जिससे यह जीवन बना है। इतनी विशाल रचना का आधार शून्य नहीं हो सकता। चेतना की यह विशाल-शक्ति बिना किसी पूर्व-शक्ति के धक्के से यहाँ तक नहीं आ सकती। इमर्सन (1803-1882) ने ठीक कहा है कि हम जाग कर उठते हैं और अपने-आप को सीढ़ी के एक पाये पर पाते हैं। हमारे नीचे भी सीढ़ियाँ हैं जिन पर से चढ़ कर हम आये हैं, हमारे ऊपर भी सीढ़ियाँ हैं जिनके

ऊपर हमने अभी चढ़ना है। सावधानी न वरतें तो सीढ़ी से फिसल भी सकते हैं।

जो लोग भौतिक-विकास (Physical evolution) को मानते हैं उनका कहना है कि सृष्टि के विकास का नियम नाश का नहीं, 'परिवर्तन' (Variation) का नियम है। हर-एक प्राणी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो रहा है। उनका कहना है कि टैडपोल मछली वन जाता है, मछली मेंढक की शक्ल में आ जाती है, और कई मेंढक पक्षी वन जाते हैं, उड़ने लगते हैं। विकासवाद (Theory of Evolution) का कथन है कि प्राणी—मनुष्य भी—उत्पन्न होने से पूर्व गर्भावस्था में मेंढक, मछली, कुत्ता, वन्दर आदि की शक्लों में से गुज़रते हैं। विकासवादियों का कथन है कि इन भिन्न-भिन्न जीवनों में से गुज़रने के वाद ही मनुष्य का विकास हुआ है। गर्भावस्था में इन-सव शक्लों का दोहराया जाना इसी कारण होता है क्योंकि मनुष्य वर्तमान-अवस्था में इन-सव मंज़िलों को पार करके ही पहुँचा है। उनके कथनानुसार प्रकृति ने मनुष्य की रचना सहस्रों वर्षों के प्रयोगों के वाद की है, और उन्हीं प्रयोगों की एक झाँकी गर्भावस्था में होनेवाले परिवर्तनों में दीख जाती है। हम विकासवाद को मानें या न मानें, परन्तु उन्हीं के सिद्धान्त के आधार पर हम उनसे पूछते हैं कि जिस प्रकार विकासवादियों के कथनानुसार मनुष्य-शरीर की वर्तमान-रचना एकदम उत्पन्न नहीं हुई, प्रकृति के अनेक प्रयासों के वाद वर्तमान-शरीर उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार आत्मा की वर्तमान विकसित अथवा अविकसित अवस्था को पूर्व-प्रयासों का परिणाम क्यों न समझा जाय ? इन्हीं पूर्व-प्रयासों का नाम पुनर्जन्म है और क्योंकि हम इस जन्म का प्रयास भी अधूरा छोड़ कर ही आगे चल देते हैं, इसलिये पूर्व-जन्म, यह-जन्म तथा आगामी-जन्म—इन तीनों को एक सूत्र में पिरोने से ही गुत्थी सुलझती है। विकासवाद का कथन है कि मनुष्य का भौतिक-अंश परिवर्तन की अनेक शृंखलाओं का परिणाम है जिनमें से प्रत्येक शृंखला कार्य होने के वाद अगली शृंखला का कारण वन जाती है। क्या मनुष्य की आध्यात्मिक, चेतन-सत्ता के विषय में भी यही विचारधारा लागू नहीं होगी ? अगर होगी, तो उसी का नाम पुनर्जन्म है। अनुभव की पाठशाला में आत्मा का क्रमिक-विकास हमें यह मानने के लिये वाधित करता है कि आत्मा के विकास के लिये एक शरीर पर्याप्त नहीं है, उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये क्रमशः अनेक शरीरों की आवश्यकता है। जव एक प्रकार के प्राणी-शरीर को दूसरे प्रकार के शरीर में वदलने के लिये, विकासवादियों के सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति को सहस्रों वर्ष लग जाते हैं, तव आत्मा को पूर्ण-विकसित होने के लिये 70-80 वर्ष का एक ही शरीर कैसे वस हो सकता है ? अगर वस नहीं हो सकता, आत्मा को पूर्ण-विकसित होने के लिये अनेक शरीर धारण करने की आवश्यकता है, तो उसी का नाम पुनर्जन्म है।

10. पक्ष में सातवीं युक्ति—पूर्व-जन्म की स्मृति

उक्त युक्तियों के अलावा पुनर्जन्म को सिद्ध करने में एक अकाट्य-युक्ति पिछले जन्म की घटनाओं की स्मृति है। इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण पाये जाते है जिनमें से कुछ का हम यहां उल्लेख करेंगे :

(क) **जेन्नीफ़र तथा गिल्लियन**—*वरजीनिया विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ़* मेडीसिन के साइकिएट्री-विभाग के चेयरमैन डॉ० आएन स्टीवेन्सन (Ian Stevenson) ने 1966 में एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसका नाम है—Twenty Cases Suggestive of Re-incarnation. इस पुस्तक में इन्होंने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में 20 उदाहरण दिये हैं जिनमें से एक उदाहरण इंग्लैण्ड के पोल्लौक-युगल (Pollock Twins) का है। पोल्लौक-परिवार में दो बहनें थीं जिन दोनों की सड़क की दुर्घटना में मृत्यु हो गई थी। उनकी मृत्यु के 17 महीने के बाद पोल्लौक पति-पत्नी के घर में दो और लड़कियाँ पैदा हुईं जिनका नाम जेन्नीफ़र तथा गिल्लियन रखा गया। वे 1966 में 10 वर्ष की थीं। इन दोनों लड़कियों ने अपने पूर्व-जन्म की मृत्यु की घटनाओं का इतनी बारीकी से वर्णन किया है जो वही कर सकता है जो उक्त दुर्घटना का शिकार हुआ हो। इन लड़कियों के पिता का कहना है कि गिल्लियन ने दुर्घटना के सम्बन्ध में ऐसी बातें बतलाई हैं जो उसे इस जन्म में किसी ने नहीं बतलाई। पोल्लौक-परिवार को पूरा विश्वास है कि उनकी ये दोनों पुत्रियाँ उनकी पहली दो पुत्रियों का पुनर्जन्म हैं।

(ख) **एक अमरीकन-युगल को पुनर्जन्म की स्मृति**—डॉ० स्टीवेन्सन ने 'जरनल ऑफ़ दि अमेरिकन सोसाइटी फ़ौर साइकिकल रिसर्च' के अप्रैल 1960 के अंक, पृ० 56 में एक अमरीकन-युगल का वर्णन किया है जिन्हें बम्बई में आने पर पूर्व-जन्म की एकाएक स्मृति हो आई। बच्चों के विषय में तो कहा जा सकता है कि वे काल्पनिक बातें भी बना सकते हैं, परन्तु प्रौढ़-व्यक्ति के विषय में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक अमरीकन-दम्पति दुनिया की सैर को निकले और इस दौरान बम्बई पहुँचे। उनका कहना है कि उन्हें यह शहर इतना परिचित-सा जान पड़ा कि उन्हें किसी मार्ग-दर्शक की ज़रूरत नहीं पड़ी। अपनी जानकारी की परीक्षा करने के लिये वे ऐसी जगह गये जहाँ उनकी पूर्व-स्मृति के अनुसार एक घर होना चाहिये था, और मकान के बग़ीचे में बरगद का एक वृक्ष होना चाहिये था। जब वे वहाँ पहुँचे, तो न वहाँ वह घर था, न बरगद का पेड़ था। उन्होंने वहाँ खड़े एक पुलिसमैन से पूछा कि उस स्थान पर जो मकान बना था, जो बरगद का पेड़ था, उसका क्या हुआ? पुलिसमैन ने उन्हें बतलाया कि उसने अपने पिता से सुना था कि वहाँ पहले कभी एक मकान

था, बरगद का पेड़ भी था, वहाँ एक परिवार रहता था जिसका नाम 'भान' था। अब वह सब-कुछ वहाँ नहीं रहा। यह-सब सुन कर अमरीकन-दम्पति को इस बात का विश्वास हो गया कि वे ही किसी पूर्व-जन्म में इस स्थान पर रहते थे क्योंकि अनजाने उन्होंने अपने पुत्र का नाम 'भान' ही रखा था।

(ग) **गोपाल का उदाहरण**—राजस्थान विश्वविद्यालय के डिपार्टमैण्ट ऑफ़ पैरासाइकौलौजी के डाइरेक्टर एच० एन० बैनर्जी ने भी पुनर्जन्म के उदाहरणों पर विशेष गवेषणा की है। 3 अप्रैल 1965 में श्री बैनर्जी ने गोपाल नाम के बालक से बातचीत की। वह उस समय 9 वर्ष का था। वह श्री सहदेव प्रसाद गुप्त तथा श्रीमती ओमवती गुप्त का पुत्र है। ये लोग दिल्ली में रहने वाले हैं। गोपाल अपने को मथुरा का कहता है। इसका कहना है कि वह कुछ वर्ष पहले किसी दुर्घटना में मथुरा में मरा था। श्री बैनर्जी ने उसके विषय में जितनी पूछ-ताछ की है, उसके आधार पर उनका कहना है कि यह पुनर्जन्म का एक सच्चा उदाहरण है। पुनर्जन्म के दृष्टान्त प्राय: पिछले जन्म की किसी दुर्घटना से जुड़े होते हैं। दुर्घटना की व्यक्ति पर ऐसी चोट पड़ी होती है कि वह भुलाये भी नहीं भूलती, इसीलिये किन्हीं-किन्हीं को वे याद आ जाते हैं।

पुनर्जन्म की स्मृति के दृष्टान्तों में प्राय: देखा गया है कि जिन घटनाओं में मरते समय व्यक्ति को अत्यन्त कष्ट हुआ हो, ऐसे ही व्यक्तियों में पिछले जन्म की स्मृति बनी रहती है। उदाहरणार्थ, किसी का कत्ल किया गया हो, कोई आग से जल मरा हो, पानी में डूब गया हो, मृत्यु के समय अत्यन्त कष्ट में रहा हो—ऐसे दृष्टान्तों में क्योंकि संस्कार अत्यन्त तीव्र होता है इसलिये उसकी स्मृति बनी रह सकती है, और कारणवश उसकी स्मृति उद्‌बुद्ध होने पर उस जीवन से सम्बद्ध अन्य स्मृतियाँ भी जाग जाती हैं। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से इसे 'प्रत्यय-सम्बन्धवाद' (Association of Ideas) के सिद्धान्त से समझा जा सकता है। एक विचार, उससे साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से जुड़े दूसरे संस्कार को उद्‌बुद्ध कर देता है। स्वप्न में भी तो ऐसा ही होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए महाभारत, अनुशासन पर्व, 227—32-33 में लिखा है :

ये मृताः सहसा मर्त्याः जायन्ते सहसा पुनः
तेषां पौराणिको भावः कंचित् कालं हि तिष्ठति।
तस्मात् जातिस्मराः लोके जायन्ते बोधसंयुताः
तेषां विवर्धतां संज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति।

—अर्थात्, जो व्यक्ति सहसा, अचानक किसी दुर्घटनावश मर जाते हैं, और एकदम ही उनका पुनर्जन्म हो जाता है, उनका पुनर्जन्म का पुराना संस्कार कुछ समय तक बना रहता है। यही कारण है कि संसार में जो 'जातिस्मर'—अपने

पिछले जन्म का स्मरण रखने वाले—उत्पन्न होते हैं, वे ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी पिछले जन्म की स्मृति नष्ट होती जाती है।

लगभग इसी प्रकार का विचार गीता (8, 6) में आया है जहाँ लिखा है कि मरते समय मनुष्य में जो भाव प्रबल होता है वही भाव दूसरे जन्म में उभर उठता है। वहां लिखा है :

यं यं वापि स्मरन् भावम् त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।

(घ) **अज्ञात-भाषा का एकदम बोलने लगना** (Xenoglossy)—कई ऐसे दृष्टान्त देखने में आये हैं जिनमें कोई व्यक्ति अचानक ऐसी भाषा बोलने लगता है जिसे उसने इस जन्म में नहीं सीखा, न वह उसकी अपनी भाषा होती है। उदाहरणार्थ, एच० हार्वे-डे अपनी पुस्तक 'Re-incarnation' में लिखते हैं कि रायल आइरिश राइफ़ल्स में एक व्यक्ति था जिसका नाम था ज्यार्ज कारटल। अचानक वह ऐसी भाषा बोलने लगा जिसे कोई समझ नहीं सकता था। सेना के स्थान-से-स्थान की अदला-बदली में उसकी सेना की टुकड़ी को बर्मा भेजा गया। वहाँ जाकर पता चला कि जिस भाषा को वह अचानक बोलने लगा था वह बर्मी भाषा थी। इस दृष्टान्त का उल्लेख हार्वे-डे ने 1944 में किया था, परन्तु स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'Evidence for Survival from Claimed Memories' (पृ० 117) में जो हाल में ही प्रकाशित हुई है एक आंग्ल-महिला का दृष्टान्त दिया है जो अचानक प्राचीन-काल की नौरविजियन-भाषा बोलने लगी। जब वह मूर्छा में आ जाती थी तब नार्वे के मध्य-युग के किसी व्यक्ति के रूप में उस काल की भाषा में बात करने लगती थी। स्टीवेन्सन का कहना है कि इन दृष्टान्तों से दो ही परिणाम निकल सकते हैं—या तो इन व्यक्तियों में कोई दूसरी आत्मा प्रवेश कर जाती थी, या ये पुनर्जन्म के उदाहरण हैं।

(ङ) **पाइथोगोरस को पूर्व-जन्म की स्मृति**—कहा जाता है कि पाइथोगोरस को जो एक ग्रीक-विद्वान् था, अपने समय का महान् गणितज्ञ था, पूर्व-जन्म की स्मृति थी; उसे अपने एक ही जन्म की नहीं अनेक पूर्व-जन्मों की स्मृति थी। एक बार जब उसने एक ग्रीक मन्दिर में ढाल टंगी हुई देखी तो उसने कहा कि ट्राय की लड़ाई में पिछले जन्म में उसने इसी ढाल का उपयोग किया था।

(च) **सर वालटर स्कौट को पूर्व-जन्म की स्मृति**—सर वालटर स्कौट (1771-1832) अपनी डायरी में 1828 में लिखते हैं : "मुझ पर अपने पूर्व-जन्म का एक अद्भुत अनुभव छा गया। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरे सामने जो-कुछ हो रहा था वह इसी जन्म में पहली बार नहीं हुआ था, मैं जो-कुछ सुन रहा था वह इसी जन्म में पहली बार ही नहीं सुन रहा था, मैंने इन्हीं विषयों

पर और इन्हीं लोगों के साथ न-जाने कब, किसी पिछले जन्म में भी इसी प्रकार की चर्चा की थी।"

(छ) **विलियम होम को पूर्व-जन्म की स्मृति**—विलियम होम अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध लेखक हुए हैं। वे लिखते हैं कि वे लंदन के एक प्रतीक्षालय में प्रविष्ट हुए। वे वहाँ पहले कभी नहीं आये थे, परन्तु उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वे इस स्थान की हर बात से परिचित हैं। वे सोचने लगे कि मैं यहाँ पहले तो कभी आया नहीं, फिर यहाँ की प्रत्येक वस्तु इतनी जानी-पहचानी क्यों प्रतीत होती है? इस बात को परखने के लिये कि यह जानकारी भ्रम ही तो नहीं है उन्होंने अपने से कहा कि अगर मेरी प्रतीति ठीक है तो सामने के ढक्कन में एक गाँठ होनी चाहिये। ढक्कन को खोला तो सचमुच उसमें गाँठ थी।

(ज) **श्री राजेन्द्र की पुस्तक के दृष्टान्त**—दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र के पिता श्री राजेन्द्र ने आज से 21 वर्ष पहले विक्रमी 2012 में 'पूर्व-जन्म-स्मृति' नाम से एक पुस्तिका लिखी थी जिसमें भारत में पायी जाने वाली आप-देखी तथा समाचार-पत्रों में प्रकाशित बीसियों घटनाओं का उल्लेख है। एक घटना इन्होंने श्री सूरजस्वरूप के विषय में लिखी है। ये जल-विद्युत्-विभाग, अतरौली (अलीगढ़) में स्टोर-कीपर थे। इनका जन्म 1929 ईस्वी में हुआ था। इनका कहना था कि जब वे 2-3 वर्ष के थे, तब इन्हें पूर्व-जन्म की स्मृति हो आयी। उन दिनों इनके पिता श्री गिरिराज किशोर लक्सर स्टेशन पर गुड्स क्लर्क थे। ये गत-जन्म में दिल्ली के मोहल्ला दरीबा कलां के सेठ हरिशंकर के पुत्र थे। इनका एक और भाई था। ये तो सराफ़े की की दुकान पर बैठते थे, और इनका भाई हलवाई की दुकान पर। दोनों दुकानें दरीबा कलां में ही थीं। इनका भाई सराफ़े की दुकान पर बैठना चाहता था जिसके लिये ये रज़ामन्द नहीं थे। इस विवाद में इनके भाई ने एक दिन इनके फरसा मारा जिससे इनकी अस्पताल में मृत्यु हो गई। इस घटना की जाँच इनके वर्तमान पिता ने की थी, और उसे सत्य पाया। सेठ हरिशंकर भी इन्हें देखने लक्सर आये किन्तु उन्हें इनसे मिलने नहीं दिया गया। सन् 1948 में ये स्वयं अपने एक सहपाठी के साथ दिल्ली गये और सीधे बिना पूर्व-परिचय के अपने मकान पर पहुँच गये, दुकानें भी देखीं जो अब किन्हीं पंजाबी शरणार्थियों के पास हैं। एक वृद्ध ने बताया कि उनका भाई मकान बेच कर बम्बई चला गया और उसका अब कोई पता नहीं है। मृत्यु के समय इनकी अवस्था 23-24 वर्ष की थी। इनका कहना है कि कदाचित् इनको गत तीसरे जन्म का भी कुछ आभास था जिसमें यह एक साधु थे।

11. लेखक के परिचित मित्रों द्वारा एकत्रित पुनर्जन्म के कुछ दृष्टान्त—पूर्व-जन्म की स्मृति

इस ग्रन्थ के लेखक के कुछ ऐसे परिचित मित्र हैं जिन्होंने पुनर्जन्म के प्रामाणिक दृष्टान्त एकत्रित किये है। उन पर लेखक को सन्देह नहीं है। ऐसे तीन मित्रों के एकत्रित तीन दृष्टान्त हम यहाँ दे रहे हैं :

(क) **पं० सन्तराम जी बी० ए० द्वारा जाँच किया गया दृष्टांत**—पंडित सन्तराम जी बी० ए० हिन्दी-साहित्य के एक प्रसिद्ध लेखक हैं। वे विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्व-ज्योति'-पत्र के सम्पादक हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'जन्म-मरण की पहेली' में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अपनी जानकारी की एक घटना दी है। वे लिखते हैं :

लाहौर से आकर मैं आजकल पुरानी बसी नामक एक छोटे-से गांव में रहता हूँ। यह गाँव होशियारपुर नगर से अढ़ाई मील ऊना जाने वाली सड़क पर स्थित है। पुरानी बसी से कोई डेढ़ मील परे 'नारा' नाम का एक छोटा-सा पहाड़ी गाँव है। गत 13 जुलाई 1970 को जालन्धर से 'नारा' ग्राम में एक सज्जन अपनी चार वर्षीय कन्या लेकर आये। आने का कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया—मेरी लड़की बहुत दिन से कह रही थी, मुझे अपने घर जाना है। पहले तो इसकी बात हमारी समझ में नहीं आती थी। अब जब यह कुछ बड़ी हुई और हम इसकी बात समझने लगे, तो हमने पूछा—तेरा घर तो यही है, तू कहाँ जाना चाहती है? इस पर यह बोली कि मेरा घर 'नारा' में है। इसलिए हम इधर आये हैं।

हमने 'नारा' गाँव का नाम नहीं सुना था। हमने पूछा कि 'नारा' कहाँ है, तो उस लड़की ने बतलाया कि होशियारपुर से सीधी सड़क ऊना को जाती है। उस सड़क पर ईंटों का एक भट्टा है। उस भट्टे से पुरानी बसी को रास्ता मुड़ता है। पुरानी बसी के आगे 'नारा' है।

हम उसे लेकर जब भट्टे पर पहुँचे तो उसने झट कहा, आगे न जाकर बाएँ हाथ को मुड़िए। आगे दो रास्ते थे। वहाँ लड़की ने झट बता दिया कि 'नारा' को जाने वाला रास्ता यह है। हम उस रास्ते से चल कर जब गाँव के निकट पहुँचे तो गरमी के कारण एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठने लगे। इस पर लड़की ने कहा, यहाँ गन्दगी में क्यों बैठते हो? तनिक आगे चलो। मेरे गाँव के निकट बड़ का एक पेड़ है, उसके नीचे विश्राम करो।

जब हम बड़ के नीचे पहुँचे तो कुछ दूरी पर एक स्त्री खाट पर लेटी दीख पड़ी। उसे देख कर लड़की झट बोली—वह देखो, वह माँ 'अक्की' बैठी है। लड़की दौड़ कर माँ से लिपट गई। इतने में किशनचन्द तालिब नाम का एक

युवक वहाँ आया। लड़की झट बोल उठी—यह मेरा भाई किशन है। तालिब और गांव के दूसरे लोगों ने बतलाया कि लड़की जो-कुछ कह रही है, बिल्कुल ठीक है। आज से कोई 28 वर्ष पहले तालिब का 8-10 वर्षीय भाई रामचन्द कपड़ों में आग लगने से जल कर मर गया था। लड़की ने भी अपना नाम यही बतलाया था।

तालिब और उसका पिता लड़की को अपने घर चलने को कहने लगे। जब लड़की घर जाने लगी तो उसे जान-बूझ कर अपने घर न ले जाकर किसी दूसरे के घर ले-जाने लगे। वह झट बोल उठी—यह मेरा घर नहीं, मेरा घर तो वह है; उस ओर उसने अपने पिता मंगतराम और ताऊ लक्खूराम को भी पहचान लिया और बोली कि आपने ही मेरा जलता कुर्ता फाड़ कर मुझे आग की लपटों में से निकाला था।

तालिब ने भी बतलाया कि मेरा भाई जल कर मरा था और लड़की के पेट पर अब भी जलने का दाग़ है।

लड़की के भाइयों ने कहा कि अब तुम यहाँ ही रहो। हम चार भाई हैं, पाँचवीं तुम हो जाओगी। हम तुम्हें अपनी सम्पत्ति का भाग दे देंगे और तुम्हारा विवाह भी कर देंगे। इस पर वह बोली—नहीं, मैं तुम्हारे पास नहीं रहूँगी।

(ख) **पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर, काव्य-वेदतीर्थ द्वारा जांच किया गया दृष्टान्त**—पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर आर्यसमाज के एक प्रतिष्ठित विद्वान हैं। इस समय उनकी अवस्था 90 से अधिक है, शहादरा में रहते हैं। कुछ वर्ष गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में भी रह चुके हैं। उन्होंने 28 नवम्बर 1935 में लखनऊ के 'आर्यमित्र' समाचार-पत्र में शान्तिदेवी के सम्बन्ध में पुनर्जन्म की घटना प्रकाशित की थी। शान्तिदेवी की चर्चा सारे भारतवर्ष तथा विदेशों में भी हुई थी। स्वर्गीय देशबन्धु गुप्त उस बालिका को लेकर भारी जन-समूह के साथ रेलगाड़ी में मथुरा ले गये थे। शान्तिदेवी का विवरण श्री सुरेन्द्र शर्मा ने इस प्रकार दिया है—

श्री बाबू शिवसहाय जी माथुर कायस्थ के पुत्र श्री बाबू रंगबहादुर जी की पत्नी श्रीमती रामप्यारी जी (मकान नं० 565 चीराखाना, देहली) के तीन कन्याएँ और एक पुत्र है। पुत्र से बड़ी और दो से छोटी तीसरी कन्या शान्तिदेवी ने, जब से वह बोलने लगी है तब ही से, थोड़ा-थोड़ा अव्यक्त-सा अपना पूर्वजन्म का हाल बतलाना आरम्भ कर रखा था, किन्तु माता-पिता और विशेष करके उसके चाचा श्री बा० ईश्वरदयाल जी उसे 'तू क्या अण्ड-बण्ड बकती रहती है' आदि कह कर धमका दिया करते थे। किन्तु फिर भी इस कन्या की स्मरण-शक्ति दिनोंदिन बढ़ती ही गई और श्रावण 1992 वि० में श्री मदनगोपाल के

छत्ते में यह गई और वहाँ पर कथा बाँचने वाले पंडित जी को देख कर सहसा यह कहने लगी कि---

'ये पंडित जी तो हमारे यहाँ भी आया-जाया करते थे और मैं इन्हें सीदा (आटा, दाल आदि खाद्य-पदार्थ) दिया करती थी, ये मथुरा के रहने वाले हैं।'

इस पर उन पंडित जी से जब पूछा गया तो उन्होंने कन्या के कहने की पुष्टि की। कन्या ने अपने पूर्व-पति के घर का सारा हाल बतलाया। उसके बतलाये हुए पते पर ही दिल्ली से पत्र डाला गया और उसे पाकर उसके पूर्व-पति देहली आये तथा सब बातों की जाँच करके कन्या की बतलाई हुई बातों को सर्वथा सत्य बतलाया। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

कन्या के पिता के रिश्तेदार श्री प्रो० किशनचन्द जी ने इस हाल को सुन कर कन्या से कई प्रश्न किये और उसके बतलाये पते पर ही उन्होंने मथुरा में पत्र भी डाला।

शान्तिदेवी पूर्व-जन्म में मथुरा-निवासी श्री पं० चतुर्भुज जी की पुत्री थी जो मथुरा के श्री पं० केदारनाथ जी चौबे को ब्याही गई थी। इसके दो कन्याएँ और एक पुत्र था। अन्तिम पुत्र की उत्पत्ति के समय यह रोग-ग्रस्त हो गई और इस प्रकार रोग-ग्रस्त होने का परिणाम यह हुआ कि पुत्रोत्पत्ति के 10 दिन बाद कार्तिक कृ० 2, सम्वत् 1981 वि० को यह मृत्यु को प्राप्त हो गई। मृत्यु समय के रोग, आभूषण और उस समय में की हुई पति द्वारा विशेष-सेवा का भी हाल कहती है और वह सब ठीक-ठीक मिल गया है।

चौबों की गली में मकान और द्वारकाधीश के मन्दिर के सामने अपने पति की कपड़े की दुकान, बन्दर, कछुए, मन्दिर की ऊँचाई और चमेली (कमेली), चम्पा तथा फूल (फूलवती) उसकी सहेलियों के नाम भी ठीक-ठीक मिल गये हैं।

मैंने भी इस कन्या को गोद में लेकर कई प्रश्न किये, जिनको आज 20-11-35 के प्रातः लगभग 9 बजे उसके पूर्व-पति श्री पं० केदारनाथ चौबे से (जो आज उसी समय मथुरा से फिर दुबारा आये हैं) पूछ कर सत्य पाया। आज उन्होंने अपने उसी पुत्र के चित्र को भी दिया है जिसे शान्ति ने बड़े ही प्यार से लेकर हृदय से लगा लिया।

गत 13 नवम्बर को पं० केदारनाथ जी मथुरा से देहली आये। साथ में उनका भाई भी था और वह पुत्र भी संग ही था।

भीड़ बहुत थी, किन्तु भीड़ में भी शान्ति ने अपने पति और देवर दोनों को देख कर तत्क्षण पहचान लिया और देवर का नाम तो प्रकट, किन्तु पति का नाम लज्जा से न लेकर चुपके से कान में—'केदारनाथ' कह दिया।

पुत्र को देख कर तो उसके साथ लिपट गई और बहुत देर तक फूट-फूट कर रोने लगी। इस रोने के दृश्य को देख कर उपस्थित जनता एवं माता-पिता

आदि की भी आँखें डबडबा आईं। इसके बाद घर में से खिलौने लाकर अपने पुत्र को देकर बड़ी प्रसन्न हुई। चौबेजी ने उससे एकान्त में कुछ निजी प्रश्न भी किये जिन को वे सर्वथा स्वीकार करते हैं। चौबेजी 15 नवम्बर को मथुरा चले गये और आज प्रातः फिर आए हैं। 16 नवम्बर को चौबेजी की बहिन भी मेरठ से आई और वह कई प्रश्नों का उत्तर पाकर कह गई कि जो-कुछ भी यह कहती है सब ठीक है। जो जेवर वह पहिने हुए थी और जेवरों को जिस भिन्न-भिन्न सन्दूक में रखती थी, सब ठीक-ठीक बतलाया है। आज 20 नवम्बर को मैंने उससे पूछा—

प्रश्न—तुम्हारे पति के कितने भाई थे ?

उत्तर—2 या 3 थे।

प्रश्न—क्या तुम्हारे घर में कोई बुड्ढा भी था ?

उत्तर—हाँ था।

प्रश्न—वह कौन था ?

उत्तर—मेरा ससुर था।

प्रश्न—तुम्हारे घर में रोटी कौन बनाता था ?

उत्तर—मैं बनाती थी।

प्रश्न—क्या कोई नौकर था ?

उत्तर—हाँ था, और वह दुकान पर भोजन ले जाया करता था।

प्रश्न—रुपये कितने और कहाँ रखे हैं ?

उत्तर—यह नहीं बताती।

प्रश्न—रुपये थोड़े हैं, या बहुत ?

उत्तर—बहुत-से हैं।

प्रश्न—क्या हाँडी में रक्खे हैं ?

उत्तर—हाँ, पर नहीं बताऊँगी।

कई प्रश्नों के उत्तर में कहती है कि 'यह मैं मथुरा चल कर बताऊँगी'। धन भी जहाँ रखा है उसे भी वह मथुरा जाकर ही बताना चाहती है। इस कन्या के दर्शनों के लिए उसके घर पर देहली नगर 13 नवम्बर से उमड़ पड़ा है। हजारों नर-नारियों का सूर्योदय से लेकर रात्रि के 10-11 बजे तक जमघटा लगा रहता है, और मथुरा तो उसके दर्शनों के लिए तड़प ही रही है। मथुरा के पं० केदारनाथ जी के घर पर भी प्रजा का ठठ लगा हुआ है। आज चौबे केदारनाथ जी इसीलिए देहली आये हैं कि इसे एक बार मथुरा ले जाया जावे। उन्हें उस धन की भी आशा बेचैन किये हुए होगी ही।

जब इस कन्या से प्रश्न किए जाते हैं तब यह बहुत ही गम्भीर भाव से कुछ सोच कर उत्तर देती है। अपने पूर्व-पति और पुत्र के साथ अत्यन्त स्नेह करती

है। उनकी पृथकता में बड़ी दुःखी होती है और रोती है। चौबे जी का भी उससे स्नेह है।

जो भाई इस विषय में कोई भी जांच करना चाहें, वे किसी मान्य प्रतिष्ठित सज्जन की अध्यक्षता में मथुरा में—

(1) श्री पं० बाबूराम केदारनाथ जी चौबे, असकुण्डा बाजार, मथुरा के पते पर, तथा देहली में—

(2) श्री बाबू रंगबहादुर ईश्वरदयाल जी माथुर, मकान नं० 562 चीराखाना, देहली के पते पर भली-भाँति पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

केदारनाथ जी चौबे के पिता का नाम श्री पं० महादेव जी चौबे है।

कन्या के कहने के अनुसार ही चौबे केदारनाथ जी के बायें कान के नीचे एक बड़ा-सा मस्सा भी है, जिसे मैंने ठीक देखा है।

केदारनाथ जी का जन्म श्रावण शु० 6 सं० 1952 में हुआ था। श्री केदारनाथ जी के कथनानुसार उनकी इसी पूर्व-पत्नी का नाम लुगदी देवी था।

यह देवी कार्तिक कृ० 2, सं० 1981 वि० में मरने के बाद कहीं अन्यत्र जन्म भी ले चुकी है किन्तु कहती है कि मैं धुएँ के रास्ते से जाकर एक अँधेरे-से कमरे में बन्द कर दी गई थी। उसके बाद क्या हुआ, सो मुझे कुछ याद नहीं है।

कन्या का वर्तमान जन्म मार्गशीर्ष, शुक्ला सप्तमी, शनिवार, तदनुसार 11 दिसम्बर, सन् 1923 को दोपहर के 1 बज कर 40 मिनट पर देहली में हुआ था।

(ग) श्री पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार द्वारा जांच किया गया दृष्टान्त— श्री पं० चन्द्रमणि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक तथा प्रोफ़ेसर थे। उनका लिखा 'निरुक्त-भाष्य' अद्वितीय ग्रन्थ है। वे देहरादून में जा बसे थे। लेखक भी देहरादून का ही समझिये यद्यपि अब वह दिल्ली में रहने लगा है। देहरादून में एक प्रसिद्ध सेठ रामकिशोर थे, जिनका लेखक के साथ भी घनिष्ठ परिचय था। उन्हीं के सम्बन्ध में श्री पं० चन्द्रमणि जी ने अपने साप्ताहिक-पत्र 'दून समाचार' में 26 जुलाई 1952 को निम्न-घटना का उल्लेख किया जिसकी चर्चा देहरादून भर में देर तक चलती रही। वे लिखते हैं—

हमें 21 तारीख की शाम को खबर मिली कि सेठ रामकिशोर के यहाँ एक पौने तीन साल की कन्या पूर्व-जन्म की बातें बतलाती है। हम अगले ही दिन प्रातःकाल उनके घर पहुँचे और सेठ तथा सेठानी जी से तरह-तरह की पूछ-ताछ की, और कन्या की गति-विधि को भी लगभग आधे घण्टे तक ध्यान-पूर्वक देखा। उससे हम जिस परिणाम पर पहुँचे उसे पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ उल्लिखित किया जाता है। कहानी सचमुच बड़ी मनोरंजक तो है ही, परन्तु साथ ही पूर्व-जन्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी विशद रूप से परिपुष्ट करने वाली है।

इस कन्या का जन्म सन् 1942 की अनन्तचौदस को हुआ। अर्थात्, अब इसकी उम्र लगभग 2 वर्ष 10 मास की है। इसकी माता 'महिला-आश्रम' की एक देवी शान्ता है, जो कि पहले कन्या-गुरुकुल में भी अध्यापिका रह चुकी है। गत नवम्बर-दिसम्बर की बात है कि कन्या ने माता से कोई चीज मांगी। माता ने उत्तर दिया, बेटी यह चीज़ मेरे पास नहीं। कन्या ने तुरन्त कहा, मेरी कोठी में है। यह पूर्व-जन्म की बातों की शुरूआत थी। माता हँस दी और कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब लीची के दिनों में जब माता ने इसे लीची लाकर दीं, तो बोली—'ये लीची खराब हैं। मेरी कोठी की लीची बहुत अच्छी हैं, और बहुत सारी हैं। वहाँ लीची तो बहुत हैं पर आम थोड़े हैं।' इस पर माता की समझ में नहीं आया, यह क्या कह रही है, कौन-सी इसकी कोठी है और हँसी में ही बात टाल दी।

सेठानी सत्यवती जी महिला-आश्रम की प्रबन्धकारिणी-सभा की प्रधाना हैं। एक दिन वे आश्रम पहुँची, तो लड़की ने कहा—'यह मेरी माँ है'। सेठानी ने कोई ध्यान नहीं दिया। आश्रमवासियों ने चर्चा की कि कहीं मेधा ने ही तो जन्म नहीं लिया।

मेधा सेठानी की बड़ी लड़की थी। धार्मिक-वृत्ति की थी। सामाजिक सेवा-कार्यों में विशेष लगन थी और महादेवी-कन्या-पाठशाला में अध्यापिका थी। वह अत्यन्त रुग्ण हो गयी थी। रोग असाध्य-सा बन गया था। चोला ही छोड़ने की इच्छा जाग उठी। आत्मिक शान्ति के लिए विशेष यज्ञ कराया। पूर्णाहुति अपने सामने कराई। प्रभु से प्रार्थना कराई गई और तीसरे या चौथे दिन वह नश्वर देह को त्याग कर स्वर्ग सिधार गई। वह दिन 31 मार्च सन् 1945 का था।

कहानी मेधा की छोटी बहिन तक पहुँची जो कि सम्प्रति कई बच्चों की माता है। उसने ऐसे संस्कारी आत्मा को लाकर घर दिखाने की इच्छा प्रकट की और महिला-आश्रम पहुँची। वहाँ पहुँचने पर नन्ही कन्या ने कहा—'यह मेरी बहिन है'।

मेधा की बहिन उसे मोटर में बैठा कर घर ला रही थी कि मार्ग में सेठ रामकिशोर जी मिल गए। कन्या ने कहा—'ये मेरे पिता हैं'।

घर पहुँची तो मेधा वाले कमरे में जाकर कहा—'यह मेरा कमरा है'। इसी प्रकार कई दूसरी चीजों के बारे में भी कहा—'ये मेरी हैं'। नाम पूछने पर कहा—'मैं मन्नू हूँ'। 'मन्नू' मेधा का नाम माता-पिता आदि ने रख छोड़ा था, और अन्त समय तक इसी नाम से उसे पुकारा जाता रहा था।

आँखों और मुखाकृति को देखने से ऐसी जान पड़ती है जैसे कि कोई समझदार सयानी हो। उसने हमारे सामने ठीक ढंग से पद्मासन लगाया और

देर तक लगाए रखा। आंखें मूंद कर ध्यान-मग्न हुई, गुनगुनाते हुए मन्त्रपाठ किया और अन्त में सही तौर पर हाथ जोड़े, शीश झुका परमात्मा को नमस्कार किया। फिर कुछ उच्च-स्वर से 'वाक्-वाक्', 'हिरण्यगर्भः', 'य आत्मदा बलदा' आदि कुछ मन्त्र बोले। कहीं-कहीं स्खलन जरूर था परन्तु फिर भी मन्त्रपाठ सयानों जैसा और शुद्ध था। फिर उसने 'झंडा ऊँचा रहे हमारा'—यह भी बोला। ये सब कर्म मेधा किया करती थी।

घर में विद्यमान उन पुराने चित्रों को भी पहचाना और बतलाया कौन किसका है, जोकि मेधा के समय में थे।

जब उससे पूछा, तू कहाँ गई थी—तो उत्तर दिया—'भगवान् के पास'। क्यों गई थी पूछने पर हाथ लगाकर कहा—'यहाँ से यहाँ तक (यानि गले से लेकर छाती तक) दर्द बहुत रहती थी।' वस्तुतः मेधा इसी बीमारी से मरी थी।

यह पुस्तक पुनर्जन्म पर नहीं लिखी जा रही, इसलिये इतने दृष्टान्त ही बहुत है। अगर कोई संग्रह करने लगे, तो अनेक दृष्टान्त संग्रह किये जा सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब सत्य ही हैं, परन्तु अनेक दृष्टान्त ऐसे अवश्य हैं जिनका पुनर्जन्म के बिना कोई समाधान नहीं दिया जा सकता।

पुनर्जन्म के पक्ष में युक्तियों के बाद अब हम पुनर्जन्म के विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

12. विपक्ष में पहली युक्ति—पूर्व-जन्म की स्मृति का न होना

पुनर्जन्म के पक्ष में जहाँ पूर्व-जन्म की स्मृति के दृष्टान्त दिये जाते हैं वहाँ यह भी कहा जाता है कि ये दृष्टान्त सब भ्रम-मूलक हैं। श्रीमती रूथ रैना, पी० एच० डी० ने 1973 में एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसका नाम है : 'Re-incarnation and Science'. डॉ० रैना ने डॉ० स्टीवेन्सन तथा श्री एच० एन० बैनर्जी के पुनर्जन्म के दृष्टान्तों को भ्रममूलक कहा है। डॉ० स्टीवेन्सन ने पुनर्जन्म की 100 घटनाएँ एकत्रित की हैं। श्री बैनर्जी ने 1964 में जयपुर की राजस्थान युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'Bulletin of the Department of Parapsychology' में पुनर्जन्म की 200 घटनाएँ एकत्रित की हैं। डॉ० रैना का कथन है कि पूर्व-जन्म की स्मृति के ये सब उदाहरण बिना पूर्व-जन्म को माने भी हल किये जा सकते हैं। इन उदाहरणों में कहीं-न-कहीं कुछ कचाई रहती है। ठीक है, होगी, परन्तु अगर मान लिया जाय कि ये सब उदाहरण पूर्वजन्म की स्मृति को सिद्ध नहीं करते, अन्य प्रकार से इनका हल दिया जा सकता है, तो भी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिये पूर्व-जन्म की स्मृति को उदाहरणों से सिद्ध करना आवश्यक भी है या नहीं ?

हमारा कहना है कि स्मृति तो इस जन्म की घटनाओं की भी नहीं रहती, फिर पूर्व-जन्म की न रहती हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? दो-तीन वर्ष की आयु में हम कहां थे, हमारे कौन साथी थे, हमने क्या किया था—इस की स्मृति किसे रहती है ? मनुष्य को बचपन के शुरू के दिनों की याद नहीं रहती, वृद्धावस्था में कभी-कभी स्मृति का इतना लोप हो जाता है कि व्यक्ति को अपना नाम भी याद नहीं रहता। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन कितने विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता के कारण उन्हें महापण्डित कहा जाता था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे अक्षर लिखना तक भूल गये थे। 1962 में जब वे कलकत्ता के अस्पताल में बीमार पड़े हुए थे, तब हमें उनका साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारा उनका 1920 से परिचय था। हमने उनसे कहा—'मैं सत्यव्रत हूँ'। वे कुछ समझ नहीं पाये। बोले—'सन्', कौन-सा सन्। क्योंकि इतिहास में उनकी विशेष रुचि थी इसलिये 'सत्यव्रत' का 'स' सुन कर उनकी अन्तश्चेतना में पड़ा हुआ इतिहास 'स' को 'सन्' से जोड़ सका, 'सत्यव्रत'—इस नाम से न जोड़ सका। इतना बड़ा पण्डित और जीवन के अन्तिम दिनों में सब-कुछ भूल गया। जब हम इस जीवन में ही पिछली बातों को भूल जाते हैं, तब आगामी-जीवन में भूल जायें, तो आश्चर्य ही क्या है ? वृद्धावस्था में भूल जाना अपवाद नहीं नियम है, बहुत-कुछ भूल जाता है। एक वृद्ध सज्जन थे, जो भर पेट खाना खाकर भूल जाते थे कि उन्होंने खाना खाया भी है या नहीं। हिन्दुस्तान टाइम्स (बुधवार, 13 अगस्त, 1975) में महात्मा गांधी के विषय में एक रोचक घटना का उल्लेख है। महात्मा गांधी को 6 मई, 1944 में पूना के आगा खान पैलेस से ब्रिटिश सरकार ने इसलिये छोड़ दिया था क्योंकि उन्हें 'स्मृति-लोप' (Amnesia) की शिकायत होने लगी थी। आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी की जीवनी में लिखा है कि महात्मा जी को मलेरिया के आक्रमण के कारण रक्तहीनता, निम्न-रक्तचाप तथा स्मृति-लोप की शिकायत हो गई थी। श्री एच० बी० आर० आयंगार का जो उस समय बम्बई-प्रान्त की सरकार के गृह-सचिव थे कथन है कि उन्हें तत्कालीन इन्स्पेक्टर-जनरल-प्रिजन्स मेजर-जनरल भण्डारी ने इस बात की सूचना दी थी कि जब श्री महादेव देसाई को मरे दो साल हो चुके थे तब एक दिन महात्मा जी ने उनसे पूछा कि महादेव देसाई कहाँ हैं ? आजकल दिखलाई नहीं देते ? महात्मा जी का यह स्मृति-लोप कुछ देर तक बना रहा। जब वे छूट कर बाहर आये तब पहली बार तो उन्होंने श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित से उनके पति के स्वर्गवास पर सहानुभूति प्रकट की, परन्तु उसी दिन शाम को जब वे उनकी प्रार्थना-सभा में पहुँचीं, तब महात्मा जी ने उनसे पूछा—तुम इकली क्यों आयी हो, तुम्हारे पति रणजीत कहाँ हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि गांधी जी ने प्राकृतिक-चिकित्सा से अपने को ठीक कर

लिया और उसके बाद उन्हें स्मृति-लोप की अन्त तक शिकायत नहीं हुई, परन्तु इससे इतना तो पता चलता ही है कि अगले जन्म की क्या, इस जन्म की घटनाएँ भी बड़ों-बड़ों को भूल जाती हैं। एक दृष्टि से पिछले जन्म की घटनाओं को भूल जाना प्रकृति की मनुष्य पर कृपा है। हमारी इस जन्म की स्त्री पिछले जन्म की माँ हो सकती है, इस जन्म की माँ पिछले जन्म की स्त्री हो सकती है। अगर सब-कुछ याद रहता, तो जीवन कैसे चलता, सब अस्त-व्यस्त हो जाता। इस जन्म में भी कुछ लोगों को अपने बचपन की याद बनी रहती है, इसी प्रकार कुछ लोगों को पिछले जन्म की भी याद बनी रहती है, परन्तु याददाश्त के ये सब उदाहरण अपवाद हैं, नियम नहीं।

यह शंका की जा सकती है कि पिछले जन्म की घटनाएँ याद न रहने का वैज्ञानिक आधार क्या है? तथ्य यह है कि इन घटनाओं की स्मृति का हमारी चेतना के साथ सम्बन्ध टूट जाता है, इसलिये हम समझने लगते हैं कि इन घटनाओं की स्मृति का लोप हो गया है, यद्यपि लोप नहीं हुआ होता। जिसे हम स्मृति-लोप कहते हैं वह घटनाओं का भूल जाना नहीं है, परन्तु मानसिक-रचना का ही यह रूप है कि विगत घटनाएँ बेकार हो जाने के कारण मस्तिष्क के किसी कोने में कूड़ा-कर्कट की तरह जमा हो जाती हैं, ठीक ऐसे जैसे घर का कूड़ा-कबाड़ एक लम्बर-रूम में डाल दिया जाता है। इन घटनाओं का चेतना से सम्बन्ध टूट जाना, चेतना से परे हट जाना अत्यन्त प्रयोजनपूर्ण है। जिस शक्ति ने मस्तिष्क की रचना की है उसने स्मृति के साथ विस्मृति को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। विस्मृति का अर्थ घटना का लोप नहीं, घटना को चेतना से परे हटा कर रख देना है। इस मानसिक-व्यवस्था से ही मनुष्य का सारा व्यवहार चल सकता है, इसके बिना नहीं। जबतक हम पीछे के सिलसिले से मुक्त नहीं होते, तबतक हम आगे कदम कैसे बढ़ा सकते हैं? पीछे का खिंचाव टूटेगा तभी तो आगे कदम उठेगा। जो लोग नया जीवन बिताना चाहते हैं उन्हें पिछला सब-कुछ फूँक देना पड़ता है, या समेट कर एक कोने में रख देना होता है। असामान्य नव-जीवन की बात छोड़ दें, सामान्य-जीवन में भी ऐसा ही होता है। जो बातें आज हमारे जीवन की बवाल बनी हुई हैं, समय बीत जाने पर हम उन्हें विस्मृति के ताक में रख देते हैं, कभी याद भी करते हैं तो उन्हें याद करके सिर पीटने के स्थान में उनका मज़ा लिया करते हैं। उनका विषैला डंक जाता रहता है, न जाये तो यह जीवन कैसे निभे? जब इस जन्म की घटनाओं का यह हाल है, तब अगले जन्म में ऐसा क्यों न होता होगा? जैसे यह जन्म कल की घटनाओं के साथ चेतना का सम्बन्ध टूट जाने पर सरस रूप में चलता है, ठीक इसी तरह अगला जन्म इस जन्म की घटनाओं के चेतना के साथ सम्बन्ध टूटने से ही चल सकता है, यह सम्बन्ध न टूटे, तो मनुष्य पीछे की तरफ़ ही

देखता रहे, आगे को कदम न रख सके। विगत-घटनाओं के याद न रहने का यही प्रयोजन है। ये घटनाएँ भुला नहीं दी जातीं, विस्मृति के गर्त में फेंक दी जाती हैं, अन्तश्चेतना के किसी कोने में पड़ी रहती हैं, तभी तो पिछले जन्म के अनेक कर्मों का इस जन्म में तथा इस जन्म के अनेक कर्मों का अगले जन्म में हमारे अनजाने फल मिलता रहता है।

इस तथा उस जन्म की घटनाएँ अन्तश्चेतना में मौजूद रहती हैं इसका प्रमाण 'सम्मोहन' (Hypnotism) के प्रयोग हैं। अगर 50 साल के व्यक्ति से पूछा जाय कि 6 वर्ष की आयु में 12 जनवरी को सुबह से शाम तक उसने क्या किया, तो कोई बतला नहीं सकता, परन्तु उसी व्यक्ति को सम्मोहित कर देने पर जब उसकी चेतना बाहर के जगत् से कट कर अन्दर जाकर पीछे की तरफ़ दौड़ती है, तब वह अपने 6 वर्ष की आयु में 12 जनवरी को उसने जो-जो कुछ किया था सब विस्तार से बतलाने लगता है। सम्मोहन से लौट कर फिर वह सब-कुछ भूल जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तश्चेतना में तो सब-कुछ सिमटा पड़ा है, कुछ लुप्त नहीं हुआ, परन्तु मन की रचना ही ऐसी है जिससे जीवन की दूरंगत विगत-घटनाओं का चेतना से सम्बन्ध टूटा रहता है। अगर इस जन्म की अनेक घटनाओं से चेतना का सम्बन्ध न टूटे, तो जीना मुश्किल हो जाय, और अगर पिछले जन्म की घटनाएँ भी याद आती रहें तब तो सत्यानाश ही हो जाय।

जो स्थिति विगत-घटनाओं के सम्बन्ध में इस जन्म में है, वही स्थिति अगले जन्म में रहती है—इसीलिये पूर्वजन्म की स्मृति उद्बुद्ध रूप में प्रकट नहीं होती—यह सब सप्रयोजन है। किसी-किसी को हो भी जाती है जिसके कुछ दृष्टान्तों का हमने ऊपर उल्लेख किया है। सम्मोहित-अवस्था में कई लोगों में पिछले जन्म की भी घटनाएँ जाग सकती या जाग जाती हैं।

13. विपक्ष में दूसरी युक्ति—'आत्मा' का ही अस्तित्व न होना

पुनर्जन्म के विषय में दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि 'आत्मा'-नाम की देह से अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं है, जब आत्मा ही नहीं है, तब पुनर्जन्म किसका ? देह का ही जन्म होता है, देह की ही मृत्यु होती है। हमने इस अध्याय का प्रारम्भ ही आत्मा के अस्तित्व से किया है। क्या आत्मा देह से अलग है, अगर अलग है तभी तो प्रश्न उठता है कि क्या उसका पिछला जन्म भी था, क्या उसका अगला जन्म भी होगा, अन्यथा तो पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा का अस्तित्व है—इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह एक 'स्वयं-सिद्ध' बात है। 'अहंत्व'—'मैं-पना'—'I-ness'—की अनुभूति हर-किसी को होती है, उसे सिद्ध क्या करना। हम पहले वेदान्त-दर्शन जो भारतीय शास्त्र है, और डेकार्ट जो पाश्चात्य विद्वान् हैं—उनकी युक्ति दे

आये हैं कि 'मैं की अनुभूति' तथा 'विचार' या 'सन्देह करना' ही इस बात का पुष्ट-प्रमाण है कि 'मैं' कहने वाला या 'विचार' एवं 'सन्देह' करने वाला इस शरीर से अलग है। शरीर तो जड़ है, जड़ वस्तु में 'मैं' की ध्वनि नहीं निकलती, न वह विचार करता है। जड़ में जड़ से भिन्न कोई बैठा, अपने को जड़ से भिन्न समझता हुआ, अपने को 'मैं' कहता है। वैज्ञानिक-जगत् में ऐसे प्रयोग हुए हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि जब शरीर मर गया-सा हो जाता है, तब भी शरीर में कोई चेतन-तत्त्व है जो जीवित बना रहता है। अमरीका की ज्योर्जिया स्टेट की एमरी युनिवर्सिटी के मनोवैज्ञानिक वोजिन पोपोविक (Vojin Popovic) ने 12 कुत्तों पर प्रयोग किया जिन्हें 4·4 डिग्री सेन्टीग्रेड तक ठंडा कर दिया गया, इतना ठंडा कर दिया कि उनकी जीवन की सब क्रियाएँ बन्द हो गई—हृदय का संचालन, मस्तिष्क की गति—सब जाती रही। दो घण्टे तक वे इसी तरह मृत पड़े रहे। दो घण्टे के बाद उन्हें फिर गर्मी दी गई, उनका कुछ नहीं बिगड़ा, वे फिर जीवित हो गये, हृदय भी चलने लगा, मस्तिष्क भी काम करने लगा। अनेक प्राणी जीवन थाम कर 'शीत-निष्क्रियता' (Hibernation) में जीते रहते हैं। इन प्रयोगों से सिद्ध होता है कि शरीर के मर जाने पर भी कोई शक्ति बनी रहती है जो उसे फिर जिन्दा कर देती है। उक्त प्रयोगों की रिपोर्ट इण्डियन एक्सप्रेस, 17 फ़रवरी 1975 के अंक में छपी है। यह शक्ति ही आत्मा है जिसे कोई भी दूसरा नाम दिया जा सकता है।*

देह के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्त्व है—यह इस बात से भी सिद्ध होता है क्योंकि देह की सब कोशिकाएँ (Cells) सात साल में बदल जाती हैं, देह पूरा-का-पूरा बदल जाता है, नया हो जाता है, परन्तु इस सम्पूर्ण बदलाहट में 'मैं' का एक सूत्र पिरोया रहता है, मैं वही हूँ जो बचपन में था, जो युवावस्था में था, जो वृद्धावस्था में है। अगर शरीर ही मैं है, तो शरीर तो बदल गया, मस्तिष्क बदल गया, 'तन्त्रिका-तन्त्र' बदल गया, इस जन्म में ही बदल गया,

---

*'What does it feel like to die. Or, to die and come back to life? Now *it is* not difficult to find out. After a two-hour clinical death 12 dogs have been *brought back to life*, reports psychologist Vojin Popovic of Emary *University*, Georgia. U. S., in the journal "Eryobiology". The dogs were cooled *slowly to* 4·4 degrees C till all brain and heart activities stopped. When they *were revived* after two hours—a record time—they showed no damage whatsoever. Hibernating animals provided several clues to this experiment. The state of suspended animation, if perfected *in man could* be useful during prolonged surgical operations and long space travel'—*Indian Express, February 17, 1975.*

इन वदले शरीरों में वह कौन है जो सवको एक रूप से जानता है ? वही तो आत्मा है जिसका पुनर्जन्म होता है ।

इसलिये विपक्ष का यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि क्योंकि आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इसलिये पुनर्जन्म का सिद्धान्त अमान्य है ।

14. विपक्ष की तीसरी युक्ति—आनुवंशिकता तथा पर्यावरण से समस्या का हल हो जाना

जड़वादियों का कहना है कि पुनर्जन्म को मानने की तभी तो ज़रूरत पड़ सकती है अगर जड़वाद उन प्रश्नों का हल न कर सके जिन्हें अध्यात्मवादी पुनर्जन्म के सिद्धान्त से हल करने का दावा करते हैं। उनका कहना है कि 'आनुवंशिकता' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) के आधार पर जीवन की सव विपमताओं का हल हो जाता है, फिर पुनर्जन्म को मानने की क्या जरूरत है ?

परन्तु क्या यह वात ठीक है ? यह कहना कि सव विपमताएँ 'आनुवंशिकता' (Heredity) द्वारा हल हो जाती हैं, ठीक नहीं है । हम ऊपर अनेक ऐसे दृष्टान्त दे आये हैं जिनमें वच्चों में ऐसे मानसिक-गुण जन्म से ही पाये जाते हैं जिनका माता-पिता तथा उनके पूर्वजों में नामोनिशान तक नहीं होता । इसके अतिरिक्त, अगर यह कहा जाय कि अधिकांश वच्चे ऐसे होते हैं जिनके शारीरिक तथा मानसिक गुण माता-पिता के समान होते हैं, तो भी कोई आपत्ति नहीं वनती । पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि आत्मा पुनर्जन्म लेने के लिये उन माता-पिताओं की तरफ़ खिचता है जो उसकी प्रवृत्तियों तथा स्वभाव के अनुकूल होते हैं, जहाँ जाकर उसका उचित विकास हो सकता है । पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मतलव सिर्फ़ दूसरा जन्म ले लेना ही नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा जहाँ-कहीं भी जन्म ले ले, इसका यह अर्थ भी है कि आत्मा जन्म लेते हुए उसी तरफ़ खिचता है जहाँ उसकी प्रवृत्तियों, उसके स्वभाव को विकसित होने में सहायता मिल सकती है । यह काम भौतिक-दृष्टि से आनुवंशिकता द्वारा ही होता है, परन्तु इसीलिये होता है क्योंकि आत्मा ने उस क्षेत्र को अपने विकास के लिये पुनर्जन्म द्वारा चुना है । अनेक विपमताएँ मानसिक न होकर सामाजिक होती हैं । उदाहरणार्थ, कोई वालक धनी घराने में पैदा होता है, कोई निर्धन घराने में । विपक्षी कह सकता है कि धनी-निर्धन होना सामाजिक-विपमता का परिणाम है, इसका पुनर्जन्म से कोई सम्वन्ध नहीं । सामाजिक-विपमता पर्यावरण (Environment) का परिणाम है, पिछले जन्म के कर्मों का फल नहीं । पुनर्जन्म को माननेवाले इस वात से भी इन्कार नहीं करते । उनका कहना है कि धनी-निर्धन शव्दों का प्रयोग आर्थिक-दृष्टिकोण से किया

जाता है। जब वे कहते हैं कि जन्म से ही धनी-निर्धन का भेद क्यों पा- जाता है, तब उनका अभिप्राय रुपये-पैसे की विषमता से नहीं होता, मानसिक प्रवृत्ति से होता है। एक भिखारी मानसिक-दृष्टि से राजा की प्रवृत्ति को लेकर पैदा हो सकता है, एक राजा सब-कुछ होते हुए भी दिल का भिखारी हो सकता है। आर्थिक-विषमता को सामाजिक-सुधार तथा कानून से बदला जा सकता है आर्थिक-क्षेत्र में एक ऐसा समाज बनाया जा सकता है जिसमें रुपये-पैसे की दृष्टि से सब एक-समान हों, समाजवादी या साम्यवादी समाज, परन्तु ऐसे समाज में भी मन के धनी, मन के निर्धन, गुणों के धनी तथा गुणों के निर्धन बने रहेंगे। भौतिकवाद के पास, इस गुण-जन्य-विषमता का जो जन्म से ही आ जाती है क्या हल है ? यह बात ध्यान रखने की है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त 'आनुवंशिकता' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) को मान कर चलता है, भौतिकवाद का सिद्धान्त अपने को इन दो में ही सीमित रखता है, इसीलिये भौतिकवाद अनेक जन्मजात-विषमताओं को हल नहीं कर सकता।
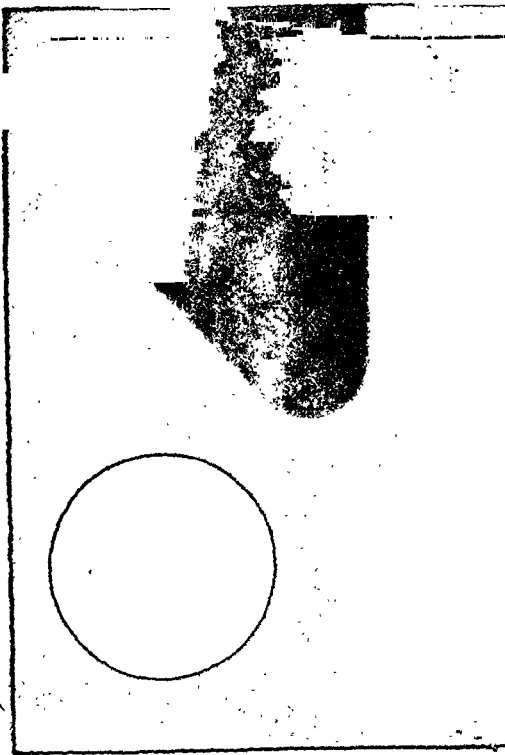
न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
(कठोपनिषद्, 2 य वल्ली, 18)

'मृत्यु' का भय सर्वव्यापक है। हम मृत्यु को एकान्त-सत्य मान कर अपना सब व्यवहार करते हैं, मृत्यु को सत्य मान कर ही सब सामाजिक-संगठन बनाते हैं। श्मशान को भी शहर से दूर बनाया जाता है ताकि रोज़-रोज़ होने वाली मृत्यु कुछ देर तो भूली रहे। परन्तु वैदिक विचारधारा की अद्भुत खोज यह है कि मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं, मृत्यु से डरना भूत से डरने के समान है। कठोपनिषद् में यमाचार्य ने नचिकेता को एक विलक्षण शिक्षा दी, और कहा—आत्मा न पैदा होता है, न मरता है, आत्मा को नित्य है, शाश्वत है, शरीर मरता है, आत्मा अमर है, शरीर आत्मा नहीं है।

मृत्यु आत्मा की नहीं होती, केवल शरीर की होती है—यह सिर्फ़ कह देने की बात नहीं है। संसार में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने शरीर को मरते देखा, आत्मा को अमर देखा। सुकरात को जहर का प्याला पीने को दिया गया,

इंग्लैण्ड में लैटीमर नाम के एक पादरी को रोमन कैथोलिक चर्च ने पकड़ कर उसके हाथों में रुई लपेट कर उसकी मशाल बना कर उसे आग लगा दी, ब्रूनो को जो कहता था कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द नहीं परन्तु पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूम रही है तख्ते से बांध कर जला दिया गया, ऋषि दयानन्द को विष दिया गया, भगतसिंह तथा रामप्रसाद बिस्मिल हँसते-हँसते फांसी की रस्सी पर झूल गये—ऐसे दृष्टान्तों की संख्या भले ही थोड़ी हो, परन्तु क्या ये सिद्ध नहीं करते कि इन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया था कि मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा अमर है, तभी तो मृत्यु का आलिंगन करते हुए इनके मुख से उफ़ तक न निकली, हँसते-हँसते इन्होंने मृत्यु को स्वीकार किया।

विज्ञान का सिद्धान्त यह है कि संसार में किसी वस्तु का नाश नहीं होता, सिर्फ़ उसका रूप बदल जाता है। नाश तो शरीर का भी नहीं होता। शरीर पंच महाभूतों से बना है। शरीर की मृत्यु हो जाने पर ये भौतिक-तत्त्व अपने-अपने मूल-तत्त्व में चले जाते हैं। जैसे शरीर का रूपान्तरण होता है, वैसे ही आत्मा का रूपान्तरण होता है, वह इस शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर के रूपान्तरण को 'मृत्यु' कहते है, आत्मा के रूपान्तरण को 'पुनर्जन्म कहते हैं।

कठोपनिषद् में नचिकेता ने साक्षात् मृत्यु से पूछा—तू क्या है? मृत्यु ने उत्तर दिया कि संसार में दो मार्ग है—'प्रेय' तथा 'श्रेय'। संसार के विषय-भोगों में डूब जाना मृत्यु है, इन विषयों में न डूबना, विषयों का उपभोग करते हुए अपने को न खो देना जीवन है। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कहा—आत्मा को न शस्त्र छिन्न कर सकते है, न आग जला सकती है, वह अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, नित्य है, शरीर आत्मा का चोला है, जैसे कपड़ा पुराना हो जाने पर बदल दिया जाता है, वैसे ही शरीर जीर्ण-शीर्ण होने पर आत्मा नया चोला धारण कर लेता है।

वैदिक ऋषियों ने कितने बड़े सत्य की खोज कर ली थी जब उन्होंने कहा था—'**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय**'—हे भगवन्! मैं कितने भ्रमजाल में उलझा पड़ा हूँ— मुझे असत् से सत् की तरफ़, अंधेरे से उजाले की तरफ़ और मृत्यु से अमरता की तरफ़ जाने की प्रेरणा दीजिये।

द्वादश अध्याय

मृत्यु

(DEATH)

1. प्रश्न का स्वरूप

जो जीता है वह मरता है, परन्तु प्रश्न यह है कि मरना क्या है ? हम जीवन को जानते हैं क्योंकि हम पैदा हो चुके हैं। हम मृत्यु को नहीं जानते क्योंकि हम अभी मरे नहीं हैं, और जब हम में से कोई मर जाता है तब वह बतलाने नहीं आता कि मरण क्या है। परन्तु मृत्यु को जानना सभी चाहते हैं—यह मृत्यु जो हर-किसी को आनी है, आज जो जन्मा है वह कभी-न-कभी मरेगा अवश्य—इस तथ्य को सभी जानते हैं, परन्तु यह किसी को नहीं पता कि मृत्यु क्या है।

हमारा सम्पूर्ण-जीवन मृत्यु को सत्य मान कर बना हुआ है। मृत्यु का भय हमारे हर कार्य में सन्निहित है। हम खाते हैं, पीते हैं, सिर्फ़ इसलिये ताकि अगर खाना छोड़ दें, पानी पीना छोड़ दें, तो मृत्यु सामने आ खड़ी हो। हम परिवार बनाते हैं, बच्चे पैदा करते हैं क्योंकि हमें यह भय लगा रहता है कि अगर परिवार नहीं बनेगा, बीवी-बच्चे नहीं होंगे तो बुढ़ापे में क्या होगा, कौन देख-भाल करेगा, देख-भाल नहीं करेगा तो मौत का सामना करना होगा। हम धन कमाते हैं, बड़े-बड़े व्यापार करते हैं, अगर कहा जाय कि हम काम-धंधा करते ही इसलिये हैं क्योंकि हम अपने को असुरक्षित पाते हैं, यह-सब मृत्यु से लड़ाई नहीं तो और क्या है ? समाज ने चारों तरफ़ पुलिस, फ़ौज तैनात की हुई है—किसलिये ? सब को मृत्यु का भय सता रहा है, व्यक्तियों को, समाज को, देश को, विदेश को—सभी जगह छोटी-छोटी सुरक्षा-परिषदें बनी हुई हैं, व्यक्ति अपने को मृत्यु से बचाने में लगा है, समाज अपने को, देश अपने को, विदेश अपने को मृत्यु से बचाने के प्रयत्न में रत है। संसार के सब देश एक विशाल सुरक्षा-परिषद् को बना कर बैठे हैं ताकि कोई एक देश दूसरे देश को हड़प न कर जाय। विश्व भर में मृत्यु की काली घटा को चारों तरफ़ फैला हुआ देख कर डार्विन (1809-1882) ने कहा था कि जीवन एक संग्राम है, इस में बलवान्

दूसरे निर्बल को खा जाना चाहता है, व्यक्ति हो, समाज हो, देश हो—घमासान लड़ाई मच रही है, विश्व भर में मृत्यु का ताण्डव नृत्य हो रहा है, मृत्यु से बचने के लिये ही हमारा एक-एक श्वास चल रहा है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है: 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः' (गीता, 11-32)—मैं काल बन कर संसार का संहार करने के लिये आया हूँ। मनुष्य के चारों तरफ़ से काल उसे ग्रसित करने के लिये मुँह फाड़े उस की तरफ़ भागा चला आ रहा है। किसी ने सत्य कहा है कि यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मनुष्य ज़िन्दा है, आश्चर्य तो इस बात का है कि पग-पग पर मृत्यु का शिकजा पड़ा होने पर भी मनुष्य जी कैसे रहा है? हम कहते हैं बालक ने जन्म लिया, परन्तु यह हम भूल जाते हैं कि जन्म लेते ही वह मृत्यु की तरफ़ कदम बढ़ाने लगता है। उस की जन्म की एक-एक घड़ी उसे मृत्यु के निकट ला रही है। इस बीहड़ मार्ग को पार कर जब वह अन्त में ठिकाने पर पहुँचेगा, तब उसे मृत्यु के सिवाय कुछ नहीं दीखेगा। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि टैनिसन (1850-1892) ने प्रकृति को 'Nature red in tooth and claw' कहा है—प्रकृति कैसी? ऐसी, जिस के दाँत और पंजे खून से लतपत हैं।

2. मृत्यु से जूझने के प्रयत्न

मरना तो है। क्योंकि मरना अवश्य है, इसलिये हमारे सब प्रयत्न उसी से लड़ने के लिये हैं। बच्चा भी जन्मते ही चिल्लाने लगता है, वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है कि मुझे खाने को दो, नहीं तो मैं मर जाऊँगा। वह मरना नहीं चाहता, जीना चाहता है, इसीलिये चिल्लाता है। हम मृत्यु को परे धकेलने के दो प्रकार के प्रयत्न करते हैं। पहला प्रयत्न तो हमारी क्रियाशीलता है। हम मर न जायें, इसलिये बाह्य-साधन जुटाते हैं। धन-दौलत, मकान, वस्तुओं का संग्रह करते हैं ताकि ज़रूरत पड़ने पर काम आयें—जीवन बनाये रखने के इन बाह्य-साधनों को जुटाते हैं। बाह्य-साधनों के अलावा आन्तरिक-साधनों का प्रयोग भी करते हैं। हम पढ़ते-लिखते हैं, अपने को योग्य बनाते हैं, जीविका के साधन प्राप्त कर सकें—इस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। यह-सब भी इसलिये ताकि किसी-न-किसी तरह ज़िन्दा रहें। जीवन को बनाये रखने के बाह्य तथा आन्तरिक साधनों के साथ-साथ सामाजिक-साधनों का भी उपयोग होता है। शादी-व्याह, मित्रता, बीमा कराई, संगठन आदि सामाजिक-साधन भी मृत्यु से जूझने के ही प्रयत्न हैं। मृत्यु से जूझने का दूसरा प्रयत्न मृत्यु की तरफ़ से आँखें बन्द कर लेने का है, मृत्यु को भुला देने का है। उदाहरणार्थ, श्मशान को शहर से दूर बनाया जाता है ताकि रोज-रोज होनेवाली मृत्यु आंखों के सामने न आये, हम उसे भूलें रहें। जब किसी का कोई निकटतम सम्बन्धी मर जाता

है, तव हम उसे सांत्वना देते हैं और समझाते हैं कि मरना तो हर-किसी को है, भूल जाओ इस मौत को। महात्मा बुद्ध (563-483 ई० पू०) के पास एक माता आई जिस का लड़का मर गया था। बेचैन थी, अशान्त थी, अपनी वेचैनी, अशान्ति का महात्मा बुद्ध से हल चाहती थी। बुद्ध ने उसे कहा कि मैं तेरी बेचैनी को दूर कर सकता हूं, अगर तू मुझे ऐसे घर से दूध ला दे जिस में कोई मरा न हो। वह वेचारी जिस घर में जाती उसी में कोई-न-कोई मरा था। विना दूध लिये लौट आयी क्योंकि उसे कोई ऐसा घर न मिला जिस में एक-न-एक मृत्यु न हुई हो। महात्मा वुद्ध ने उसे कहा—मृत्यु तो होती है, सव-किसी की होती है, इस से छूटने का तरीका सिर्फ़ इसे भूल जाना है।

प्रकृति ने भी जहाँ मनुष्य को याद करने की शक्ति दी है, वहाँ भूलने की भी शक्ति दी है। ममुष्य पर कठोर-से-कठोर विपत्ति पड़ती है, भयंकर रोगों का वह शिकार होता है, कुछ देर वाद वह उस सव को भूल जाता है। पत्नी का देहान्त हो गया, जीवन शून्य-सम दीखने लगा, मनुष्य कहता है—उसके विना वह जी न सकेगा, परन्तु समय निकल जाता है, पिछले दिन भूल जाते हैं, नये वहार के दिन आने लगते हैं।

परन्तु क्या दिन-रात अपनी सुरक्षा की धुन में पड़े रहना, या मृत्यु को भुलाने के लिये उस की तरफ़ से पीठ फेर लेना, या प्रकृति की भुलाने की शक्ति पर निर्भर रहना ही मृत्यु के भय से विचने का उपाय है? घटनाएँ भूल भी जाती हैं, नहीं भी भूलतीं—नहीं भूलें तो क्या उपाय है?

3. मृत्यु का स्वरूप क्या है?—मृत्यु है ही नहीं, यह मिथ्या धारणा है

वैदिक-विचारधारा का कहना है कि मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं है, यह एक मिथ्या-विचार है; भूल जाने से यह नहीं मिटती, इसके वास्तविक-स्वरूप को समझ लेने से मृत्यु स्वयं मिट जाती है। तो फिर, मृत्यु का स्वरूप क्या है? मृत्यु के स्वरूप को समझने के लिये यह समझना ज़रूरी है कि मृत्यु किस की होती है—शरीर की, या आत्मा की?

(क) मृत्यु शरीर की होती है—हम इस पुस्तक में जगह-जगह दर्शा आये हैं कि शरीर तथा आत्मा—ये दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं। शरीर आत्मा नहीं, आत्मा शरीर नहीं। आत्मा की शरीर से भिन्न स्वतन्त्र-सत्ता है। जन्म शरीर का होता है, मृत्यु भी शरीर की होती है। जो जन्मा है वही तो मरेगा। आत्मा शरीर को सिर्फ़ धारण करता है। शरीर का वचपन होता है, शरीर की जवानी होती है, शरीर में बुढ़ापा आता है। शरीर की इन-सव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जो एक-रूप वना रहता है, वही तो आत्मा है, वही,—जो कहता है मेरा वचपन, मेरी जवानी, मेरा बुढ़ापा। जब व्यक्ति वूढ़ा हो जाता है, चेहरे पर

झुरियां पड़ जाती हैं, चला नहीं जाता, खाट पर पड़े-पड़े परेशान हो जाता है, तव जो कहता है कि यह शरीर छूट जाय तो अच्छा, वह कौन है ? जीवन में रोग आते हैं, अन्त में बुढ़ापा आ जाता है। ये सव तो आते ही इसलिये हैं ताकि इस जीव को दीखने लगे कि यह रोगी-शरीर, यह बूढ़ा शरीर, यह शरीर जो किसी समय शेर की चाल से चलता था, अव वेकार हो गया, अव मैं इसे छोड़ देना चाहता हूं। कौन इस निकम्मे शरीर को छोड़ देना चाहता है ? क्या शरीर ही शरीर को छोड़ देने के लिये अकुला रहा है ? जो इसे छोड़ देना चाहता है वह इस शरीर से जुदा है। मृत्यु उसकी नहीं होती, इसकी होती है। शरीर की मृत्यु जन्म लेते ही शुरू हो जाती है। किसी ने ठीक कहा—**'ग़ाफ़िल तुझे घड़ियाल यह देता है मुनादी गर्दू ने घड़ी उम्र की इक और घटा दी'**। हमारे भीतर हर समय हमारे शरीर की कोशिकाएँ (Cells) मरती रहती हैं, उन की जगह नयी वनती रहती हैं। शरीर का मरण जन्म से ही शुरू हो जाता है, परन्तु शरीर के मरण के पीछे कोई एक सत्ता वनी रहती है, जो इन मरती हुई कोशिकाओं में एक-सूत्रता वनाये रखती है, यह मरता है वह नहीं मरता, यह बूढा होता है वह नहीं वुढ़ाता, यह रोगी होता है वह रोगी नहीं होता।

परन्तु अगर ऐसा है तो इस के रोगी होने पर वह क्यों कहता है कि मैं रोगी हो गया, इस के बूढ़ा होने पर वह क्यों कहता है कि मैं बूढ़ा हो गया, इसके मर जाने पर सव क्यों कहते हैं कि वह मर गया ? इस का कारण है। एक कच्चे नारियल के फल को लेकर अगर उसके खोल को तोड़ने का प्रयत्न किया जाय, तो भीतर की गिरी भी टूट जायगी, इसलिये टूट जायगी क्योंकि अभी नारियल कच्चा है। नारियल के पक जाने पर गिरी खोल से अलग हो जाती है, तव खोल को तोड़ने से गिरी अलग-से साफ़ निकल आती है। क्या गिरी और खोल एक ही हैं ? नादान आदमी भी जानता है कि वे अलग-अलग हैं, परन्तु जवतक नारियल कच्चा है, तवतक वे एक-दूसरे के साथ तन्मयता से वँधे हुए हैं, जव नारियल पक जाता है तव वे अपने स्वरूप में आ जाते हैं—खोल अलग, गिरी अलग। यही सम्वन्ध शरीर तथा आत्मा का है। यह तो हम वार-वार सिद्ध कर चुके हैं कि शरीर तथा आत्मा दोनों की स्वतन्त्र-सत्ता है, परन्तु जवतक हम इस वात को अपने प्रयत्न से जान नहीं लेते, पका नहीं लेते कि वे अलग-अलग हैं, तवतक हम कच्चे नारियल की तरह व्यवहार करते हैं। वैदिक-विचारधारा का कथन है कि यथार्थ-सत्य यही है कि शरीर खोल है, आत्मा इस खोल के भीतर की गिरी है, टूटता खोल है, मरता शरीर है, गिरी नहीं टूटती, आत्मा नहीं मरता, नारियल को पकने में समय लगता है, शरीर की वृद्धावस्था नारियल का पक जाना है क्योंकि तव हमें जीवन के अनुभवों से आभास होने लगता है कि शरीर अलग है आत्मा अलग है।

(ख) मृत्यु आत्मा की नहीं होती—मृत्यु आत्मा की नहीं होती, केवल शरीर की होती है—यह सिर्फ़ कह देने की बात नहीं है। संसार में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने शरीर को मरते देखा है, आत्मा को अमर देखा है। उन्होंने अनुभव किया है कि शरीर मर गया, वे नहीं मरे। भगतसिंह (1907-1931) को जब सूली पर चढ़ाने के लिये ले चले, तो उसका चेहरा उज्वल हो उठा, उसका वज़न बढ़ गया। उसके भीतर कोई हस्ती थी जो कहती थी—यह शरीर सूली पर चढ़ेगा, आत्मा अमर रहेगा। रामप्रसाद बिस्मिल (1897-1927) को जब फाँसी दी गई तब वह हँसते-हँसते गले में रस्सी का फन्दा डाल कर झूल गया। खिलजी वंश का बादशाह अलाउद्दीन (1296) चित्तौड़ के राजा रत्न-सेन की रानी पद्मिनी को अपनाना चाहता था, रत्नसेन मर गया, परन्तु पद्मिनी अपने पति के शव को गोद में लेकर चिता में भस्म हो गई। मुगल वंश के बादशाह अकबर (1542-1605) की सेनाओं ने 1567 में चित्तौड़ पर हमला किया। उस समय राणा प्रताप के पिता उदयसिंह वहां के राजा थे। वे घबरा कर चित्तौड़ की रक्षा का काम जैमल और फत्ता के हाथ में सौंपकर भाग गये। जैमल-फत्ता ने जान तोड़ कर चित्तौड़गढ़ की रक्षा की, परन्तु मुगल सेना बहुत अधिक थी। ऐसे संकट के समय में चित्तौड़ के वीर सैनिक केसरिया बाना पहन कर अपनी भूमि की रक्षा करते-करते जान पर खेल गये, और किले की सभी देवियां जौहर करके जीती-जागती आग की लपटों में सती हो गईं। ऋषि दयानन्द (1824-1883) को विष दिया गया, विष से रोम-रोम में आग लगी थी, परन्तु मरते हुए चेहरे पर वह उजेला था जिसे देखकर नास्तिक गुरुदत्त (1864-1890) आस्तिक बन गया। सुकरात (469-399 ई० पू०) को ज़हर का प्याला पीने को दिया गया। उसने प्याला पी लिया। धीरे-धीरे उस के शरीर में विष चढ़ने लगा। शिष्यों को अपने पास बुला कर उसने कहा—देखो, मेरे पैर मर गये हैं, पर मैं नहीं मरा, अब मेरा धड़ मर गया है, मैं नहीं मरा, मेरे हाथ मर गये, मैं नहीं मरा। मेरा सारा शरीर मर जायगा परन्तु मैं नहीं मरूंगा। ईसा मसीह को जीते-जी सूली पर चढ़ा दिया गया। मरते हुए उसने क्या कहा ? बायबल में लिखा है—उसने कहा, ऐ मेरे भगवान् ! इन्हें क्षमा करना, ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं। मसीह को फाँसी देने वाले समझते थे कि वे उसे मृत्यु-दण्ड दे रहे हैं, परन्तु ईसा मसीह का शरीर चला गया, वह नहीं मरा—उसकी आत्मा पूर्व तथा पश्चिम के विशाल-जगत् में छा गई। इंगलैण्ड में लैटीमर (1485-1555) नाम का एक पादरी था। वह प्रोटेस्टेंट था। रोमन कैथोलिक चर्च ने उसे पकड़ कर उस के हाथों में रूई लपेट कर, उन की मशाल बना कर, उसे आग लगा दी। वह यह कहता हुआ मरा कि उसकी मृत्यु की मशाल सारी दुनियां में अज्ञानान्धकार को दूर करेगी। ब्रूनो (1548-

1600) कहता था कि सूर्य पृथिवी के गिर्द नहीं घूम रहा, पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूम रही है। उसे मतवादियों ने तख्त से बाँध कर आग की लपटों की भेंट कर दिया। वह चाहता तो अपने सिद्धान्त को छोड़ कर अपनी जान को बचा सकता था, परन्तु उसने सत्य के लिये देह को छोड़ देना उचित समझा। क्यों उसने देह को छोड़ देना उचित समझा ? वह समझता था कि शरीर नश्वर है, इस के भीतर बैठनेवाला नश्वर नहीं अमर है, शरीर के भस्म हो जाने पर भी भीतर जो बैठा है वह मर नहीं सकता।

4. शरीर की मृत्यु प्रतिक्षण होती है—तो क्या मृत्यु ही सत्य है ?

हमारा शरीर कोशिकाओं (Cells) से बना हुआ है, ये हर समय टूटती रहती है, नई बनती रहती हैं। जो टूटती रहती हैं उन्हें हम काट डाला करते हैं। बाल हैं, नख हैं—ये सब शरीर के मृत-भाग ही तो हैं। शरीर के परमाणु बदलते-बदलते सात साल में सारा शरीर बदल जाता है। जिसे हम ज़िन्दगी कहते हैं उसमें हमारा सम्पूर्ण-शरीर 9-10 बार बदल चुका होता है, या कहें तो मर चुका होता है। मृत्यु के अन्तिम-क्षण में, और जीवन में लगातार हो रही मृत्यु में, इतना ही भेद है कि जीवन में जो मृत्यु की प्रक्रिया हो रही है उसके साथ-साथ जीवन की प्रक्रिया भी जारी रहती है—अगर पुरानी कोशिकाएँ टूटती हैं तो नयी बनती भी रहती हैं, परन्तु मृत्यु के अन्तिम-क्षण में नयी कोशिकाएँ बनना सर्वथा बन्द हो जाता है, पुरानी सब टूट जाती हैं, नई बनती नहीं। इसी को हम मृत्यु कहते हैं। प्रश्न यह है कि शरीर की मृत्यु तो प्रतिक्षण हो रही है, जो शक्ति शरीर को इस मृत्यु के बीच जीवित बनाये हुए थी, जो कोशिकाओं के मरने के साथ नवीन कोशिकाओं का निर्माण करती जाती थी, वह कौन थी ? वह भी क्या शरीर के मरने के साथ मर जाती है या वह इस शरीर के निकम्मा हो जाने के कारण इसको छोड़ कर अपने किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये दूसरे किसी शरीर का निर्माण करने के लिये शरीर से बाहर चली जाती है ?

जो लोग कहते हैं कि इस शरीर के नष्ट होने के साथ वह चेतन-शक्ति भी नष्ट हो जाती है, वे एक अनहोनी बात कहते हैं। मनुष्य इस जीवन में क्यों आया ? क्या यूँ ही टपक पड़ा ? संसार में यूँ ही नाम की कोई चीज़ नहीं। हर वस्तु किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये पैदा हुई है, उस लक्ष्य की पूर्ति के लिये क्रियाशील है। कुम्हार घड़ा बनाता है, घड़ीसाज़ घड़ी का निर्माण करता है। घड़े के टूट जाने के साथ कुम्हार भी खत्म नहीं हो जाता, घड़ी के सब पुर्जों के निकम्मा पड़ जाने के साथ घड़ीसाज़ भी मर नहीं जाता। कोई घड़ा ऐसा नहीं जो अपने-आप बनता जाता हो, अपनी मरम्मत अपने-आप करता जाता हो, कोई घड़ी ऐसी नहीं जो बिगड़ती हो और अपने-आप सुधर भी जाती हो।

प्राणी का शरीर ही एक ऐसी वस्तु है जो टूटती भी रहती है ग्रौर उसके भीतर वैठी कोई शक्ति इसकी मरम्मत भी करती रहती है, समय ग्राता है जव शरीर मरम्मत करने लायक भी नहीं रहता। घड़े के टूटने पर कुम्हार नहीं मर जाता, घड़ी के वेकार हो जाने पर घड़ीसाज नहीं मर जाता, शरीर-जैसे यन्त्र के मर जाने पर, वह जो क्षण-क्षण इसकी मरम्मत करता रहता था, वह कैसे मर जायगा ? घड़ा टूट जाय तो कुम्हार दूसरा घड़ा वनाने लगता है, एक घड़ी वेकार हो जाय तो घड़ीसाज़ दूसरी घड़ी को ठीक करने लगता है, शरीर छूट जाय तो ग्रात्मा दूसरे शरीर का निर्माण कर लेता है—मृत्यु शरीर की होती है, ग्रात्मा की नहीं होती, रूपान्तरण होता है—यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

5. रूपान्तरण का ही दूसरा नाम 'मृत्यु' है

संसार में किसी वस्तु का नाश नहीं होता, सिर्फ़ उसका रूप वदल जाता है। विज्ञान का ग्रटल नियम है कि कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, रूपान्तरित हो जाती है। ग्रासमान से पानी वरसता है, वह बह कर नदी में परिवर्तित हो जाता है, नदी समुद्र में जा मिलती है, सूर्य के ताप द्वारा समुद्र से भाप उठ कर वादल वन जाते हैं, वे फिर वरस जाते हैं, इस सारी प्रक्रिया में एक वूँद भी नष्ट नहीं होती। जव वूँद वरस कर नदी वन जाता है, तव भ्रमवश हम उसे वूँद का नाश होना कह देते हैं, जव नदी वह कर समुद्र में जा मिलती है, तव हम नदी का समाप्त होना कह देते हैं, नदी में वूँद मौजूद है, समुद्र में नदी मौजूद है, नाश किसी का नहीं होता, सव वने रहते हैं, रूप मात्र वदल जाता है। ठीक इसी तरह जिसे हम शरीर का नष्ट होना, उसकी मृत्यु कहते हैं, वह भी शरीर के तत्वों का रूपान्तरित हो जाना है। शरीर पाँच तत्वों से वना है। समय ग्राता है जव ये पाँचों तत्व—पार्थिव-तत्त्व पृथ्वी में, जलीय-तत्त्व जल में, ग्राग्नेय-तत्त्व ग्रग्नि में, वायवीय-तत्त्व वायु में चला जाता है। शरीर तो परमाणुग्रों के संयोग से वना है, इसलिये मृत्यु के समय परमाणुग्रों का संयोग जाता रहता है, वियोग हो जाता है, परमाणु नष्ट नहीं होते। चेतना तो परमाणुग्रों के संयोग से नहीं वनी। मृत्यु के समय चेतना का—ग्रात्मा का—क्या होता है ? जव भौतिक-शरीर ही नष्ट नहीं होता, वह भी परमाणुग्रों के रूप में वना रहता है, इस दृष्टि से परमाणु-रूप में शरीर भी नित्य है, ग्रमर है, फिर चेतना की तो वात ही दूसरी है। जैसे शरीर का रूपान्तरण होता है, वैसे ग्रात्मा का भी रूपान्तरण होता है, एक शरीर को छोड़ कर वह दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर के रूपान्तरण को 'मृत्यु' कहा जाता है, ग्रात्मा के रूपान्तरण को 'पुनर्जन्म' कहा जाता है। यह चेतन-सत्ता पाँच-भौतिक शरीर की तरह विलीन नहीं हो सकती। विलीन वही वस्तु होती है जो भौतिक हो। विलीन का ग्रर्थ है—खण्ड-खण्ड

हो जाना। पार्थिव-वस्तु विलीन होती है, खण्ड-खण्ड हो जाती है, टुकड़ों में विभक्त हो जाती है। जो भौतिक-पदार्थ हो वही खण्डित हो सकता है, चेतन-सत्ता तभी खण्डित हो सकती है, अगर वह भौतिक हो। अगर चेतन-सत्ता—आत्मा—भौतिक हो, तो वह चेतन-सत्ता नहीं रहती, वह शरीर हो जाती है। उसका रूपान्तरण तो यही हो सकता है कि जैसे अब इस शरीर में मौजूद है, वैसे इस शरीर बिखर जाने पर, शुद्ध अर्थों में, खण्ड-खण्ड होकर परमाणुओं में रूपान्तरित हो जाने पर, वह इसी प्रकार के या किसी भी अन्य प्रकार के शरीर का आश्रय ले, उस में चली जाय। दो शब्दों में कहा जाय, तो कहना होगा कि आत्मा का नाश नहीं होता, आत्मा सिर्फ़ शरीर बदलता है, मानो पुराने चोले को फेंक कर नया चोला धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा के नया चोला धारण कर लेने को ही भ्रमवश हम मृत्यु कह देते हैं—यथार्थ में आत्मा के लिये मृत्यु की कोई सत्ता नहीं, आत्मा के लिये मृत्यु अयथार्थ है।

6. वास्तविक-सत्ता 'जीवन' की है—'मृत्यु' अयथार्थ है

मृत्यु एक भ्रम है। कभी-कभी जो होता नहीं वह प्रचलित हो जाता है। भूत से सब डरते हैं, बड़े-बड़े लोग भूत से डरते देखे गये हैं, परन्तु भूत क्या है? अगर भूत से डरने वाला जान जाय कि भूत एक भ्रम है, तो क्या वह भूत से डरेगा? भूत की कोई सत्ता नहीं, परन्तु हम उसकी कल्पना कर लेते हैं कि वह है—तभी उससे डरने लगते हैं। मृत्यु का स्वरूप भी ऐसा ही है। आत्मा के लिये मृत्यु है ही नहीं, उसकी कोई सत्ता नहीं, जिसकी सत्ता न हो उससे डरने का अर्थ भूत से डरने जैसा है। मृत्यु छाया के समान है। जैसे भूत का अस्तित्व नहीं, वैसे छाया का भी अस्तित्व नहीं। प्रकाश का प्रवाह बह रहा है, उसमें रुकावट पड़ जाने का नाम छाया है। छाया की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं, प्रकाश के रुक जाने का नाम छाया है। छाया प्राणी का पीछा करती है, मृत्यु से भय खाना अपनी छाया से डर जाने के समान है। मृत्यु अन्धेरा है, अन्धेरे की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं, स्वतन्त्र-सत्ता प्रकाश की है। मृत्यु एक निद्रा है, हम हर रोज़ सोते हैं, रोज़-रोज़ सोना छोटी-छोटी मृत्यु है, परन्तु सोने के बाद फिर तरोताज़ा होकर उठ खड़े होते हैं; निद्रा न हो तो जागरण न हो, निद्रा ही जागरण का आधार है। शरीर जब थक जाता है, तब आत्मा इसे सुला देता है ताकि इसमें शक्ति का संचार हो जाय, बैटरी री-चार्ज हो जाय। शरीर जब बिल्कुल काम लायक नहीं रहता तब आत्मा इसे छोड़ देता है क्योंकि यह बैटरी निकम्मी हो जाती है, वह अपने कारखाने के लिये नई बैटरी ले लेता है। कारीगर का काम नहीं रुकता, उसका कारखाना बदस्तूर जारी रहता है। कारखाने का मालिक पुरानी बैटरी छोड़ देने के बाद जिस नई बैटरी से काम

लेने लगता है वह भरपूर काम देती है। आत्मा इस पुराने शरीर को छोड़ कर जब नये शरीर में आता है तब वह बच्चे का शरीर ग्रहण करता है जो नई बैटरी की तरह शक्ति से भरपूर और तरोताजा होता है।

हम समझते हैं कि जीवन और मृत्यु दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं—एक तरफ़ जीवन खड़ा है, दूसरी तरफ़ मृत्यु खड़ी है, परन्तु ऐसा नहीं है। यथार्थ-सत्ता जीवन की है, मृत्यु आगामी जीवन में प्रवेश करने का द्वार है। अगर जीवन की स्वतन्त्र-सत्ता हो और मृत्यु की स्वतन्त्र-सत्ता हो, तो दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह चलती चली जायेंगी, इन दोनों का कहीं मेल नहीं होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन घुला-मिला है। जहाँ हम जीवन देखते हैं वहीं मृत्यु भी छिपी बैठी है। जीवन और मृत्यु भिन्न-भिन्न दृष्टियों से एक ही वस्तु के दो नाम है। प्रकाश और अन्धेरा, जागना और सोना, जीना और मरना—ये जोड़े हैं, परन्तु सदा साथ-साथ हैं, यथार्थ-सत्ता प्रकाश की है, यथार्थ-सत्ता जागने की है, यथार्थ-सत्ता जीवन की है। जब प्रकाश रुक जाता है तब हम उसे अन्धेरा कह देते हैं, अन्धेरा हो गया तो क्या हम कह सकते हैं कि प्रकाश की सत्ता ही न रही, प्रकाश की ही यथार्थ-सत्ता है, तभी अन्धेरे की प्रतीति होती है; हम सो गये तो क्या हम कह सकते हैं कि जागरण की सत्ता ही न रही, जागरण की ही यथार्थ-सत्ता है, तभी सोने की प्रतीति होती है; हम मर गये तो क्या हम कह सकते हैं कि जीवन की सत्ता न रही, जीवन की ही यथार्थ-सत्ता है, तभी हमें मृत्यु की प्रतीति होती है। अन्धेरा अयथार्थ है, स्वप्न अयथार्थ है, मृत्यु अयथार्थ है क्योंकि अन्धेरा प्रकाश के विना नहीं रह सकता, स्वप्न जागरण के विना नहीं रह सकता, मृत्यु जीवन के विना नहीं रह सकती। अन्धेरे का अभाव प्रकाश नहीं है—प्रकाश विना अन्धेरे के रह सकता है; स्वप्न का अभाव जागरण नहीं है क्योंकि स्वप्न के विना जागरण रह सकता है ; मृत्यु के अभाव का नाम जीवन नहीं है क्योंकि मृत्यु के विना जीवन रह सकता है।

7. नचिकेता का मृत्यु से साक्षात्कार

मृत्यु का भय तभी तक रहता है जब तक मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हो जाता। जब मनुष्य मृत्यु के रहस्य को समझ जाता है तब मृत्यु का भय जाता रहता है। इतना ही नहीं कि तब मृत्यु का भय जाता रहता है, तब जीवन का काँटा, उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। इसी बात को कठोपनिषद् में एक रूपक में बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है। वहाँ लिखा है—

(क) नचिकेता का प्रश्न—मृत्यु क्या है?—वाजश्रवस् नामक ब्राह्मण बड़ी धूम-धाम से यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ में दान भी दिया जाता है। दान के

वहाने वे लँगड़ी-लूली, बूढ़ी गायों का दान करने लगे। उनके पुत्र नचिकेता को यह अच्छा न लगा। उसने देखा कि पिता कंजूस है, सिर्फ नाम कमाने के लिये यज्ञ कर रहा है—निकम्मी वस्तुओं को दान में दे रहा है। उसने झुँझला कर पिता से पूछा—बड़े दाता बने हो, मेरा दान कर दो न! पिता ने उससे भी अधिक झुँझला कर कहा—जा, तुझे मौत की भेंट करता हूँ। नचिकेता मृत्यु—यम—के यहाँ चला गया, वहाँ नचिकेता तथा मृत्यु—यम—का संवाद शुरू हुआ। मृत्यु ने कहा—बालक, तुम बड़े प्रतिभाशाली प्रतीत होते हो, कहो, कुछ पूछना है तो पूछो। नचिकेता ने कहा—पूछना तो मुझे बहुत-कुछ है, परन्तु सब बातों-की-बात एक बात पूछूं—हे मृत्यु, यह बतलाओ कि तुम हो क्या? जब आदमी मर जाता है तब कई कहते हैं—यह मर गया, कई कहते हैं—यह नहीं मरा। तुम तो साक्षात् मृत्यु के रूप में मेरे सामने खड़े हो, यह बतलाओ कि तुम हो क्या? इस आशय के नचिकेता ने जो शब्द कहे, वे निम्न हैं—

येयं प्रेते विचिकित्सा अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके
एतत् विद्याम् अनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः (कठ, 1, 20)

मृत्यु ने इसका क्या उत्तर दिया? मृत्यु ने कहा—हे नचिकेतस्! तूने बड़ा विकट प्रश्न किया। इस प्रश्न का उत्तर सुनेगा, तो तेरा धीरज छूट जायगा, तुझे दुनिया कुछ-की-कुछ दीखने लगेगी। नचिकेता भी बड़ा हठी था, वह अपने प्रश्न पर डटा रहा। मृत्यु ने कहना शुरू किया—

(ख) **मृत्यु का उत्तर—'प्रेय' मृत्यु है, 'श्रेय' जीवन है**—संसार में दो तरह के मनुष्य हैं—एक वे जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा को भी नष्ट हुआ मानते हैं; दूसरे वे हैं जो शरीर को आत्मा नहीं मानते, आत्मा को शरीर से स्वतन्त्र मानते हैं, उनकी समझ में शरीर नष्ट हो जाता है, आत्मा नष्ट नहीं होता, आत्मा अमर है। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के जीवन के मार्ग अलग-अलग हैं। जो शरीर को ही सब-कुछ मानते हैं उनका मार्ग 'प्रेय-मार्ग' कहलाता है, जो आत्मा को अमर मानते हैं उनका मार्ग 'श्रेय-मार्ग' कहलाता है। मृत्यु ने जो शब्द कहे वे निम्न हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षेमात् वृणीते। (कठ,2-2)

'प्रेय-मार्ग' इसलिये 'प्रेय' कहलाता है क्योंकि सबको यही मार्ग प्यारा है, परन्तु इस मार्ग पर चल कर मृत्यु का सामना करना पड़ता है; 'श्रेय-मार्ग' इसलिये 'श्रेय' कहलाता है क्योंकि यही श्रेष्ठ है, यही सत्य है, यही सही रास्ता है, इसी से प्राणी का भला होता है। प्रेय-मार्ग पर चलने वाले शतायु पुत्र-पौत्रों से घिरे रहते हैं, उनके तबेलों में गाय-भैंस बँधे रहते हैं, हाथी-घोड़े उनकी सवारी

के लिये तैनात रहते हैं, उनकी स्त्रियाँ सोने के आभूषणों से लदी रहती हैं, भोग-विलास में उनके दिन कटते हैं—परन्तु यह-सब इस भौतिक-लीला के समाप्त होने पर समाप्त हो जाता है, मिट जाता है—यह देह गिरता है, तो उसके साथ यह सभी-कुछ गिर जाता है, शरीर के मरने के साथ यह भी मर जाता है। श्रेय-मार्ग पर चलने वाले संसार की चकाचौंध पर नहीं मरते, दुनिया की धूम-धाम से उनकी तृप्ति नहीं होती—'**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'—भौतिक-पदार्थों से उनका जी नहीं भरता, अनित्यों को नित्य मान कर वे अपने जी को नहीं बहलाते, वे अनित्य के स्थान में नित्य की तलाश करते हैं क्योंकि नित्य को पाकर ही इस नित्य आत्मा की जीवन-यात्रा सफल होती है।

नचिकेता ने मृत्यु का साक्षात्कार किया, उसके सामने खड़ा हो गया तो उसके जीवन का कांटा ही बदल गया। जो नचिकेता की तरह मृत्यु को देख लेता है वह संसार के विषय-भोगों को जीवन का लक्ष्य नहीं मानता, उसके लिये जीवन का नया आयाम खुल जाता है; जो मृत्यु को नहीं देखता, मृत्यु के सामने नहीं खड़ा होता, इस देह के साथ ही अपने को नष्ट हुआ समझता है, वह अन्त तक संसार के गोरखधन्धे में उलझा रहता है, उसी के लिये मृत्यु है।

8. अर्जुन का मृत्यु से साक्षात्कार

(क) **शरीर मरता है, आत्मा अमर है**—जैसे यम ने नचिकेता की आँखें खोल दीं, नचिकेता ने देखा कि शरीर को आदि और अन्त मानने की दृष्टि मनुष्य को भोग-विलास में लिप्त रखती है, भोग-विलास से सुख मिलता है परन्तु आत्मा को तृप्ति नहीं मिलती—'**अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन**'—विषयी-जीवन मृत्यु की तरफ़ ले जाता है अमृत की तरफ़ नहीं, वह जीवन को व्यर्थ बना देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की आँखें खोल दीं, अर्जुन को भी श्रीकृष्ण ने मृत्यु का रहस्य समझा दिया। श्रीकृष्ण ने तो साफ़ शब्दों में कहा—शरीर के नाश से जीवन का नाश नहीं हो जाता, यथार्थ तथा अन्तिम सत्ता जीवन की है, मृत्यु की नहीं, जीवन का स्रोत आत्मा है, शरीर नहीं, शरीर मरता है, आत्मा अमर है। श्रीकृष्ण ने गीता में आत्मा की अमरता के विषय में जिन उदात्त शब्दों में घोषणा की वैसे शब्द न अब तक कहे गये, न कहे जायेंगे। श्रीकृष्ण की घोषणा थी—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योयं अदाह्योयं अक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोयम् सनातनः॥

(2 य अध्याय, 23-24)

—हम आत्मा को शरीर समझे बैठे हैं, परन्तु यह भ्रान्ति है। शरीर शस्त्र से छिदता है, अग्नि से भस्म होता है, पानी से भीजता है, वायु से सूकता है—आत्मा को कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, कोई आग जला नहीं सकती ; जल से यह भीज नहीं सकता, वायु से यह सूक नहीं सकता; यह नित्य है, सनातन है। आत्मा के लिये मृत्यु अयथार्थ है, आत्मा में तो जीवन-ही-जीवन है।

(ख) **शरीर रथ है, आत्मा रथी है, जीवन पड़ाव है**—जब आत्मा के लिये मृत्यु है ही नहीं तब शरीर के साथ आत्मा भी मर जाता क्यों प्रतीत होता है ? कठोपनिषद् (तृतीया वल्ली, 3, 4) में इसका उत्तर देते हुए कहा है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयान् तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

—यह शरीर रथ के समान है, आत्मा इस रथ का मालिक है, रथी है, इस रथ पर बैठा जीवन-यात्रा पर निकला है। रथ को चलाने वाला साईस होता है—ताँगे वाला। यह काम बुद्धि का है जिसके हाथ में मन-रूपी लगाम है। रथ में इन्द्रिय-रूपी घोड़े जुते हुए हैं, संसार के विषय वे मार्ग हैं जिन पर इन्द्रिय-रूपी घोड़े भागते चले जा रहे हैं। मनीषी लोग कहते हैं कि जब आत्मा के आदेश के अधीन मन तथा इन्द्रियाँ चलती हैं, तभी आत्मा को 'भोक्ता'—इस रथ का इस्तेमाल करने वाला, उपभोग करने वाला कहा जाता है।

यह जीवन क्या है ? रथ पर सवार आत्मा के लिये यह जीवन एक पड़ाव है। जब रथ पर चढ़ कर कोई किसी मंजिल पर जाता है तब रास्ते में पड़ाव पड़ते हैं। अगर लम्बी यात्रा है, तो पड़ाव पर थके घोड़े छोड़ दिये जाते हैं, नये घोड़े जोत दिये जाते हैं। नये घोड़े जोतने का यह मतलब नहीं कि पुराने घोड़े मर गये। इसी प्रकार जीवन की यात्रा में आत्मा शरीर-मन-इन्द्रियों के रथ पर सवार होकर निकला है। जब ये वाहन बेकार हो जाते हैं, तब वह इन्हें छोड़ कर नये वाहन जुटा लेता है। इन वाहनों को छोड़ देना यात्री की मृत्यु नहीं है, सिर्फ़ नये पड़ाव पर नये साधन जुटा लेना है। रथ से यात्रा करते हुए घोड़ों को बदल लेने को कोई मृत्यु नहीं कहता, आश्चर्य इसी बात का है कि जीवन की यात्रा में शरीर-रूपी रथ को बदल लेने को हम मृत्यु कह देते हैं, जो भारी भूल है। जैसा पहले कहा, मृत्यु नाश नहीं आगामी जीवन में प्रवेश करने का द्वार है, और यह जीवन आत्मा की अपने लक्ष्य तक पहुँचने की निरन्तर यात्रा का एक पड़ाव है।

(ग) **शरीर आत्मा का वस्त्र है**—साँप के विषय में सभी जानते हैं कि जब उसकी केंचुली पुरानी हो जाती है, तब साँप उस पुरानी, निकम्मी केंचुली को

बदल डालता है, उसे फेंक देता है, नई केंचुली आ जाती है। शरीर भी आत्मा की केंचुली ही है। जब शरीर पुराना हो जाता है, आत्मा के काम का नहीं रहता, तब आत्मा उसे बदल डालता है। इसी बदल डालने को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं। चोला बदलते हुए ओढ़ने वाला नष्ट नहीं होता, सिर्फ पुराने चोले की जगह नया चोला ओढ़ लेता है। गीता (2 अध्याय, 22-25) ने कितने सुन्दर शब्दों में इस भाव को प्रकट किया है। वहां कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।

—जैसे कपड़े पुराने हो जाने पर मनुष्य उन्हें उतार फेंकता है, उन्हें उतार कर नये वस्त्र पहन लेता है, इसी प्रकार जब शरीर पुराना हो जाता है, जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तब देह को धारण करने वाला यह आत्मा नये शरीर को धारण कर लेता है। जीर्ण-शीर्ण शरीर होता है, आत्मा न जीर्ण होता है, न शीर्ण होता है।

(घ) मृत्यु के सम्बन्ध में अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का संवाद—मृत्यु के सम्बन्ध में अर्जुन तथा कृष्ण का संवाद मनन करने योग्य है। कुरुक्षेत्र के मैदान में एक-दूसरे को मारने के लिये एक ही घराने के लोग आमने-सामने खड़े हैं। पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, मामा, भानजा, भतीजा, आचार्य—सब एक-दूसरे के खून के प्यासे हो उठे हैं। इस वीभत्स-दृश्य में तांडव-नृत्य करती हुई मृत्यु सामने दीखने लगती है। क्षण में धड़ाधड़ सिर कटने वाले हैं। अर्जुन मृत्यु के इस भयंकर रूप की कल्पना कर काँप उठता है। उस समय श्रीकृष्ण मृत्यु के रहस्य को खोलते हुए 2 य अध्याय में कहते हैं :

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्
विनाशं अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति। 17।
अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ताः शरीरिणः
अनाशिनः अप्रमेयस्य तस्मात् युध्यस्व भारत। 18।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतः नायं हन्ति न हन्यते। 19।

—जिस आत्मा से हमारा शरीर व्याप्त है, वह अविनाशी है। इस अव्यय आत्म-सत्ता का कोई भी विनाश नहीं कर सकता। यह जो दीख रहा है—'शरीर' है, वह न दीखने वाला आत्मा इस शरीर का स्वामी 'अशरीरी' है। उस 'अशरीरी' के साधन का अन्त होता है, उसका अन्त नहीं होता। आत्मा के विषय में जो यह समझता है कि यह मरता है, या जो यह समझता है कि यह मारता है, वे दोनों सचाई को नहीं समझते, आत्मा न मरता है न मारता है। कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि भूल जा मृत्यु को, मृत्यु की तो कोई सत्ता ही

नहीं ; जिसको लोग मृत्यु कहते हैं वह तेरी नहीं, मेरी नहीं, किसी की नहीं। कृष्ण एक अनहोनी बात कहते हैं, दुनिया भर से उल्टी बात, परन्तु वही बात सत्य है ; संसार में जो बात चल रही है वह असत्य है। जिसने इस सत्य को पा लिया कि जब मेरी आँखें देखती हैं तब आँखें नहीं देखतीं, आँखों के पीछे बैठा मैं देखता हूँ—'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति'—(केन, 1-6), जब कान सुनते हैं तब कान नहीं सुनते, कानों के पीछे बैठा मैं सुनता हूँ—'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्'—(केन, 1-7), वह जान जाता है कि आँखें गिर जाती हैं, देखने वाला नहीं गिरता, कान गिर जाते हैं, सुनने वाला नहीं गिरता, अंग-अंग गिर जाते हैं, सारा देह गिर जाता है, अंगों वाला, देह वाला बना रहता है।

जीवन तो रेलगाड़ी का सफ़र है। स्टेशन के बाद स्टेशन आते चले जाते हैं, जिस स्टेशन पर यात्री ने उतरना होता है वह वहाँ उतर जाता है, गाड़ी आगे चल देती है। जो यात्री उतर जाता है वह मर नहीं जाता, सिर्फ़ उसकी वह यात्रा वहाँ समाप्त हो जाती है, अगली यात्रा शुरू हो जाती है।

हम भूल से समझते हैं कि हमने मृत्यु को देखा, परन्तु आज तक मृत्यु को किसी ने नहीं देखा, मृत्यु का अनुमान किया है, उसकी कल्पना की है। जब हम देखते हैं कि यह व्यक्ति अभी देखता था, सुनता था, बात करता था, चलता था, फिरता था, इसने देखना-सुनना, बोलना-चालना सब-कुछ बन्द कर दिया, तब हम कहने लगते हैं कि वह मर गया, परन्तु क्या सोते हुए ऐसा नहीं हो जाता, बेहोशी में ऐसा नहीं हो जाता, क्लोरोफ़ॉर्म सुंघा देने पर ऐसा नहीं हो जाता। हम कह सकते हैं कि उस समय हृदय तो चलता रहता है, परन्तु ऐसे दृष्टान्तों की भी कमी नहीं है जिनमें व्यक्ति हृदय की गति को भी रोक लेता है फिर भी जीवित बना रहता है। तीस वर्ष हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक श्री विवेकानन्द विद्यालंकार ने अहमदाबाद में अनेक डॉक्टरों के बोर्ड के सम्मुख हृदय की गति को रोक लिया था और फिर भी यह कोई नहीं कह सकता था कि वे जीवित नहीं रहे। उस समय बम्बई के इलस्ट्रेटेड वीकली में उनके इस अद्भुत प्रदर्शन की तस्वीरें भी छपी थीं।

मृत्यु क्या है ? मृत्यु एक प्रकार की निद्रा है। निद्रा के दो रूप हैं—एक वह जिसमें स्वप्न आते रहते हैं, दूसरा वह जिसमें स्वप्न भी नहीं आते, प्रगाढ़-निद्रा, सुषुप्ति की अवस्था आ जाती है। यह प्रगाढ़-निद्रा मृत्यु का ही एक रूप है। हम कह सकते है कि निद्रा मृत्यु है या मृत्यु निद्रा है। हम थक कर सो जाते हैं, सोने के बाद तरोताजा होकर जाग उठते हैं—सोना-जागना रोज़-रोज़ का अनुभव है। रोज़-रोज़ सो जाना, रोज़-रोज़ की छोटी मृत्यु है, सो-सोकर जाग उठना रोज़-रोज़ का पुनर्जन्म है। प्रचलित किंवदन्ती है कि जो पिंड में है

वही ब्रह्मांड में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है—'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे यत् ब्रह्माण्डे तत्पिंडे'। सोना मर जाना नहीं है, जीवन का ही एक प्रकार है, जीवन की बैटरी का री-चार्जिंग है, मृत्यु भी सोने की तरह मर जाना नहीं है, जीवन का ही वह छोर है जहां जीवन की बैटरी री-चार्ज होने के लिये भगवान् के कारखाने में चली जाती है।

जैसे सोना एक छोटी मृत्यु है, वैसे ही पक्षाघात हो जाना भी एक छोटी मृत्यु है, शरीर के एक अंग की मृत्यु। शरीर का एक अंग काम नहीं कर रहा, परन्तु चेतना सम्पूर्ण शरीर की बनी रहती है। अर्धांग में यह तो अनुभव होता है कि शरीर का आधा हिस्सा निकम्मा हो गया, परन्तु रोगी को चेतना के विषय में यह अनुभव नहीं होता कि चेतना भी आधी रह गई, चेतना वैसी-की-वैसी सम्पूर्ण बनी रहती है; ठीक इसी तरह जब सारा शरीर बेकार हो जाता है, फेंकने लायक हो जाता है, तब चेतना नष्ट नहीं होती, शरीर की मृत्यु हो जाती है, चेतना की मृत्यु नहीं होती, चेतना कर्मों की गठड़ी को सूक्ष्म-शरीर के सहारे लेकर अपने नये रास्ते पर चल देती है। चेतना—आत्मा—की दृष्टि से मृत्यु एक निरर्थक शब्द है।

9. कुछ पाश्चात्य मनीषियों के मृत्यु-सम्बन्धी विचार

मृत्यु के सम्बन्ध में भारतीय-विचारकों ने जैसा सोचा है, अनेक पाश्चात्य-विचारकों ने भी इस दिशा में वैसा ही सोचा है। भारत की तरह वहाँ भी चार्वाक-पन्थी हैं, भारत की अपेक्षा अधिक ही हैं, परन्तु वहाँ भी अनेक उच्च-कोटि के चिन्तक हुए हैं, जो देह के साथ ही आत्मा के नष्ट हो जाने को मिथ्या-कल्पना मानते हैं। उदाहरणार्थ, जोएक्विन मिलर (1841-1913) ने अपनी पुस्तक 'Song of Creation' में लिखा है :

> Death is but a name, a date,
> A milestone by the stormy road,
> Where you may lay aside your load,
> And bow your face and rest and wait,
> Defying fear, defying fate.

इस कविता का भावार्थ है—मृत्य क्या है ? सिर्फ़ एक नाम ही तो है। गणना के लिये एक तिथि है, जीवन के झंझावातमय-पथ में मीलों का एक पड़ाव है—ऐसा पड़ाव जहाँ यात्री अपनी कमर पर लदे बोझ को उठा कर एक तरफ़ रख देता है, सिर झुका लेता है, आराम करता है, इन्तिज़ार करता है, जहाँ बैठ कर वह मृत्यु-भय और तकदीर का तिरस्कार करता हुआ बैठ जाता है।

कवि ब्यूमौन्ट एण्ड फ्लेचनर ने मृत्यु के सम्बन्ध में लिखा है—

To die
Is to begin to live. It is to end
An old, stale, weary work and to commence
A newer and a better.

—अर्थात्, मरना तो नवीन-जीवन का प्रारम्भ है। मरना क्या है? पुराने, नीरस, थका देनेवाले काम को एक तरफ़ रख कर नये और बेहतर काम को शुरू कर देने का नाम मृत्यु है।

सैम्युअल वटलर (1612-1680) की कविता के निम्न पद बड़े मार्के के हैं :

To himself every one is immortal;
He may know that he is going to die,
But he can never know that he is dead.

—अर्थात्, जहाँ तक व्यक्ति का अपने तईं सम्वन्ध है, हर-एक अपने को अमर मानता है। यह हो सकता है कि मनुष्य को अनुभव हो कि वह मरने-वाला है, परन्तु यह कभी सम्भव नहीं कि कोई कह सके या जान सके कि वह मर गया है।

सिसरो (106-43 ई० पू०) ने लिखा है :

The last day does not bring extinction,
But a change of place.

—अर्थात्, जीवन का अन्तिम-दिन मनुष्य का नाश नहीं कर देता, सिर्फ़ उसका स्थान वदल देता है।

मृत्यु के भय को ललकार देने के लिये शेक्सपीयर (1564-1616) ने जूलियस सीज़र के मुख से जिन पंक्तियों को कहलवाया है वे स्मृति-पटल में अंकित हुए विना नहीं रहतीं। मृत्यु के भय का नाम सुनते ही सीजर कहता है :

Cowards die many times before their deaths;
The valient never taste of death but once.
Of all the wonders that I yet have heard;
It seems to me most strange that men should fear;
Seeing that death, a necessary end,
Will come when it will come.

—जूलियस सीज़र (101-44 ई० पू०) के मुख से शेक्सपीयर ने कहा कि भीरु लोग मरने से पहले ही अनेक वार मर चुकते हैं, धीर तथा शूरवीर सिर्फ़ एक वार मृत्यु का रसास्वाद करते हैं। संसार में सव से वड़े अचम्भे की वात

तो यह है कि मनुष्य यह जानता हुआ कि एक-न-एक दिन कूच कर जाना है मृत्यु से भय खाये, उस दिन ने तो आना-ही-आना है।

10. विक्टर सौलो का तथा-कथित मृत्यु के बाद का अनुभव

श्री विक्टर सौलो नामक एक सज्जन ने 'लिटररी डाइजेस्ट' के अप्रैल 1975 के अंक में एक लेख लिखा है जिसका शीर्षक है—'I died at 10.52'—'मैं 10.52' पर मर गया। वे लिखते हैं कि न्यूयार्क में शनिवार, 23 मार्च 1974 को वे अपनी कार में अपनी पत्नी के साथ जा रहे थे कि वत्तियों के क्रौसिंग पर उन्हें अपनी गाड़ी खड़ी करनी पड़ी। समय 10.52 का था। इस समय गाड़ी में वैठे-वैठे उनके हृदय की गति वन्द हो गई, श्वास चलना भी स्थगित हो गया, शरीर नीला पड़ गया। उन्हें अस्पताल में लाया गया जहाँ डॉक्टरों ने निर्णय दे दिया कि उनकी मृत्यु हो गई है। फिर भी उन्हें जीवित करने के लिए विजली के झटके दिये जाते रहे ताकि सम्भव हो तो उनका जीवन लौट आये। ठीक 23 मिनट वाद उनके हृदय में हरकत महसूस होने लगी, श्वास धीरे-धीरे चलने लगा, और कुछ देर वाद वे उठ वैठे। डॉक्टरों का कहना है कि हृदय 3 मिनट गति न करे, तो आदमी मर जाता है, यहाँ मरने के 23 मिनट वाद विक्टर सौलो जी उठे।

विक्टर सौलो से पूछा गया कि उन 23 मिनटों में जव उनका हृदय तथा श्वास गति नहीं कर रहे थे, उन्हें क्या अनुभव हुआ? वे लिखते हैं कि उस समय शरीर को छोड़ते हुए—"मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी सभी इन्द्रियों को जिन से उपकरण के रूप में मैं अवतक काम लेता रहा हूँ, और जिनकी वजह से मैं इस संसार को सत्य मानता रहा हूं मैंने पीछे छोड़ दिया है, और अव मुझे अपना यथार्थ-रूप (Reality) दीखने लगा है। मुझे मृत्यु का वह क्षण जिसमें मनुष्य मृत्यु के द्वार से इस शरीर को छोड़ कर वाहर निकलता है अत्यन्त सरल प्रतीत हुआ—न कोई भय था, न कोई पीड़ा थी, न किसी प्रकार का अन्य विचार था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अत्यन्त तीव्र-गति से किसी अत्युज्वल-प्रकाश-पुंज की तरफ़ खिचा चला जा रहा हूं। उस तक पहुँच कर वह प्रकाश-पुंज इतना उद्दीप्त दीखने लगा कि उसमें मेरा प्रवेश अवरुद्ध हो गया। इसके वाद मैं इतना ही कह सकता हूँ कि जव मेरा हृदय तथा श्वास गति करने लगे, तव मैंने अपने को ऑपरेशन की टेवल पर पाया।" श्री विक्टर सौलो लिखते हैं कि—"सम्भव हो सकता है कि मेरा यह अनुभव मस्तिष्क की किसी विकृति का परिणाम हो, परन्तु इस में सन्देह नहीं कि जव से मुझे यह अनुभव हुआ है तव से इस संसार के विपय में मेरा सारा दृष्टि-कोण वदल गया है, और दिनों-दिन वदलता जा रहा है। मैंने तथा-कथित मृत्यु के समय जो-कुछ अनुभव किया

उसके प्रति मेरा खिचाव बढ़ता जा रहा है। मैं इस समय 57 वर्ष का हूं, बाल-बच्चों से घिरा हूँ, संसार के सुख-दुःख चारों तरफ़ हैं, परन्तु अब मेरा किसी वस्तु से लगाव नहीं रहा, मेरे भीतर से यह अनुभूति जाती ही नहीं कि यह जीवन किसी अन्य जीवन की यात्रा का एक हिस्सा है।"

वैदिक ऋषियों ने कितने बड़े सत्य की खोज कर ली थी जब उन्होंने कहा था—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'—हे भगवन्! मैं कितने भ्रम के जाल में फँसा पड़ा हूँ, मैं असत् में उलझा हुआ हूँ, मुझे सत् की तरफ़ पग बढ़ाने की प्रेरणा दो, मैं अन्धकार में भटक रहा हूँ, मेरा मुख प्रकाश की तरफ़ फेर दो, मैं मृत्यु को अपना अन्त समझ रहा हूँ, मेरी आँखें खोल दो ताकि मैं देख सकूं कि मैं अमर हूँ, अविनश्वर हूँ, मरण-रहित हूँ।

○○

संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	संशोधन
61	3	Consciousness Mind, (कौमा Mind से पहले लगा लें)
143	3	स्वागृह की जगह स्वाग्रह कर लें
164	8	त्र्यक्षा की जगह त्र्यक्षरं कर लें
166	9	चौदहवें की जगह तेरहवें कर लें
166	11	१४ की जगह १३ कर लें
166	14	वहाँ की जगह यजुर्वेद में कर लें
166	16	तदस्थ की जगह तदस्य तथा १३ की जगह यजु०, 31—11 कर लें

इस ग्रन्थ में केन्द्रीय-हिन्दी-निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह' से लिये गए शब्दों की हिन्दी-अंग्रेजी शब्द-सूची

अचिरस्थायी
Transient
अचेतन-क्रिया
Unconscious action
अजीवनात् जनन
Abiogenesis
अधिवृक्क ग्रन्थि
Adrenal gland
अधीनता
Submission
अध्यात्मवादी
Spiritualist
अननुकूलित अनुक्रिया
Unconditioned Response
अनिरन्तर
Discontinuous
अनिवार्यता
Inevitability
अनिश्चितता
Uncertainty
अनुकूलन
Adaptation
अनुकूलित-अनुक्रिया
Conditioned Response
अनुकूलित-प्रतिवर्त
Conditioned reflex
अन्तर्निरीक्षण
Introspection
अन्तराल
Space
अन्तिम कारण
Final cause
अपसामान्य मनोविज्ञान
Abnormal psychology
अपील (समवेदना, सहानुभूति)
Appeal
अपेक्षा
Expectation
अभिप्रेरणा
Motion
अभिव्यक्ति
Expression; Manifestation
अर्थ-क्रियावाद
Pragmatism
अवचेतन
Sub-conscious
अवयव (इन्द्रिय; अंग)
Organ; Part
अवयवी (अंगी)
Whole
अवरोधक
Censor
अवश्यम्भाविता
Determinism
अविद्यमान
Non-existent

असातत्य
Discontinuous
अस्तित्व
Existence
आकारिक कारण
Formal cause
आगमन पद्धति
Inductive method
आत्म-चेतना
Self consciousness
आध्यात्मिक
Spiritual
आनुवंशिकता
Heredity
आवृत्ति
Frequency
आवेग
Impulse
आसन्नता
Recency
अंग (इन्द्रिय; अवयव)
Organ; Part
अंगी (अवयवी)
Whole
अंडाणु
Ovum
इच्छा-शक्ति
Will
इड (इदम्)
Id
इन्द्रिय (अंग, अवयव)
Organ
उत्परिवर्तन
Mutation
उत्प्रेरक
Catalytic agent

उदात्तीकरण
Sublimation
उद्दीपक
Stimulus
उद्दीपक-अनुक्रिया
Stimulus-response
उद्देश्यवाद (प्रयोजनवाद)
Teleology
उपचारात्मक मनोविज्ञान
Therapeutic Psychology
उपलब्धि (प्राप्ति)
Realization
उपादान कारण
Material Cause
ऊर्जा (शक्ति)
Energy
ऊर्जा तरंग
Wave of energy
ऊर्जा-संरक्षण
Conservation of energy
ऋणात्मक (निषेधात्मक; नकारात्मक)
Negative
एषणा
Desire
ऐच्छिक-कर्म
Voluntary action
कर्म का आवेग
Impulse to action
काम-लिप्सा
Libido
कारण-कार्य का सिद्धान्त
Law of causation
कारण-शरीर
Causal body
केशिका
Capillary

कोशिका
Cell
कंपन
Vibration
क्रम (नियम)
Order
क्वान्टम
Quantum
खाद्यान्वेषण
Food seeking
खाँचा मशीन
Stot machine
घटना
Phenomenon
चेतना
Consciousness
जनन-द्रव्य
Germplasm
जड़वाद (भौतिकवाद)
Materialism
जड़वादी (भौतिकवादी)
Materialist
जर्म
Germ
जीन
Gene
जीव-द्रव्य
Protoplasm
जीव-विज्ञान
Biology
जीवनात् जनन
Biogenesis
जैविक
Biological
तनाव
Tension

तन्त्रिका
Nerve
तन्त्रिका तन्त्र
Nervous system
तन्त्रिका भंग (न्यूरेस्थेनिया)
Nervous breakdown
दमन करना
Suppress
दृश्य
Visual
द्वैत (द्वैतवाद)
Dualism
धनात्मक
Positive
नकारात्मक (ऋणात्मक; निषेधात्मक)
Negative
निगमन पद्धति
Deductive Method
निमित्त कारण
Efficient cause
नियति (भाग्य)
Fate
नियतिवाद (भाग्यवाद)
Fatalism
निरन्तर
Continuous
निरन्तरता
Continuity
निरपेक्ष
Absolute
निषेधात्मक (नकारात्मक; ऋणात्मक)
Negative
नैसर्गिक
Instinctive
न्यूनतम प्रतिरोध
Least resistence

परखनली
Test tube
परमाणु
Atom
परामनोविज्ञान
Parapsychology
पराहम्
Super Ego
परिकलन मशीन
Calculating machine
परिवर्तन
Variation
पर्यावरण
Environment
परिग्रहण
Acquisition
पलायनवाद
Escapism
पूर्व-दृष्टि
Foresight
पूंजीवाद
Capitalism
पैत्रिक-भावना
Paternal feeling
प्रक्रिया
Process
प्रतिक्रिया
Reaction
प्रतिभावान् (मेधावी)
Genius
प्रतिवर्त-क्रिया
Reflex action
प्रत्यय
Idea
प्रत्ययवाद
Idealism

प्रत्ययों का साहचर्य
Association of Ideas
प्रयोजनवाद (उद्देश्यवाद)
Teleology
प्रयोग
Experiment
प्रयोगशाला
Laboratory
प्राग्भाव (प्रागस्तित्व)
Pre-existence
प्राप्ति (उपलब्धि)
Realization
प्रायिकता
Probability
प्रेरक-तन्त्रिका
Motor nerve
प्रेक्षण
Observation
बहु-तत्त्ववाद (बहुत्ववाद)
Pluralism
बुद्धि-लब्धि
I. Q.
बुनियादी (मूल)
Basic
बोध
Comprehension
भाग्यवाद (नियतिवाद)
Fatalism
भू-विज्ञान
Geology
भौतिक
Material
भौतिक-द्रव्य
Matter
भौतिकवाद (जड़वाद)
Materialism

भौतिकवादी (जड़वादी)
Materialist
भौतिकी
Physics
मनोग्रन्थि
Complex
मनोरोग-विज्ञानी
Psychiatrist
मनोविज्ञान
Psychology
मनोविश्लेषणवाद
Psycho-analysis
मानव-कर्म
Human action
मानवत्वारोपण-संकल्पना
Anthropomorphic conception
मानसिक घटना
Mental phenomenon
मात्रा
Quality
मूल (बुनियादी)
Basic
मूल-तत्त्व
Elements
मूल-प्रवृत्ति
Instinct
मेधावी (प्रतिभावान्)
Genius
यथार्थवादी
Realist
यान्त्रिक नियम
Machanical law
यूथ चारिता
·Gregariousness
यन्त्र
Machine

रचनात्मकता
Constructiveness
लाघव-न्याय
Law of parsimony
लिंग
Sex
लोप
Disappear
विकास
Evolution
विकिरण
Radiation
विजातीयता
Heterogeneity
विभेदन (विभेदीकरण)
Differentiation
विरुचि
Disgust
विश्व-चेतना
Cosmic consciousness
वैयक्तिक-सत्ता
Individual existence
वैयक्तिकता
Individuality
व्यवहारवाद
Behaviourism
व्यष्टित्व
Individuality
व्यष्टि मनोविज्ञान
Individual Psychology
शक्ति (ऊर्जा)
Faculty; Energy
शरीर-क्रिया-विज्ञान
Physiology
शरीर-क्रियात्मक
Physiological

शारीरिक विकास
Physical evolution
शीत-निष्क्रियता
Hibernation
शुक्राणु
Sperm
श्रव्य
Auditory
सचेतन-क्रिया
Conscious action
सजातीयता
Homogeneity
सजीवता
Vividness
सदनुभूति
Empathy
समवेदना (सहानुभूति)
Appeal
समाजवाद
Socialism
सर्जनात्मक आवेग
Creative impulse
साम्यवाद
Communism
सूक्ष्म-देह (सूक्ष्म-शरीर)
Astral body
सेक्स (लिंग)
Sex
सोद्देश्यता
Purposefulness
संकल्पना (संप्रत्यय)
Concept
संकल्प-स्वातन्त्र्य
Free Will
सन्तुष्टि
Satisfaction

सम्पर्क अधिकारी
Liaison officer
संप्रत्यय (संकल्पना)
Concept
संभवता
Possibility
संवेग
Emotion
संवेगात्मक-जीवन
Emotional life
संवेदन
Sensation
संवेदन तन्त्रिका
Sensory nerve
संश्लेपण शक्ति
Synthetic power
संस्कारांकन
Engram
सर्वेश्वरवाद
Pantheism
सापेक्ष
Relative
सामान्य मनोविज्ञान
Normal Psychology
स्व-चालित
Automatic
स्वयंसिद्ध
Axiomatic
स्वाग्रह
Self assertion
हीनता मनोग्रन्थि
Inferiority complex
ज्ञान
Knowledge
त्रित्व (त्रैत)
Trinity

ब्रह्मचर्य-सन्देश

लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

नवयुवकों को ब्रह्मचर्य-जैसे गम्भीर विषय पर सरल, सुन्दर भाषा में जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी।

खण्डवा का 'कर्मवीर' पत्र लिखता है—"सबसे अधिक खोजपूर्ण, सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक ज्ञातव्य विषयों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।"

अर्जुन—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नवयुवक के हाथ में यह पुस्तक हो।"

लखनऊ की माधुरी—"भाषा परिमार्जित और वर्णन शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है कोई विज्ञानवेत्ता सांसारिक तत्त्व-विवेचना पर व्याख्यान दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं उन सब में यह बढ़िया है।"

इस पुस्तक में 8—10 चित्र दिये गए हैं जिनका ब्रह्मचर्य जैसे कठिन विषय को समझने के साथ विशेष सम्बन्ध है। पुस्तक के तीन संस्करण समाप्त हो चुके हैं, यह चौथा संस्करण है। इस पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि गुजराती में इसके दो स्वतन्त्र अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेज़ी में ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं इसका अनुवाद किया था, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। अनेक नवयुवकों ने इस ग्रन्थ को पढ़कर लिखा है कि क्या ही अच्छा होता, कुछ दिन पहले यह पुस्तक मेरे हाथ पड़ जाती और मैं जीवन-मार्ग में पथ-भ्रष्ट होने से बच जाता। बड़े भाई को छोटे भाई के, पिता को पुत्र के और नवयुवकों के शुभ-चिन्तकों को अपने अभिभावकों से हाथ में देने के लिए इससे उत्तम दूसरी पुस्तक नहीं है। कोई भी पुस्तकालय इस पुस्तक के बिना अधूरा है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य सात रुपया।